हिन्दी

ज्ञान-विज्ञान का कोश

संशोधित और परिवर्द्धित

नवीन संस्करण

संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

भाग

३

विषयानुक्रम

: विश्व की कहानी :

आकाश की बातें

चिन्ह—शायापरेली की खोज—क्या यह निरा दृष्टिभ्रम है—नहर के सिद्धान्त का महान् पृष्ठ-पोषक लॉवेल—लॉविल का सिद्धान्त—कुछ अन्य सिद्धान्त—वायुमण्डल और ताप—मंगल के उपग्रह।

सूर्य की दूरी जानने का एक महत्वपूर्ण साधन एरॉस ग्रह—अवान्तर ग्रहों की खोज—बोडे का नियम—पियाजी द्वारा सीरिज की खोज—अवान्तर ग्रहों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है—नामकरण, कक्षाएँ, व्यास आदि—अवान्तर ग्रहों के अनियमित आकार और उनकी कम आकर्षण शक्ति—अवान्तर ग्रहों की उत्पत्ति।

भौतिक विज्ञान

आदिम मनुष्य और अग्नि—आग पैदा करने के विविध तरीके—ऊष्मा या गरमी के संबन्ध में प्राचीन धारणाएँ—रम्फोर्ड के महत्वपूर्ण प्रयोग—सर हम्फ्री डेवी का प्रयोग—ऊष्मा शक्ति का एक रूप—ब्राउनियन गति।

हम कैसे जानें कि ऊष्मा से पदार्थों का प्रसार होता है—धातुओं का प्रसार—द्रव पदार्थों का प्रसार—ऊष्मा का गैसों पर प्रभाव।

ऊष्मा और ताप एक ही वस्तु नहीं है—ताप की परिभाषा—तापमापी यंत्र का आविर्भाव और विकास—वास्तविक या पूर्ण शून्य—पारेवाला तापमापी कैसे बनाया जाय—डाक्टरी थर्मामीटर—भाँति-भाँति के तापमापी—उच्चतम और न्यूनतम तापमापी—गैस थर्मामीटर—प्लैटिनम थर्मामीटर—थर्मोकपुल और रेडियो माइक्रोमीटर—उच्चतम और न्यूनतम ताप के कुछ उदाहरण।

चालन—संवहन—विकिरण—ऊष्मा के कुचालक और सुचालक—सैफ्टी लैम्प का सिद्धान्त—ऊष्मा परिचालन का भाँति-भाँति से उपयोग—विकिरण द्वारा ऊष्मा का परिचालन—थर्मस बोतल का सिद्धान्त।

रसायन विज्ञान

सत्य की खोज

समुदाय के विभिन्न वर्ग—स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—अंडे देनेवाले विचित्र स्तनपोषी—बतखचोंचा या प्लेटीपस—काँटेवाला चींटीखोर एकिडना—थैलीवाले स्तनपोषी अथवा मार्सूपियल्स—कँगारू—ऑपॉसुम—कृन्तक दन्तविहीन या ईडेनटेट्स—स्लॉथ—साल—कीटाणु-भक्षक—उड़नेवाला कीटाणु-भक्षक कोवीगो—छछूंदर और झाऊचूहे—कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स—कुतरनेवाले जन्तुओं में चूहे सब से अधिक हानिकारक हैं—कुतरनेवाले जीवों का दूसरा समूह :: गिलहरियाँ—उड़नेवाली गिलहरियाँ—कुतरनेवालों में सब से चतुर जंतु :: बीवर—असली उड़नेवाले स्तनपोषी :: चमगादड़—शाकाहारी खुरवाले स्तनपोषी :: अंगुलेटा।

जन्तु-जगत् के वर्तमान महाकाय जीव [श्री० श्रीचरण वर्मा]

पृथ्वी का सब से बड़ा जीव :: ह्वेल—संसार का सब से ऊँचा प्राणी :: जिराफ—स्थल का सब से विशाल जन्तु :: हाथी—दरियाई घोड़ा और गैंडा—जंगल का राजा सिंह—सब से बड़ा सर्प :: अजगर—मगर और घड़ियाल—छिपकलियों का राजा—संसार की सब से बड़ी मछलियाँ—बड़े अपृष्ठवंशी—पतिंगे बड़े क्यों नहीं होते।

ः मनुष्य की कहानी ः

हम और हमारा शरीर

पृष्ठ १०४५-१०६४

शरीर की खिड़कियाँ अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ—(१) [श्री० श्रीचरण वर्मा]

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख की रचना—पलक—अश्रु-ग्रंथियाँ और आँसू—अक्ष या नेत्र-गोलक के भिन्न-भिन्न भाग—रंग कैसे दिखलाई पड़ते हैं—रंगों के अन्धे कौन हैं—आँख के दो विचित्र स्थान :: एक जहाँ से सब से साफ दिखाई पड़ता है और दूसरा जहाँ से बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता—आँख कैसे काम करती है—दृष्टि-दोष—दो आँखें होते हुए भी चीज एक ही क्यों दिखाई देती है—आँखों की दृष्टि समान बनाए रखने के हेतु दृष्टि-स्नायु के नाड़ी-सूत्रों का अद्भुत प्रबन्ध—दृष्टि-भ्रम—आँखों का महत्व और उनको स्वस्थ रखने की आवश्यकता।

शरीर की खिड़कियाँ अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ—(२) [श्री० श्रीचरण वर्मा]

१. श्रवणेन्द्रिय या कान तथा उसकी रचना—कान के दो कार्य—आवाज क्या है—हम कैसे सुनते

हैं—आवाज की दिशा पहचानना—कान का दूसरा कर्त्तव्य :: समतुल्यता—२. घ्राणेन्द्रिय :: नासिका—३. स्वादेन्द्रिय :: जीभ ।

हमारा मन

पृष्ठ १०६५-१०७०

प्रतिक्रिया और आचरणवादी मनोविज्ञान

[श्री० सुरेन्द्रदेव बालुपुरी]

अमेरिकन विचारधारा—रूसी विचारधारा ।

इतिहास की पगडंडी

पृष्ठ १०७१-१०८४

सभ्यताओं का उदय—(३)

[डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी]

मिस्र का ऐतिहासिक काल-निर्णय—पुरातन राज्यकाल (३४००-२१६० ई० पू०)—चतुर्थ राजवंश (३०००-२५०० ई० पू०)—उन्नत जीवन—पाँचवाँ वंश (२९६५-२८२५ ई० पू०) और छठा वंश (२८२५-२६३० ई० पू०)—माध्यमिक राज्य काल :: ग्यारहवाँ राज्य-वंश (२३७५ से २११२ या २१६० से २००० ई० पू०)—बारहवाँ वंश (२००० से १७८८ ई० पू०)—सेनूस्रेत तृतीय—नया राज्य काल (१५८०-९४५ ई० पू०)—अठारहवाँ राजवंश (१५६०-१५३० ई० पू०) थटमोज तृतीय (१४७९-१४४७ ई० पू०)—आमेनहोतेप तृतीय (१४११-१३८५ ई० पू०) उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश :: रामसेज वंश (१३२१-१०९४ ई० पू०)—राज्य का पतन (११६८-१०९०. ई० पू०)—मिस्र का जीवन और उसकी सभ्यता—कला-कौशल और उद्योग-धंधे—महान् इंजीनियर—शिक्षा और साहित्य—धार्मिक विचार और आचार—राज्य संगठन—कानून और दण्ड-व्यवस्था ।

मानव समाज

पृष्ठ १०८५-१०९१

आर्थिक जीवन का श्रीगणेश

[डॉ० सीतलाप्रसाद सक्सेना]

अन्य प्राणियों की आर्थिक जीवन की ओर प्रगति—मनुष्य की विशेषता—व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का विकास—मिश्रित सभ्यता का विकास—दो महत्वपूर्ण आविष्कार—जाति-भेद और दूषित अर्थ-व्यवस्था के कुपरिणाम—आज के पूँजीपति पुरानी शिकारी वृत्ति के प्रतीक ।

प्रकृति पर विजय

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

साहित्य-सृष्टि

विश्व
की कहानी

सौर जगत — ग्रह-परिवार

सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने के क्रम में हम क्रमशः परिचित से अपरिचित की ओर और प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ रहे हैं; इसीलिए आकाशीय पिंडों में हमने सबसे पहले अपने सुपरिचित सूर्य और चंद्रमा का अध्ययन किया। प्रस्तुत और आगे के कुछ लेखों में हम परम तेजस्वी सूर्य के उस सुविस्तृत परिवार का परिचय पाने का प्रयत्न करेंगे, जिसमें हमारी पृथ्वी भी सम्मिलित है और जो 'सौर परिवार' के नाम से प्रख्यात है।

आकाशीय पिंडों में से सूर्य और चन्द्रमा को छोड़कर अन्य सभी पिंड तारे के समान दिखलाई पड़ते हैं। उनमें से अवश्य कोई अधिक चमकीले जान पड़ते हैं और कोई कम, और उनके रंगों में भी थोड़ा-बहुत अंतर दिखलाई पड़ता है, परंतु वे एक जाति के ही प्रतीत होते हैं। हाँ, टूटकर गिरनेवाले तारों और पुच्छल तारों में––उल्काओं और केतुओं में––अवश्य कुछ विशेषता दिखलाई पड़ती है।

कुछ पिंड तारे नहीं हैं

परन्तु तारे जैसे दिखलाई पड़नेवाले पिंडों में से कुछ ऐसे हैं, जो वस्तुतः तारे नहीं हैं। उनमें विशेषता यह है कि वे तारों के हिसाब से चलते रहते हैं। यों तो प्रति रात्रि सभी तारे आकाश में पूरब से पच्छिम की ओर चलते दिखाई पड़ते हैं; किसी भी स्वच्छ रात्रि में इस बात की सत्यता का प्रमाण मिल सकता है। परंतु अपनी इस गति में तारे एक दूसरे के हिसाब से अचल रहते हैं। एक तारा दूसरे के पास नहीं चला जाता; वह उससे दूर भी नहीं हटता। परन्तु वे पिंड, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, तारों के हिसाब से चलते रहते हैं। इनको 'ग्रह' कहते हैं। यदि कोई ग्रह आज किसी तारे के बहुत समीप है तो कुछ दिनों में (या कुछ महीनों में) वह उससे बहुत दूर भी चला जायगा। इसी गति से ग्रहों की पहचान की जा सकती है।

अधिकांश ग्रह साधारण तारों से अधिक चमकीले होते हैं और इस कारण भी हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता है। निस्संदेह अति प्राचीन समय में लोगों का ध्यान उनकी ओर इसी कारण से आकर्षित हुआ होगा। पीछे पता चला होगा कि वे तारों की अपेक्षा चलते भी हैं; तभी से उनकी खोज समझना चाहिए।

आसमान में शुक्र ग्रह की झाँकी

प्रातःकाल या सायंकाल पश्चिम में प्रायः तारे जैसा एक बहुत ही चमकीला आकाशपिंड हमें देखने को मिलता है, जो सहज ही पहचाना जा सकता है। जाड़े में साफ आसमान होने पर कभी-कभी दिन में भी यह दिखाई देता है। यही शुक्र ग्रह है।

ग्रहों की पहचान

ग्रहों में से सबसे अधिक चमकीला शुक्र है। यह ग्रह या तो संध्या-समय पश्चिम की ओर या प्रातःकाल पूर्व की ओर दिखलाई पड़ता है और इसलिए सुगमता से पहचाना जा सकता है। यह वृहस्पति, मंगल या शनि की तरह मध्य आकाश में कभी भी नहीं दिखाई पड़ता।

ग्रहों की चमक घटा-बढ़ा करती है, तो भी यह कहा जा सकता है कि चमक के विचार से शुक्र के बाद वृहस्पति की पारी है। रंग में यह शुक्र के ही समान है, परन्तु उससे कम चमकीला होने और क्षितिज

से बहुत ऊँचा दिखलाई पड़ने के कारण यह आसानी से पहचाना जा सकता है।

मंगल अंगारे के समान लाल दिखलाई पड़ता है। इसकी चमक बहुत-कुछ घटा-बढ़ा करती है। जिन दिनों यह हमारे बहुत समीप रहता है, उन दिनों कुछ सप्ताह तक यह बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। इसके लाल रंग के कारण संस्कृत में इसका एक नाम 'अंगारक' भी है।

शुक्र, बृहस्पति और मंगल को एक बार पहचान लेने पर पीछे जब कभी भी वे दिखलाई पड़ेंगे, वे आसानी से पहचान लिये जा सकेंगे--विशेषकर जब इस बात पर ध्यान रक्खा जायगा कि आकाश में वे केवल उसी भाग में दिखलाई पड़ते हैं, जिस भाग में सूर्य चला करता है--परन्तु अन्य ग्रहों की पहचान इतनी सरल नहीं है। बुध सदा सूर्य के पास रहता है और इसलिए केवल संध्या समय पश्चिमी क्षितिज से थोड़ी ऊँचाई पर या प्रातःकाल पूर्वीय क्षितिज से थोड़ी ऊँचाई पर देखा जा सकता है। शहरों में आकाश कभी इतना स्वच्छ नहीं रहता कि बुध आसानी से देखा जा सके।

शनि कभी भी क्षितिज से ऊँचाई पर दिखलाई पड़ सकता है, परन्तु विशेष चमकीला न होने के कारण पंचांग से इसकी स्थिति जाने बिना सुगमता से यह नहीं पहचाना जा सकता।

ग्रहों के नाम

प्राचीन काल में भारतवर्ष में और योरप में भी सात ग्रह माने जाते थे। रवि, सोम (चन्द्रमा), मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि ये ही प्राचीन सात ग्रह हैं। राहु और केतु कोई आकाशीय पिंड नहीं हैं। वे गणितसिद्ध बिन्दु हैं और उनको सम्मिलित करके ग्रहों की संख्या नौ भी मान ली जाती थी। परन्तु आधुनिक मतानुसार चन्द्रमा ग्रह नहीं है। यह सूर्य के बदले पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और इसलिए यह केवल एक उपग्रह है। हाँ, पृथ्वी अवश्य एक ग्रह है।

केवल वे ही पिंड 'ग्रह' माने जाते हैं, जो सूर्य के चारों ओर प्रायः वृत्ताकार मार्ग में चला करते हैं। इस प्रकार ग्रहों के नाम ये हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वारुणी (यूरेनस), वरुण (नेपच्यून) और यम (प्लूटो)। इनमें से प्रथम छः तो प्राचीन ग्रह हैं। 'यूरेनस' या 'वारुणी' का पता दूरदर्शक में बड़ा दिखलाई पड़ने के कारण लगा। 'नेपच्यून' या 'वरुण' का पता गणित द्वारा सन् १८४६ में लगा, और 'प्लूटो' या 'यम' का पता १९३० में गणित द्वारा लगा था। इनके अतिरिक्त अब डेढ़ हजार से कुछ अधिक और भी कई नन्हें-नन्हें ग्रह हमें ज्ञात हैं, जो सूर्य से प्रायः एक ही दूरी पर हैं और किसी एक ग्रह के टूटे हुए अंग जान पड़ते हैं। इनको 'अवान्तर ग्रह' कहा जाता है। इन अवान्तर ग्रहों तथा बुध, शुक्र आदि के अतिरिक्त सौर जगत् में केतु (पुच्छल तारों) की भी गणना की जाती है, क्योंकि ये भी सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं।

ग्रहों की दूरी और नाप

सौर जगत् का चित्र प्रायः सदा ही अशुद्ध पैमाने पर बनाया जाता है, क्योंकि यदि दूरियाँ ठीक पैमाने पर बनाकर किसी भी पुस्तक के पृष्ठ पर दिखलाई जाएँ तो उस पैमाने पर ग्रहों को सुई की नोक से भी छोटा दिखलाना पड़ेगा! इसलिए ग्रहों की शुद्ध दूरियों और नापों की कल्पना करने के लिए किसी अन्य उपाय का सहारा लेना पड़ता है। इस संबंध में यूरेनस के आविष्कारक के सुपुत्र सर जॉन हरशेल की दी हुई निम्न उपमा बड़ी सुन्दर है:--

"अच्छी तरह से समतल की हुई भूमि चुन लीजिए। इस पर दो फीट व्यास का एक गोला रख दीजिए। यह तो सूर्य को सूचित करेगा। इस पैमाने पर बुध एक दाना राई से निरूपित हो जायगा और यह १६४ फीट व्यास के वृत्त पर रहेगा; शुक्र एक दाना मटर के समान २४८ फीट व्यास के वृत्त पर; पृथ्वी भी मटर के बराबर ४३० फीट के वृत्त पर; मंगल बड़ी आलपीन के सिरे के बराबर ६५४ फीट के वृत्त पर; अवांतर ग्रह बालू के कण के समान १००० से १२०० फीट की कक्षा में; बृहस्पति न बहुत बड़ी न बहुत छोटी एक नारंगी के बराबर, लगभग आधे मील के वृत्त पर; शनि छोटी नारंगी के समान ⅘ मील के वृत्त पर; यूरेनस छोटी लीची के बराबर डेढ़ मील से भी बड़े वृत्त पर; और नेपच्यून बड़ी लीची के बराबर लगभग ढाई मील के वृत्त पर रहेगा। रहा विषय का सच्चा बोध कागज पर वृत्तों को खींचकर कराना, या इससे भी बुरा, लड़कों के उन खिलौनों द्वारा कराना, जिन्हें 'ऑरेरी' कहते हैं--इन उपायों पर तो विचार करना ही व्यर्थ है।"

उपर्युक्त पैमाने पर नवीन ग्रह यम (प्लूटो) लगभग ५ मील पर रहेगा और निकटतम तारा ११०० मील पर!

ग्रहों का वजन या तौल, आकर्षणशक्ति, आदि

वेध और गणित द्वारा ग्रहों की नापों और दूरियों के अतिरिक्त हम उनके तौल, आकर्षणशक्ति, ताप आदि के बारे में भी बहुतेरी बातें जानते हैं। ग्रहों के तौल में भी बड़ी विभिन्नता है। पृथ्वी का तौल १६,००० शंख मन है!
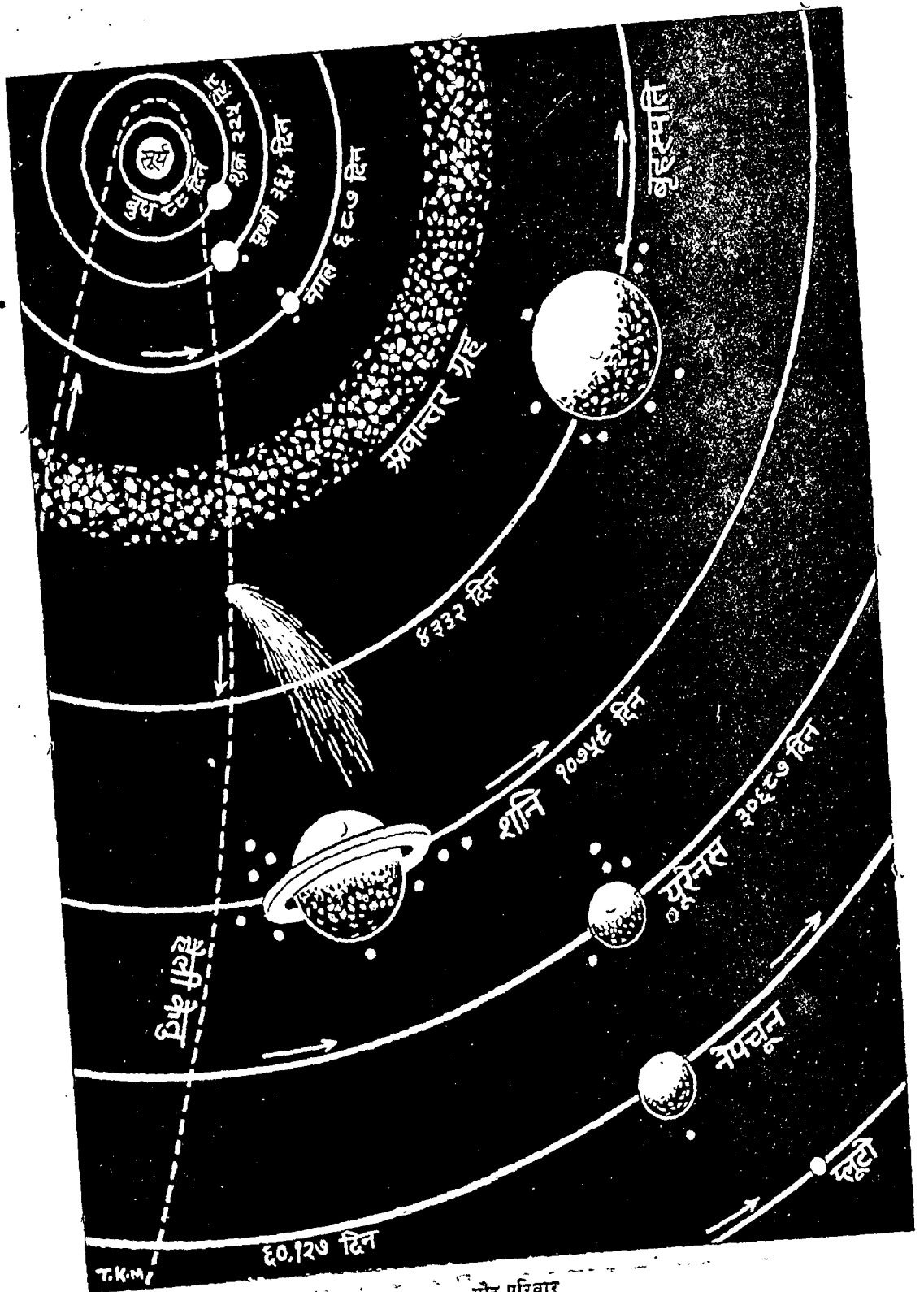
सौर परिवार

यह चित्र सही पैमाने पर नहीं बना है। इसमें केवल सूर्य के विशाल परिवार के विभिन्न सदस्यों की स्थिति तथा उनके भ्रमण-काल का एक अनुमान मात्र दिया गया है। ठीक पैमाने पर तो ग्रहों को सूर्य की तुलना में सुई की नोक से भी छोटा दिखाना होगा।

यदि कल्पना में न आनेवाले इस तौल का १ सेर की इकाई से निरूपण किया जाय तो उसी अनुपात में सूर्य ८,००० मन का, वृहस्पति ७॥। मन का, शनि २ मन १३सेर का, यूरेनस १७ सेर का, नेपच्यून १४ सेर का, शुक्र १३ छटाँक का, मंगल १॥ छटाँक का, बुध १ छटाँक का और चंद्रमा एक तोले का होगा ! इस प्रकार हम देखते हैं कि वृहस्पति अन्य ग्रहों के सम्मिलित तौल से भी भारी है और सूर्य सब ग्रहों के योग से भी ७५० गुना भारी है ।

ग्रहों के पृष्ठ पर आकर्षणशक्ति में उतना अधिक अंतर नहीं है, जितना उनके तौल में है । कारण यह है कि भारी ग्रह बड़े होते हैं और इसलिए केंद्र से दूरी बढ़ जाने के कारण वहाँ आकर्षणशक्ति उतनी अधिक नहीं बढ़ पाती, जितनी तौल के कारण बढ़नी चाहिए थी । गणना से पता चलता है कि डेढ़ मन के आदमी का तौल वृहस्पति पर तीन मन, शनि पर पौने दो मन, शुक्र पर सवा मन, यूरेनस और नेपच्यून पर भी लगभग इतना ही और बुध और मंगल पर आधे मन से कुछ ही ऊपर ठहरेगा । अवान्तर ग्रहों पर वही मनुष्य केवल दो-चार छटाँक का ही जान पड़ेगा ! तौल कमानीदार काँटे पर करना होगा; साधारण तराजू से तौलने पर तो कुछ भी पता न चलेगा, क्योंकि बाँटों का भी वजन उसी हिसाब से घटता-बढ़ता जायगा !

ग्रहों के आपेक्षिक घनत्व में भी बहुत अंतर है । पृथ्वी पानी की अपेक्षा साढ़े पाँच गुनी भारी है, परन्तु शनि पानी से भी हलका है । शनि तो पानी में उतराने लगेगा (यदि उसके लिए काफी बड़ा कोई जलाशय मिल सके) ! शुक्र पानी की अपेक्षा लगभग पाँच गुना भारी, बुध इससे कुछ हलका और मंगल साढ़े तीन गुना भारी है । शेष ग्रह इससे हलके हैं । वृहस्पति पानी से केवल सवा गुना ही
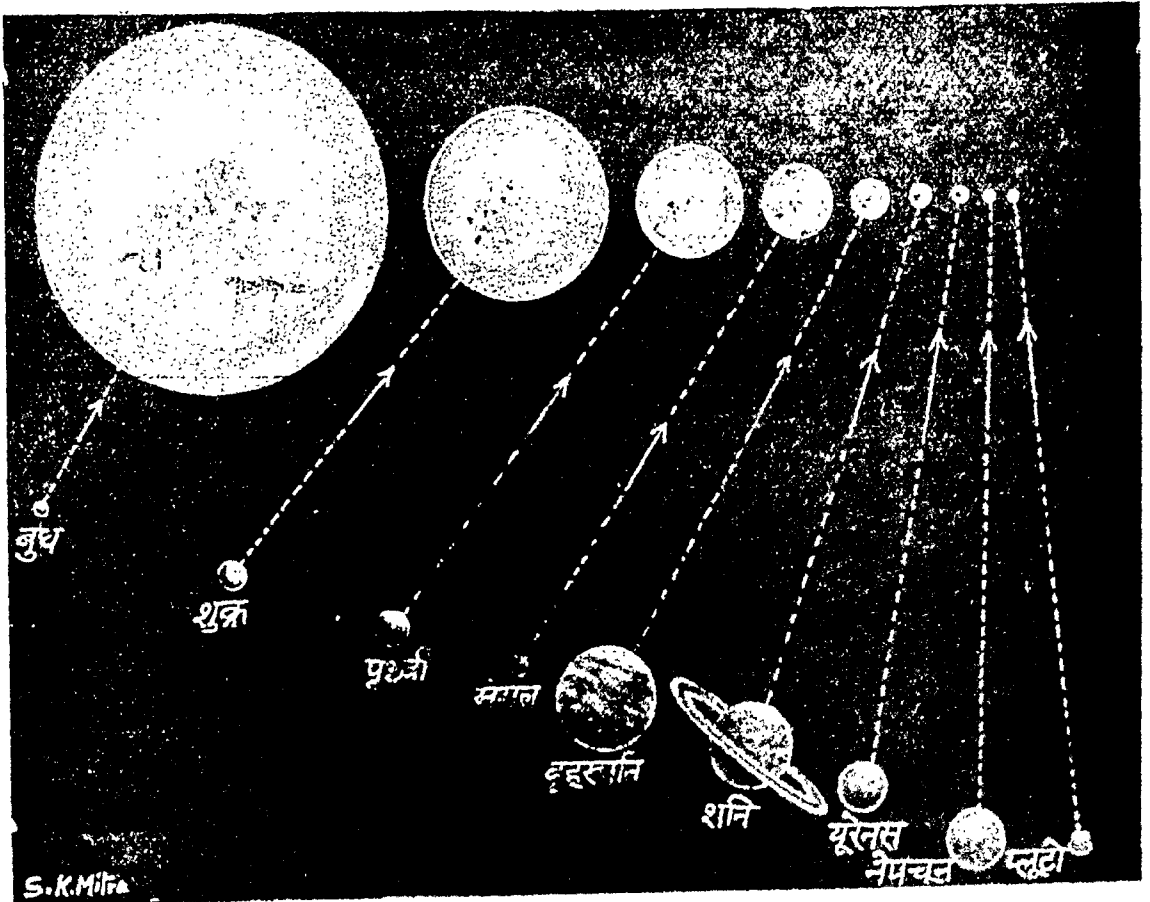
विभिन्न ग्रहों से दिखाई देनेवाला सूर्य का आकार

इस चित्र में यह बात दरसाई गई है कि ज्यों-ज्यों हम सूर्य से अधिकाधिक दूरी पर स्थित ग्रहों पर जायेंगे, त्यों-त्यों सूर्य का आकार वहाँ से कितना अधिकाधिक छोटा दिखाई देने लगेगा । सूर्य का आकार चित्र के ऊपरी भाग में दिखलाया है ।

भारी है। यूरेनस का आपेक्षिक घनत्व भी प्रायः इतना ही है और नेपच्यून का इससे थोड़ा ही कम है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर एक वार २४ घंटे में घूम लेती है। इसी से यहां दिन-रात का मान २४ घंटे का है। अन्य ग्रह भी अपनी धुरियों पर घूमते हैं और उन पर भी दिन-रात का चक्र चलता है, परंतु उनके दिन-रात का मान २४ घंटे का नहीं होता। वृहस्पति और शनि के दिन-रात क्रमानुसार दस और सवा दस घंटे के होते हैं। मंगल पर दिन-रात की लंबाई २४ घंटे से केवल ४१ मिनट अधिक है। चंद्रमा पर हमारे १८ दिनों का एक दिन और इतने ही समय की एक रात होती है। बुध, शुक्र, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो के बारे में ठीक पता नहीं है कि वे एक चक्कर कितने समय में लगाते हैं, क्योंकि उनके पृष्ठ पर कोई ऐसा स्पष्ट चिह्न नहीं दिखलाई पड़ता, जिससे ठीक पता लगाया जा सके।

सौर परिवार के सदस्यों के आकार की परस्पर तुलना

चित्र से स्पष्ट है कि सूर्य की तुलना में हमारी पृथ्वी केवल एक रजकण के बराबर है। सूर्य इतना बड़ा है कि उसमें हमारी पृथ्वी के समान १३,०५,००० गोले समा सकते हैं। इस पैमाने पर चंद्रमा तो सुई की नोक के चिन्ह से भी छोटा दिखाई देगा।
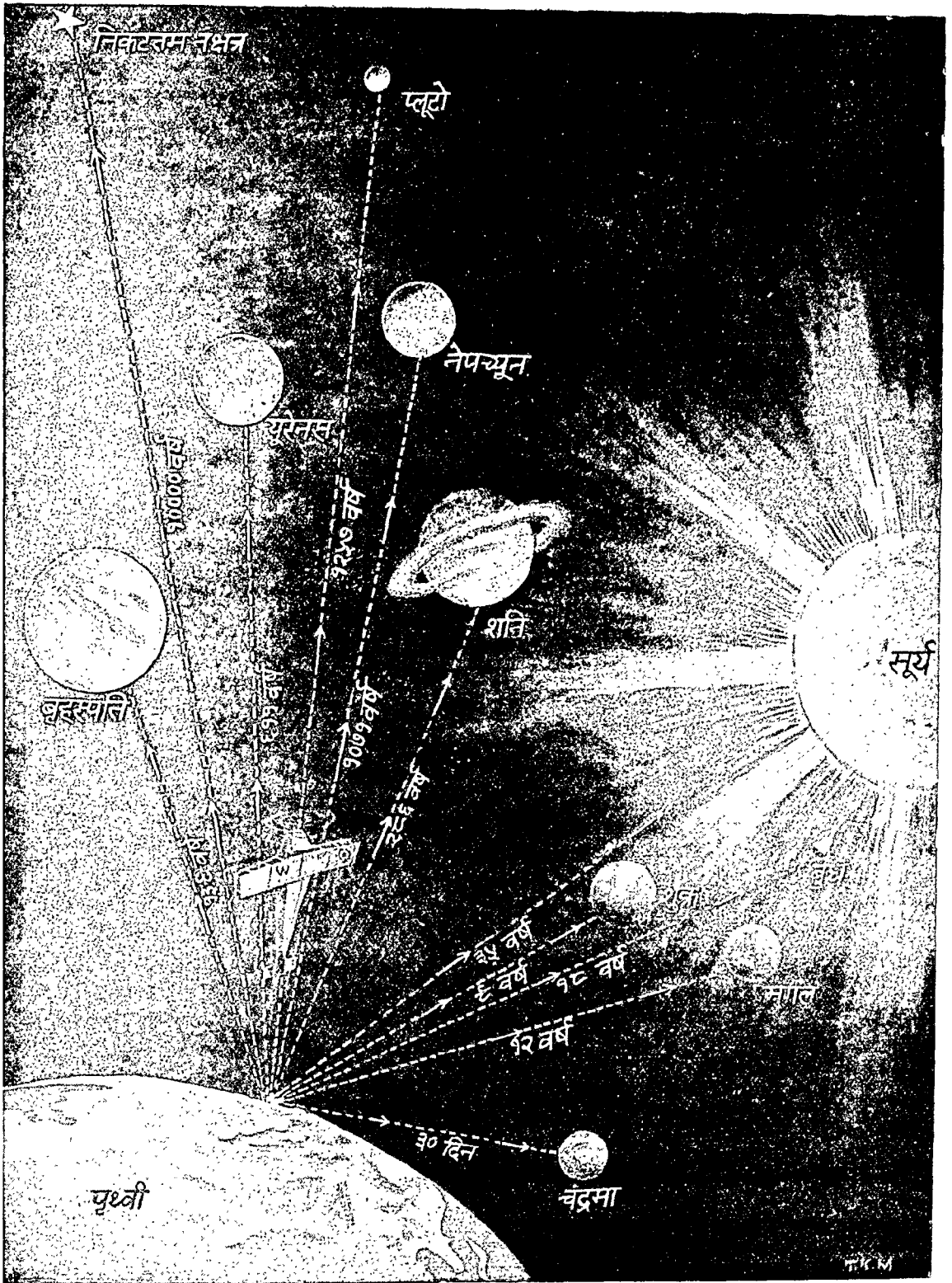
विभिन्न ग्रह-नक्षत्र पृथ्वी से कितने दूर हैं ?

पृथ्वी से चंद्रमा कम से कम २,२१,६१०; शुक्र २,३७,०१,०००; मंगल ३,३६,१६,०००; बुध ४,८०,२०,०००; सूर्य ६,१४,०६,०००; बृहस्पति ३६,५८,१६,०००; शनि ७४,२६,४६,०००; यूरेनस १,६०,६१,८३,०००; और नेपच्यून २,६७,४३,५७,००० मील दूर है। ३०० मील प्रति घंटे की गतिवाले वायुयान द्वारा इन तक पहुँचने में जो समय लगेगा वह चित्र में दिग्दर्शित है।

बुध से सूर्य बहुत बड़ा दिखलाई पड़ता होगा, क्योंकि वह सूर्य के बहुत निकट है। प्लूटो से सूर्य तारे के समान जान पड़ता होगा। पृथ्वी की अपेक्षा बुध को सूर्य से ७ गुनी अधिक गरमी मिलती है, प्लूटो को केवल नाम मात्र की।

ग्रहों में भी कलाएँ दिखाई पड़ती हैं

चंद्रमा की तरह बुध और शुक्र में भी कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। कारण यह है कि सभी ग्रह सूर्य के प्रकाश से चमकते हैं। उनमें से कोई भी इतना गरम नहीं है कि अपने प्रकाश के कारण हमको दिखलाई पड़े। परन्तु वे ग्रह जो पृथ्वी-कक्षा के बाहर हैं, हमें कभी भी द्वितीया के चंद्रमा की तरह क्षीण नहीं दिखलाई पड़ सकते। इसका कारण चित्र खींचकर विचार करने से मालूम हो जायगा। परन्तु उन ग्रहों में जो पृथ्वी-कक्षा के भीतर हैं, अर्थात् बुध और शुक्र में, ठीक चंद्रमा की तरह ही कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। कलाएँ देखने के लिए दूरदर्शक यंत्र चाहिए; कोरी आँख से प्रत्येक अवस्था में ग्रह तारे के समान ही जान पड़ते हैं। हाँ, कभी वे कम चमकीले और कभी अधिक चमकीले-से दिखलाई पड़ते हैं।

कलाओं की खोज का इतिहास बड़ा रोचक है। प्राचीन ज्योतिषियों का विश्वास था कि पृथ्वी अचल है और सूर्य तथा अन्य ग्रह इसके चारों ओर घूमा करते हैं। मध्ययुग में पोलैंड के गणितज्ञ कॉपरनिकस ने प्राचीन सिद्धान्त से सहमत न होकर यह सम्मति प्रकट की कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। उसे अपने सिद्धांत पर इतना विश्वास था कि उसने इसकी भी घोषणा की कि बुध और शुक्र में कलाएँ दिखलाई पड़ेंगी, क्योंकि यह सूर्य की प्रदक्षिणा करने का एक परिणाम है। उस समय इस बात की सत्यता की जाँच न हो सकी, क्योंकि उस समय दूरदर्शक की ईजाद नहीं हुई थी। कॉपरनिकस के मरने के ६० वर्ष बाद गैलीलियो ने अपने नवनिर्मित दूरदर्शक से इन कलाओं को पहलेपहल देखा। निश्चित रूप से यह जानने के लिए कि कलाएँ घटती-बढ़ती हैं या नहीं, गैलीलियो समय चाहता था, परन्तु साथ ही

सौर परिवार के सदस्यों के वजन का तुलनात्मक अनुमान

ऊपर एक काल्पनिक तराजू में तौलकर पृथ्वी का तौल दरसाया गया है। बाईं ओर पृथ्वी के उपर्युक्त १६,००,००,००,००,००,००,००,००,००,००० मन वजन को १ सेर की इकाई मानकर तब उसी के पैमाने पर सूर्य एवं अन्य ग्रहों के वजन दिग्दर्शित किये गये हैं। क्या आप प्रस्तुत मानचित्र द्वारा इस बात का अनुमान अपनी कल्पनाशक्ति में बिठा सकते हैं कि उपर्युक्त पैमाने पर सूर्य तथा बृहस्पति, शनि, यूरेनस, और नेपच्यून जैसे सौर परिवार के बड़े सदस्यों का कुल वजन कितना है? जरा सोचिए कि १६,००० शंख मन वजनी पृथ्वी से भी सूर्य ३,२०,००० गुना अधिक वजनी है! और तो और, शनि जिसका कि आपेक्षिक घनत्व पानी से बहुत कम है कुल मिलाकर पृथ्वी से ९३ गुना ज्यादा वजनी है!

डरता भी था कि कहीं कोई दूसरा व्यक्ति इसका स्वतंत्र रूप से आविष्कार करके पहले ही घोषणा न कर दे। इसलिए उसने अपनी खोज को लैटिन भाषा में निम्नलिखित पहेली के रूप प्रकाशित किया—

"*Haec immatura a me jam frustra leguntur o. y*" (अर्थात् इन कच्ची चीजों को मैंने गर्व के साथ तोड़ा है)

इन्हीं अक्षरों को दूसरे क्रम में लिखने से, जैसा गैलीलियो ने बतलाया, उसके आविष्कार का वर्णन हो जाता था—

"*Cynthinae figuras aemulatur mater amorum.*" (अर्थात् शुक्र चंद्रमा की कलाओं की नकल करता है।)

कुछ तो कलाओं के कारण और कुछ सूर्य से दूरी घटते-बढ़ते रहने के कारण ग्रहों की चमक बदलती रहती है। उदाहरणतः शुक्र अपनी कक्षा में चलते-चलते जब सूर्य के उस पार चला जाता है, तब पृथ्वी और शुक्र के बीच की दूरी दोनों की कक्षाओं के व्यासार्धों के योग के बराबर हो जाती है। परन्तु जब शुक्र सूर्य के इस पार रहता है, तब उसकी दूरी केवल दोनों कक्षाओं के व्यासार्धों के अंतर के बराबर रहती है। परिणाम यह होता है कि ग्रहों की चमक और दूरदर्शक से देखने पर उनकी नाप हमें कभी कम कभी अधिक दिखलाई पड़ती है।

अक्ष-भ्रमण और प्रदक्षिणा

प्रत्येक ग्रह अपनी अक्ष पर घूमा करता है और साथ ही वह सूर्य की प्रदक्षिणा भी किया करता है। बुध को छोड़कर सभी ग्रहों के एक या अधिक उपग्रह भी हैं, जो ठीक उसी प्रकार उनकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, जैसे चंद्रमा पृथ्वी की करता है। ये उपग्रह भी अपनी अक्ष पर घूमा करते हैं। इन सब चक्करों में घूमने या चलने की दिशा एक ही रहती है। यदि कोई हमारे सौर जगत् को उत्तरी ध्रुव से देखे तो उसे पता चलेगा कि सभी ग्रह और प्रायः सभी उपग्रह अक्ष-भ्रमण और प्रदक्षिणा में घड़ी की सुइयों के चलने की दिशा से उल्टी दिशा में चल रहे हैं। प्रत्यक्ष है कि इसका कोई कारण होगा! प्रसिद्ध फ्रेन्च ज्योतिषी और गणितज्ञ लाप्लास के नीहारिका-सिद्धांत के अनुसार हमारा सौर जगत् एक नाचती हुई नीहारिका के घनीभूत हो जाने से बना है। नीहारिका स्वयं उपर्युक्त दिशा में नाच रही थी। इसी से सब ग्रह और उपग्रह इस दिशा में आज भी नाच रहे हैं। एक-दो उपग्रह ही केवल उल्टी दिशा में चलते हैं। कारण यह है कि वे अपने ग्रहों से दूरी पर हैं और इसलिए उन पर ग्रह की आकर्षणशक्ति का क्षीण प्रभाव पड़ता है। किसी समय ये उपग्रह किसी अन्य आकाशीय पिंड के आकर्षण में पड़ गये होंगे, जिससे शायद उनकी गति उलट गई होगी।

चमक

ग्रहों पर सूर्य का प्रकाश कितना पड़ रहा है, इसकी गणना आसानी से की जा सकती है। फिर, देखने से हम यह भी जानते हैं कि ग्रह हमें कितना चमकीला ज्ञात होता है। इसलिए यह सुगमता से जाना जा सकता है कि ग्रह की सतह वस्तुतः कितनी चमकीली है—उसकी परिक्षेपण-शक्ति क्या है। श्वेत बादलों पर जब प्रकाश पड़ता है तो तीन-चौथाई भाग लौट आता है। इसीलिए श्वेत बादल हमें बहुत चमकीला जान पड़ता है। इसके विपरीत जब काले पत्थरों पर प्रकाश पड़ता है तो प्रकाश का केवल बीसवाँ भाग ही लौट पाता है। शेष प्रकाश को काला पत्थर सोख लेता है। इसीलिए काला पत्थर हमको काला और बिना चमक का जान पड़ता है। बादलों की परिक्षेपण-शक्ति बहुत अधिक है, काले पत्थरों की बहुत कम। शुक्र की परिक्षेपण-शक्ति प्रायः श्वेत बादलों की-सी है, जिससे पता चलता है कि यह सदा बादलों के अन्दर छिपा रहता है। हम शुक्र की असली सतह को नहीं देख पाते। बुध पर बादल नहीं हैं, मंगल पर भी नहीं हैं, परन्तु बृहस्पति पर अवश्य बादल के समान ही चमकीला कोई पदार्थ है। संभवतः यह जलयुक्त बादल के बजाय किसी गैस का बादल होगा, क्योंकि सूर्य से बहुत दूर होने के कारण बृहस्पति इतना गरम न होगा कि वहाँ साधारण जल-वाष्प के बादल रहें। वहाँ तो पानी जमकर बर्फ हो जायगा, बादल की कौन कहे!

ग्रहों के प्रदक्षिणा-काल और उनकी कक्षाएँ

सूर्य के चारों ओर एक बार घूमने में पृथ्वी को एक वर्ष लगता है। बुध की एक प्रदक्षिणा केवल ३ महीने में ही हो जाती है। शुक्र को ७ महीने लगते हैं, मंगल को लगभग २ वर्ष, बृहस्पति को १२ वर्ष, शनि को २९॥ वर्ष, यूरेनस को ८४ वर्ष, नेपच्यून को १६५ वर्ष और प्लूटो को २४९ वर्ष! ये प्रदक्षिणा-काल एक नियम के अनुसार बढ़ते हैं, जिनका पहलेपहले केप्लर को पता लगा था।

ग्रह वृत्त में नहीं चलते, वे दीर्घवृत्त में चलते हैं। सूर्य दीर्घवृत्त के केन्द्र पर रहने के बदले उसकी एक नाभि पर रहता है। दीर्घवृत्त और उसकी नाभि को जानने के लिए भूमि में दो कीलें गाड़ दीजिए और इन कीलों को तागे की

यदि हम बुध पर पहुँच पाते तो हमें क्या दिखाई देता ? सूर्य से अति निकट होने के कारण बुध पर भीषण ताप-क्रम रहता होगा, साथ ही वहाँ वायुमंडल का सर्वथा अभाव होगा। वहाँ हमें दिखाई देंगे करकराती धारीवाले ऊँचे पहाड़ और दरार तथा निरभ्र नीलाकाश में प्रखर रूप से तपता हुआ विशाल आग के गोले जैसा सूर्य, जिसका कॉरोना भी स्पष्ट दिखाई पड़ता होगा। इस चित्र में, यही कल्पना की गई है।
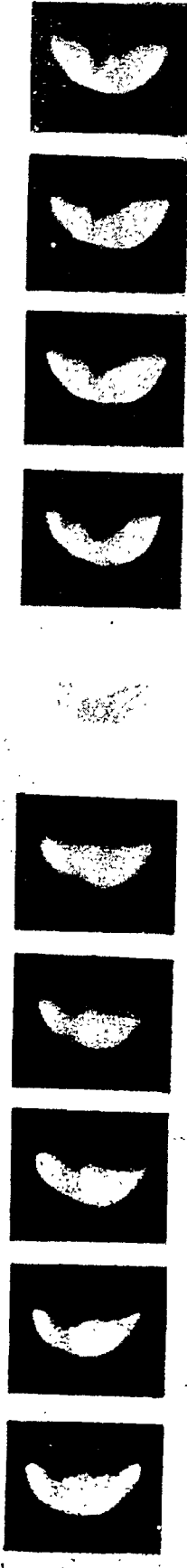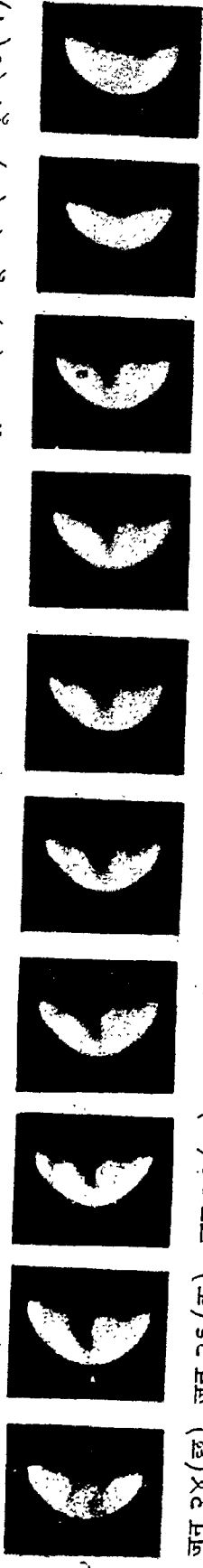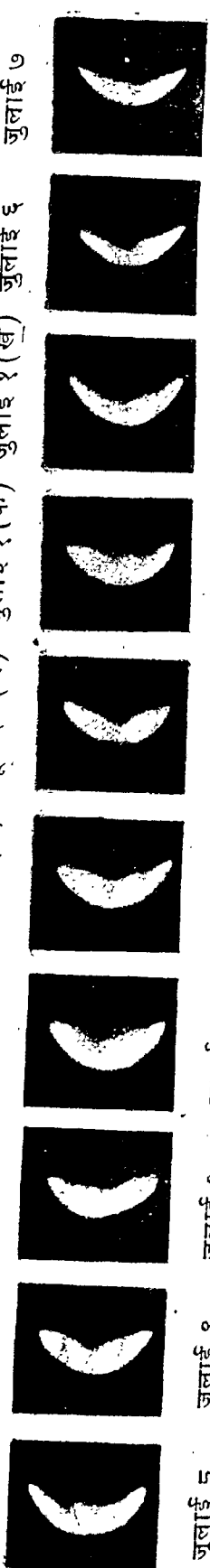
शुक्र के चालीस फोटो : ये फोटो अमेरिका की 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंची और ६० इंची दूरदर्शकों द्वारा एक के बाद एक उन तारीखों को लिए गए थे, जो प्रत्येक फोटो के नीचे अंकित हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ही दिनों के अरसे में क्रमशः शुक्र किस तरह चन्द्रमा की तरह क्षीण होता दिखाई दिया।

ाला पहना दीजिए। तागे को पेन्सिल से तानकर पेंसिल चलाइए। इस प्रकार जो रेखा खिंचेगी, वह दीर्घवृत्त होगी। कीलें इसकी नाभियों पर रहेंगी। माला को छोटी या बड़ी रखने से कम या अधिक चपटा दीर्घवृत्त बनेगा। सब ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त में चलते हैं, केवल पुच्छल तारे चपटे अर्थात् बहुत अधिक लंबे दीर्घवृत्तों में चलते हैं।

उपग्रह

उपग्रह भी ग्रहों की प्रदक्षिणा दीर्घवृत्त में चलकर करते हैं, जिसकी नाभि के स्थान पर ग्रह रहता है। मंगल के दो उपग्रह हैं; बृहस्पति के नौ, जिनमें से बाहरी दो उल्टी दिशा में चलते हैं। शनि के भी नौ उपग्रह हैं; जिनमें से सबसे दूरवाला उल्टी दिशा में चलता है। यूरेनस के चार उपग्रह हैं और नेपच्यून का एक। बुध, शुक्र और प्लूटो के अभी तक कोई उपग्रह नहीं देखे गये हैं। पृथ्वी के एकमात्र उपग्रह चन्द्रमा के बारे में आप विस्तृत जानकारी पिछले एक खण्ड में प्राप्त कर ही चुके हैं।

बुध और शुक्र
सूर्य से सबसे निकट के ग्रह

ग्रहों में बुध और शुक्र सूर्य से सबसे कम दूरी पर हैं। इन दोनों की कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के भीतर पड़ती हैं, इसीलिये ये दोनों क्षितिज से कुछ ऊँचाई पर संध्या समय या सूर्योदय से कुछ घंटे पूर्व या बाद दिखाई पड़ते हैं।

बुध और शुक्र ये दोनों ग्रह पृथ्वी से केवल संध्या समय या प्रातःकाल ही दिखलाई पड़ते हैं। बात यह है कि पृथ्वी इन ग्रहों की कक्षाओं के बाहर है। इसलिए न तो बुध और न शुक्र उस दिशा में जा सकता है, जो सूर्य से उल्टी ओर पड़ती है। बुध तो विशेष रूप से सूर्य के पास ही रहता है क्योंकि इसकी कक्षा छोटी है। परिणाम यह होता है कि बुध या तो पश्चिम दिशा में सूर्यास्त के दो घंटे बाद तक या पूर्व दिशा में सूर्योदय के इतने ही समय पहले तक देखा जा सकता है; और इतना समय भी तब मिलता है, जबकि बुध सूर्य से एक ओर या दूसरी ओर महत्तम कोणीय दूरी पर पहुँचता है। साधारणतया सूर्यास्त के बाद बुध शीघ्र ही डूब जाता है, या सूर्योदय के थोड़े ही समय पहले उदय होता है। फिर, सूर्यास्त के कुछ समय बाद तक पश्चिमीय आसमान और सूर्योदय के कुछ समय पहले तक पूर्वीय आसमान लाल रहा करता है।
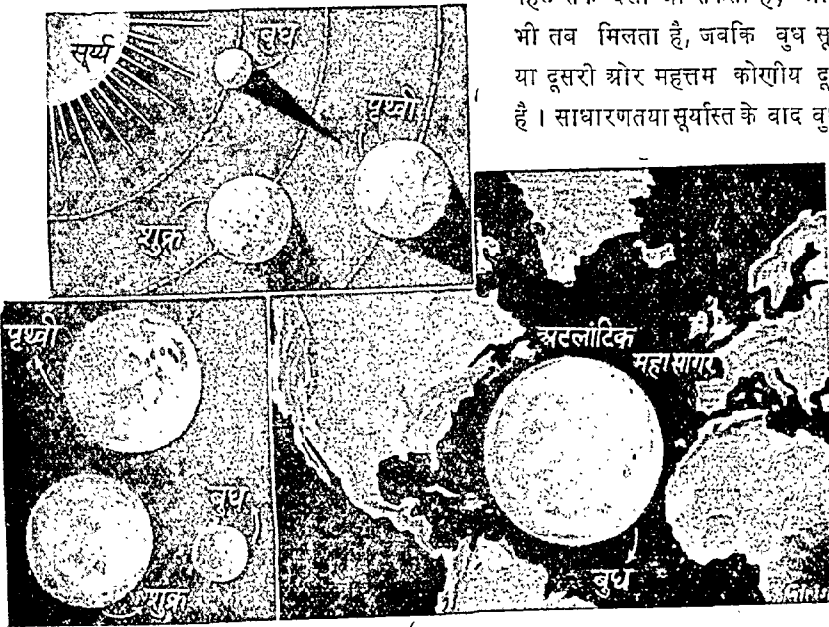
हमारे दो पड़ोसी ग्रह — बुध और शुक्र

(ऊपर) बुध और शुक्र की कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के भीतर हैं, इसीलिए ये दोनों ग्रह सूर्योदय या सूर्यास्त के कुछ घंटे पूर्व या बाद ही दिखलाई पड़ते हैं। इसी कारण इनमें कलाएँ भी दिखाई देती हैं। (नीचे बाईं ओर) बुध, शुक्र और पृथ्वी के आकारों की तुलना कीजिए। (नीचे दाहिनी ओर) बुध इतना छोटा है कि वह अटलांटिक महासागर के उत्तरी भाग में बिना स्थलभाग को छुए गेंद की तरह समा सकता है!

फलतः बुध को बहुत कम लोग देख पाते हैं। शहरों के रहनेवालों में से तो इने-गिने लोगों ने ही इसे देखा होगा, क्योंकि शहरों की हवा साफ नहीं रहती।

कभी प्रातः-काल, कभी संध्या समय, दिखलाई पड़ने के कारण और अन्य समय अदृश्य रहने के कारण प्राचीन यूरोपीय लोगों का पहले यह विश्वास था कि वस्तुतः दो विभिन्न ग्रह हैं, जिनमें से एक प्रातःकाल और एक संध्या के समय दिखलाई पड़ता है। यहाँ तक कि इनके लिए अलग - अलग नाम भी रख लिये गये थे। प्रातःकाल दिखलाई पड़नेवाले ग्रह को 'अपोलो' और संध्या के समय दिखलाई पड़नेवाले ग्रह को 'मरक्युरी' के नाम से पुकारा जाता था। परन्तु पीछे जब ज्योतिष का ज्ञान बढ़ा तब पता चल गया कि ये वस्तुतः दो ग्रह नहीं हैं, केवल एक ही ग्रह कभी प्रातः-काल, कभी सन्ध्या के समय दिखलाई पड़ता है। अब बुध को बराबर 'मरक्युरी' नाम से ही सूचित किया जाता है।
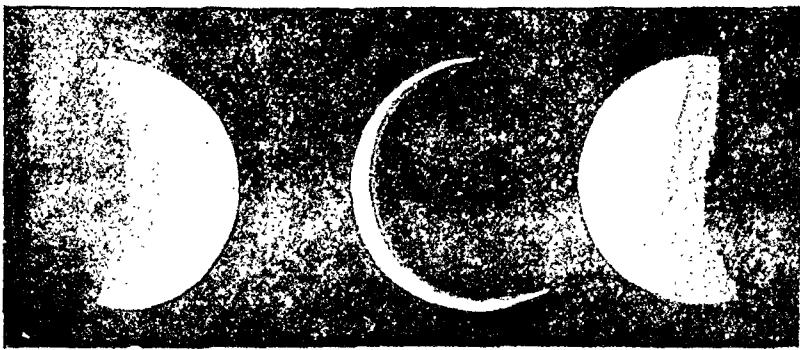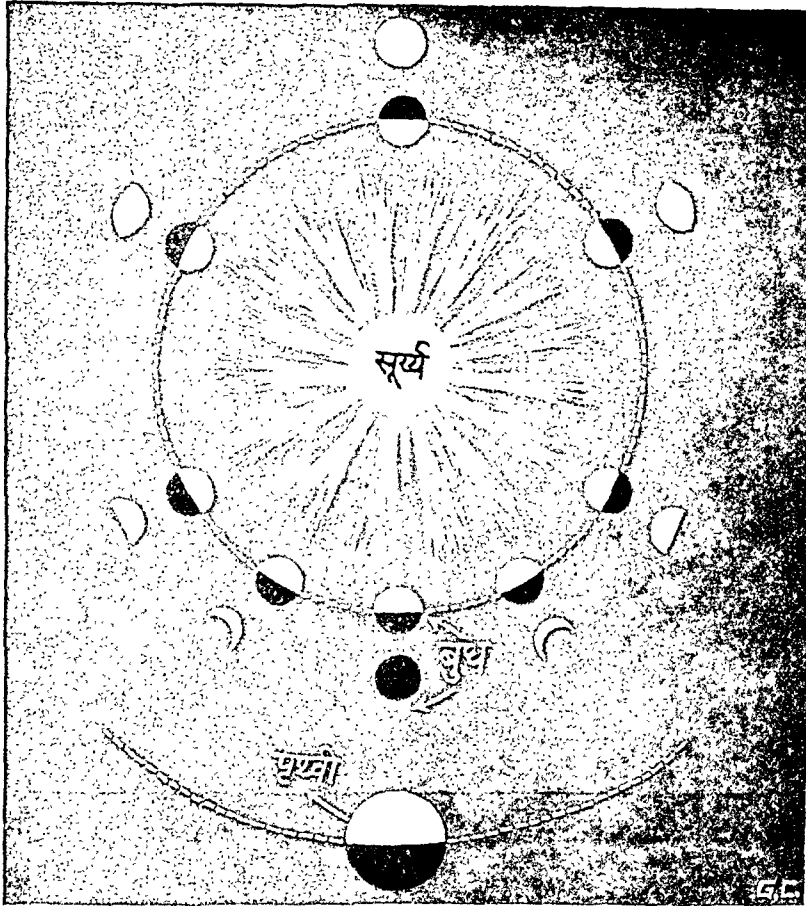
बुध में भी चंद्रमा की तरह कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं

कारण स्पष्ट है। पृथ्वी की कक्षा बुध की कक्षा से बाहर है, अतएव परिभ्रमण के समय विभिन्न स्थितियों में हमें बुध के अर्द्ध-प्रकाशित भाग का एक विशेष कोण ही दिखलाई पड़ता है, जो घटता-बढ़ता रहता है। ऊपर के चित्र में विभिन्न स्थितियों में बुध के वास्तविक प्रकाशित भाग के साथ-साथ उसी का पृथ्वी से दिखाई देनेवाला कला-रूप दिया गया है। (नीचे) ज्योतिषी श्रेटर के अनुसार बुध के कुछ चित्र, जिनमें कलाएँ स्पष्ट हैं।

बुध—आकृति और धरातल

प्रातःकाल और संध्या के समय क्षितिज के पास दिखलाई पड़ने के कारण बुध की सतह की अच्छी जाँच नहीं हो पाती। परन्तु वह काफी चमकीला है, इसलिए दूरदर्शक से दिन में भी वह अच्छी तरह देखा जा सकता है। इस प्रकार बुध पर बहुत कुछ हलकी अतीक्ष्ण रेखाएँ और धब्बे देखे गये हैं। ये बड़ी मुश्किल से दिखलाई पड़ते हैं और सो भी तभी जब हमारा वायुमंडल विशेष रूप से स्वच्छ रहता है। इटली के प्रसिद्ध ज्योतिषी शायापरेली ने

आज से लगभग पचास वर्ष पहले वुध का एक नकशा भी तैयार किया था, जिसमें छः-सात रेखाओं की स्थितियाँ प्रदर्शित की गई थीं। परन्तु यह नकशा सर्वमान्य नहीं हो सका। खेद की वात है कि संसार में वड़े दूरदर्शक काफी संख्या में नहीं हैं, अन्यथा एक-दो दूरदर्शकों से वुध आदि ग्रहों की जाँच वरावर की जा सकती और उनकी आकृतियों का अधिक सच्चा ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता। परन्तु इन दिनों सभी वड़े-वड़े दूरदर्शक 'नवीन ज्योतिष' संवंधी अनुसंधानों में लगे हैं। उनसे नक्षत्रों की रासायनिक तथा भौतिक रचना आदि जानने की चेष्टा की जा रही है। इसीलिए हमें इन ग्रहों के संवंध में अभी पचास वर्ष पुरानी खोज से ही संतोष करना पड़ता है। ऊपर उल्लिखित वुध की रेखाओं और धब्बों को कुछ समय तक देखते रहने से पता चला है कि सूर्य की परिक्रमा वुध इस प्रकार करता है कि सदा उसका एक ही भाग सूर्य की ओर रहता है। इसलिए वुध सूर्य के चारों ओर ठीक उसी प्रकार घूम रहा है, जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। गति-सिद्धान्त से पता चलता है कि जव कोई तरल या अर्ध-तरल आकाशीय पिंड किसी दूसरे भारी पिंड की परिक्रमा करता है तो ऐसा ज्वार-भाटा और ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि परिक्रमा करनेवाले पिंड का अक्षभ्रमण मंद पड़ता चला जाता है और अन्तिम अवस्था यही होती है कि सदा उसका एक ही मुख केन्द्रीय पिंड की ओर रहता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि वुध का एक तरफ का आधा भाग ही सदा सूर्य की ओर रहता हो और दूसरे आधे को कभी भी सूर्य का दर्शन न होता हो।

शुक्र की कलाएँ

वुध की तरह शुक्र में भी हमें कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। अपनी कक्षा में विभिन्न स्थितियों से शुक्र पृथ्वी से कैसा दिखाई देता है, यह ऊपर के चित्र में दरसाया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब शुक्र पृथ्वी से दूरतम स्थिति पर होता है, तभी वह पूर्ण दिखाई देता है। पर उस समय वह बहुत छोटा दिखाई देता है। सबसे निकट आने पर सूर्य की आड़ में आने के कारण शुक्र अमावस्या के चाँद की तरह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाता है।

वुधपृष्ठ की झाँकी और वहाँ की भीषण गरमी

यदि ऊपर की वात ठीक हुई—और संभावना यही है कि शायापरेली की वतलाई हुई वातें ठीक हैं—तो वुध के उस आधे भाग में, जो सदा सूर्य की ओर रहता है, भयानक गरमी पड़ती होगी। एक तो वुध सूर्य के वहुत समीप है, दूसरे वहाँ वायुमंडल या वादल नहीं हैं, जिससे धूप से कोई रक्षा हो, और फिर आधे भाग पर धूप वरावर पड़ा करती है, रात होती ही नहीं; इसलिए इस आधे भाग का ताप इतना अधिक होगा कि वहाँ सीसा धातु भी पिघल जायगी!

वुध पर पहाड़, पहाड़ियाँ, दरार और गड्ढे अवश्य होंगे, क्योंकि आरम्भ में यह ग्रह इतना गरम रहा होगा कि वह अर्धतरल जैसा रहा होगा। ठंडा होने पर उसकी सतह ऊबड़-खावड़ हो गई होगी, कई जगहों में वह फट भी गई होगी। परन्तु वायुमंडल और वर्षा के अभाव में ये पहाड़, टीले और दरारें आज भी वैसी ही करकराती धार के होंगे, जैसे वे पहले रहे होंगे। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम वुध पर पहुँचें तो क्या देखेंगे। केवल ऊँचे-ऊँचे भयानक पहाड़, गहरी दरारें और पथरीले मैदान; ऐसी भयानक गरमी कि छूते ही हमारे हाथ-पैर जल जायँ; ऐसी तेज धूप, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते; साथ ही

स्याही जैसी काली परछाइयाँ; इतना स्वच्छ नीला आकाश कि सब तारे बराबर दिखलाई पड़ते होंगे; इतना ही नहीं, आकाश इतना निर्मल होगा कि सूर्य का कॉरोना भी बराबर दिखाई पड़ता होगा !, चन्द्रमा के समान यहाँ भी जीव-रहित, शब्द-रहित सूना संसार होगा। दूसरे आधे भाग में भी दृश्य ऐसा ही होगा, परन्तु वहाँ प्रकाश केवल तारों से ही मिलता होगा और बेहद सरदी पड़ती होगी।

उस आधे भाग में, जिधर बराबर धूप रहती है, सदा समान गरमी न पड़ती होगी। बुध की कक्षा गोल नहीं, वरन् दीर्घवृत्ताकार है; और सूर्य केन्द्र पर नहीं, वरन् एक ओर है। इसलिए बुध कभी सूर्य के समीप, कभी इससे दूर हो जाता है। अन्तर बहुत तो नहीं है; तो भी महत्तम गरमी लघुतम की दुगुनी होती होगी।

क्या बुध पर वायुमण्डल है ?

बुध पर वायुमंडल नहीं है, इसे हम निश्चय रूप से जानते हैं। यदि इस पर वायुमंडल होता तो उस समय जब बुध सूर्य के सामने पड़ जाता है, वह हमें दिखलाई पड़ता, ठीक उसी प्रकार जैसे शुक्र का वायुमंडल हमें दिखलाई पड़ता है। परन्तु यदि वायुमंडल इतना गहरा न होता कि वह हमें इस प्रकार दिखलाई पड़े, तो भी इसका पता तो हमें चल ही जाता, क्योंकि कला के रूप में बुध के दिखलाई पड़ने पर शृंग (नोक) वायुमंडल के कारण कुछ अधिक लंबे दिखलाई पड़ते। इससे स्पष्ट है कि बुध वायुमंडलरहित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। चन्द्रमा पर वायुमंडल नहीं है। इसी प्रकार बुध पर भी वायुमंडल नहीं होगा। बुध छोटा और हलका है—वह शनि और बृहस्पति के बड़े उपग्रहों से भी छोटा है। इसलिए उसकी आकर्षण-शक्ति कम है। वायु और सभी गैसों में प्रसरण का गुण होता है। गैसों के अणु एक दूसरे से टकराया करते हैं। इसलिए वायुमंडल की ऊपरी सतह में स्थित अणुओं में यही प्रवृत्ति होती है कि वे अन्तरिक्ष में निकल जायँ। केवल ग्रह के आकर्षण के कारण ये ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु यदि ग्रह का आक[illegible] तो वे अवश्य ही अंतरिक्ष में चले जायँगे। इसलिए यदि बुध पर आरंभ में वायुमंडल रहा भी होगा तो वह बहुत समय तक न टिक सका होगा।

विभिन्न प्रकाशों द्वारा लिये गये शुक्र के फोटो
दाहिनी ओर के ऊपर-नीचे के दो फोटो इन्फ्रा-रेड प्रकाश से और बाईं ओर के ऊपर-नीचे के दो फोटो अल्ट्रा-वायोलेट प्रकाश से लिये गये हैं। इनमें अंतर अवश्य है, पर ब्योरे के अभाव में अभी इनसे कोई विशेष बातें ज्ञात नहीं हो पाई हैं। [फोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

हम बुध की सतह को अच्छी तरह देख नहीं पाये हैं, परन्तु इसकी गणना आसानी से हम कर सकते हैं कि सूर्य से उस पार कितना प्रकाश पड़ता है। फिर हम यह भी जानते हैं कि बुध हमें कितना चमकीला जान पड़ता है। इन दोनों प्रकाशों की तुलना से पता चलता है कि बुध का धरातल बहुत चमकीला नहीं है। इस पर पड़नेवाले प्रकाश का केवल ७ प्रतिशत भाग ही लौटता है। इसलिए वहाँ के पत्थर चन्द्रमा के पत्थरों से भी गाढ़े रंग के—प्रायः काले—होंगे।

रवि-बुध-गमन

बुध सूर्य के चारों ओर घूमता है और हम प्रायः बुध-कक्षा में ही रहकर इस दृश्य को दूर से देख रहे हैं। इसलिए बुध स्वभावतः कभी-कभी सूर्य के सामने पड़ जाता है और तब यह हमें सूर्य-बिंब पर नन्हें-से कलंक के समान दिखलाई पड़ता है। पूर्णतया गोल और शीघ्रगामी होने के कारण इसमें और असली सूर्य-कलंक में भ्रम नहीं हो सकता। ये रवि-बुध-गमन के अवसर ज्योतिषियों के लिए विशेष महत्त्व के तो नहीं हैं, परन्तु साधारण व्यक्तियों को इन्हें देखने की इच्छा हो सकती है। इसलिए, भविष्य में होनेवाले रवि-बुध-गमनों की तिथियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१९६० (नवंबर ६) १९७३ (नवंबर ९)
१९७० (मई ९) १९८६ (नवंबर १२)

गमन का ठीक समय जानने के लिए पंचांग देखना चाहिए। मार्के की बात यह है कि आगामी रवि-शुक्र-गमन सन् २००४ ई० में ८ जून को लगेगा और पिछला सन् सन् १८८२ में लगा था।

शुक्र — सबसे अधिक चमकीला ग्रह

बुध की तरह शुक्र भी केवल प्रातःकाल या संध्या समय दिखलाई पड़ता है, परन्तु शुक्र की कक्षा बुध की कक्षा से

स्याही जैसी काली परछाइयाँ; इतना स्वच्छ नीला आकाश कि सब तारे बराबर दिखलाई पड़ते होंगे; इतना ही नहीं, आकाश इतना निर्मल होगा कि सूर्य का कॉरोना भी बराबर दिखाई पड़ता होगा !. चन्द्रमा के समान यहाँ भी जीव-रहित, शब्द-रहित सूना संसार होगा। दूसरे आधे भाग में भी दृश्य ऐसा ही होगा, परन्तु वहाँ प्रकाश केवल तारों से ही मिलता होगा और बेहद सरदी पड़ती होगी।

उस आधे भाग में, जिधर बराबर धूप रहती है, सदा समान गरमी न पड़ती होगी। बुध की कक्षा गोल नहीं, वरन् दीर्घवृत्ताकार है; और सूर्य केन्द्र पर नहीं, वरन् एक ओर है। इसलिए बुध कभी सूर्य के समीप, कभी इससे दूर हो जाता है। अन्तर बहुत तो नहीं है; तो भी महत्तम गरमी लघुतम की दुगुनी होती होगी।

विभिन्न प्रकाशों द्वारा लिये गये शुक्र के फोटो
दाहिनी ओर के ऊपर-नीचे के दो फोटो इन्फ्रा-रेड प्रकाश से और बाईं ओर के ऊपर-नीचे के दो फोटो अल्ट्रा-वायोलेट प्रकाश से लिये गये हैं। इनमें अंतर अवश्य है, पर ब्योरे के अभाव में अभी इनसे कोई विशेष बातें ज्ञात नहीं हो पाई हैं। [फोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

क्या बुध पर वायुमण्डल है ?

बुध पर वायुमंडल नहीं है, इसे हम निश्चय रूप से जानते हैं। यदि इस पर वायुमंडल होता तो उस समय जब बुध सूर्य के सामने पड़ जाता है, वह हमें दिखलाई पड़ता, ठीक उसी प्रकार जैसे शुक्र का वायुमंडल हमें दिखलाई पड़ता है। परन्तु यदि वायुमंडल इतना गहरा न होता कि वह हमें इस प्रकार दिखलाई पड़े, तो भी इसका पता तो हमें चल ही जाता, क्योंकि कला के रूप में बुध के दिखलाई पड़ने पर शृंग (नोक) वायुमंडल के कारण कुछ अधिक लंबे दिखलाई पड़ते। इससे स्पष्ट है कि बुध वायुमंडलरहित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। चन्द्रमा पर वायुमंडल नहीं है। इसी प्रकार बुध पर भी वायुमंडल नहीं होगा। बुध छोटा और हलका है—वह शनि और बृहस्पति के बड़े उपग्रहों से भी छोटा है। इसलिए उसकी आकर्षण-शक्ति कम है। वायु और सभी गैसों में प्रसरण का गुण होता है। गैसों के अणु एक दूसरे से टकराया करते हैं। इसलिए वायुमंडल की ऊपरी सतह में स्थित अणुओं में यही प्रवृत्ति होती है कि वे अन्तरिक्ष में निकल जायँ। केवल ग्रह के आकर्षण के कारण ये ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु यदि ग्रह का आकर्षण कम हो तो वे अवश्य ही अंतरिक्ष में चले जायँगे। इसलिए यदि बुध पर आरंभ में वायुमंडल रहा भी होगा तो वह बहुत समय तक न टिक सका होगा।

हम बुध की सतह को अच्छी तरह देख नहीं पाये हैं, परन्तु इसकी गणना आसानी से हम कर सकते हैं कि सूर्य से उस पार कितना प्रकाश पड़ता है। फिर हम यह भी जानते हैं कि बुध हमें कितना चमकीला जान पड़ता है। इन दोनों प्रकाशों की तुलना से पता चलता है कि बुध का धरातल बहुत चमकीला नहीं है। इस पर पड़नेवाले प्रकाश का केवल ७ प्रतिशत भाग ही लौटता है। इसलिए वहाँ के पत्थर चन्द्रमा के पत्थरों से भी गाढ़े रंग के—प्रायः काले—होंगे।

रवि-बुध-गमन

बुध सूर्य के चारों ओर घूमता है और हम प्रायः बुध-कक्षा में ही रहकर इस दृश्य को दूर से देख रहे हैं। इसलिए बुध स्वभावतः कभी-कभी सूर्य के सामने पड़ जाता है और तब यह हमें सूर्य-बिंब पर नन्हें-से कलंक के समान दिखलाई पड़ता है। पूर्णतया गोल और शीघ्रगामी होने के कारण इसमें और असली सूर्य-कलंक में भ्रम नहीं हो सकता। ये रवि-बुध-गमन के अवसर ज्योतिषियों के लिए विशेष महत्त्व के तो नहीं हैं, परन्तु साधारण व्यक्तियों को इन्हें देखने की इच्छा हो सकती है। इसलिए भविष्य में होनेवाले रवि-बुध-गमनों की तिथियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१९६० (नवंबर ६)	१९७३ (नवंबर ९)
१९७० (मई ९)	१९८६ (नवंबर १२)

गमन का ठीक समय जानने के लिए पंचांग देखना चाहिए। मार्के की बात यह है कि आगामी रवि-शुक्र-गमन सन् २००४ ई० में ८ जून को लगेगा और पिछला सन् सन् १८८२ में लगा था।

शुक्र — सबसे अधिक चमकीला ग्रह

बुध की तरह शुक्र भी केवल प्रातःकाल या संध्या समय दिखलाई पड़ता है, परन्तु शुक्र की कक्षा बुध की कक्षा से

कुछ निश्चित हो जाता। यद्यपि मंगल में प्राणी रहने और न रहने के बारे में अक्सर बहस होती रहती है तो भी इसमें संदेह नहीं कि शुक्र पर प्राणियों के होने की संभावना अधिक है। हमारा ध्यान मंगल की ओर केवल इसीलिए अधिक जाता है कि मंगल पर बादल नहीं हैं और हम उसकी सतह पर कुछ ऐसे चिह्न देखते हैं, जिनसे वहाँ के निवासियों का शिल्प दिखलाई पड़ने का हमें संदेह होता है।

बुध और शुक्र के बाद जो ग्रह सूर्य के सबसे नजदीक पड़ता है, वह स्वयं हमारी यह पृथ्वी है। अतः आगे के प्रकरण में अब हम यह विचार करने जा रहे हैं कि पृथ्वी का सौर परिवार में क्या स्थान है।

पृथ्वी भी एक ग्रह है

सूर्य के दो निकटतम ग्रह बुध और शुक्र का निरीक्षण पिछले अध्याय में हम कर चुके हैं। इस प्रकरण में पृथ्वी का एक ग्रह के रूप में विवेचन किया गया है।

पृथ्वी, जिस पर कि हम रहते हैं, इतनी बड़ी और भारी जान पड़ती है और अन्य ग्रह, जो आकाश में हमें दिखलाई पड़ते हैं, इतने छोटे बिंदु-सरीखे जान पड़ते हैं कि यह कल्पना करना कि पृथ्वी भी एक ग्रह है, हमारे लिए कठिन हो जाता है। प्राचीनकाल के लोगों को कभी विश्वास ही नहीं हो पाता था कि पृथ्वी आकाश में बेलाग अवस्थित है। उनकी कल्पना थी कि अनंत समुद्र में एक सर्प तैर रहा है, उसके ही फन पर पृथ्वी टिकी है; इसके अतिरिक्त पृथ्वी को उन दिग्गजों (हाथियों) से ही सहारा मिल रहा है, जो कछुओं की पीठ पर सवार हैं; ये कछुए उसी अनंत सागर में तैर रहे हैं, जिसमें कि वह सर्प तैरता है।

कठिनाई की जड़ वस्तुतः यही थी कि प्राचीन काल के लोग समझते। कि यदि पृथ्वी निराधार होगी तो यह गिर पड़ेगी--ठीक उसी प्रकार जैसे कि अन्य निराधार वस्तुएँ गिर पड़ती हैं। इस कठिनाई का मुँह-तोड़ उत्तर तो हमारे कुछ अर्द्ध-प्राचीन ज्योतिषियों ने ही दे दिया था। वराहमिहिर ने, जिसका विश्वास था कि पृथ्वी आकाश में बेलाग टिकी है, स्पष्ट लिखा है कि पृथ्वी के ऊपर की सभी वस्तुएँ पृथ्वी की ओर गिरती हैं; तो पृथ्वी स्वयं किस ओर गिरेगी?

आधुनिक युग के सभी पढ़े-लिखे लोग अपने भौतिक भूगोल के पाठों द्वारा जानते हैं कि पृथ्वी गोल है, यह आकाश में बेलाग स्थित है, और यह सूर्य के चारों ओर चल रही है। अब तो पृथ्वी पर की प्रायः एक-एक गज सतह देख ली गई है और हम प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं कि पृथ्वी किसी दूसरी वस्तु या प्राणी पर टिकी नहीं है। सच्ची बात यही है कि पृथ्वी भी एक ग्रह है। अन्य ग्रहों की तरह यह भी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। अन्य ग्रहों की तरह यह भी प्रायः गोल है और अपनी धुरी पर नाचती है। अपेक्षाकृत यह विशेष बड़ी भी नहीं है। बृहस्पति के सामने तो यह बहुत छोटी-सी लगेगी!
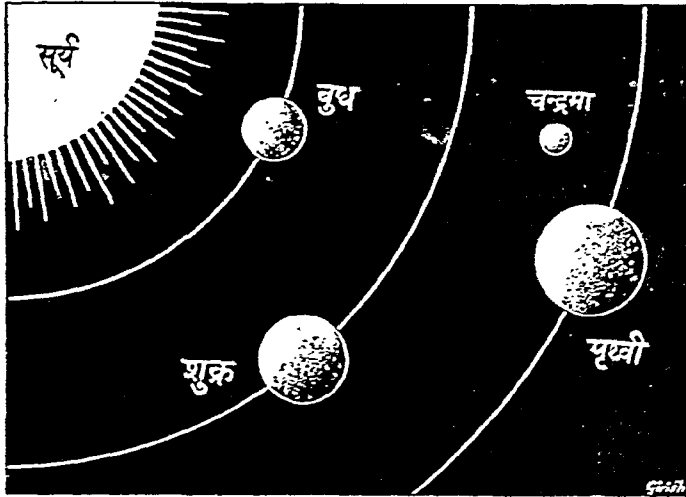
पृथ्वी की कक्षा

सौर परिवार में पृथ्वी का स्थान बुध और शुक्र की कक्षाओं के बाहर है, अतएव इन ग्रहों की अपेक्षा यह सूर्य से अधिक दूर है। परंतु मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो की अपेक्षा यह सूर्य के काफी निकट है। इन ग्रहों की कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के बाहर पड़ती हैं। प्रस्तुत मानचित्र सही पैमाने पर निर्मित नहीं है।

पृथ्वी भी एक ग्रह है

(ऊपर) अपनी धुरी पर नाचती हुई पृथ्वी आकाश में दौड़ रही है। (नीचे) सौर परिवार के सदस्यों के आकार से पृथ्वी की तुलना।

स्थान का कुछ परिचय आपको मिल सकेगा। पृथ्वी सूर्य से औसत ९२,९६५,००० मील की दूरी पर है। इसका व्यास ध्रुवों पर ७,८९९.६ मील और विषुवत् रेखा पर ७,९२६.६ मील है। इसकी परिधि २४,८९१ मील, घनत्व २६०,०००,०००,००० घनमील और वजन ६,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० टन है। इसके वायुमण्डल का वजन ११,६००,०००,०००,०००,०००,०००, टन है। इसकी कक्षा ५८४,६००,००० मील लंबी है और उसमें यह ६६,६०० मील प्रति घंटे की गति से सूर्य के आसपास परिक्रमा कर रही है। इसका धरातल १९७,०००,००० वर्गमील है, जिसमें १४२,०००,००० वर्गमील जलभाग और ५५,०००,००० वर्गमील स्थल-भाग है।

जैसा कि आप "धरातल की रूपरेखा" शीर्षक स्तंभ में पढ़ चुके हैं, पृथ्वी न केवल अपनी कक्षा में यात्रा करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है, बल्कि चौबीस घंटे में एक बार लट्टू की तरह स्वयं भी घूम जाती है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि इन दो प्रकार की गतियों के अलावा पृथ्वी की दस प्रकार की अन्य गतियों का भी वैज्ञानिकों को पता लगा है। पर ये गतियां बड़ी गूढ़ हैं, इसलिए गणित के उच्च ज्ञान के बिना समझ में नहीं आ सकतीं।

क्या बुध और सूर्य के बीच एक और ग्रह है?

पृथ्वी भी ग्रह है, यह हम देख चुके। इस प्रकार सूर्य से चलकर पहले बुध, फिर शुक्र और तब पृथ्वी ये तीन ग्रह पड़ते हैं। एक समय था जब ज्योतिषियों को संदेह था कि बुध और सूर्य के बीच में एक और भी ग्रह है, जो सूर्य के बहुत समीप होने के कारण हमें साधारणत: नहीं दिखलाई पड़ता। इस सन्देह का कारण यह था कि बुध गणनानुसार नहीं चल रहा था। आकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार हम सभी ग्रहों की ठीक-ठीक स्थितियां वर्षों पहले से बतला सकते हैं, और समय आने पर ग्रह ठीक वहीं पाया भी जाएगा, परंतु बुध के संबंध में ही यह बात लागू नहीं है। गणना के अनुसार, और वास्तव में भी, बुध एक दीर्घवृत्त में चलता है और दीर्घवृत्त का महत्तम व्यास धीरे-धीरे घूमता रहता है, जिससे बुध का मार्ग कुछ-कुछ पृष्ठ ८४० के चित्र-सा रहता है; परंतु गणना से बुध की कक्षा को जितना घूमना चाहिए, वस्तुत: उससे कहीं अधिक यह घूमती है। प्राचीन गणितज्ञों और ज्योतिषियों को इसका कोई कारण नहीं सूझता था। अंत में प्रसिद्ध फ्रेंच ज्योतिषी लेवेरियर ने, जिसने यूरेनस की गणितसिद्ध और वास्तविक कक्षाओं के अंतर से नवीन ग्रह नेपच्यून की भविष्यद्वाणी की थी, यह सिद्धान्त ठहराया कि बुध के उस ओर भी एक अज्ञात ग्रह है, जो बुध की कक्षा को विकृत कर रहा है। संयोग की बात यह हुई कि एक व्यक्ति उसी समय ऐसा मिल भी गया, जो दावा करता था कि मैंने इस अज्ञात ग्रह को देखा है।

चंद्रमा से पृथ्वी स्वतः एक विशाल चंद्रमा-सी देख पड़ती होगी

पृथ्वी चन्द्रमा से एक बहुत बड़े चन्द्रमा-जैसी ही दिखलाई पड़ती होगी, जिसमें कलाएँ बढ़ती-घटती दृष्टिगत होती होंगी।

अत्यन्त सूक्ष्म कण हैं, जिन पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। हमें ये कण बगल से दिखलाई पड़ते हैं, और इसीलिए हमें प्रकाश अर्द्ध-दीर्घ-वृत्ताकार रूप में दिखलाई पड़ता है।

राशिचक्र-प्रकाश किसी भी स्वच्छ अँधेरी रात में आसानी से देखा जा सकता है। सूर्यास्त के लगभग एक घंटे बाद देखना चाहिए, क्योंकि तब हमारे वायुमंडल से बिखरकर आनेवाला सूर्य का प्रकाश, जिसे संधि-प्रकाश (अंग्रेजी में ट्वाइलाइट) कहते हैं, प्रायः मिट जाता है। अपने सबसे अधिक चमकीले भाग में राशिचक्र-प्रकाश आकाश-गंगा से भी अधिक चमकीला दिखलाई पड़ता है (बाजू का चित्र देखिए)।

संध्या के समय राशिचक्र-प्रकाश

ज्योतिष-सम्बन्धी विचित्र कौतुकों में सूर्यास्त के बाद या सूर्योदय के पहले आकाश में दिखाई पड़नेवाला यह प्रकाश भी है, जिसे 'राशि-चक्र-प्रकाश' कहते हैं।

गणना करने से पता चलता है कि यदि पाँच-पाँच मील पर सरसों के बराबर एक-एक बिखरे कण हों और यदि ये कण साधारण पत्थर के रंग के हों, तो हमें उनसे उतना प्रकाश मिल जायगा, जितना राशिचक्र - प्रकाश से वस्तुतः मिलता है! इसमें संदेह नहीं कि बुध इन कणों के बीच चलता है और कुछ पुच्छल तारे भी इन कणों को चीरते हुए निकल गये हैं, परंतु इन कणों की अत्यन्त बिखरी हुई अवस्था को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ती। जो कुछ भी हो ज्योतिष-संबंधी अनेक कौतुकों में यह राशि-चक्र-प्रकाश भी एक है, जिसका रहस्य अभी छिपा हुआ है।

मंगल ग्रह

पृथ्वी का महान् प्रतिस्पर्द्धी, जिस पर जीवन की संभावना है

बुध, शुक्र और पृथ्वी के बाद सौर परिवार में चौथा स्थान मंगल ग्रह का है। यह पृथ्वी से छोटा है, लेकिन अनुमान किया जाता है कि सारे सौर जगत् में संभवतः यही एक ऐसा ग्रह है, जिस पर विकास की श्रेणी में उच्च स्थिति तक पहुँचे हुए प्राणियों के विद्यमान होने की संभावना है। इसका कारण यह माना जाता है कि छोटा होने के कारण मंगल पृथ्वी से कहीं पहले ठंढा हो गया होगा और यहाँ से बहुत पहले ही वहाँ जीवन का विकास हो चुका होगा। अभी ये बातें निरी कल्पना की नींव पर स्थापित हैं, परंतु जो कुछ भी हो, वैज्ञानिकों की आँखें इस ग्रह की ओर निरंतर लगी हुई हैं, और मंगल पर जीव हैं या नहीं, यह प्रश्न आज के दिन विज्ञान के सीमान्त पर अड़ी हुई अनेक समस्याओं में से एक है।

अंगारे के समान चमकनेवाला लाल ग्रह मंगल जनता के लिए अत्यंत चित्ताकर्षक इसलिए है कि समय-समय पर इस ग्रह पर बुद्धिमान् प्राणियों के रहने की बात समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में छपा करती है। हर पंद्रहवें वर्ष लोगों का ध्यान इस ग्रह की ओर विशेष रूप से चला जाता है; क्योंकि उस समय मंगल हमारे कुछ अधिक निकट चला आता है और तब साधारण से बहुत अधिक चमकीला वह दिखलाई पड़ता है। उस समय दूरदर्शक में भी यह अन्य

इस व्यक्ति और लेवेरियर की मुलाकात का बड़ा मनोरंजक इतिहास है। मिलने पर लेवेरियर ने देखा कि वह व्यक्ति एक बूढ़ा और गरीब डाक्टर है और उसके पास ज्योतिष के कोई भी अच्छे यंत्र नहीं हैं। लेवेरियर को तुरंत संदेह हो गया कि यह कोई धूर्त है, जिसने ख्याति पाने के लालच से नवीन ग्रह के देखने की बात उसको लिखी थी। लेवेरियर ने बड़े रूखे स्वर में उससे बातें खोद-खोदकर पूछना आरंभ किया और उसे अपना नाम तक न बतलाया। परंतु अंत में लेवेरियर को यह बात माननी पड़ी कि बूढ़े ने नवीन ग्रह को देखा है; क्योंकि उसके सब उत्तर संतोषजनक निकले। उदाहरणतः, उस बूढ़े डाक्टर के पास कोई ऐसी घड़ी न थी, जिससे वह सेकंड तक समय नाप सकता, परन्तु पूछने पर उसने लेवेरियर को अपना सरल लंगर दिखलाया—रेशम के तागे से एक गेंद लटकाया गया था, जो एक सेकंड में एक बार झूलता था। लेवेरियर ने पूछा कि आप इस लंगर के झूलने को कैसे गिनते हैं, तो तुरंत उत्तर मिला कि मुझे मरीजों की नाड़ी गिनने का अभ्यास अपनी जवानी से ही है; लंगर के झूलने को गिनने में क्या रक्खा है!

परंतु बूढ़े डाक्टर को अवश्य ही कोई भ्रम हो गया होगा। क्योंकि पीछे वर्षों तक बराबर ताक में रहने पर भी वह ग्रह नहीं देखा जा सका। दो ज्योतिषियों को भी एक बार सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर नवीन ग्रह के देखने का भ्रम हो गया, परंतु उनकी भी बातों का समर्थन न हो सका।

अब तो आइन्स्टाइन के प्रसिद्ध आपेक्षिकता के सिद्धान्त से हम यह भी जान सके हैं कि क्यों बुध-कक्षा की वास्तविक और न्यूटन के आकर्षण-नियम पर निकाली गई गतियों में अंतर पड़ता है। इसलिए यह मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रही कि बुध और सूर्य के बीच कोई अज्ञात ग्रह भी है। और फिर यदि प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता भी समझी जाय, तो यह भी प्रमाण है कि सूर्य का फोटोग्राफ प्रतिदिन वर्षों से लिया जा रहा है। यदि सूर्य के पास कोई अज्ञात ग्रह होता, तो वह कभी तो अवश्य सूर्य के बिंब के सामने आ जाता और इस प्रकार दिखलाई पड़ जाता। फिर, सर्व-सूर्यग्रहणों के अवसरों पर इधर बहुत-से फोटोग्राफ आपेक्षिकता के सिलसिले में लिये गये हैं। इनमें नन्हें-नन्हें और कोरी आँख से न दिखलाई पड़नेवाले तारे एक सीमा तक आ गये हैं, परंतु ग्रह कोई नहीं दिखलाई पड़ा है। इसलिए अब यह स्वयंसिद्ध माना जाता है कि सूर्य और बुध के बीच में दूसरा कोई ग्रह नहीं है, जो व्यास में २० मील से बड़ा हो।

बुध-कक्षा धीरे-धीरे घूमती है

एक समय ज्योतिषियों की धारणा थी कि ऐसा किसी अज्ञात ग्रह के कारण होता है; परंतु अब आपेक्षिकता सिद्धान्त से हम इसका वास्तविक कारण जानते हैं।

राशिचक्र-प्रकाश

सूर्यास्त के बाद कभी-कभी पश्चिम में और सूर्योदय के पहले पूरब में आकाश में एक अत्यंत मंद परंतु स्पष्ट प्रकाश दिखलाई पड़ता है, जिसका वायुमंडल के कणों द्वारा बिखरे प्रकाश से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकाश की रूपरेखा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। क्षितिज की ओर चौड़ी और ऊपर की ओर संकरे-से क्षेत्र में ही यह प्रकाश परिमित रहता है; और जैसे-जैसे समय बीतता है, वैसे-वैसे यह बिना अपना रूप बदले ही मंद हो जाता है। इसकी मध्य-रेखा खड़ी नहीं रहती; वह मध्य-रेखा ठीक राशिचक्र पर पड़ती है। इसी से इस प्रकाश को 'राशिचक्र-प्रकाश' (जोडायकल लाइट) कहते हैं। राशिचक्र उस काल्पनिक रेखा को कहते हैं, जिस पर तारों के बीच सूर्य चलता है और जिस पर मेष, वृष, मिथुन, कर्क आदि राशियाँ हैं।

ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है, परन्तु ज्योतिषियों का अनुमान है कि सूर्य के निकट मिट्टी (या पेड़े) के रूप में बिखरे हुए [illegible]

अत्यन्त सूक्ष्म कण हैं, जिन पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। हमें ये कण बगल से दिखलाई पड़ते हैं, और इसीलिए हमें प्रकाश अर्द्ध-दीर्घ-वृत्ताकार रूप में दिखलाई पड़ता है।

राशिचक्र-प्रकाश किसी भी स्वच्छ अँधेरी रात में आसानी से देखा जा सकता है। सूर्यास्त के लगभग एक घंटे बाद देखना चाहिए, क्योंकि तब हमारे वायुमंडल से बिखरकर आनेवाला सूर्य का प्रकाश, जिसे संधि-प्रकाश (अंग्रेजी में ट्वाइलाइट) कहते हैं, प्रायः मिट जाता है। अपने सबसे अधिक चमकीले भाग में राशिचक्र-प्रकाश आकाश-गंगा से भी अधिक चमकीला दिखलाई पड़ता है (बाजू का चित्र देखिए)।

संध्या के समय राशिचक्र-प्रकाश

ज्योतिष-सम्बन्धी विचित्र कौतुकों में सूर्यास्त के बाद या सूर्योदय के पहले आकाश में दिखाई पड़नेवाला यह प्रकाश भी है, जिसे 'राशि-चक्र-प्रकाश' कहते हैं।

गणना करने से पता चलता है कि यदि पाँच-पाँच मील पर सरसों के बराबर एक-एक बिखरे कण हों और यदि ये कण साधारण पत्थर के रंग के हों, तो हमें उनसे उतना प्रकाश मिल जायगा, जितना राशिचक्र-प्रकाश से वस्तुतः मिलता है! इसमें संदेह नहीं कि बुध इन कणों के बीच चलता है और कुछ पुच्छल तारे भी इन कणों को चीरते हुए निकल गये हैं, परंतु इन कणों की अत्यन्त बिखरी हुई अवस्था को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ती। जो कुछ भी हो ज्योतिष-संबंधी अनेक कौतुकों में यह राशि-चक्र-प्रकाश भी एक है, जिसका रहस्य अभी छिपा हुआ है।

मंगल ग्रह

पृथ्वी का महान् प्रतिस्पर्द्धी, जिस पर जीवन की संभावना है

बुध, शुक्र और पृथ्वी के बाद सौर परिवार में चौथा स्थान मंगल ग्रह का है। यह पृथ्वी से छोटा है, लेकिन अनुमान किया जाता है कि सारे सौर जगत् में संभवतः यही एक ऐसा ग्रह है, जिस पर विकास की श्रेणी में उच्च स्थिति तक पहुँचे हुए प्राणियों के विद्यमान होने की संभावना है। इसका कारण यह माना जाता है कि छोटा होने के कारण मंगल पृथ्वी से कहीं पहले ठंढा हो गया होगा और यहाँ से बहुत पहले ही वहाँ जीवन का विकास हो चुका होगा। अभी ये बातें निरी कल्पना की नींव पर स्थापित हैं, परंतु जो कुछ भी हो, वैज्ञानिकों की आँखें इस ग्रह की ओर निरंतर लगी हुई हैं, और मंगल पर जीव हैं या नहीं, यह प्रश्न आज के दिन विज्ञान के सीमान्त पर अड़ी हुई अनेक समस्याओं में से एक है।

अँगारे के समान चमकनेवाला लाल ग्रह मंगल जनता के लिए अत्यंत चित्ताकर्षक इसलिए है कि समय-समय पर इस ग्रह पर बुद्धिमान् प्राणियों के रहने की बात समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में छपा करती है। हर पंद्रहवें वर्ष लोगों का ध्यान इस ग्रह की ओर विशेष रूप से चला जाता है; क्योंकि उस समय मंगल हमारे कुछ अधिक निकट चला आता है और तब साधारण से बहुत अधिक चमकीला वह दिखलाई पड़ता है। उस समय दूरदर्शक में भी यह अन्य

समय की अपेक्षा अधिक बड़ा दिखलाई पड़ता है और उसी समय इसकी सतह के ब्योरों के स्पष्ट रूप से देखे जाने की आशा ज्योतिषियों को हो सकती है।

मंगल की चमक, कक्षा, दूरी आदि

कोरी आँख से यह ग्रह हमें चमकीले तारे की तरह, परन्तु लाल रंग का दिखलाई पड़ता है। दूरी के घटते-बढ़ते रहने के कारण इसकी चमक घटा-बढ़ा करती है, परन्तु लघुतम कान्ति के समय भी यह ध्रुवतारे से ड्योढ़ा चमकीला रहता है। महत्तम कांति के समय तो यह ध्रुवतारे की अपेक्षा पचपन गुना अधिक चमकीला हो जाता है। उस समय यह शुक्र को छोड़ कर अन्य सब ग्रहों और तारों से अधिक चम-कीला जान पड़ता है और अति सुन्दर लगता है।

पृथ्वी और मंगल दोनों ही अपनी - अपनी कक्षाओं में चलते रहते हैं। इसलिए कभी-न-कभी ये दोनों सूर्य से एक ही सीध में और एक ही ओर आ जाते हैं। ऐसा लगभग प्रति दूसरे वर्ष होता है (वस्तुत: लगभग २ साल १ महीना १६ दिन पर ऐसा होता है) । उस समय पृथ्वी और मंगल के बीच की दूरी बहुत कम हो जाया करती है। तब यह मंगल और पृथ्वी की सूर्य से अपनी-अपनी दूरियों के केवल अन्तर के बराबर ही रह जाती है।

पृथ्वी और मंगल के आकार की तुलना

(बाईं ओर) पृथ्वी; (दाहिनी ओर) मंगल। स्पष्ट है कि मंगल पृथ्वी से बहुत छोटा है।

यदि पृथ्वी और मंगल दोनों ठीक गोल रास्ते पर चलते रहते तो बार-बार पृथ्वी और मंगल की निकटतम दूरी एक-सी ही होती। परन्तु ये दोनों ठीक गोल रास्ते पर नहीं चलते। पृथ्वी दीर्घवृत्त में चलती है और मंगल भी दीर्घ-वृत्त में चलता है। जब कभी पृथ्वी सूर्य से प्राय: महत्तम दूरी पर रहती है और मंगल सूर्य से प्राय: लघुतम दूरी पर और सूर्य, पृथ्वी तथा मंगल एक ही सीध में रहते हैं, उस समय मंगल हमारे बहुत निकट हो जाता है। ऐसा अवसर लगभग पंद्रह वर्ष पर आता है। इसीलिए उस समय मंगल की बड़ी धूम रहती है। परन्तु उन दिनों भी मंगल हमसे लगभग साढ़े तीन करोड़ मील पर रहता है!

धरातल की झाँकी और अन्य ब्योरा

दूरदर्शक की सहायता से हम मंगल के बारे में बहुत-सी बातें निश्चित रूप से जानते हैं। यह बात पक्की है कि वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ नहीं हैं। वहाँ समुद्र भी नहीं हैं। वायुमंडल वहाँ अवश्य है, परन्तु हमारे वायुमंडल के समान घना नहीं है। बादल वहाँ कभी-ही-कभी देखे गये हैं। वहाँ दिन-रात उसी तरह होते हैं, जैसे कि हमारी पृथ्वी पर; अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ एक दिन-रात में चौबीस घंटे लगने के बदले लगभग २४ घंटे ३७ मिनट २२ सेकंड समय लगता है। वहाँ भी गरमी और सरदी की ऋतुएँ होती होंगी, परन्तु वे हमारी ऋतुओं के हिसाब से दुगुनी लंबी होती होंगी, क्योंकि मंगल सूर्य का एक चक्कर लगभग दो वर्षों में (वस्तुत: लगभग ६८७ दिनों में) लगाता है। बरसात वहाँ नहीं होती होगी। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर बर्फ अवश्य जमा रहता है और गरमी में बर्फ पिघलता भी है, परन्तु वहाँ इतना पानी नहीं है कि खूब भाप उठे, बादल बने और पानी बरसे।

मंगल पृथ्वी से छोटा है। इसका व्यास (इसके ध्रुवों के ठीक बीच में स्थित रेखा पर) कुल ४,२०८ मील है। तौल में मंगल पृथ्वी के दसवें भाग से कुछ ही अधिक होगा। इसके पृष्ठ पर आकर्षणशक्ति पृथ्वी की अपेक्षा केवल एक-तिहाई होगी। एक-दो वैज्ञानिकों को कुछ ऐसी भी आशा है कि भविष्य में पृथ्वीवासी शायद रॉकेट-विमान द्वारा मंगल पर पहुँच सकेंगे (दे० ८४९ का चित्र)। यदि ऐसा कभी

संभव होगा तो वहाँ पहुँचने पर वहाँकी कम आकर्षण-शक्ति के कारण हमें कई विचित्र बातों का अनुभव होगा। इस संबंध में एक लेखक एक वैज्ञानिक पत्र में लिखता है कि अच्छा होगा यदि हम साथ में कुछ उम्दा राइफलें ले लें; कौन जानता है वहाँ कैसे-कैसे प्राणियों से सामना करना पड़े! मंगल पर पहुँचने के पहले हमें गैस-मास्क भी पहन लेना पड़ेगा और उस मास्क को हवा की टंकी से जोड़ लेना होगा; क्योंकि संभव है, मंगल के वायु में विषाक्त गैसें हों, या काफी ऑक्सिजन न हो। निस्संदेह, मंगल पर पैर रखते ही अपने शरीर में हमें आश्चर्यजनक हल्कापन जान पड़ेगा। दस फुट ऊँचा कूदने में कुछ मेहनत ही न पड़ेगी और मजा यह कि हम इतना ऊँचा कूदने पर भी इतने धीरे से गिरेंगे कि हाथ-पैर न टूटेगा। तरबूज के बराबर पत्थर को हम आसानी से साठ फीट दूर फेंक देंगे और हम स्वयं चालीस से साठ फीट दूर तक कूद सकेंगे! यह बात नहीं है कि मंगल पर पहुँचकर हम कुछ अधिक तगड़े हो जायँगे। नहीं, यह सब हम वहाँ केवल कम आकर्षण-शक्ति के कारण कर सकेंगे। हमारे ये हाथ-पैर पृथ्वी पर काम करने के लिए बने हैं। इसलिए मंगल पर हम तिगुने मजबूत जान पड़ेंगे। यदि मंगल-निवासी हमसे लड़ने आयेंगे तो अवश्य ही हम उनके तीन के बराबर तगड़े पड़ेंगे, और यदि वे बहुत-से एक साथ ही हम पर टूट पड़ेंगे तो हम उनसे तिगुना तेज दौड़कर आसानी से भाग निकलेंगे!

पृथ्वी से मंगल कभी छोटा कभी बड़ा क्यों दिखाई पड़ता है?

जैसा कि ऊपर के चित्र में बाईं ओर दिये गये मानचित्र से स्पष्ट है, मंगल की कक्षा सूर्य से चारों ओर समान दूरी पर स्थित नहीं है। यों तो पृथ्वी और मंगल दोनों सूर्य के आसपास ठीक गोल रास्ते पर नहीं चलते—दोनों दीर्घवृत्त में चलते हैं, परंतु मंगल की कक्षा पृथ्वी की कक्षा की अपेक्षा सूर्य से अधिक असमान दूरी पर विस्तृत है। इसका नतीजा यह होता है कि जब कभी पृथ्वी सूर्य से प्रायः महत्तम दूरी पर रहती है और मंगल सूर्य से प्रायः लघुतम दूरी पर, और सूर्य, पृथ्वी तथा मंगल एक ही सीध में रहते हैं, तब मंगल हमारे अत्यंत निकट आ जाता है। (दाहिनी ओर) १६२४ में मंगल के क्रमशः सबसे बड़े और सबसे छोटे आकारों की तुलना की गई है। जब सूर्य और मंगल दोनों पृथ्वी से एक ही दिशा में रहते हैं, तब दूरी के कारण मंगल हमें बहुत छोटा दिखाई पड़ता है। जब सूर्य और मंगल पृथ्वी से विपरीत दिशा में रहते हैं, तब नजदीक होने के कारण मंगल बहुत बड़ा दिखाई देता है।

शायापरेली

जिसने पहलेपहल मंगल पर रेखाओं को देखकर घोषणा की थी कि वहाँ पर जलप्रणालियाँ हैं।

कम आकर्षण-शक्ति के कारण वहाँ कुछ हास्यजनक बातें भी घटित होंगी। उदाहरणतः बैठने में स्पष्ट रूप से हमें बल लगाना पड़ेगा। पृथ्वी पर तो घुटना और कमर मोड़ते ही हम अधिक आकर्षण-शक्ति के कारण चट बैठ जाते हैं, किन्तु मंगल पर यह

मंगल की नहरों-जैसी रेखाएँ क्या केवल आँखों का भ्रम है ?

ऊपर के चित्र में बाईं ओर बहुत-से छोटे-बड़े विन्दु और धब्बे जैसे चिन्ह एक विशेष क्रम से अलग-अलग छितरे पड़े हैं। यदि आप इस चित्र को पन्द्रह कदम की दूरी से देखें तो वह आपको करीब-करीब वैसा ही दिखाई देगा, जैसा कि दाहिनी ओर के चित्र में प्रदर्शित है। जो लोग मंगल पर कृत्रिम नहरें होना नहीं मानते, उनका यही कहना है कि वहाँ के अनेक बिखरे हुए चिन्ह ही दूरी के कारण रेखाओं जैसे दिखाई पड़ते हैं।

कपड़े और आग के भरोसे वहाँ रहना शायद असंभव न होगा। तो भी वहाँ हमारे लिए कोई चित्ताकर्षक वस्तु न होगी।

मंगल के अनोखे चिन्ह

मंगल बिल्कुल उजाड़-सा देश और अधिक स्थानों में कोरा रेगिस्तान जान पड़ेगा। प्रायः सभी लोगों ने सुना होगा कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं और इसी लिए वैज्ञानिक समझते हैं कि मंगल पर प्राणी हैं। परंतु मंगल पर नहरें देखी गई हैं या नहीं, अभी इसी बात में संदेह है। कुछ ज्योतिषियों को नहरें दिखलाई पड़ी हैं, कुछ को नहीं। असल बात क्या है, यह समझाने के लिए आवश्यक जान पड़ता है कि दोनों ओर का मत पाठक के सामने रख दिया जाय। परंतु विवादमय प्रश्नों पर विचार करने के पहले उन बातों का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक है, जिनके बारे में सभी एकमत हैं। स्मरण रखना चाहिए कि निकटतम दूरी पर आ जाने पर बड़े दूरदर्शकों में भी मंगल एक रुपये से कुछ छोटा ही दिखलाई पड़ता है। अपनी अधिक चमक और हमारे वायुमंडल की चंचलता के कारण मंगल का बिंब हमें पूर्णतया स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। बराबर जान पड़ता है जैसे मंगल और हमारे बीच कुम्हार का आवाँ जल रहा है और वायु बराबर नाच रही है।

स्पष्ट है कि ऐसी प्रतिकूल दशा में सूक्ष्म चिह्न निश्चय-पूर्वक देखे नहीं जा सकते। कभी-कभी जब वायुमंडल कुछ अधिक निश्चल हो जाता है तो सूक्ष्म चिह्नों की झलक हमें मिल जाती है। हाथ से खिंचे मंगल के नकशों में सब चिह्न वास्तव से कहीं अधिक स्पष्ट रँगे जाते हैं। यदि कहीं उन्हें

शक्ति हमारी इतनी सहायता नहीं कर सकेगी। वहाँ पानी भी उँड़ेलने पर इतने धीरे से गिरेगा जैसे रुई हो!

मंगल पर हम अपनी रसोई भी न बना सकेंगे। पृथ्वी के पहाड़ों पर वायु का चाप थोड़ा ही कम रहता है; तो भी वहाँ दाल नहीं गलती। परंतु मंगल पर तो वायु का चाप पृथ्वी की अपेक्षा केवल पाँचवाँ भाग ही होगा। वहाँ तो चावल भी न गलेगा। केवल कुनकुना गरम होते ही भाप के बुलबुले उठने लगेंगे और पानी जोर से खौलता जान पड़ेगा। वहाँ ऐसे बरतन में रसोई बनानी पड़ेगी, जिसमें से भाप निकलने का केवल एक छोटा-सा रास्ता हो और उस पर कमानीदार ढक्कन लगा हो। इस कमानी को कसकर हम भीतर का चाप जब खूब बढ़ा देंगे, तब कहीं हमारी रसोई पक सकेगी। गैस-मास्क बाँधने के अतिरिक्त हमें शायद वायु-अभेद्य कपड़ा और टोप भी पहनना पड़ेगा; नहीं तो संभव है कम वायु-चाप के कारण हमारी नसें फट जाएँ। या यदि इतना नहीं भी हुआ तो शायद हम बहरे हो जायँगे और बहुत मिचली आएगी, जैसा अचानक ऊँचे पहाड़ों पर पहुँचाये जाने पर अक्सर होता है। सरदी भी वहाँ बेहद पड़ती होगी, परंतु गरम

दूरदर्शक से दिखाई देनेवाली नहरों जैसी धुंधली रेखाओं के कारण, मंगल आज के दिन सौर परिवार में हमारे लिए सब से अधिक रहस्यमय आकाशीय पिंड हो गया है। इन रेखाओं के अलावा मंगल के ध्रुव-प्रदेश पर एक चकत्ता भी दिखाई पड़ता है, जिसे बहुत-से ज्योतिषी बर्फ मानते हैं। ज्योतिषियों ने—विशेषकर लॉवेल ने—बड़े परिश्रम से मंगल का ब्योरेवार नक्शा भी बना डाला है और उसमें जल-स्थल भाग, नहरें आदि निर्धारित कर उनके नाम भी रख दिए हैं। चित्र के निचले भाग में एक ही महीने में दूरदर्शक द्वारा दिखाई दिए मंगल के चार विभिन्न रूप दिए गए हैं।
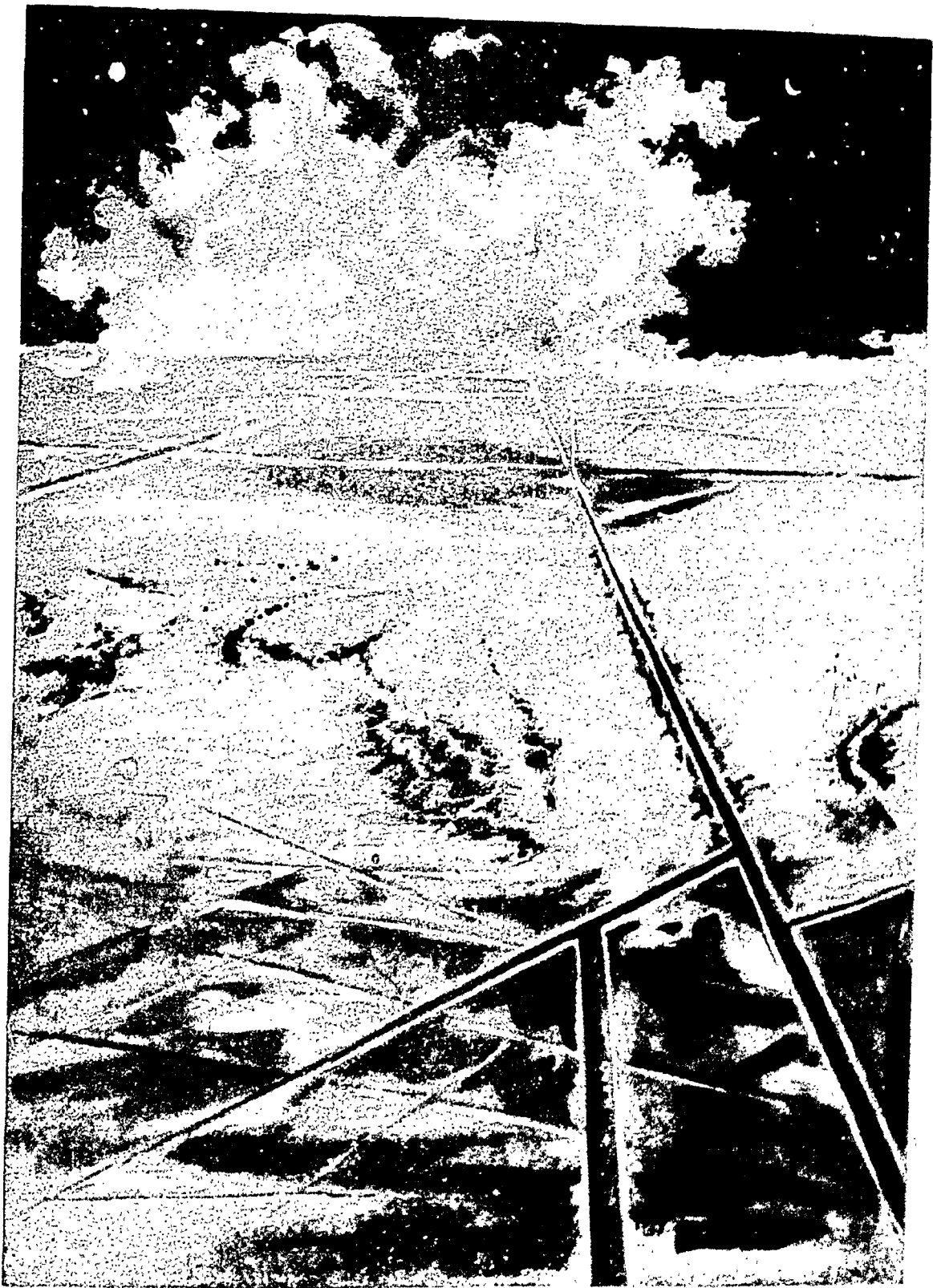
यदि लॉवेल और उसके मत के अन्य ज्योतिषियों की धारणा ठीक हो, तो मंगल पर सम्भवतः ऐसा ही दृश्य दिखाई देता होगा, जैसा इस चित्र में कल्पित किया गया है। दोहरी रेखाएँ नहरों को सूचित करती हैं। क्षितिज पर सूर्योदय हो रहा है, साथ ही एक बवण्डर भी उठ रहा है, जो मंगल पर एक साधारण-सी घटना है।

अपने वास्तविक स्वरूप में हम प्रदर्शित करना चाहें तो उन्हें इतना फीका बनाना पड़ेगा कि वे कभी हमें दिखलाई पड़ेंगे, कभी नहीं दिखलाई पड़ेंगे !

मंगल पर कुछ स्थूल चिह्न ऐसे भी हैं, जिनके बारे में किसी को संदेह नहीं है। मंगल का बिंब लाल दिखलाई पड़ता है और उसमें कुछ मैले हरे रंग के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। बिंब के ऊपर के या नीचे के भाग में (कभी-कभी दोनों ओर) सफेद, गोल, और खूब चमकीले चकत्ते दिखलाई पड़ते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये मंगल के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के पास के बर्फ के मैदान हैं। ऋतु-अनुसार ये छोटे और बड़े भी होते रहते हैं। जिधर गरमी पड़ती रहती है, उधर पिघलने के कारण बर्फ का मैदान छोटा होता रहता है। दूसरे आधे भाग में उस समय सरदी का मौसम रहता है और इसलिए उधर बर्फ का क्षेत्रफल बढ़ता है।

पहले लोग समझते थे कि मंगल का लाल भाग जमीन है और हरा भाग पानी। परन्तु दूरदर्शकों की शक्ति बढ़ने पर सिद्ध हुआ कि हरा भाग समुद्र नहीं है। यदि वह वस्तुतः समुद्र होता तो उसमें सूर्य का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता। परन्तु सूर्य के प्रतिबिंब की कौन कहे, उसमें रेखाएँ भी देखी गई हैं—वे ही रेखाएँ, जिन्हें कुछ ज्योतिषी, 'नहरें' मानते हैं। इसके अतिरिक्त ऋतु के अनुसार इन भागों का रंग थोड़ा-बहुत बदलता भी है। लाल भाग अब रेगिस्तान माना जाता है।

शायापरेली की खोज

१८७७ में इटली के ज्योतिषी शायापरेली ने घोषणा की कि उसे मंगल पर नाले दिखलाई दिए हैं। नाले को इटैलियन भाषा में 'कैनाली' कहते हैं और यह अंग्रेजी शब्द 'कैनाल' से मिलता-जुलता है। इसलिये खबर फैल गई कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं। नहरों के देखे जाने का सिद्धान्त इस प्रकार भ्रमवश उत्पन्न हुआ। परन्तु बहुत पीछे, जब लोगों ने इन रेखाओं को और अच्छी तरह देख पाया, तब कई एक की धारणा यही हुई कि जो रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं, वे वस्तुतः कृत्रिम नहरें हैं, नाले नहीं हैं। कारण यह था कि ये रेखाएँ बहुत लंबी और बहुत सीधी दिखलाई पड़ती हैं। परन्तु यह शायापरेली की घोषणा के वर्षों पीछे की बात है। जब शायापरेली ने इनकी सूचना अन्य ज्योतिषियों को दी तो वे इन्हें नहीं देख पाये।
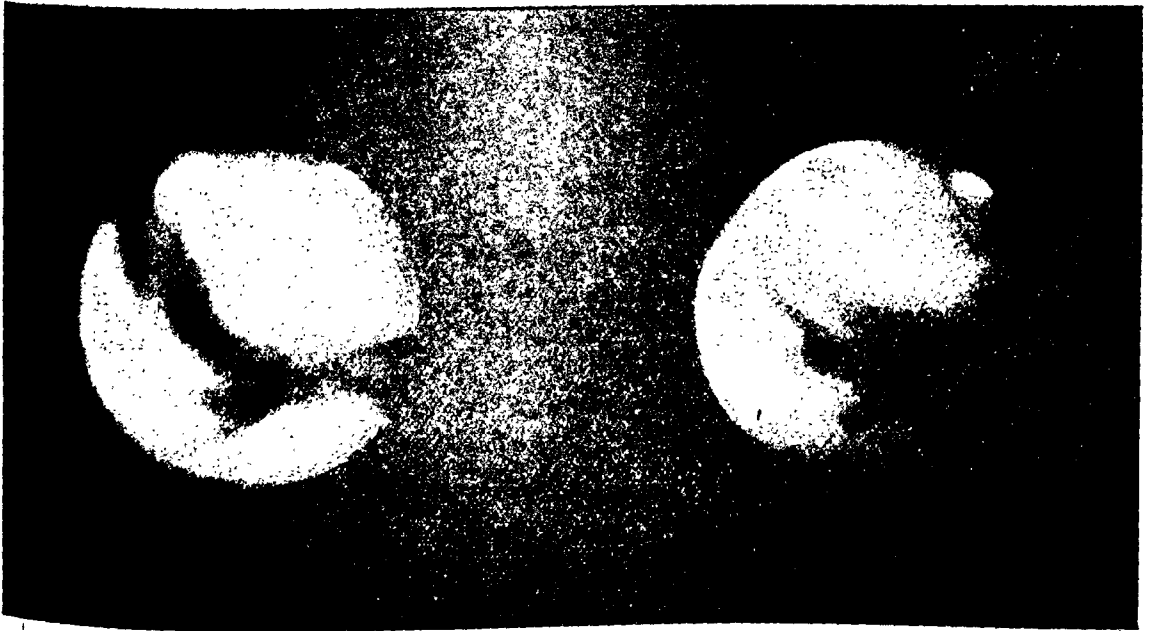
एक महीने के अन्तर से दूरदर्शक से लिये गए मंगल ग्रह के दो फोटो

बाईं ओर अक्टूबर ४, १९०९, और दाहिनी ओर नवम्बर २, १९०९, को लिया गया मंगल का फोटो है। ये फोटो माउंट विल्सन वेधशाला के ६० इञ्ची दूरदर्शक द्वारा लिये गये थे। एक महीने ही में मंगल के पृष्ठ के धब्बों में कितना अन्तर हो गया है!

[फोटो—'माउंट विल्सन वेधशाला', अमेरिका, से प्राप्त।]

शायापरेली का दूरदर्शक बहुत छोटा, कुल नौ इंच व्यास का था। दूसरे ज्योतिषियों के पास इससे कहीं बड़े दूरदर्शक थे। तो भी उन्हें वे रेखाएँ कहीं नहीं दिखलाई पड़ीं। इसलिए लोगों की राय ठहरी कि शायापरेली को धोखा हो गया है। दो वर्ष बाद मंगल फिर पृथ्वी के समीप आया। तब शायापरेली ने फिर मंगल की सतह की सूक्ष्म जाँच की और बतलाया कि कुछ नहरें दोहरी हैं और दूर तक एक दूसरे के समानान्तर चली गई हैं। तब अन्य ज्योतिषियों को पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि शायापरेली को किसी कारण भ्रम होता है, क्योंकि बड़े दूरदर्शकों में दोहरी की कौन कहे, इकहरी रेखाएँ भी नहीं दिखलाई पड़तीं! यदि वस्तुतः दोहरी रेखाएँ होतीं तो दोनों मिलकर कम-से-कम एक रेखा की तरह तो अवश्य दूसरों को भी दिखलाई पड़तीं!

यह प्रश्न इसी असंतोषजनक अवस्था में ग्यारह वर्ष तक पड़ा रहा। तब दूसरों ने भी और बड़े-बड़े दूरदर्शकों से थोड़ी-सी रेखाएँ देखीं। इनमें से कुछ दोहरी भी दिखलाई पड़ीं। १८९२ में पिकरिंग ने देखा कि ये केवल लाल रेगिस्तानों में ही नहीं, उन साँवले भागों में भी थीं, जिन्हें लोग उस समय तक 'समुद्र' मानते थे। जहाँ रेखाएँ एक दूसरे से मिलती थीं, वहाँ मैले हरे गोल धब्बे दिखलाई पड़े! यदि रेखाएँ नहरें हैं तो अवश्य उनके मिलन-विंदु के पास हरे-भरे भूमि-खण्ड होंगे और ये ही हमें धब्बों की तरह दिखलाई पड़ते होंगे। लॉवेल ने क्रमशः अनेक नई नहरों और धब्बों का पता लगाया और देखा कि नहरों का रंग ऋतु के अनुसार बदलता रहता है। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मंगल पर वस्तुतः नहरें हैं। उसका सिद्धान्त था कि असली नहरें वास्तव में बहुत पतली होती होंगी और हमें दिखाई नहीं पड़ती होंगी। जो कुछ हमें दिखलाई पड़ता है, वह दरअसल नहरों के अगल-बगल की जमीन है। यह पहले गाढ़े भूरे रंग की रहती है। जब समीपवर्ती ध्रुवप्रदेश पर गरमी की ऋतु के कारण बर्फ पिघलने लगता है, तब पानी या तो स्वयं या (जैसा अधिक संभव है) पंपों द्वारा चलाये जाने पर इन नहरों में बहता है। तब नहरों के अगल-बगल घास-पात या फसल उग आती है और हमें यही भूमि मैले हरे रंग की दिखलाई पड़ती है। इन रेखाओं का रंग लगभग ५० मील प्रति दिन के हिसाब से बदलता चला जाता है, जिससे पता चला है कि नहरों में इसी वेग से पानी आगे को बहता है। कुछ महीने बाद रेखाओं का रंग पहले-जैसा ही हो जाता है, जो सूचित करता है कि घास-पात सूख गये या फसल तैयार हो गई। एक गोलार्द्ध में समाप्त हो जाने पर, दूसरे गोलार्द्ध में गरमी आरम्भ होती है। तब उधर से रेखाओं का रंग बदलना आरम्भ होता है।

क्या यह निरा दृष्टिभ्रम है?

लॉवेल

जो मंगल पर नहरों की विद्यमानता का सबसे बड़ा पक्षपाती था।

जो ज्योतिषी मंगल पर नहरों का होना नहीं मानते हैं, वे कहते हैं कि अच्छे दूरदर्शक से देखने पर रेखाएँ सीधी और सँकरी नहीं जान पड़तीं। वे टूटी-फूटी, मोटी और भद्दी, अस्पष्ट और अतीक्ष्ण दिखलाई पड़ती हैं। उनका कहना है कि मंगल पर नन्हें-नन्हें बहुत-से धब्बे होंगे और जहाँ कहीं भी दो-चार बड़े धब्बे एक सीध में पड़ गये हैं, वहाँ एक सीधी रेखा दिखलाई पड़ने का भ्रम होता है। इसमें सन्देह नहीं कि आँखों को इस प्रकार बराबर धोखा हुआ करता है। सिनेमा-चित्र इस बात के प्रमाण हैं। सिनेमा-चित्रों में वस्तुतः एक के बाद एक अगण्य चित्र दिखलाए जाते हैं; परंतु आँखों को

भ्रम यही होता है कि चलती-फिरती तस्वीर दिखलाई पड़ रही है। आँखों के इस भ्रम का दूसरा उदाहरण यह है कि इस ग्रंथ में जितने भी फोटो की तरह दिखलाई पड़नेवाले चित्र छपे हैं, वे वस्तुतः सब छोटे-बड़े बिंदुओं के समूह हैं। प्रत्येक विंदु एक समान काला है। हलके भागों में विंदु एक दूसरे को छूते भी नहीं रहते। तो भी आँखों को ऐसा ही प्रतीत होता है कि मानों कालापन शनैः शनैः से बदलता रहता है। कारण यह है कि एक सीमा है, जिसके आगे हमारी आँखें देख नहीं पातीं। बहुत छोटे-छोटे विंदु एक सीध में पास-पास हों तो वे एक-दूसरे से मिले हुए ही जान पड़ते हैं। यदि हमारी आँखें तेज हैं और पास
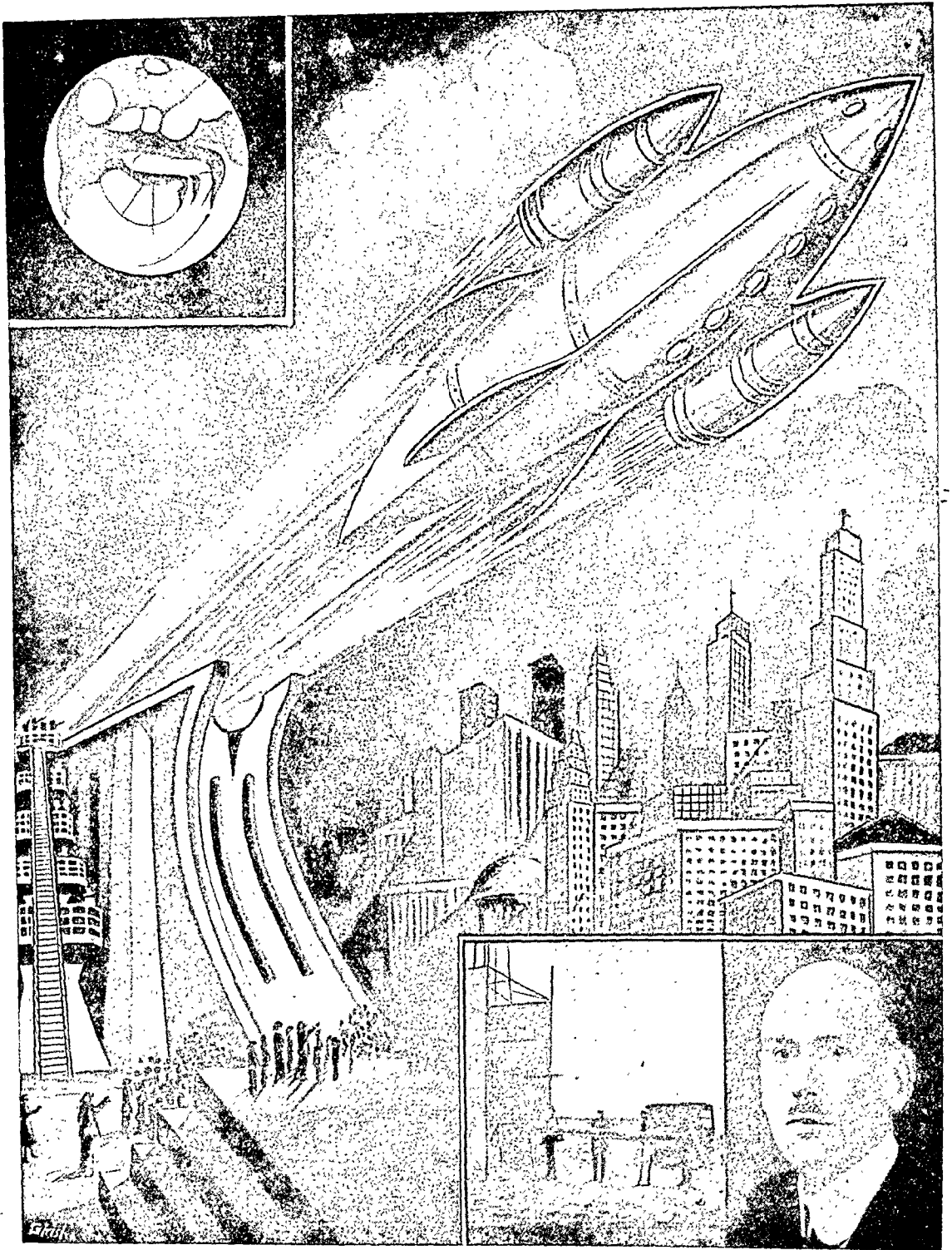
मंगल-ग्रह की यात्रा का स्वप्न

मंगल की यात्रा के स्वप्न देखे जा रहे हैं। इस संबंध में इधर रूस में, उधर अमेरिका में प्रयत्न जारी हैं। चित्र के मध्य में सुदूर भविष्य में कोई राकेट-यान पृथ्वी से यात्रियों को लेकर किस प्रकार मंगल के लिए रवाना होगा, इसकी कल्पना है। नीचे दाहिने कोने में अमेरिका के रॉकेट-विज्ञान के अग्रदूत प्रो० गॉडर्ड और वर्षों पहले उनके एक छोटे-से प्रयोगात्मक राकेट को दागने का चित्र है।

इन चित्रों में सर्वत्र अलग-अलग विंदुओं को देख सकते हैं तो आप उपर्युक्त बातों का समर्थन इन चित्रों को गज दो गज की दूरी से देखकर कर सकते हैं। और यदि आप पास से भी विंदुओं को स्पष्ट नहीं देख सकते तो प्रवर्द्धक ताल द्वारा इन चित्रों की परीक्षा करके इनके विंदु-समूह होने का प्रमाण पा सकते हैं।

आँखों की इस दुर्बलता को जानते हुए और इस बात को देखते हुए कि बड़े दूरदर्शकों में नहरों के बदले अक्सर टूटी-फूटी रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं, अवश्य ऐसा संदेह होता है कि बहुत संभव है, नहरों का दिखलाई पड़ना पूर्णतया एक भ्रम हो (देखिए ८४४ पृष्ठ का चित्र)।

नहर के सिद्धान्त का महान् पृष्ठपोषक लॉवेल

लॉवेल, जो नहरों के अस्तित्व का दृढ़ पक्षपाती था, कहा करता था कि बड़े दूरदर्शकों में ये नहरें स्पष्ट इसलिए नहीं दिखलाई पड़तीं कि हमारा वायुमंडल कभी भी काफी स्वच्छ और निश्चल नहीं रहता। बड़े दूरदर्शकों में केवल प्रकाश बढ़ जाता है; आकाशीय पिंड उनसे अधिक चमकीले और बड़े अवश्य दिखलाई पड़ते हैं, परंतु सूक्ष्म व्योरा सब मिट जाता है। लॉवेल ने स्वयं अपनी वेधशाला ७००० फुट की ऊँचाई पर ऐसे प्रदेश (ऐरिजोना) में बनवायी थी, जहाँ वायु विशेष रूप से स्वच्छ रहती है। उसका यह भी कहना था कि नहरों की झलक हमें कभी-हीं-कभी, जब हमारा वायुमंडल क्षण भर के लिए नीचे से ऊपर तक निश्चल हो जाता है, मिल जाती है।

शायापरेली की आँखें अवश्य ही असाधारण रूप से तेज थीं। उसने अपने ६ इंच के दूरदर्शक से नहरों को तब देखा, जब किसी को इनके होने का संदेह भी नहीं था। उसके बतलाने पर लोग बड़े-बड़े दूरदर्शकों से भी केवल वर्षों बाद ही उन्हें देख पाए। लॉवेल का दूरदर्शक भी अपेक्षाकृत छोटा ही था, वह केवल २४ इंच व्यास का था। परंतु हो सकता है कि लॉवेल की भी आँखें असाधारण तीक्ष्ण रही हों। या संभव है, अपनी भावना के कारण भ्रमवश उसे नहरें दिखलाई पड़ती रही हों! कुछ भी हो, हमें मानना पड़ेगा कि अभी निश्चय रूप से सिद्ध नहीं हो सका है कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं।

फोटोग्राफ खींचकर नहरों का रहना या न रहना देखा नहीं जा सकता, क्योंकि फोटोग्राफों में कभी भी उतने सूक्ष्म व्योरे अभी तक नहीं उतर पाते हैं, जितने आँख से देखे जा सकते हैं। आँखें वायुमंडल के क्षण भर भी स्थिर हो जाने का लाभ उठा लेती हैं।

मंगल का अनूठा उभार

कुछ वर्ष हुए, मंगल की कोर पर ऊपर के चित्र में प्रदर्शित विचित्र उभार दिखाई दिया था। यह सम्भवतः बादल का टुकड़ा था, जिस पर एक खास स्थिति में धूप पड़ रही थी। इस पर खबर उड़ाई गई कि मंगल-निवासी आग जलाकर हमें संकेत कर रहे हैं।

लॉवेल का सिद्धान्त

लॉवेल ने सौर जगत् की उत्पत्ति और प्राणियों के विकास के साधारण सिद्धान्तों पर ही अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। उसका कहना है कि जब हमारा सौर जगत् बना होगा तब पृथ्वी, मंगल आदि सभी खूब गरम रहे होंगे। मंगल छोटा होने के कारण आरंभ में भी कुछ गरम रहा होगा और अपने छोटे आकार के कारण शीघ्र ठंढा भी हुआ होगा। पहले वहाँ वर्षा खूब होती रही होगी, परंतु धीरे-धीरे——लाखों वर्षों में——पानी की मात्रा कम होती गई होगी, क्योंकि मंगल के कम आकर्षण के कारण भाप का कुछ अंश अवश्य ही बराबर शून्य में उड़ता रहा होगा। इसके समर्थन में लॉवेल ने बतलाया है कि पृथ्वी भी ठंढी होती जा रही है और यहाँ भी पानी धीरे-धीरे कम हुआ जा रहा है। अब यहाँ उतना पानी नहीं बरसता, जितना हजारों वर्ष पहले बरसता था और समुद्र भी अब उतने विस्तृत नहीं हैं। पृथ्वी के बहुत-से भागों को खोदने पर स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि ये कभी समुद्र-तल रहे होंगे, क्योंकि उनमें सीप, शंख आदि मिलते हैं। जैसे हमारी पृथ्वी पर विकासवाद के सिद्धान्तानुसार प्राणियों का विकास हुआ है, उसी प्रकार मंगल पर भी हुआ होगा। परंतु वहाँ ठंढा होना, पानी की कमी उत्पन्न होना, आदि सब परिवर्तन अपेक्षाकृत कुछ कम ही समय में हुए होंगे। इसलिए वहाँ विकास की गति वस्तुतः पृथ्वी की अपेक्षा कुछ अधिक

ही वेगवती रही होगी। परिणामस्वरूप वहाँ मनुष्य आज से लाखों वर्ष पहले ही हमारे जैसे बुद्धिमान् हो गए होंगे।

पृथ्वी की तरह मंगल पर भी विकास-धारा रुकी न होगी। वहाँ के मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक बुद्धिमान् होते गए होंगे। उन्होंने देखा होगा कि पानी की मात्रा कम होती जाती है, समुद्र तक सूखते चले जा रहे हैं। इसलिए भावी विपत्ति की आशंका से उन्हें पहले से सतर्क कर दिया होगा। फलतः उन्होंने एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक नहरें बना डाली होंगी और ऐसे पंप लगाये होंगे कि दूर-दूर तक पानी पहुँचाया जा सके। नहरों के आस-पास खेतीबारी होती होगी। इस हरी-भरी भूमि को हम अपने दूरदर्शकों से लंबी रेखाओं के रूप में देखते हैं। हम मंगल से बहुत दूर हैं, इसलिये ये रेखाएँ बराबर स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़तीं। कभी-कभी वायुमंडल के विशेष रूप से स्वच्छ और निश्चल रहने पर हमें उनकी एक झलकमात्र मिल जाती है। लॉवेल के सिद्धान्त में कोई असंभव बात नहीं है, परंतु जो लोग नहरों का होना नहीं मानते, उन ज्योतिषियों का कहना है कि यह सिद्धान्त बिना नींव की दीवार है। वहाँ नहरें ही नहीं हैं, तब उनके बनानेवालों के बारे में क्या सोचना।

मंगल ग्रह अपने समीपस्थ उपग्रह से कैसा दिखाई पड़ता होगा

मंगल के दोनों उपग्रह उसके इतने समीप हैं कि उन दोनों पर से यह ग्रह एक विशालकाय भव्य प्रकाश-बिम्ब के रूप में दिखाई पड़ता होगा। हमारे चन्द्रमा की तरह मंगल पर भी उन उपग्रहों से कलाएँ दिखाई पड़ती होंगी, और चूँकि ये उपग्रह मंगल के अत्यन्त समीप हैं, इसलिए एक ही रात में कई कलाओं का दर्शन होता होगा। इससे सचमुच ही वहाँ अत्यन्त मनोरम चाँदनी छा जाती होगी।

कुछ अन्य सिद्धान्त

अरेनियस का कहना है कि जो रेखाएँ नहर मानी जाती हैं, वे वस्तुतः दरारें हैं। दरारों के आसपास क्षारमय भूमि है। जब यह जलवाष्प के कारण पसीजती है तो इसका रंग बदलता हुआ दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार के क्षारमय रेगिस्तान हमारी पृथ्वी पर भी हैं।

एक दूसरे ज्योतिषी का कहना है कि ये रेखाएँ दरारें हैं, परंतु उनके आसपास की भूमि क्षारमय नहीं भी हो सकती। मंगल के वायुमंडल की स्वच्छता, ऋतु के अनुसार बदलती रहती है और इसलिए इन दरारों का रंग भी हमें बदलता हुआ दिखलाई पड़ता है।

लॉवेल और उनके पक्षवालों को इन रेखाओं को प्राकृतिक दरारें मान लेने में आपत्ति है। उनका कहना है कि अपने आप बने दरार दूर तक सीधे नहीं रहते। केवल कृत्रिम नहरें ही इतनी सीधी बन सकती हैं।

इस बात की भी गणना कर ली गई है कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर कितना बर्फ है। पता चलता है कि बर्फ की तह दो-चार ही इंच मोटी होगी। बात यह है कि मंगल सूर्य से दूर है और वहाँ पृथ्वी की अपेक्षा बहुत कम गरमी पहुँचती होगी। एक ऋतु में सूर्य की गरमी के कारण कितना बर्फ वहाँ पिघल सकता है, इसकी गणना सहज ही की जा सकती है। फिर इसे देखकर कि वहाँ से कितनी दूर तक का बर्फ पिघल जाता है, हम आसानी से अंदाज लगा सकते हैं कि बर्फ की तह की मोटाई क्या होगी। पता चलता है कि यह मोटाई कुल दो-चार इंच की होगी। इसलिए यदि लॉवेल का सिद्धान्त ठीक है तो

नहरों और पंपों के रहते हुए भी मंगल में पानी की अत्यधिक कमी होगी।

वायुमंडल और ताप

इसमें संदेह नहीं कि मंगल पर वायुमंडल होगा। वहाँ की आकर्षण-शक्ति इतनी कम नहीं है कि वायुमंडल न टिक सके। हाँ, जलवाष्प ऑक्सिजन या नाइट्रोजन से हलकी होती है, इसलिए पानी की मात्रा वहाँ अवश्य कम हो गई होगी। दूसरी ओर, कार्बन डाइऑक्साइड गैस (वह गैस जो लकड़ी, अन्न आदि के जलने से उत्पन्न होती है और हमारे शरीर में बनकर हमारी साँस के साथ बराबर बाहर निकलती रहती है) कुछ अधिक मात्रा में हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह गैस भारी होती है। परंतु यह मौलिक गैस नहीं है। इसे वनस्पतियाँ अपने काम मे लाती हैं; इसके कार्बन को ग्रहण कर लेती हैं और ऑक्सिजन को छोड़ देती हैं। इसलिए निश्चय रूप से यह कहना असंभव है कि वहाँ यह गैस अधिक मात्रा में होगी ही। वहाँ ऑक्सिजन और नाइट्रोजन अवश्य होगी। इसलिए वहाँ प्राणियों का जीवित रहना असंभव नहीं जान पड़ता। यह बात अवश्य होगी कि वहाँ के वायु-मंडल का भार यहाँ की अपेक्षा शायद केवल पाँचवाँ भाग ही होगा। कुछ लोगों की सम्मति में इतने कम वायु-चाप में प्राणी जीवित नहीं रह सकते। इस प्रश्न पर लॉविल ने भी विचार किया था। उसने बतलाया कि कुछ ही वर्षों पहले लोग कहा करते थे कि गहरे समुद्र के तल के पास मछलियाँ न होती होंगी, क्योंकि वहाँ पर पानी का भार इतना रहता है कि वहाँ मछलियाँ दबकर मर जायँगी। परंतु ऐसी सब शंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं, क्योंकि वहाँ मछलियाँ पाई गईं और उनके शरीर का गठन ऐसा निकला कि छिछले पानी में लाने पर कम भार के कारण वे तुरन्त मर गईं। इसलिए यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे प्राणी हो ही नहीं सकते, जो कि कम वायुभार में जीवित ही न रह सकें। आखिर तिब्बत ऐसे ऊँचे देशों में भी मनुष्य रहते ही हैं, जहाँ वायुभार साधारण वायुभार का केवल आधा ही होता है।

पारी-पारी से नीला और लाल प्रकाश-छनना (फिल्टर) लगाकर फोटो लेने से मंगल पर वायुमंडल रहने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। नीले प्रकाश-छनने द्वारा लिये गए फोटो में वायुमंडल का चित्र आता है, जिससे मंगल ब्योरा-रहित-सा जान पड़ता है। लाल प्रकाश-छनना लगाकर फोटो लेने से वायुमंडल से आया नीला प्रकाश कट जाता है और हमें मंगल की सतह का चित्र मिलता है। इसमें धब्बे आदि सभी चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। यदि मंगल चन्द्रमा की तरह वायुमंडलरहित होता तो नीले और लाल प्रकाश-छननों से लिये गए फोटोग्राफों में कोई अंतर न दिखलाई पड़ता। इसके अतिरिक्त रश्मिविश्लेषक-यंत्र से भी मंगल पर जल-वाष्प और ऑक्सिजन के रहने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

मंगल और उसके उपग्रह

मंगल के दो उपग्रह हैं। फोबास ८ घंटे में और डाइमॉस ३० घंटे में मंगल की प्रदक्षिणा कर लेता है।

मंगल पर कभी-कभी बादल भी दिखलाई पड़ जाते हैं। ये दो जातियों के होते हैं। एक तो सफेद, जो अवश्य असली बादल हैं, और दूसरे पीले, जो रेगिस्तान के बवंडर जान पड़ते हैं। एक बार मंगल पर बादल का एक टुकड़ा बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा था, क्योंकि उस समय वह ऐसी स्थिति में था कि उस पर धूप पड़ रही थी। परंतु पीछे की जमीन पर धूप नहीं पड़ रही थी। इसलिए काली जमीन पर वह सफेद बादल खिल उठा था। उस समय समाचार-पत्रों ने यह खबर उड़ा दी कि मंगल-निवासी आग जलाकर और धुआँ करके हमें संदेश भेज रहे हैं!

अनुमान किया जाता है कि मंगल पर दिन में ताप करीब ५०° फा० हो जाता होगा। भारत में जाड़े में भी

इससे अधिक ताप रहता है। इसलिए मंगल पर वस्तुत: बड़ी सरदी पड़ती होगी। रात्रि को मंगल पर कितनी सरदी पड़ती होगी इसका ठीक पता नहीं, परन्तु संभव है कि वहाँ रात्रि होते ही वायुमंडल का जलवाष्प जमकर बादल बन जाता होगा! यदि ऐसा होता होगा तो रात को इतनी सरदी न पड़ने पाती होगी कि पौधे मर जाएँ, क्योंकि बादल बचाव का काम देते होंगे और मंगल की सतह को शीघ्र ठंढा न होने देते होंगे। पृथ्वी पर भी तो जब दिन भर कड़ी धूप रहती है और रात को बदली रहती है तब गरमी पड़ने लगती है।

मंगल के उपग्रह

पृथ्वी का केवल एक उपग्रह है—वही जो हमारा चंद्रमा है। बृहस्पति के पास दूरबीनों से बराबर चार उपग्रह दिखलाई पड़ते थे, इसलिए लोगों ने अनुमान किया कि मंगल के पास भी दो उपग्रह होंगे। परंतु वर्षों तक खोज होने पर भी इनको कोई देख न सका। इस पर साहित्यिकों ने कई बार मजाक भी उड़ाया। 'गुलिवर की यात्राएँ' नामक पुस्तक में लेखक ने एक कल्पित देश लपूटा के ज्योतिषियों के बहाने समस्त ज्योतिषियों की चुटकी ली और लिख मारा कि लपूटावालों ने मंगल के दो उपग्रह देखे हैं। उसने लिखा—

"लपूटा के ज्योतिषियों के दिलों में हमेशा खटका लगा रहता है; ... ... उन्हें शंका है कि पृथ्वी के लगातार सूर्य की ओर बढ़ते रहने से, समय पाकर कभी सूर्य इसको सोख न ले या निगल न जाय; कहीं धीरे-धीरे सूर्य अपने ही कलंकों से ढक न जाय और तब विश्व को यह कुछ भी प्रकाश न दे सके! पृथ्वी पिछले पुच्छल तारे की दुम की झटकार से बाल-बाल बच गई, नहीं तो जलकर यह अवश्य राख हो जाती; परन्तु आगामी पुच्छल तारा, जो आज से एक और तीस (अर्थात् इकतीस) वर्षों में आनेवाला है, शायद हमारा नाश कर डालेगा ....। प्रात:काल जब उनकी किसी मित्र से मुलाकात हो जाती है तो पहला प्रश्न सूर्य के स्वास्थ्य के विषय में होता है; उदय या अस्त होते समय वह कैसा था और आगामी पुच्छल तारे की चोट से बचने की कितनी आशा की जा सकती है। .... उन्होंने हमारे योरपीय ज्योतिषियों से बहुत बढ़कर आविष्कार किये हैं। ....उन्होंने दो छोटे-छोटे उपग्रहों का आविष्कार किया है, जो मंगल की प्रदक्षिणा करते हैं।"

तब सन् १८७७ में वस्तुत: मंगल के दो उपग्रह देखे गये! ये दोनों बहुत छोटे हैं और मंगल के बहुत पास हैं, इसीलिए इनका देखना आसान नहीं था। अनुमान किया जाता है कि पासवाला उपग्रह फोबास लगभग १० मील व्यास का और दूरवाला ५ मील व्यास का होगा। मंगल से दोनों उपग्रह लगभग उतने ही छोटे और चमकीले दिखलाई पड़ते होंगे, जैसा शुक्र हमें दिखलाई पड़ता है। अत्यन्त निकट रहने के कारण पासवाला उपग्रह मंगल की एक प्रदक्षिणा केवल ८ घंटे में कर लेता है। इसलिए इस उपग्रह की अमावस्या और पूर्णिमा एक ही रात में हो जाती होगी और मंगलवालों को—यदि वहाँ कोई रहता हो—अमावस्या से पूर्णिमा तक की सब कलाएँ कुछ ही घंटों में देखने को मिल जाती होंगी! हाँ, छोटा होने के कारण दूरदर्शक लगाकर इसे देखना पड़ता होगा।

बाहरी उपग्रह डाइमॉस भी कुछ कम विचित्र नहीं है। इसका प्रदक्षिणाकाल मंगल के अक्षभ्रमण-काल से थोड़ा ही अधिक है। इसलिए यह उपग्रह मंगल से देखने पर बहुत धीरे-धीरे चलता जान पड़ेगा। यह लगभग तीन दिन तक अस्त ही न होगा, और इतने समय में वहाँ अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या दो बार हो जाती होगी!

अवान्तर ग्रह — सौर परिवार के सबसे छोटे सदस्य

आम तौर पर लोग यही जानते हैं कि सौर परिवार में बुध से लेकर प्लूटो तक केवल नौ ग्रह हैं, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मंगल और बृहस्पति की कक्षाओं के बीच सैकड़ों ही नहीं हजारों नन्हें-नन्हें ग्रहों का एक समुदाय विद्यमान है, जो सामूहिक रूप से 'अवान्तर ग्रह' के नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं की कहानी इस प्रकरण में दी जा रही है।

मंगल और बृहस्पति नामक ग्रहों के बीच सैकड़ों नन्हें-नन्हें ग्रह हैं, जो या तो सौर परिवार की उत्पत्ति के समय बँधकर एक नहीं हो पाए; या यदि वे उस समय बँधकर एक बड़े ग्रह के रूप में थे भी तो पीछे उनके टूट जाने पर अलग-अलग हो गए। ये 'अवान्तर ग्रह' कहलाते हैं। इनमें से लगभग पौने दो हजार ग्रहों की कक्षाओं की

गणना हो चुकी है। प्रत्येक ग्रह के लिए कोई संख्या स्थिर कर दी गई है और नाम भी रख दिया गया है। परंतु निश्चय है कि ऐसे ग्रहों की संख्या वस्तुतः पौने दो हजार से कहीं अधिक होगी, क्योंकि प्रायः प्रतिवर्ष ही ऐसे दो-चार नवीन ग्रहों का पता चलता है। इनमें से सबसे बड़ा कुल ४८० मील व्यास का है। केवल तीन मील व्यास के भी ग्रह देखे गये हैं!

इनकी पहचान में अत्यंत कठिनाई होने तथा इनकी संख्या इतनी अधिक होने के कारण निश्चय ही अवान्तर ग्रहों का अध्ययन कभी ही बंद हो गया होता, परंतु इनमें से एक अवान्तर ग्रह, जिसका नाम एरॉस रक्खा गया है, ज्योतिष के कुछ अन्य कामों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसीलिए नवीन अवान्तर ग्रहों की खोज आज तक जारी है। आशा की जाती है कि कदाचित् एरॉस से भी उपयोगी ग्रह एक दिन हमें मिल जायँ। एरॉस के वेधों से सूर्य की दूरी का सूक्ष्म ज्ञान हो सकता है और हम इन्हीं वेधों से चंद्रमा का द्रव्यमान (तौल) भी अच्छी तरह जान सकते हैं।

सूर्य की दूरी जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन एरॉस ग्रह

यह देखना रोचक होगा कि एरॉस के वेधों से सूर्य की दूरी कैसे जानी जा सकती है। बात यह है कि हमें सूर्य और सब ग्रहों की आपेक्षिक दूरियां भली भांति ज्ञात हैं। इनमें से एक की भी असली दूरी ज्ञात हो जाय तो अन्य सब दूरियाँ ठीक-ठीक जानी जा सकती हैं। सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषी केपलर ने बतलाया था कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और उनकी दूरी और परिभ्रमण-काल में सरल संबंध है। जो ग्रह जितना ही दूर होगा वह उतने ही अधिक समय में एक चक्कर लगाएगा। वस्तुतः परिभ्रमण-कालों के वर्ग दूरियों के घनों के अनुपात में रहते हैं। हम ग्रहों के परिभ्रमण-कालों को ठीक-ठीक जानते हैं। इसलिए हमें ग्रहों की दूरियों का अनुपात भी ठीक-ठीक ज्ञात है। प्रत्यक्ष है कि यदि हम इनमें से किसी भी दूरी को मीलों में नाप सकें तो प्रत्येक ग्रह की दूरी मीलों में नप जायगी। परंतु पृथ्वी से सूर्य की दूरी सीधे नहीं नापी जा सकती, क्योंकि एक तो सूर्य हमसे बहुत दूर है और फिर वह इतना चमकीला है कि सब कुछ करने पर भी आकाश में उसकी

अवान्तर ग्रहों की स्थिति

ये भी सौर परिवार के सदस्य हैं

इस कल्पनाचित्र में भारत की लंबाई-चौड़ाई की तुलना में कुछ बड़े अवान्तर ग्रहों का आकार दिग्दर्शित है। इनमें सीरिस सवसे बड़ा अवान्तर ग्रह है।

स्थिति इच्छानुसार सूक्ष्मता से नहीं जानी जा सकती। इसलिए हम किसी ऐसे ग्रह की दूरी नापते हैं, जो हमसे वहुत समीप हो और जो तारों से अधिक चमकीला न हो। पहले मंगल की दूरी नापी गई, क्योंकि पुराने ग्रहों में से यही हमारे सवसे निकट था, परंतु एरॉस का पता चलने के वाद देखा गया कि समय-समय पर यह मंगल से भी अधिक हमारे समीप आ जाता है। फिर कम चमकीला होने के कारण यह दूरदर्शक में तारों के ही सदृश दिखलाई पड़ता है, जिससे इसकी स्थिति का अत्यंत सच्चा वेध किया जा सकता है। एरॉस की दूरी नापने के लिए तारों के हिसाव से इसकी दिशा का वेध दो विभिन्न और दूरस्थ वेधशालाओं से किया जाता है। इन दो जगहों से देखने पर एरॉस की दिशा में कुछ अंतर पड़ जाता है। उस अंतर को नाप लेने पर गणना करने से जान लिया जाता है कि एरॉस हमसे वेध के दिन कितनी दूरी पर था। तव केपलर के नियम के अनुसार तुरंत पता चल जाता है कि सूर्य हमसे कितनी दूरी पर है।

खोज के वाद सन् १९०१ में एरॉस हमारी पृथ्वी के सवसे निकट आया। उस वर्ष इसका हजारों वार वेध किया गया और गणना से जो दूरी सूर्य की निकली, वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध थी। तो भी ज्योतिषियों को पूरा संतोष नहीं हुआ। वे एक वार फिर एरॉस के निकटतम दूरी पर आने की प्रतीक्षा में थे। यह अवसर जनवरी, १९३१, में प्राप्त हुआ। उस समय लाखों वेध किये गए। इसमें कई एक वेधशालाओं ने हाथ वँटाया। वेधशालाओं के कार्यों का वँटवारा 'इंटरनेशनल ऐस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन', अंतर्राष्ट्रीय ज्योतिष संघ, के 'सोलर पैरालैक्स कमिशन' (सौर लंबन परिषद्) ने पहले से ही कर रक्खा था। इन वेधों के आधार पर सूर्य की दूरी की गणना जनवरी १९४१ तक भी समाप्त नहीं हुई, यद्यपि दस वर्ष उसे हो गए! गणना का काम ग्रिनिच की 'रॉयल ऑब्जर्वेटरी' (राज-वेधशाला) में लगातार जारी रहा। वहाँ कई एक वेतनभोगी ज्योतिषी इसी काम में, १९३१ के कुछ वर्ष पहले से ही, लगे हुए थे। इस गणना के संवंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन इंगलैंड के राज-ज्योतिषी स्पेंसर जोन्स का है, जिसमें उन्होंने एक शंका-समाधान किया है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी थी कि जर्मनी की 'वर्गेडोर्फ वेधशाला' के वेधों के आधार पर डाक्टर विक ने यह परिणाम निकाला कि एरॉस कोई एक पिंड नहीं है (नवम्वर, १९३९)। यह कम-से-कम तीन ग्रहों का समूह है और इन तीनों का केन्द्र वैसी सरल कक्षा में नहीं चलता, जिसमें एक पिंड होने पर एरॉस चलता! फलस्वरूप डाक्टर विक का मत है कि एरॉस से सूर्य की दूरी की सूक्ष्म नाप जानने की आशा व्यर्थ है और गत वर्षों का सव परिश्रम निष्फल जायगा। इस खलवली मचा देनेवाले परिणाम की सत्यता की जाँच इंगलैंड के राज-ज्योतिषी ने अन्य वेधशालाओं के वेधों के आधार पर की और अप्रैल, १९४०, की 'मंथली नोटिसेज' नामक मासिक पत्रिका

में यह बात छापी कि डाक्टर विक की शंकाएँ निर्मूल हैं। हाँ, एरॉस की चमक घटा-बढ़ा करती है, जिसके एक चक्र का काल ५ घंटा १६ मिनट है, परन्तु इससे सूर्य की दूरी की गणना में कोई त्रुटि नहीं उत्पन्न हो सकती। इस गणना के समाप्त होने पर सूर्य की दूरी हमें सूक्ष्म रूप से ज्ञात हो गई है।

अवान्तर ग्रहों की खोज

अवान्तर ग्रहों की खोज की कथा भी बड़ी रोचक है। ये ग्रह ढूंढ़कर निकाले गए हैं। बात यह है कि जब ग्रहों का नकशा पैमाने के अनुसार खींचा जाता है तो तुरन्त दिखलाई पड़ता है कि मंगल और बृहस्पति के बीच में असाधारण रूप से कुछ जगह खाली पड़ी है। तुरन्त ऐसा भास होता है कि इन दोनों के बीच में एक ग्रह होना चाहिए। केपलर ने कहा भी था कि अवश्य इन दोनों के बीच कोई ग्रह है, जो छोटा होने के कारण हमें दिखलाई नहीं पड़ता। एक ज्योतिषी ने तो दिल्लगी की कि यहाँ ग्रह रहा अवश्य होगा, परंतु कोई दीर्घकाय पुच्छल तारा उसे अपनी पूँछ में समेट ले गया होगा! १७७२ में विटनबर्ग (जर्मनी) के टिटियस नामक प्रोफेसर ने ग्रहों की दूरियों के बारे में एक नियम का पता लगाया। उसने बतलाया कि यदि हम ०, ३, ६, १२, २४ इत्यादि संख्याएँ लें और इनमें से प्रत्येक में ४ जोड़ दें तो हमें ग्रहों की आपेक्षिक दूरी प्राप्त हो जायगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ०, ३, ६, इत्यादि संख्याओं में पहली संख्या शून्य है, दूसरी तीन; और अन्य संख्याएँ तीन को दुगुना करते चले जाने से प्राप्त होती हैं। टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी वास्तविक दूरी के लगभग बराबर ही निकलती है, जैसा आगे दी गई सारिणी से स्पष्ट है।

ग्रह का नाम	टिटियस के नियम से प्राप्त दूरी	वास्तविक दूरी
बुध	४	३·९
शुक्र	७	७·२
पृथ्वी	१०	१०·०
मंगल	१६	१५·२
अवान्तर ग्रह	२८	२६·५
बृहस्पति	५२	५२·०
शनि	१००	९५·४
यूरेनस	१९६	१९१·९
नेपच्यून	३८८	३००·७
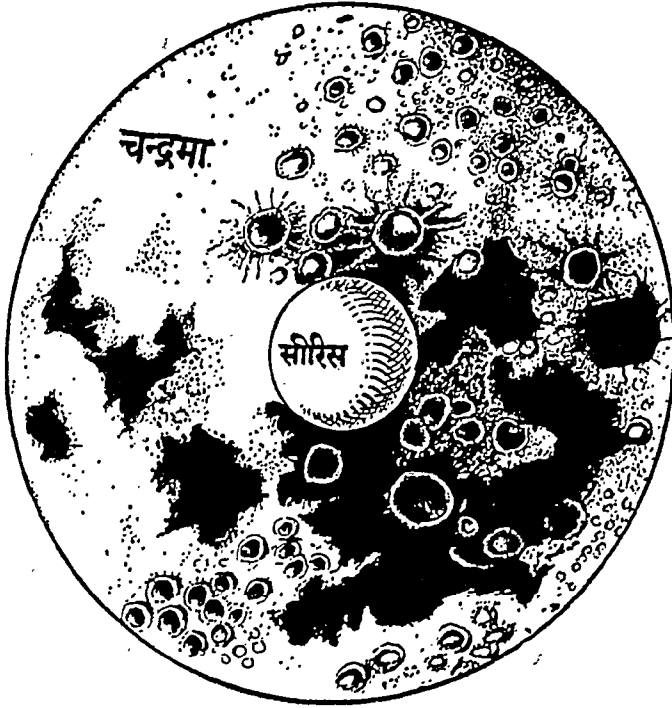
सबसे बड़े अवान्तर ग्रह सीरिस के आकार की चन्द्रमा से तुलना

बोडे का नियम

जिस समय टिटियस ने इस नियम का आविष्कार किया था, उस समय न तो अवान्तर ग्रहों का ही पता था और न यूरेनस और नेपच्यून का। यूरेनस और नेपच्यून तो सूची के अंत में आते हैं; इसलिए इनके कारण कोई कठिनाई नहीं पड़ी; परंतु अवान्तर ग्रहों का स्थान अवश्य रिक्त रखना पड़ा। बोडे टिटियस से अधिक प्रसिद्ध ज्योतिषी था। उसने टिटियस का नियम मान लिया और बहुत जोर लगाया कि रिक्त स्थान में ग्रहों की खोज अवश्य होनी चाहिए। बहुत से ज्योतिषियों ने टिटियस के नियम का पता बोडे द्वारा पाया। इसलिए आज भी यह नियम साधारणतः 'बोडे का नियम' कहलाता है। रिक्त स्थान में ग्रहों की खोज की बात हो ही रही थी, इतने में यूरेनस की खोज हुई। जब उसकी दूरी की गणना हुई तो पता चला कि वह भी बोडे के नियम के अनुसार ही है। तब तो बोडे के नियम में लोगों का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि मंगल और बृहस्पति के बीचवाले अज्ञात ग्रह को ढूंढ नि ने

के लिए जर्मन ज्योतिषियों ने मिलकर चौबीस सभ्यों की एक परिषद् स्थापित की। इस परिषद् का उद्देश्य यही था कि अज्ञात ग्रह को ढूँढ निकाला जाय। प्रत्येक सभ्य के जिम्मे राशिमंडल का चौबीसवाँ भाग कर दिया गया। लोग विनोद में इस परिषद् को 'आकाशीय पुलिस' कहा करते थे और प्रत्येक सभ्य की यही आकांक्षा थी कि वही अभियुक्त को गिरफ्तार करे और संसार में यश प्राप्त करे।

पियाजी द्वारा सीरिस की खोज

इधर अज्ञात ग्रह के पता पाने की ये सब तैयारियाँ हो रही थीं, उधर सिसिली (इटली) के ज्योतिषी पियाजी ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दिवस की शाम को आखिर एक नवीन ग्रह देख ही लिया। 'आकाशीय पुलिस' में पियाजी के लिए भी एक स्थान रक्खा गया था, परंतु उस समय तक पियाजी को इसकी खबर न थी। वह एक नक्षत्र-सूची बनाने में लगा था और उसने ग्रह को इसलिए पहचान लिया कि इसका स्थान एक पुरानी सूची में कुछ और ही लिखा था। इसलिए या तो पुरानी सूची में अशुद्धि थी, या यह तारा नहीं बल्कि निश्चय ही कोई ग्रह या केतु था, क्योंकि तारों के हिसाब से केवल ग्रह या केतु चला करते हैं। दो-तीन दिन तक इसे देखने से तुरंत पता चल गया कि यह स्थिर नहीं है, बल्कि चल रहा है। इससे स्पष्ट हो गया कि पुरानी सूची में भूल नहीं थी।

पियाजी ने पहले समझा कि यह कोई केतु (पुच्छलतारा) होगा। अतः वह सवा महीने तक सावधानी से वेध करता रहा। फिर वह बीमार पड़ गया। परंतु उसने अपने आविष्कार की सूचना बाहर भेज दी थी। बोडे नामक ज्योतिषी को पत्र मिलने में दो महीने की देर हो गई, क्योंकि उन दिनों योरप में बड़ी अशान्ति फैली थी। बोडे ने पत्र पाते ही समझ लिया कि नवीन पिंड केतु नहीं, वही अज्ञात ग्रह होगा, जिसकी खोज में लोग इतने समय से पड़े थे। यह समाचार शीघ्र ही सब जगह फैल गया। परंतु अब यह पिंड सूर्य के बहुत निकट पहुँच गया था और दिखलाई नहीं पड़ रहा था। पियाजी ने जब इसे देखा था, तब भी यह कोरी आँख से नहीं दिखलाई पड़ता था, केवल दूरबीन से दिखलाई पड़ता था, और सो भी मंद प्रकाशवाले तारे की तरह। इसलिए अब सबको इस बात की शंका होने लगी कि शायद यह ग्रह फिर खो जायगा; क्योंकि इस ग्रह की स्थितियों का वेध केवल सवा महीने तक किया गया था; और इतने समय में यह ग्रह इतना कम चल पाया था कि कोई भी नहीं बतला सकता था कि भविष्य में वह किधर और किस गति से जायगा। अवश्य कई एक गणितज्ञों ने चेष्टा की कि इसके मार्ग का पता लगाएँ, परन्तु उनके परिणाम इतने ऊटपटाँग निकले कि तत्संबंधी निराशा बढ़ती ही चली गई।

प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी गाउस, जिसकी गणना अब संसार के ज्योतिषसंबंधी विद्वानों की प्रथमकोटि में की जाती है,

---

एरॉस का निरन्तर बदलता हुआ चेहरा

एरॉस बड़ा ही विचित्र आकाशीय पिण्ड है। उसकी चमक घटती-बढ़ती रहती है। इसके कारण के संबंध में चार धारणाएँ हैं। कोई कहते हैं, इस पर कुछ धब्बे हैं, जिससे प्रकाश बदलता रहता है। दूसरे इसे अंडाकार या अनियमित आकार का मानते हैं। अन्य की धारणा है कि ये दो पिण्ड हैं, जो कभी साथ-साथ और कभी-कभी एक-दूसरे की आड़ में आ जाते हैं, जिससे प्रकाश घट-बढ़ जाता है।
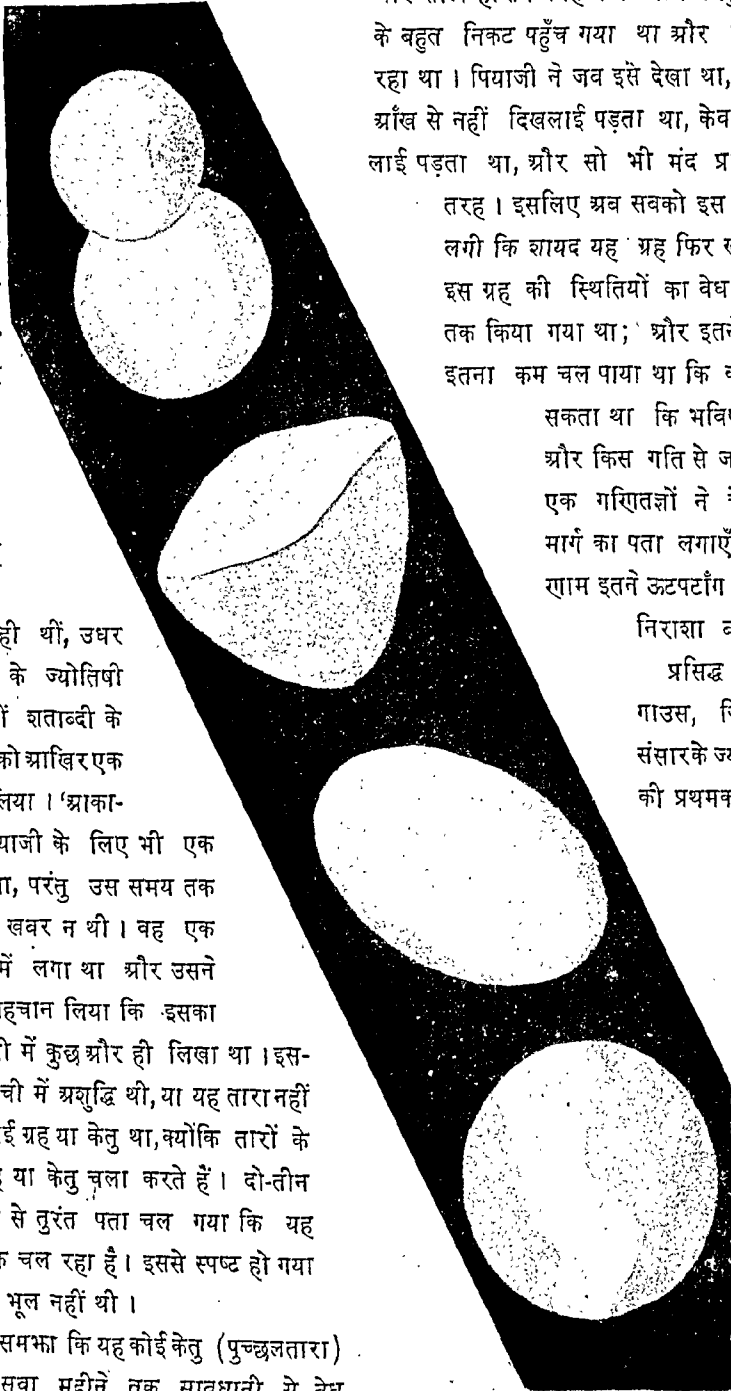
प्रति वर्ष ही मिल जाते हैं। इधर अधिक ग्रहों के मिलने का एक कारण यह है कि अब फोटोग्राफी से भी हम सहायता ले सकते हैं। यदि कोई अवान्तर ग्रह इतने मंद प्रकाश का हो कि वह हमें बड़े दूरदर्शक में भी न दिखलाई पड़े तो घंटों घूरते रहने पर भी वह हमें नहीं दिखलाई पड़ेगा, परन्तु यदि उसी ग्रह का फोटो हम तेज फोटोग्राफिक प्लेट पर लें और दो-चार घंटे का प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज्हर) दें तो उस मंद प्रकाश के दो-चार घंटे का सम्मिलित प्रभाव अवश्य प्लेट में इतना परिवर्तन कर देगा कि ग्रह का चित्र खिंच जाय।

जर्मन-ज्योतिषी मैक्स वोल्फ ने पहलेपहल इस बात से पूरा लाभ उठाया। वह पहले से अनुमान कर लेता था कि अवान्तर ग्रह किधर और किस वेग से चलता होगा; और वह अपने दूरदर्शक को ठीक ऐसी गति से चलाता था कि अज्ञात ग्रह का चित्र ठीक विंदु-सरीखा ही उतरे। ग्रह तारों के हिसाब से चलता रहता है, इसलिए उपर्युक्त रीति से दूरवीन चलाकर घंटों का प्रकाश-दर्शन देने पर तारों के चित्र तो विंदु-सरीखे नहीं उतरते थे—वे खिंचकर कुछ लम्बे हो जाते थे—परन्तु ग्रह का कुल प्रकाश घंटों तक प्लेट के केवल एक ही विन्दु पर पड़ता था। इसलिए इस उपाय से मंद-से-मंद ग्रह का फोटो भी खिंच आता था। इसीलिए हमें अनेक ऐसे अवान्तर ग्रहों का पता है, जो इतने मंद प्रकाश के हैं कि वे बड़े दूरदर्शकों में भी नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

नामकरण, कक्षाएँ, व्यास, आदि

अवान्तर ग्रह हमें तारे के समान ही दिखलाई पड़ते हैं, इसलिए उनकी पहचान केवल उनकी कक्षाओं से ही होती है। इनका नामकरण-संस्कार भी बड़ा विचित्र है। जब किसी नये ग्रह का पता चलता है और कक्षा की गणना करने पर यह बात पक्की हो जाती है कि ग्रह वस्तुतः कोई नवीन ग्रह है, तब बर्लिन (जर्मनी) के रेखेन-इंस्टीट्यूट का अध्यक्ष इस ग्रह के लिए एक स्थाई नंबर डाल देता है। वहाँ से नंबर पड़ जाने के बाद आविष्कारक को इसका नाम रख देने का अवसर दिया जाता है। पहले इनके नाम देवी-देवताओं के नामों पर रक्खे जाते थे, परन्तु देवी-देवताओं की सूची समाप्त हो जाने के बाद शहर, मित्र, जहाज, यहाँ तक कि पालतू कुत्ते-बिल्ली और दिलपसंद मिठाइयों तक के नाम पर इनके नाम रक्खे गए हैं!

केवल दो-चार बड़े अवान्तर ग्रहों के ही व्यास नापे जा सके हैं। अन्य अवान्तर ग्रहों के व्यासों का अनुमान उनके प्रकाश की मात्रा से किया गया है। सबसे बड़ा अवान्तर ग्रह सीरिस है, जिसका आविष्कार सर्वप्रथम हुआ था। इसका व्यास लगभग ४८० मील है। कुल पंद्रह-सोलह ही अवान्तर ग्रह १०० मील से अधिक व्यास के होंगे। अधिकांश २० मील व्यास के होंगे। कुछ १० मील से भी छोटे हैं। ऐलिडा नामक अवतान्र ग्रह तो कुल तीन मील का ही है!

अवान्तर ग्रहों के अनियमित आकार और उनकी कम आकर्षण-शक्ति

सबसे बड़े अवान्तर ग्रह पर भी आकर्षण-शक्ति इतनी कम होगी कि बंदूक से गोली दागने पर लौटकर फिर ग्रह पर नहीं गिरेगी। छोटे-छोटे अवान्तर ग्रहों पर से तो हाथ से ही ढेला फेंकने पर वह सदा के लिए ग्रह से चल देगा! अनुमान किया जाता है कि सब अवान्तर ग्रहों की तौल कुल मिलाकर पृथ्वी की तौल के हजारवें भाग से अधिक न होगी।

बहुत-से अवान्तर ग्रहों की चमक नियमानुसार घटती-बढ़ती रहती है। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि ऐसे ग्रह गोल नहीं हैं। वे अनियमित आकार के हैं। जब उनका चपटा पार्श्व हमारी ओर रहता है, तब वे हमें अधिक चमकीले दिखलाई पड़ते हैं। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, प्रसिद्ध अवान्तर ग्रह एरॉस की चमक भी घटा-बढ़ा करती है। अवान्तर ग्रहों की कक्षाएँ ऐसी नहीं हैं कि वे एक के बाद एक ग्रहों की दूरी के अनुसार क्रम से गिनाई जा सकें। वे एक दूसरे से ऐसी उलझी हुई हैं कि यदि वे छड़ की बनी हुई होतीं तो एक के उठाने से सब उठ आतीं और उनके साथ मंगल और बृहस्पति की कक्षाएँ भी फँस आतीं!

अवान्तर ग्रहों की उत्पत्ति

अवान्तर ग्रह किस प्रकार उत्पन्न हुए, इस प्रश्न पर ज्योतिषीगण एकमत अभी नहीं हो सके हैं, परंतु अधिक महत्वपूर्ण प्रमाण इसी सिद्धान्त के लिए मिलते हैं कि मंगल और बृहस्पति के बीच कोई ग्रह था और वह किसी कारण फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। कक्षाओं की विलक्षणता से ऐसा अनुमान किया जाता है कि पहले पाँच टुकड़े हुए और फिर ये टूट-टूटकर कई छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गए। ये ही टुकड़े वर्तमान अवान्तर ग्रह हैं। इस संबंध में आगे के एक प्रकरण में, जहाँ सूर्य के महान् ग्रह-परिवार की उत्पत्ति के विषय विविध वैज्ञानिक धारणाओं पर विचार किया है, आप विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

ऊष्मा—शक्ति का एक रूप

समस्त द्रव्य-जगत् का पदार्थ मूलतः एक होकर भी जिस प्रकार अनेक रूप होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत है उसी तरह उसमें निहित शक्ति या ऊर्जा (एनर्जी) भी मूलतः एक होकर भी विविध रूपों में अभिव्यक्त हो हमें अपना परिचय देती है। पृष्ठ ८६३ का चित्र देखिए। उसमें शक्ति के कतिपय प्रमुख रूप दिग्दर्शित हैं। उन्हीं में से एक ऊष्मा या गरमी भी है। यह अनोखी शक्ति क्या है, आइए, प्रस्तुत और आगे के कुछ प्रकरणों में देखें।

बाल्यावस्था में पालने में पड़े-पड़े दीपशिखा को देखकर आपको अपार प्रसन्नता होती थी। जाड़े की रात में अलाव के पास बैठे-बैठे इधर-उधर के तिनके उठाकर जब आप आग में डाल देते थे, तो उसकी लौ देखकर भी आप बेहद खुश हो उठते थे। कुछ और बड़े होने पर बिजली के स्विच खोलने और बन्द करने में आपको आनंद आने लगा था। संभव है, स्टोव के प्रति भी आपने अत्यधिक उत्सुकता दिखलाई हो और इस कोशिश में या तो आपने अपने हाथ जला डाले हों या आपको माता-पिता की कड़ी डाँट खाने को मिली हो।

अगर आप किसी बड़े शहर में रहते हैं तो लोहे के कारखानों में प्रायः आपको पिघलता हुआ लोहा देखने को मिला होगा, जो तप्त भट्ठियों की आँच में पड़कर एकदम पानी की भाँति द्रवित हो जाता है। आजकल तो हद दर्जे की गरमी पैदा करके पानी के अन्दर भी जहाज की टूटी हुई लोहे की चद्दरों को पिघलाकर उनकी मरम्मत कर लेते हैं। हर बात में आप देख सकते हैं कि आधुनिक सभ्यता अग्नि के सहारे टिकी हुई है—इसमें किसी को रत्ती भर भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है।

आदिम मनुष्य और अग्नि

मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में अग्नि पर विजय-प्राप्ति का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अग्नि को मनुष्य ने किस प्रकार अपने वश में किया, इसकी कहानी भी अत्यन्त ही रोचक तथा साहस से भरी हुई है।

आज से कुछ ही हजार वर्ष पहले के युग पर दृष्टि डालिए। अपने पिता के संग चर्म-परिधान धारण किए कोई एक किशोर बालक शिकार की खोज में अपनी कन्दरा से बाहर निकलकर घने जंगल की ओर जाता है। तीर की मदद से बनैले सुअर का शिकार करके दोनों उसे कन्धे से लटकाकर कन्दरा में ले आते हैं। भूख से परेशान घर के अन्य छोटे-छोटे बच्चे तथा स्त्रियाँ शिकार को देखकर प्रसन्न हो उठती हैं। फौरन् ही दो सूखी लकड़ियों को रगड़कर आग बनाई जाती है, और उसमें मांस को भूनकर सब लोग अपनी क्षुधा-निवृत्ति करते हैं। उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी में कदाचित् खाना पकाने तथा अपने शरीर को सर्दी से बचाने के अतिरिक्त अग्नि का प्रयोग अन्य किसी काम के लिए होता ही नहीं था। साथ ही उन आदिम निवासियों की आवश्यकताएँ भी इन्हीं जरूरतों तक सीमित थीं। इस तरह हम देखते हैं कि उनकी इस हद दर्जे की सादी जिन्दगी में भी अग्नि को एक नितान्त महत्वपूर्ण स्थान मिला था।

ये आदिम निवासी अग्नि से डरते भी बहुत थे। जंगल में जब वृक्षों के आपस में रगड़ खाने से एकाएक आग की लपटें चारों ओर फैल जातीं तो ये लोग हैरान और भयभीत होकर उन गगनचुम्बी अग्निशिखाओं से अपनी प्राण-रक्षा करने के लिए इधर-उधर पनाह के लिए जगह ढूंढते और झील या नदी में घुसकर गले तक पानी की गहराई में उस वक्त तक खड़े रहते, जब तक कि आसपास की अग्निशिखाएँ मन्द न पड़ जातीं। यदि एकाएक उनके किसी साथी पर आसमान से बिजली गिरती, तो डर के मारे उनके होश-हवास गुम हो जाते थे। वे समझते कि अग्निदेव कुपित होकर पृथ्वी के निवासियों को दण्ड दे रहे हैं। अग्निपूजा का प्रारम्भ कदाचित् इसी प्रकार हुआ।

किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भय और आश्चर्य का स्थान जानकारी ने लेना शुरू किया। आग को वश में करने के लिए उसके बारे में हर तरह की जानकारी प्राप्त

करना बहुत जरूरी था। अतः तरह-तरह के अग्निविषयक प्रयोग किए जाने लगे। इन प्रयोगों के सिलसिले में बहुत-से खतरों का भी सामना करना पड़ा, जिनके कारण अनेक अनुसन्धानकारियों की जानें भी गईं।

आग पैदा करने के विविध तरीके

आग उत्पन्न करने के लिए भी नए-नए तरीके ढूँढ़े गए। किन्तु शुरू के उन दिनों के ये तमाम तरीके रगड़ या कड़ी चीज पर चोट करने पर ही निर्भर थे। लोग लकड़ी के एक सूखे तख्ते में एक सीधी लम्बी दरार खोद लेते थे, और उसमें एक नुकीली लकड़ी का सिरा रगड़ते थे। रगड़ की गरमी से फौरन् ही आग जल उठती थी। पत्थर पर लोहे की छेनी से चोट करके भी आग की चिनगारियाँ लोग पैदा कर लेते थे।

चूँकि उन दिनों आग जलाने में इतनी मेहनत पड़ती थी, इसलिए लोग इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि असावधानी के कारण आग बुझने न पाए। यहाँ तक कि मन्दिरों, मठों आदि में आग को निरन्तर जलाये रखना धर्म की दृष्टि से नितान्त आवश्यक बना दिया गया। रोम के मन्दिरों और पूजागृहों में निरन्तर आग सुलगा करती थी। यदि किसी कारण एक बार आग बुझ जाती, तो उसे पुनः जलाने के लिए एक बड़े पैमाने पर अनेक धार्मिक क्रियाओं का आयोजन किया जाता था। उस समय नगर का सारा निजी तथा सार्वजनिक कारबार रोक दिया जाता था। कारण लोग यह समझते कि स्वर्ग और पृथ्वी के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाला एकमात्र भौतिक साधन (अग्नि) टूट गया है! जब तक यह साधन पुनः प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक संसार में कोई काम करना निरापद नहीं हो सकता! बड़े समारोह के साथ प्रधान धर्मगुरु बड़े आकार के नतोदर दर्पण की मदद से सूर्य्यरश्मियों को रुई के एक टुकड़े पर केन्द्रित करता और एकत्र हुई सूर्य्यरश्मियों की गरमी से रुई को जलाता!

अग्नि उत्पन्न करने के नये-नये तरीके ढूँढ़कर तथा उसे पूर्णतया वश में करके मनुष्य ने अपने फायदे के लिए उससे

आग उपजाने के विभिन्न तरीके

१. चकमक पत्थर की चोट से; २. लकड़ी के तख्ते में कील घुमाकर; ३. लकड़ी के तख्ते की दरार में कील रगड़कर; ४. दो तख्तों के बीच एक नुकीली कील को घुमाकर; ५. पत्थर पर लोहे की चोट द्वारा; ६. साधारण दियासलाई द्वारा; ७. पेट्रोल की दियासलाई द्वारा।
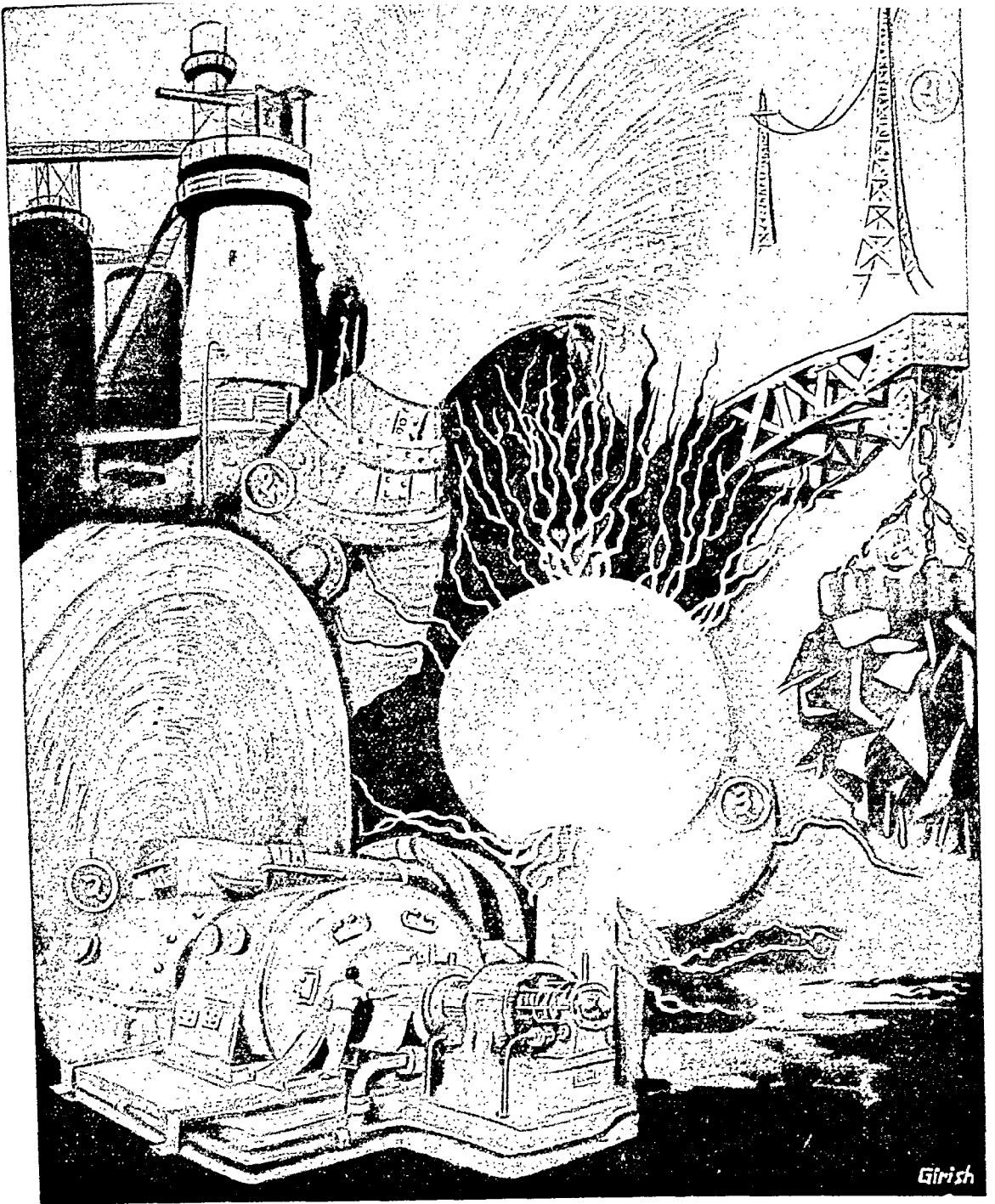
शक्ति के विविध रूप

१. **ऊष्मा की शक्ति**, जिसका प्रखर रूप लोहा पिघला देनेवाले इस बेसेमर कन्वर्टर में देखने को मिलता है; इसकी तेज रोशनी आलोक-शक्ति की परिचायक है; २. **गतिज-शक्ति**, जिसका परिचय हम इस भीमकाय इंजिन में पा सकते हैं; ३. **विद्युत्-शक्ति**, जिसका अंदाजा ३० लाख वोल्ट विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न करनेवाले इन परमाणु-भाजक यंत्रों से हम कर सकते हैं; ४. **चुंबक-शक्ति का प्रतीक**, यह भीमकाय 'मैगनेट' मनों लोहे को आकर्षण द्वारा उठा लेता है; ५. **रेडियो-ऐक्टिव शक्ति**, जिसके बल पर मीलों दूर के गाने और समाचार हम घर बैठे सुन लेते हैं।

तरह-तरह के काम कराये। पहले तो भोजन पकाने का ही काम अग्नि से लिया गया, फिर सर्दी से बचने के लिए भी उसका प्रयोग किया गया। तदुपरान्त तरह-तरह के हथियार धातुओं को गलाकर बनाये गये एवं कला के सर्जन में भी अग्नि की सहायता ली जाने लगी। पीतल आदि को गलाकर सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा। सभ्यता के विकास के साथ ही मशीनों और सवारियों के संचालन के लिए भी आग की शक्ति का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। आज तो मानों अग्नि की शक्ति से ही हमारी सभ्यता का संचालन हो रहा है।

ऊष्मा या गरमी के संबंध में प्राचीन धारणाएँ

किन्तु अग्नि की शक्ति पर इस हद तक जो काबू पाया जा चुका है, वह शक्ति के एक रूप 'ऊष्मा' (Heat) या गरमी के वैज्ञानिक अध्ययन का ही परिणाम है। ऊष्मा वास्तव में है क्या वस्तु, इस प्रश्न पर लोगों ने बहुत पहले से गौर किया था। प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने का प्रयत्न किया था। ऊष्मा की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने उसके 'परमाणुओं' तक की कल्पना की थी! उनका कहना था कि ऊष्मा के 'परमाणु' अत्यन्त क्रियाशील होते हैं। जब ये ऊष्मा-कण किसी पदार्थ में प्रवेश करते हैं तो ये उस पदार्थ के अणुओं को जोरों के साथ धक्का देते हैं। फलस्वरूप यदि वह पदार्थ ठोस हुआ तो उसके अणु उन ऊष्मा-कणों के धक्के के कारण एक-दूसरे से हट जाते हैं और इस हालत में वह ठोस पदार्थ द्रव का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गरमी पाने पर बर्फ पिघलकर पानी बन जाता है और मोम भी पिघलकर पानी-जैसा तरल हो जाता है। जब द्रव पदार्थों में ऊष्मा-कण प्रवेश करते हैं तो द्रवों के अणु भी उनके धक्के से दूर-दूर हट जाते हैं। फलतः द्रव पदार्थ गैस का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गरमी पाने पर पानी भाप बन जाता है। किन्तु जब इन धारणाओं से समाधान न हो पाया तो बाद में लोगों ने ऊष्मा को एक प्रकार का तरल पदार्थ माना। लोहे के एक तप्त टुकड़े को यदि प्याले में रखे हुए पानी के अन्दर डाला जाय तो पानी गरम हो जाता है और लोहे का टुकड़ा ठण्डा, मानों किसी तरल पदार्थ की तरह ऊष्मा भी लोहे में से निकलकर पानी में चली गयी हो! तत्कालीन लोगों का विचार था कि हरएक वस्तु में ऊष्मा थोड़ी-बहुत मात्रा में मौजूद रहती है। चीजों के रगड़ने से भी गरमी पैदा होती है। रगड़ने से पदार्थों का धरातल दब जाता है, और तब अन्दर का ऊष्मा द्रव बाहर निकल आता है, और उसी तरह जैसे स्पंज के दबाने से उसके अन्दर का पानी बाहर निकल आता है! साइकिल के अन्दर पंप से हवा भरते समय पम्प की हवा गरम हो उठती है। यहाँ पर भी स्पंजवाला सिद्धान्त लागू कराया गया कि दबाव पड़ने से ही हवा के अन्दर का ऊष्मा द्रव बाहर सतह पर आ जाता है!
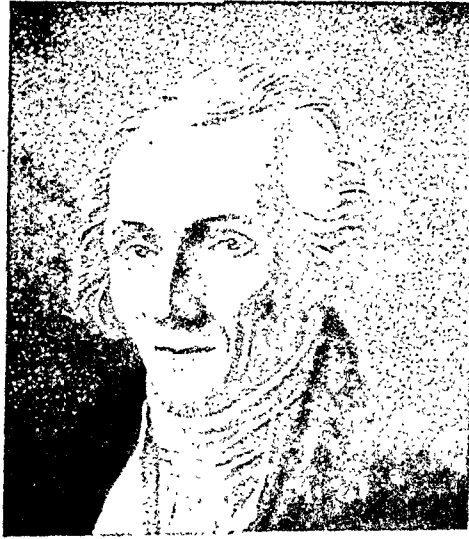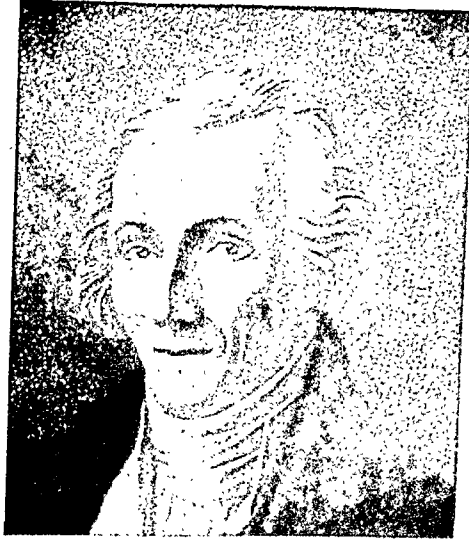
काउण्ट रम्फर्ड
जिसने ऊष्मा के संबंध में वैज्ञानिक जानकारी बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

चलवाई। दो घंटे के अन्दर नांद का १० सेर ठण्डा पानी बिना आग की मदद के ही उबलने लगा!

सर हम्फ्री डेवी का प्रयोग

इसके कुछ ही दिनों बाद इंगलैंड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने एक रोचक प्रयोग किया। उन्होंने बर्फ के दो टुकड़ों को लेकर उन्हें आपस में खूब रगड़ा। इस रगड़ की गरमी से ये दोनों टुकड़े शीघ्र ही पिघल गए। यहाँ पर भी रगड़ से ही गरमी उत्पन्न हुई थी। अब इन प्रयोगों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि अवश्य ही उपर्युक्त प्रयोगों में ऊष्मा के उत्पन्न होने का कारण रगड़ और बर्मी के चलाने की शक्ति ही थी। पत्थर पर संगतराश जिस समय छेनी चलाता है, उसकी शक्ति का व्यय होता है। यही शक्ति चिनगारियों के रूप में प्रकट होती है।

ब्राउनियन गति

आर्क लैम्प द्वारा एक तेज रोशनी आयताकार सेल के भीतर केंद्रित की जाती है। सेल की दीवारें शीशे की बनी होती हैं। ट्यूब **अ** के रास्ते सिगरेट का धुआँ सेल के अन्दर प्रविष्ट कराने के लिए ब से हवा बाहर को खींचनी होती है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र बिन्दु **'क'** पर केंद्रित किया जाता है। इस यंत्र से देखने पर सेल के अन्दर नन्हें-नन्हें चमकते हुए जर्रे इधर-उधर भागते हुए दिखाई देते हैं, मानो उन्हें अदृश्य डंडों से कोई रह-रहकर गेंद की तरह मार रहा हो। वास्तव में ये जर्रे धुएँ के कण हैं, जिन्हें सेल के अन्दर की हवा के अवयव बार-बार धक्का देते रहते हैं। धुएँ के ये कण आसानी से देखे भी नहीं जा सकते। किन्तु आड़ी दिशा से जब इन पर तेज आलोक-रश्मियाँ पड़ती हैं, तो ये फौरन् दिखाई पड़ जाते हैं—ठीक उसी तरह जैसे अँधेरे कमरे में एक सूराख से आती हुई सूर्य-रश्मियों के रास्ते में नाचते हुए धूलिकण सहस्रों की संख्या में अचानक ही नजर आ जाते हैं। राबर्ट ब्राउन ने पहली बार दूध के एक पतले घोल पर यह प्रयोग आजमाया था। दूध के नन्हें-नन्हें कणों को तेज रोशनी में तीव्र गति से नाचते हुए देखकर उसे पहले यह धोखा हुआ कि कहीं ये जीवित कीटाणु तो नहीं हैं। यह बात १८२५ की है। पूरे ८२ वर्ष बाद ब्राउन के इस प्रयोग की सही व्याख्या एक आइन्स्टीन ने की।

ऊष्मा की इस नई व्याख्या ने भौतिक विज्ञान के एक नवीन अध्याय का आरम्भ किया। रासायनिक क्रियाओं पर भी अब इस नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। पहले इस बात को लोग समझ नहीं पाते थे कि गन्धक के गाढ़े तेजाब में पानी मिलाने से तेजाब एकदम गरम क्यों हो जाता है। किन्तु उक्त व्याख्या ने इन क्रियाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला। इस प्रयोग में रासायनिक शक्ति परिवर्तित होकर ऊष्मा के रूप में प्रकट होती है। बिजली के लैम्प में विद्युत्-शक्ति परिवर्तित होकर ऊष्मा या आलोक के रूप में हमें मिलती है।

ऊष्मा—शक्ति का एक रूप

साधारण काम करने की यांत्रिक शक्ति, विद्युत्-शक्ति और रासायनिक शक्ति ये सभी ऊष्मा में परिवर्तित हो सकती हैं। अब तो रेडियो-ऐक्टिव तथा आलोक-रश्मियों की शक्तियाँ भी ऊष्मा में परिवर्तित की जा चुकी हैं। अतः अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा है कि ऊष्मा कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि यह भी शक्ति का ही एक विशेष रूप है। अनुकूल परिस्थितियों में ऊष्मा को भी यांत्रिक शक्ति, विद्युत् शक्ति या रासायनिक शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। इंजिनों की शक्ति कोयले या पेट्रोल की ऊष्मा से ही तो मिलती है! विद्युत्-शक्ति पैदा करनेवाले साधनों का संचालन भी प्रायः भाप से चलनेवाले इंजिनों की मदद से ही होता है। इसी तरह अनेक रासायनिक क्रियाएँ भी ऊष्मा पाकर ही पूरी होती हैं।

तरह-तरह के काम कराये। पहले तो भोजन पकाने का ही काम अग्नि से लिया गया, फिर सर्दी से बचने के लिए भी उसका प्रयोग किया गया। तदुपरान्त तरह-तरह के हथियार धातुओं को गलाकर बनाये गये एवं कला के सर्जन में भी अग्नि की सहायता ली जाने लगी। पीतल आदि को गलाकर सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा। सभ्यता के विकास के साथ ही मशीनों और सवारियों के संचालन के लिए भी आग की शक्ति का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। आज तो मानों अग्नि की शक्ति से ही हमारी सभ्यता का संचालन हो रहा है।

ऊष्मा या गरमी के संबंध में प्राचीन धारणाएँ

किन्तु अग्नि की शक्ति पर इस हद तक जो काबू पाया जा चुका है, वह शक्ति के एक रूप 'ऊष्मा' (Heat) या गरमी के वैज्ञानिक अध्ययन का ही परिणाम है। ऊष्मा वास्तव में है क्या वस्तु, इस प्रश्न पर लोगों ने बहुत पहले से गौर किया था। प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया था। ऊष्मा की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने उसके 'परमाणुओं' तक की कल्पना की थी! उनका कहना था कि ऊष्मा के 'परमाणु' अत्यन्त क्रियाशील होते हैं। जब ये ऊष्मा-कण किसी पदार्थ में प्रवेश करते हैं तो ये उस पदार्थ के अणुओं को जोरों के साथ धक्का देते हैं। फलस्वरूप यदि वह पदार्थ

काउण्ट रम्फर्ड
जिसने ऊष्मा के संबंध में वैज्ञानिक जानकारी बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

ठोस हुआ तो उसके अणु उन ऊष्मा-कणों के धक्के के कारण एक-दूसरे से हट जाते हैं और इस हालत में वह ठोस पदार्थ द्रव का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गरमी पाने पर बर्फ पिघलकर पानी बन जाता है और मोम भी पिघलकर पानी-जैसा तरल हो जाता है। जब द्रव पदार्थों में ऊष्मा-कण प्रवेश करते हैं तो द्रवों के अणु भी उनके धक्के से दूर-दूर हट जाते हैं। फलतः द्रव पदार्थ गैस का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गरमी पाने पर पानी भाप बन जाता है। किंतु जब इन धारणाओं से समाधान न हो पाया तो बाद में लोगों ने ऊष्मा को एक प्रकार का तरल पदार्थ माना। लोहे के एक तप्त टुकड़े को यदि प्याले में रखे हुए पानी के अन्दर डाला जाय तो पानी गरम हो जाता है और लोहे का टुकड़ा ठण्डा, मानों किसी तरल पदार्थ की तरह ऊष्मा भी लोहे में से निकलकर पानी में चली गयी हो! तत्कालीन लोगों का विचार था कि हरएक वस्तु में ऊष्मा थोड़ी-बहुत मात्रा में मौजूद रहती है। चीजों के रगड़ने से भी गरमी पैदा होती है। रगड़ने से पदार्थों का धरातल दब जाता है, और तब अन्दर का ऊष्मा द्रव बाहर निकल आता है, ठीक उसी तरह जैसे स्पंज के दबाने से उसके अन्दर का पानी बाहर निकल आता है! साइकिल के अन्दर पंप से हवा भरते समय पम्प की हवा गरम हो उठती है। यहां पर भी स्पंजवाला सिद्धान्त लागू कराया गया कि दबाव पड़ने से ही हवा के अन्दर का ऊष्मा द्रव बाहर सतह पर आ जाता है!

चलवाई। दो घंटे के अन्दर नाँद का १० सेर ठण्डा पानी बिना आग की मदद के ही उबलने लगा !

सर हम्फ्री डेवी का प्रयोग

इसके कुछ ही दिनों बाद इंगलैंड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने एक रोचक प्रयोग किया। उन्होंने बर्फ के दो टुकड़ों को लेकर उन्हें आपस में खूब रगड़ा। इस रगड़ की गरमी से ये दोनों टुकड़े शीघ्र ही पिघल गए। यहाँ पर भी रगड़ से ही गरमी उत्पन्न हुई थी। अब इन प्रयोगों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि अवश्य ही उपर्युक्त प्रयोगों में ऊष्मा के उत्पन्न होने का कारण रगड़ और बर्मी के चलाने की शक्ति ही थी। पत्थर पर संगतराश जिस समय छेनी चलाता है, उसकी शक्ति का व्यय होता है। यही शक्ति चिनगारियों के रूप में प्रकट होती है।

ब्राउनियन गति

आर्क लैम्प द्वारा एक तेज रोशनी आयताकार सेल के भीतर केंद्रित की जाती है। सेल की दीवारें शीशे की बनी होती हैं। ट्यूब **अ** के रास्ते सिगरेट का धुआँ सेल के अन्दर प्रविष्ट कराने के लिए **ब** से हवा बाहर को खींचनी होती है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र विन्दु '**क**' पर केंद्रित किया जाता है। इस यंत्र से देखने पर सेल के अन्दर नन्हें-नन्हें चमकते हुए जर्रे इधर-उधर भागते हुए दिखाई देते हैं, मानों उन्हें अदृश्य डंडों से कोई रह-रहकर गेंद की तरह मार रहा हो। वास्तव में ये जर्रे धुएँ के कण हैं, जिन्हें सेल के अन्दर की हवा के अवयव बार-बार धक्का देते रहते हैं। धुएँ के ये कण आसानी से देखे भी नहीं जा सकते। किन्तु आड़ी दिशा से जब इन पर तेज आलोक-रश्मियाँ पड़ती हैं, तो ये फौरन् दिखाई पड़ जाते हैं—ठीक उसी तरह जैसे अँधेरे कमरे में एक सूराख से आती हुई सूर्य-रश्मियों के रास्ते में नाचते हुए धूलिकण सहस्रों की संख्या में अनायास ही नजर आ जाते हैं। राबर्ट ब्राउन ने पहली बार दूध के एक पतले घोल पर यह प्रयोग आजमाया था। दूध के नन्हें-नन्हें कणों को तेज रोशनी में तीव्र गति से नाचते हुए देखकर उसे पहले यह धोखा हुआ कि कहीं ये जीवित कीटाणु तो नहीं हैं। यह बात १८२५ की है। पूरे ३२ वर्ष बाद ब्राउन के इस प्रयोग की सही व्याख्या एक फ्रेञ्चमैन ने की।

ऊष्मा की इस नई व्याख्या ने भौतिक विज्ञान के एक नवीन अध्याय का आरम्भ किया। रासायनिक क्रियाओं पर भी अब इस नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। पहले इस बात को लोग समझ नहीं पाते थे कि गन्धक के गाढ़े तेजाब में पानी मिलाने से तेजाब एकदम गरम क्यों हो जाता है। किन्तु उक्त व्याख्या ने इन क्रियाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला। इस प्रयोग में रासायनिक शक्ति परिवर्तित होकर ऊष्मा के रूप में प्रकट होती है। बिजली के लैम्प में विद्युत्-शक्ति परिवर्तित होकर ऊष्मा या आलोक के रूप में हमें मिलती है।

ऊष्मा—शक्ति का एक रूप

साधारण काम करने की यांत्रिक शक्ति, विद्युत्-शक्ति और रासायनिक शक्ति ये सभी ऊष्मा में परिवर्तित हो सकती हैं। अब तो रेडियो-ऐक्टिव तथा आलोक-रश्मियों की शक्तियाँ भी ऊष्मा में परिवर्तित की जा चुकी हैं। अतः अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा है कि ऊष्मा कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि यह भी शक्ति का ही एक विशेष रूप है। अनुकूल परिस्थितियों में ऊष्मा को भी यांत्रिक शक्ति, विद्युत् शक्ति या रासायनिक शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। इंजिनों को शक्ति कोयले या पेट्रोल की ऊष्मा से ही तो मिलती है! विद्युत्-शक्ति पैदा करनेवाले डायनमो का परिचालन भी प्रायः भाप से चलनेवाले इंजिनों की मदद से ही होता है। इसी तरह अनेक रासायनिक क्रियाएँ भी ऊष्मा पाकर ही पूरी होती हैं।

शक्ति के इस रूप-परिवर्तन के सिद्धान्त की पुष्टि उस समय पूर्ण रूप से हो गई जब अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह बात साबित कर दिखाई कि एक नियत मात्रा में यांत्रिक शक्ति खर्च करने पर एक नियत परिमाण में ही ऊष्मा उत्पन्न की जा सकती है। व्यय की गई शक्ति और उससे उत्पन्न ऊष्मा की मात्रा में एक विशेष अनुपात है, जो हर हालत में एक-सा ही रहता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि ऊष्मा शक्ति का ही एक रूप है, तो किस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ इस शक्ति को अपने अन्दर ग्रहण कर पाती हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें पदार्थ की असलियत तक पहुँचना होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ नन्हें-नन्हें अणुओं से मिलकर बना है। गैसों में ये अणु निरंतर तेजी के साथ इधर-उधर डोलते फिरते रहते हैं। किसी भी जरिए से जब हम इन अणुओं को शक्ति प्रदान करते हैं तो इनके डोलने की रफ्तार भी बढ़ जाती है। ये बड़ी तेजी के साथ हरकत करने लगते हैं। यही कारण है कि गरम होने पर गैसों का दबाव बढ़ जाता है, क्योंकि ऊष्मा पाकर अणुओं की हरकत बढ़ जाती है और इसलिए ये आसपास की दीवालों पर और भी जोरों के साथ धक्का मारते हैं।

द्रवों के अणुओं की हरकत

तूतिया का एक संपृक्त घोल 'ब' तैयार करके उस पर एक कार्क का टुकड़ा तैरा दो। फिर कार्क पर धीरे-धीरे पोटेशियम डाइक्रोमेट का घोल उँडेल दो। चूँकि पोटेशियम डाइक्रोमेट का घोल 'अ' घनत्व में तूतिये के घोल से हलका होता है, अतः शुरू में पीला घोल ऊपर ही रहेगा। चन्द महीनों के बाद पीला घोल नीचे चला जायगा और दोनों घोल आपस में घुल-मिलकर हरे रंग के हो जायँगे। ऐसा होना तभी सम्भव हो सकता है जब कि उन दोनों घोलों के अणु हरकत करते हों।

ब्राउनियन गति

गैस के अणुओं की हरकत वैज्ञानिकों की कोरी कल्पना नहीं है। बढ़िया जाति के सूक्ष्मदर्शक यंत्र की मदद से आप स्वयं इस हरकत का निरीक्षण कर सकते हैं। सिगरेट का कुछ धुआँ एक शीशे की दीवालों से घिरे हुए चौकोर डिब्बे में बंद कर दिया जाता है। फिर विद्युत् लैम्प से तेज किरणें इस डिब्बे पर एक ओर से डाली जाती हैं, और उस कमरे में जिसमें यह प्रयोग किया जाता है, अन्य किसी ओर से रोशनी नहीं आती। कमरे में एकदम अँधेरा रखते हैं। फिर जिस ओर से आलोक-रश्मियाँ उस डिब्बे में प्रवेश करती हैं, उसकी आड़ी दिशा में सूक्ष्मदर्शक यंत्र लगाकर धुएँ के उन कणों को गौर से देखते हैं। धुएँ के कण बड़ी तेजी के साथ इधर-से-उधर डोलते नजर आते हैं। तनिक देर के लिए भी ये विश्राम नहीं लेते। गैस के अणुओं की इस निरन्तर की हरकत को प्रयोगों द्वारा सबसे पहले साबित करने का श्रेय एक अंग्रेज वैज्ञानिक ब्राउन को मिला था। गैस के अणु आकार में इतने छोटे होते हैं कि उन्हें हम कभी भी देख नहीं सकते। किन्तु गैस में तैरते हुए धुएँ के कण उन अणुओं से धक्का खाकर बड़ी तेजी के साथ इधर-से-उधर डोलने लगते हैं--और इन्हें हम सूक्ष्मदर्शक यंत्र की मदद से बखूबी देख भी सकते हैं (देखिये पृष्ठ ८६५ का चित्र)।

ठोस तथा द्रव पदार्थों में भी ऊष्मा का प्रादुर्भाव उनके अणुओं की हरकत के कारण ही होता है। किन्तु ठोस पदार्थों के अणुओं की हरकत गैस के अणुओं की हरकत की तरह एकदम स्वतन्त्र नहीं होती है। ठोस तथा द्रव पदार्थों के अणु अपनी जगह छोड़कर दूसरी जगह भाग नहीं सकते। किन्तु अपनी जगह पर हमेशा के लिए बँधे रहने पर भी ये वहाँ एकदम निश्चेष्ट और चुपचाप बैठे भी नहीं रहते। वे हारमोनियम बाजे की पत्ती की तरह अपनी जगह पर ही इधर-उधर नियमित रूप से कंपित होते रहते हैं। जब इन्हें कहीं और से ज्यादा शक्ति मिल जाती है तो इनके थरथराने की गति भी तेज हो जाती है।

अतः यह कहना गलत न होगा कि ऊष्मा वास्तव में पदार्थों के अणुओं की हरकत है। ज्यों-ज्यों किसी पदार्थ की गरमी हम खींचते हैं, त्यों-त्यों उस पदार्थ के अणुओं की हरकत भी मन्द पड़ती जाती है। उदाहरण के लिए यदि भाप को धीरे-धीरे ठण्डा करें तो पानी के अणुओं की हरकत भी इतनी कम हो जाती है कि वे एक दूसरे के एकदम निकट आ जाते हैं—वे द्रव रूप धारण कर लेते हैं। अब इस द्रव पानी को हम और भी ठण्डा करें तो उन अणुओं की हरकत और भी मन्द पड़ जाती है—और ये अणु एक दूसरे के साथ गुँथ-से जाते हैं। फलतः पानी का ठोस रूप बर्फ हमें प्राप्त होता है। किन्तु बर्फ के अन्दर भी

थोड़ी-बहुत मात्रा में ऊष्मा मौजूद रहती है। अतः वर्फ के अणुओं में बराबर कंपन की हरकत होती रहती है। हाँ, यदि वर्फ को भी निरंतर हम ठण्डा करते चलें तो इन अणुओं की हरकत भी क्रमशः कम होती चलेगी।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या वस्तुओं को ठण्डा करने की भी कोई हद है ? वर्फ को यदि हम ठण्डा करने लगें तो क्या कोई ऐसा भी ताप आएगा, जबकि वर्फ के अन्दर की तमाम गरमी हम खींच चुके होंगे, और उस हालत में उक्त सिद्धान्त के अनुसार वर्फ के अणुओं की हरकत भी बिल्कुल बंद हो चुकी होगी ? वैज्ञानिक हमें वताते हैं कि हाँ, ठण्डे होने की भी एक सीमा होती है। शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड से २७३ डिग्री नीचे के ताप तक हम चीजों को ठण्डा कर सकते हैं। उस टेम्परेचर पर किसी भी पदार्थ के अन्दर गरमी बाकी नहीं रह जाती, साथ ही उसके अणुओं की हरकत भी पूर्णतया बन्द हो जाती है। वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में इस निम्नतम स्थिति तक ताप को घटाने में सफलता प्राप्त की है।

ऊष्मा के कारण प्रसार

गरम करने पर ठोस, द्रव या गैस सभी प्रकार की वस्तुओं में आकार में वृद्धि होती है, अर्थात् ऊष्मा पाकर उनका प्रसार होता है। किस प्रकार यह होता है और तत्संबन्धी क्या-क्या नियम हैं, यही इस प्रकरण में बताया जा रहा है।

गरमी पाकर साधारणतः सभी वस्तुओं में प्रसार होता है। ठोस वस्तुओं की लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई तीनों ही बढ़ती हैं, अतः ठोस वस्तुओं के साथ प्रयोग करके हम इनमें से हर एक का प्रसार मालूम कर सकते हैं। द्रव तथा गैस पदार्थों को गरम करने पर उनके समूचे आयतन में एक साथ वृद्धि होती है। अतः उनकी लम्बाई मात्र का प्रसार नहीं निकला जा सकता।

हम कैसे जानें कि ऊष्मा से पदार्थों का प्रसार होता है?

यद्यपि आम तौर पर हमें यह जान नहीं पड़ता कि गरमी के कारण ठोस वस्तुओं में प्रसार हुआ करता है, किन्तु एक साधारण प्रयोग द्वारा हम इस बात का बखूबी प्रदर्शन कर सकते हैं। लोहे की एक लम्बी नली 'अ' 'ब' को लीजिए। इस नली में 'क' पर नली में भाप प्रवेश करती है, और 'ख' पर नली से बाहर निकल जाती है। 'अ' पर यह नली लकड़ी के गिट्टे पर कस दी जाती है। 'ब' के पास एक पतली कील से टिकी हुई सरकण्डे की हल्की सुई ऊपर से लटकती है। सुई की नोक चाँद की शक्ल में स्केल के ऊपर घूमती है। भाप के प्रवेश करने पर नली गरम होती है, अतः इसकी लंबाई में प्रसार होता है। 'अ' पर स्क्रू से बँधी होने के कारण नली उस ओर नहीं बढ़ सकती, अतः 'ब' की ओर नली बढ़ती है और सुई को धक्का देती है। बिन्दु 'ब' पर सुई यदि जरा भी खिसकी, तो इसकी नोक में बहुत ज्यादा हरकत होगी (दे० इसी पृष्ठ के चित्र में ऊपरी बाएँ कोने का मान-चित्र)।
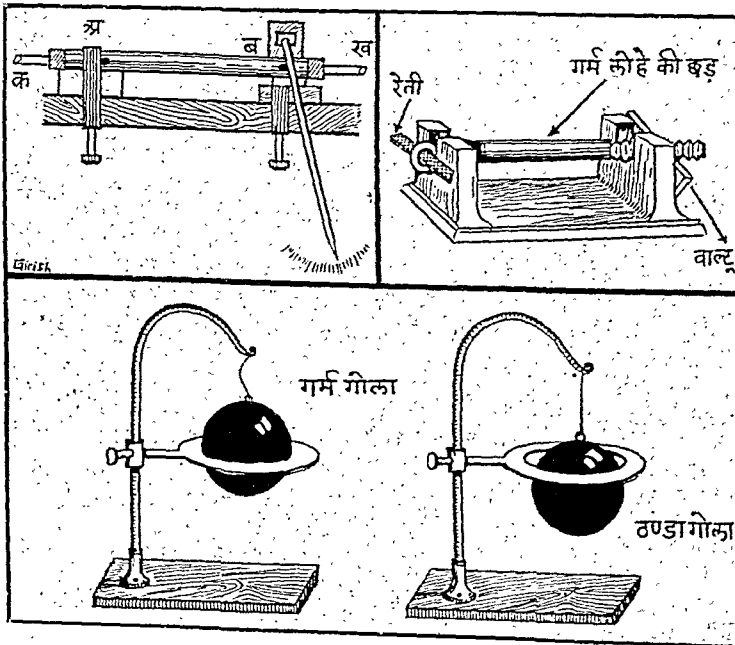
ऊष्मा के कारण ठोस वस्तुओं का प्रसार
(ऊपर बाईं ओर) भाप की नली का प्रयोग। (ऊपर दाहिनी ओर) लोहे की छड़ का प्रयोग। (नीचे) धातु के गोले का प्रयोग।
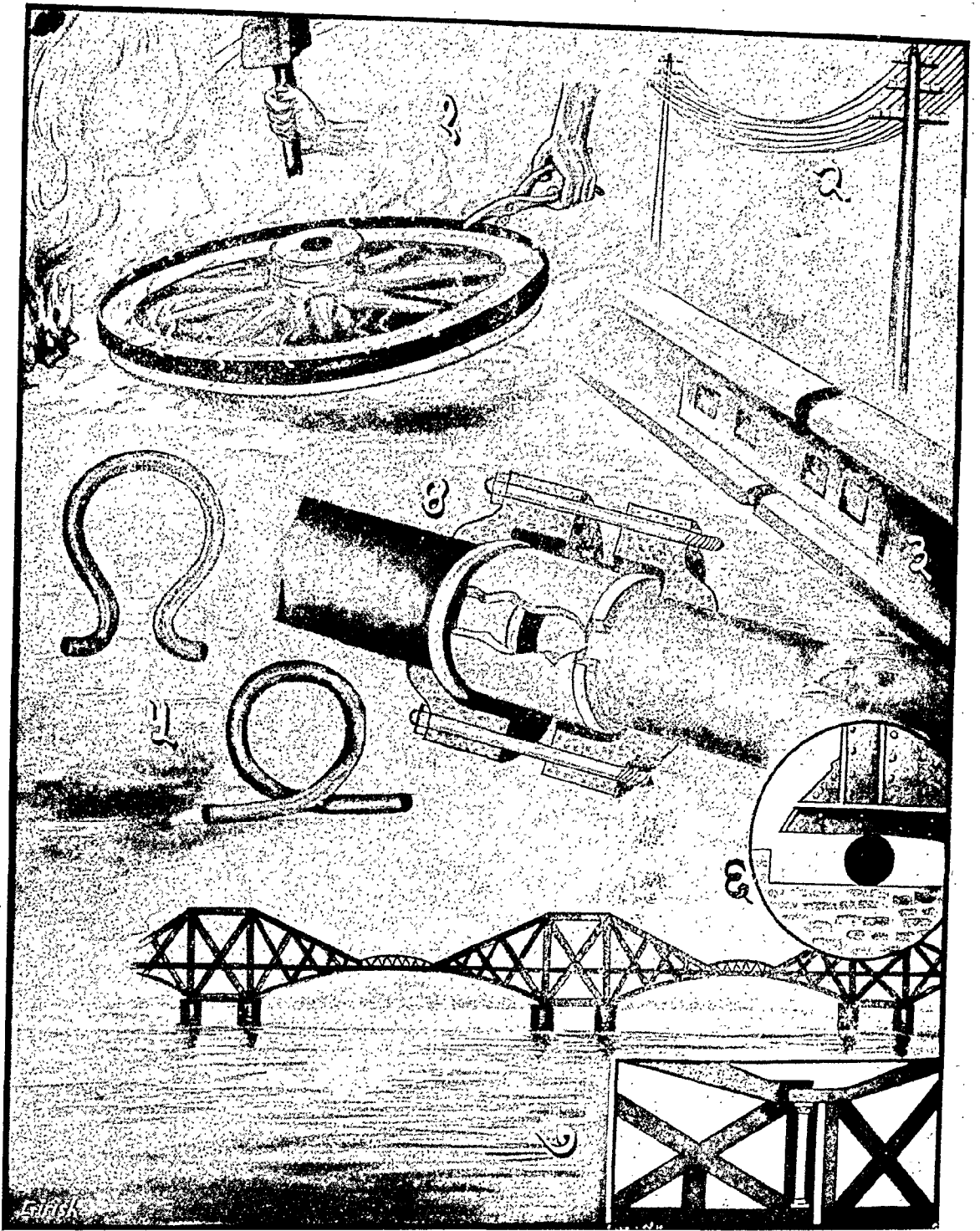
ऊष्मा के कारण होनेवाले प्रसार का इंजीनियरिंग के क्षेत्र में विशेष महत्व है

१. पहिए पर हाल चढ़ाना ऊष्मा के कारण धातु के प्रसार से ही संभव है; २. टेलिग्राफ के तार गरमी में इसीलिए लटक आते हैं कि उनमें प्रसार होता है। ३. रेल की पटरियों का जोड़; ४. दो बड़े नलों का जोड़ (इनमें बीच में सेंध छोड़ी जाती है और बोल्ट्स के सरकने की व्यवस्था रहती है); ५. गरम भाप की नलियाँ इसी प्रकार आँकड़े के रूप में दीवाल में कसी जाती हैं, ताकि गरमी पाकर नली के चौड़ी होने की गुंजाइश रहे; ६. प्रसार के विचार से ही पुलों पर गर्डरों के नीचे रोलर बियरिंग का प्रयोग करते हैं; और ७. गर्डरें ऐसे झूलनेवाले जोड़ों से युक्त होती हैं।

कस देते तो गरमी के दिनों में वह विशाल पुल अवश्य ही अकड़कर टेढ़ा पड़ जाता !

धातुओं का प्रसार

अन्य ठोस पदार्थों की अपेक्षा धातुओं में ऊष्मा के कारण प्रसार अधिक होता है। किन्तु सभी धातुओं में प्रसार एक-सा नहीं होता। जस्ता, पीतल, ताँबे आदि का प्रसार लोहे के प्रसार से कहीं ज्यादा होता है। लोहे और पीतल के समान लम्बाई-वाले दो सीधे छड़ों को एक दूसरे के ऊपर रखकर पच्ची कर दीजिए। अब इन्हें गरम आँच दिखाइए तो यह संयुक्त छड़ लोहे की ओर झुक जाता है, क्योंकि पीतलवाले छड़ में लोहे की अपेक्षा प्रसार ज्यादा हुआ। उसे ही बर्फ में डालकर यदि ठण्डा करें तो हम देखेंगे कि संकुचन भी पीतल में ही ज्यादा होगा, अतः इस बार छड़ पीतल की ओर मुड़ेगा (पृ० ८६६ के चित्र का ऊपरी भाग)। इस जानकारी का लाभ मनुष्य ने रोजमर्रा की जिन्दगी में भरपूर उठाया है। दीवाल-घड़ी में लगे हुए पेन्डुलम (लटकन) की लम्बाई पर घड़ी की रफ्तार निर्भर रहती है। घड़ी यदि सुस्त जा रही है तो उसकी रफ्तार बढ़ाने के लिए पेन्डुलम के लट्टू को स्क्रू घुमाकर ऊपर सरका देते हैं। ऋतु के अनुसार गरमी के घटने-बढ़ने के साथ साधारण ढंग के पेन्डुलम की लम्बाई में भी प्रसार अथवा संकुचन होता रहता है। लट्टू को बार-बार ऊपर-नीचे सरकाने की मुसीबत से बचने के लिए अब बढ़िया किस्म की दीवाल-घड़ियों के पेन्डुलम के बनाने में इस बात की सावधानी रक्खी जाती है कि ताप के घटने-बढ़ने से उसकी लम्बाई में अन्तर न आए।

इस ढंग के पेन्डुलम की छड़ दो विभिन्न धातुओं के संयोग से बनाते हैं। लोहे के छड़ की लम्बाई ज्यादा होती है, पीतल के छड़ की कम। इन दोनों की लम्बाई का अनुपात इस ढंग का होता है कि लोहे का छड़ जितना नीचे को बढ़ता है, पीतलवाला छड़ उतना ही ऊपर को बढ़ता है। इस प्रकार पेन्डुलम के लट्टू की दूरी पहले सरीखी ही बनी रहती है (दे० पृष्ठ ८६९ के चित्र का नीचे का भाग)। जेबघड़ी में बाल कमानी के बार-बार खुलने बन्द होने से घड़ी के अन्य पुर्जों में हरकत होती है। गरमी के दिनों में बाल कमानी के तार की लचक मन्द पड़ जाती है, साथ ही बैलेन्स ह्वील की परिधि भी बढ़ जाती है, इस कारण कमानी पहले जैसी शीघ्रता के साथ हरकत नहीं कर पाती और घड़ी सुस्त पड़ जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए बैलेन्स ह्वील की परिधि दोहरी धातु की बनाते हैं; भीतर लोहा रहता है और बाहर की ओर पीतल। ताप बढ़ने पर जब कभी परिधि बाहर की ओर बढ़ना चाहती है तो उसके छोर भीतर की ओर मुड़ जाते हैं, क्योंकि बाहर की ओर लगी हुई पीतल में अपेक्षाकृत ज्यादा प्रसार होता है। (दे० पृ० ८६९ के चित्र का नीचे का भाग)।
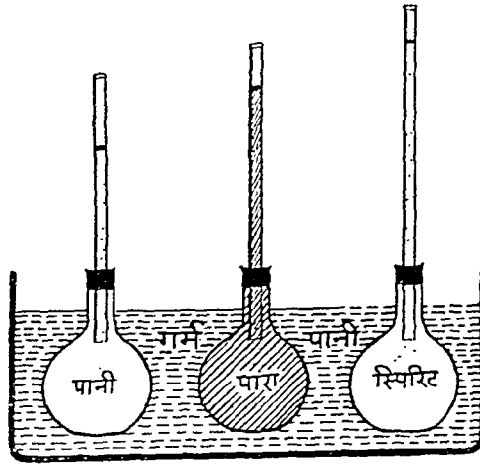
द्रवों के आयतन में ऊष्मा के कारण प्रसार

पानी, पारा और स्पिरिट समान गरमी पाकर भी किस प्रकार कम-ज्यादा फैलते हैं, वह इस चित्र में दिग्दर्शित है।

द्रव पदार्थों का प्रसार

ठोस पदार्थों की अपनी निज की लम्बाई और मुटाई हुआ करती है, अतः ताप बढ़ने पर इनके प्रसार का अंदाज हर एक दिशा में हम लगा सकते हैं। किन्तु द्रव पदार्थों की लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि नियत नहीं होती, अवश्य ही किसी एक ताप पर उनका आयतन नियत होता है। अतः द्रव पदार्थों के आयतन का ही प्रसार देखा जा सकता है। द्रव पदार्थों का प्रसार ठोस के प्रसार की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है। अतः प्रयोगों द्वारा द्रव पदार्थों का प्रसार दिखाना अधिक आसान है। शीशे के तीन फ्लास्क एक ही आकार के लीजिए और उनमें क्रम से पानी, पारा और स्पिरिट भर दीजिए। तीनों फ्लास्क का मुँह ऐसे कार्क से बन्द कीजिए, जिसमें एक पतला सूराख बना हो। इसी सूराख के रास्ते एक-एक पतली नली तीनों फ्लास्कों में लगा दीजिए। कार्क को भिन्न-भिन्न फ्लास्कों में इस तरह दबाइए कि तीनों के द्रव इस पतली नली में समान ऊँचाई तक चढ़ जाएँ। इन फ्लास्कों को गरम पानी भरे बर्तन में रख दीजिए। फ्लास्क रखते ही तीनों में द्रव पदार्थों की सतह पहले जरा-सी नीचे गिरेगी, क्योंकि द्रव तक गरमी पहुँचने के पहले फ्लास्क गरम होकर कुछ हद तक फैल जाता है, फिर द्रव का प्रसार आरम्भ होगा और थोड़ी देर में सभी फ्लास्कों के द्रव की

सतह ऊँची चढ़ जायगी। स्पिरिट सबसे ऊँचा चढ़ेगा, पारा उससे कम और पानी सबसे कम (दे० पृ० ८७० का चि०)। प्रयोग से हम दो बातें देखते हैं--एक यह कि द्रव पदार्थों का प्रसार ठोस की अपेक्षा ज्यादा होता है, और दूसरे यह कि भिन्न-भिन्न द्रवों के प्रसार की मात्रा भी भिन्न हुआ करती है। ठण्डे पानी में रखने पर उन द्रवों में संकुचन भी होगा--स्पिरिट में सबसे ज्यादा और पानी में सबसे कम।

ऊष्मा का गैसों पर प्रभाव

इसी प्रकार गैसों में भी प्रसरण और संकुचन की क्रिया आसानी से देखी जा सकती है। शीशे का फ्लास्क लेकर उसमें नली लगी हुई कार्क लगा दीजिए। फ्लास्क में केवल साधारण हवा है। कार्क में लगी हुई पतली नली में एक बूंद लाल रंग डाल दीजिए। नली में यह बूंद एक खास ऊँचाई पर टिकी रहेगी। अब फ्लास्क को उठाकर उसे अपनी दोनों हथेलियों से दबाइए। हाथ की गरमी पहुँचते ही फ्लास्क के अन्दर की हवा गरम होकर फैलना चाहती है और इस कारण नली में रंगीन पानी की बूंद फौरन् ही ऊपर चढ़ने लगती है। यहाँ पर भी आरम्भ में रंग की बूंद पहले जरा नीचे गिरती है, क्योंकि गैस तक पहुँचने के पहले ही फ्लास्क गरम होकर फैल जाता है। फ्लास्क पर से हथेली हटा लेने पर हवा ठण्डी होने लगती है और इसलिए रंगीन बूंद भी नीचे को गिरने लगती है। गैसों के प्रसरण का अध्ययन करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भिन्न-भिन्न गैसों का प्रसरण एक-सा होता है, किन्तु ठोस और द्रव पदार्थों में यह बात नहीं पाई जाती। गैसों का प्रसरण ठोस तथा द्रव के प्रसरण की अपेक्षा बहुत ज्यादा होता है--केवल हाथ की गरमी पहुँचने से ही गैसों में प्रसरण काफी मात्रा में हो जाता है।

सागर में बर्फ की तह के नीचे जलजीवों का रहना

यह पानी में ऊष्मा के संवहन संबंधी विशेष गुण के कारण ही संभव है।

इस सम्बन्ध में एक रोचक प्रयोग किया जा सकता है। पेट्रोल का एक खाली टिन लेकर उसे साफ कर लीजिए। थोड़ा पानी उसमें डालकर उसे स्टोव पर रख दीजिए। जब पानी खूब खौलने लगे, तो उस पर चूड़ीदार ढक्कन कस दीजिए और स्टोव को बुझाकर एकाएक उस टिन पर

ठण्डा पानी डालिए। फौरन् ही टिन भीतर को धँसकर टूट जाता है, मानों किसी ने उसे हथौड़े की चोट से तोड़ डाला हो। आखिर यह टिन टूटा क्यों? जिस समय टिन पर ढक्कन लगाया गया था, उस समय टिन के अन्दर थोड़ा-सा पानी और उसी की भाप थी, हवा बिल्कुल न थी! ठण्डा पानी डालने से भाप ठण्डी होकर पानी बन गई, फलस्वरूप टिन के अधिकांश भाग में केवल वैकुअम बच रहा। हम जानते हैं, टिन की दीवालों पर बाहर के वायुमण्डल का प्रति वर्ग इंच पर सवा सात सेर का दबाव पड़ रहा है। चूँकि इस दबाव का प्रभाव रोकनेवाली हवा या भाप टिन के अन्दर अब नहीं रही, इसीलिए टिन भारी दबाव के जोर से पिचककर टूट गया। मुरब्बे का टिन बन्द करते समय जब शीरा गरम रहता है, तभी ढक्कन बन्द करते हैं। ठण्डा होने पर भीतर की भाप का दबाव बाहरी हवा के दबाव की अपेक्षा कम हो जाता है और इसी कारण टिन का ऊपरी पर्दा नीचे को लच जाता है।

अन्य द्रवों के मुकाबले में पानी में एक खास गुण यह है कि यदि गरम पानी को हम निरन्तर ठण्डा करते रहें तो पहले तो अन्य द्रवों की भाँति पानी में भी संकुचन

होगा और जब ठण्डा करते-करते हम ४ डिग्री सेन्टीग्रेड ताप पर पहुँच जाएगा तो इसके आगे पानी को और ठण्डा करने पर साधारण नियम के अनुसार संकुचन नहीं, बल्कि पानी के आयतन में प्रसरण होने लगेगा। शून्य डिग्री पर पहुँचने के बाद जब पानी वर्फ बनकर ठोस रूप ग्रहण कर लेता है, तब भी यह प्रसरण क्रिया जारी रहती है। प्रयोग करके देखा गया है कि ९ घन सेन्टीमीटर पानी वर्फ में परिवर्तित होने पर आयतन में १० घन सेन्टीमीटर हो जाता है। इसी कारण वर्फ का घनत्व पानी के घनत्व से कम होता है और वह पानी पर तैरता रहता है। पानी में यदि यह विशेषता न होती तो शीतप्रधान देशों की झीलों में एक भी मछली जीती न बचती। जाड़ों में ताप कम होने पर संकुचन होता है और ऊपर का पानी भारी होकर नीचे पेंदे की ओर चला जाता तथा नीचे का पानी ऊपर चला आता है। यह सिलसिला उस समय तक जारी रहता है, जब तक कि सतह का पानी ४ डिग्री सेन्टीग्रेड ताप पर नहीं आ जाता। इसके बाद सतह के पानी का ताप जब ३ डिग्री सेंटीग्रेड पर पहुँचता है तो इसमें पुनः प्रसार होने लगता है, और इसका घनत्व कम होने लगता है, अतः अब यह पानी नीचे को न जायगा, वह वहीं सतह पर बना रहेगा। इसी प्रकार पानी धीरे-धीरे ठण्डा होकर वर्फ बन जाता है। वर्फ की इस तह के नीचे पानी द्रव रूप में बना रहता है, जिसमें मछलियाँ आदि जलचर स्वच्छन्दतापूर्वक घूमते रहते हैं (देखो पृ० ८७१ का चि०)।

ताप और तापमापी यंत्र या थर्मामीटर

ऊष्मा और ताप दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। ऊष्मा शक्ति का एक विशेष रूप है, जो किसी पदार्थ को गरम या ठण्डा बना देती है। ताप किसी वस्तु की गरमाहट की हालत है। ताप का हमारे जीवन और उससे संबंधित अनेक कार्यों से महत्वपूर्ण संबंध है। आइए, इस लेख में भौतिक विज्ञान के इसी महत्त्वपूर्ण अंग का ज्ञान प्राप्त करें।

जिस समय भट्ठी से निकले हुए तप्त लोहे को लोहार घन से पीटता है, उस लोहे के टुकड़े से लाल-लाल चिनगारियाँ निकलती हुई दिखाई देती हैं। ये चिनगारियाँ यद्यपि लोहार के शरीर पर इधर-उधर गिरती हैं, फिर भी वे उसके किसी अंग को जला नहीं पातीं। ये चिनगारियाँ निस्सन्देह अत्यन्त ही तप्त होती हैं, फिर भी लोहार के शरीर को जलाने में ये असमर्थ क्यों हैं?

ऊष्मा और ताप एक ही वस्तु नहीं है

कदाचित् इन नन्हीं-नन्हीं चिनगारियों के अन्दर इतनी गरमी नहीं है, जो शरीर को जला सके। स्वयं ये चिनगारियाँ बहुत ही तप्त हैं, किन्तु इनमें निहित ऊष्मा की मात्रा अधिक नहीं है, क्योंकि इनका आकार बहुत ही छोटा है। इन चिनगारियों का ताप ऊँचा अवश्य है, किन्तु इनके अन्दर ऊष्मा बहुत ही न्यून मात्रा में मौजूद है। यह दृष्टान्त हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि ऊष्मा और ताप एक ही वस्तु नहीं हैं।

अ
पानी
ब
पानी
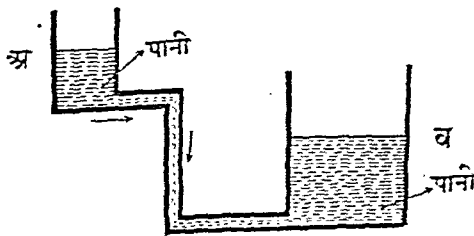
पानी का यह गुण है कि वह सदैव ऊँचे से नीचे धरातल की ओर प्रवाहित होता है

इसी तरह ऊष्मा भी सदैव ऊँचे ताप से नीचे ताप की ओर ही प्रवाहित होती है (दे० पृ० ८७३ का विवरण)।

ताप (या टेंपरेचर) वास्तव में किसी वस्तु की उष्णता के कारण उत्पन्न हुई दशा का सूचक है। सुराही में रक्खा हुआ पानी धूप में रक्खे हुए पानी की अपेक्षा गरमाहट में कम दर्जे पर पहुँच पाता है, इसलिए सुराही के जल का ताप नीचा और धूप में रक्खे हुए जल का ताप ऊँचा हुआ। इस तरह हम देखते हैं कि ताप वास्तव में गरमाहट के दर्जे का सूचक है।

ताप किसी वस्तु की गरमाहट की हालत है और ऊष्मा शक्ति का विशेष रूप है, जो किसी वस्तु को गरम या ठंडा बना देती है। इस स्थान पर हमें यह न समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु का ताप ऊँचा होगा, उस वस्तु में अनिवार्य रूप से ऊष्मा की मात्रा भी अपेक्षाकृत ज्यादा ही होगी। आइए, प्रयोग द्वारा यथार्थ की जाँच कर लें। दो स्पिरिट-लैम्प लीजिए—एक के ऊपर एक कटोरी में भरकर और दूसरी के ऊपर पतीली में भरकर पानी रखिए। चन्द मिनटों

के अन्दर ही कटोरी का जल अत्यन्त तप्त होकर १०० डिग्री सेन्टीग्रेड तक पहुँच जायगा और जोरों से उबलने लगेगा, किन्तु पतीली के पानी को उसी ताप तक पहुँचने में घंटों की देरी लगेगी। निस्सन्देह १०० डिग्री तक ताप पहुँचाने के लिए कटोरी के जल में जितनी ऊष्मा पहुँचाना पड़ी, उससे कहीं ज्यादा ऊष्मा उसी ताप तक पहुँचाने के लिए पतीली के पानी को देनी पड़ेगी।

हम यह भी देखते हैं कि किसी गरम वस्तु को ठण्डी वस्तु से सटाकर रखने पर गरम वस्तु से ऊष्मा प्रवाहित होकर ठण्डी वस्तु में प्रवेश कर जाती है। फलस्वरूप गरम वस्तु का ताप गिर जाता है और ठण्डी वस्तु का ताप ऊँचा चढ़ जाता है। ताप का ऊँचा-नीचा होना उस समय तक जारी रहता है, जब तक कि दोनों वस्तुओं का ताप बराबर नहीं हो जाता है। ऊष्मा सदैव ऊँचे ताप से नीचे ताप को प्रवाहित होती है। यह कहना ठीक न होगा कि जिस वस्तु में ऊष्मा की मात्रा अधिक होती है, उस वस्तु से गरमी का प्रवाह ऐसी वस्तु में होता है, जिसके अन्दर उसकी मात्रा कम होती है। ऊष्मा के प्रवाह की दिशा केवल ताप के ऊँचे-नीचे होने पर ही निर्भर है।

स्पिरिट-लैम्प की लौ में लोहे का छोटा-सा टुकड़ा थोड़ी देर तक रखिए और स्टोव की तेज आँच में उतनी ही देर तक पानी भरी हुई बाल्टी रखिए। लोहे का टुकड़ा तप्त होकर लाल हो जायगा—जब कि बाल्टी का पानी अभी शायद गुनगुना भी न हो पाया होगा। निस्संदेह बाल्टी के पानी के अन्दर स्टोव की तेज आँच ने स्पिरिट-लैम्प की लौ की अपेक्षा कहीं ज्यादा ऊष्मा प्रवेश कराई है, और लोहे के टुकड़े के अन्दर अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़ी मात्रा में ऊष्मा प्रवेश हो पायी है; किन्तु इसका ताप कहीं ज्यादा ऊँचा है। अब लोहे के टुकड़े को चिमटे से पकड़कर पानी में बुझाइए तो सी-सी की आवाज आयगी और लोहे की ऊष्मा निकलकर पानी में चली जायगी। लोहा एकदम ठण्डा हो जायगा। इस दृष्टिकोण से हम ताप की तुलना पानी की सतह से कर सकते हैं। यदि 'अ' में पानी का धरातल 'ब' के अन्दर के पानी के धरातल से ऊँचा है तो पानी 'अ' से 'ब' की ओर ही प्रवाहित होगा—चाहे 'ब' के अन्दर पानी की कुल मात्रा 'अ' के पानी की अपेक्षा ज्यादा ही क्यों न हो (देखिए पृष्ठ ८७२ का चित्र)।

कुछ आरंभिक तापमापी या थर्मामीटर

क—प्राचीनतम थर्मामीटर, जिसमें लम्बी नलीवाला फ्लास्क पानी से भरे पात्र में उल्टा रक्खा जाता था। ख—वायु और जल द्वारा परिचालित थर्मामीटर। इसका मुँह खुला रहता था। ग—निरे जलवाला थर्मामीटर। इसका भी मुँह खुला रहता था। अतः वायुमण्डल के दबाव के चढ़ाव-उतार से "ख" और "ग" दोनों ही प्रभावित होते थे। घ—बन्द नलीवाला सर्वप्रथम थर्मामीटर। इसमें पानी की जगह सर्वप्रथम अलकोहोल का प्रयोग किया गया था। अब इस काम के लिए अधिकतर पारा प्रयुक्त होता है।

ताप की परिभाषा

अब ताप की एक और परिभाषा हम दे सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि ताप वस्तुओं की वह हालत है, जिसके द्वारा हम यह जान सकें कि दो वस्तुओं को एक दूसरे से सटाकर रखने पर ऊष्मा किस वस्तु से निकलकर किसमें जायगी; क्योंकि ऊष्मा सदैव ऊँचे ताप से नीचे ताप की ओर प्रवाहित होती है।

वैसे तो चीजों को छूकर हम साधारणतः इस बात का पता लगा लेते हैं कि अमुक वस्तु ठण्डी है या गरम। किन्तु अपने स्पर्शज्ञान पर हम अधिक भरोसा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रयोग का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। दाहिने हाथ को गरम पानी में डालिए और बाएँ हाथ को बर्फ के पानी में। अब दोनों हाथों को निकालकर कुएँ के ताजे पानी में डालिए तो वही पानी दाहिने हाथ को ठण्डा और बाएँ हाथ को गरम मालूम होगा! जाड़े की रात में आँगन में रखी हुई लोहे की कुर्सी और लकड़ी की तिपाई, दोनों ही का ताप वास्तव में एक ही होता है, किन्तु हाथ से स्पर्श करने पर लोहे की कुर्सी ज्यादा ठण्डी मालूम होती है। हाथ से छूने पर लोहे की कुर्सी शीघ्रता के साथ हमारे शरीर से गरमी खींच लेती है और लकड़ी की कुर्सी जरा देर में, इसी कारण लोहे की कुर्सी को छूने पर हमें कष्ट का अनुभव होता है, जबकि लकड़ी की कुरसी उतनी कष्टप्रद नहीं जान पड़ती।

तापमापी यंत्र का आविर्भाव और विकास

ताप को नापने के लिए वैज्ञानिकों को अपने स्पर्शज्ञान का सहारा छोड़कर ऐसे यंत्रों का निर्माण करना पड़ा है, जो ताप की नाप-जोख में किसी प्रकार का धोखा न दे सकें। इन यंत्रों के निर्माण में पदार्थों की प्रसरणशीलता के गुण का प्रयोग किया जाता है। ये यंत्र 'तापमापी' या 'थर्मामीटर' कहलाते हैं। साधारण थर्मामीटर में शीशे की नली के अन्दर पारा बन्द रहता है, जो ताप के बढ़ने पर प्रसार पाकर ऊपर चढ़ता है। पारे के डोरे की ऊँचाई को देखकर ही ताप का अन्दाजा हम लगाते हैं।

ताप नापने का सर्वप्रथम प्रयास १६वीं शताब्दी में इटली के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो ने किया था। उसने सबसे पहले जो थर्मामीटर बनाया था, वह हवा की प्रसरण-शीलता के सिद्धान्त पर बना था, जिसके अनुसार घुण्डी में बन्द हवा गरम चीजों के स्पर्श में आकर फैलती है और इस कारण नली का पानी नीचे को गिरता है। ताप जितना अधिक ऊँचा होगा, पानी उतना ही अधिक नीचे गिरेगा। गैलीलियो के इस थर्मामीटर में दोष यह था कि बाहर के वायुमण्डल के दवाव से यह यंत्र अनायास ही प्रभावित हो जाता था। अतः इस प्रकार के थर्मामीटर पर पूर्ण रूप से भरोसा नहीं कर सकते थे। इसके बाद जो थर्मामीटर बनाया गया, उसमें हवा के बजाय अलकोहोल भरा गया, किन्तु नली का ऊपरवाला सूराख खुला हुआ था, इसलिए अलकोहोल का काफी अंश गैस बनकर उड़ जाता था। अतः यह थर्मामीटर भी सन्तोषजनक रूप से ताप नहीं बता सकता था।

पानी का क्वथनाङ्क

पानी का हिमाङ्क

सेन्टीग्रेड फारेनहाइट रीमर

विभिन्न पैमाने पर बनाये गये पारेवाले थर्मामीटरों की तीन प्रमुख जातियाँ

इनमें से सेंटीग्रेड और फारेनहाइट थर्मामीटर ही अधिकतर काम में आते हैं।

१६५४ में टस्कनी के ड्यूक फर्डिनेन्ड ने उक्त अलकोहोल-थर्मामीटर की नली का सिरा आँच में रखकर बन्द कर दिया, ताकि थर्मामीटर के अन्दर से न तो अलकोहोल ही गैस बनकर उड़े और न बाहर की हवा के दवाव का ही असर उस पर पड़े।

थर्मामीटर के प्रयोग में ताप का पैमाना नियत करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि थर्मामीटर केवल ताप का अन्तर मात्र बता सकता था कि अमुक वस्तु का ताप अमुक वस्तु की अपेक्षा ऊँचा है या नीचा। ताप कितना ऊँचा है या कितना कम, इस प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट रूप से तभी दिया जा सकता था, जबकि हमारे पास ताप नापने के लिए कोई नियत पैमाना या मापदण्ड मौजूद हो। इस मामले में सर आइजक न्यूटन ने यह राय दी कि वर्फ के गलने का ताप शून्य माना जाय और स्वस्थ मानव-शरीर का ताप १२ डिग्री। फिर फारेनहाइट ने प्रयोग करके यह देखा कि वर्फ में नमक मिलाकर और भी ठण्डा ताप उत्पन्न किया जा सकता है। अतः उसने वर्फ और नमक के मिश्रण से उत्पन्न हुए अत्यन्त ठण्डे ताप को अपना शून्य माना, क्योंकि उन दिनों इससे अधिक ठण्डा ताप नहीं उत्पन्न किया जा सकता था। मानव-शरीर के ताप और इस ठण्डे ताप के अन्तर को उसने ९६ अंशों में बाँटा। इस नये पैमाने पर शुद्ध स्वच्छ वर्फ के गलने का ताप ३२ अंश आता है। फारेनहाइट को इस बात का भी पता था कि शुद्ध पानी वायुमण्डल के औसत दवाव पर एक नियत ताप पर ही उबाल खाता है। अतः उसे अपने थर्मामीटर में अंशों के निशान लगाने के लिए एक और नियत ताप मिल गया। उसने अपने पहले पैमानों से उबलते हुए पानी का ताप जो आँका तो उसका मान २१२ निकला। इस नवीन थर्मामीटर का नाम 'फारेनहाइट थर्मामीटर' पड़ा। इस थर्मामीटर को पिघलते हुए वर्फ में रखने पर पारा ३२ अंश पर ठहरता है और उबलते हुए पानी में रखने पर वह २१२ डिग्री या अंश पर जाकर रुकता है। पिघलते हुए वर्फ के ताप अर्थात् 'हिमाङ्क' और उबलते हुए पानी के ताप अर्थात् 'क्वथनांक' के बीच १८० डिग्रियों या अंशों का अन्तर रहता है। थर्मामीटर में सर्वप्रथम पारे का प्रयोग भी फारेनहाइट ने ही किया था। इसके पहले हवा या अलकोहोल ही थर्मामीटरों में भरा जाता था।

फारेनहाइट की मृत्यु के उपरान्त स्वीडन-निवासी केल्सियस ने थर्मामीटर के पैमाने के लिए पानी के हिमाङ्क को शून्य माना और उसके क्वथनांक (उबाल-विन्दु) को

१०० डिग्री। इनके बीच के अन्तर को उसने १०० डिग्रियों में बाँटा। चूँकि इस पैमाने में नाप-जोख की सहूलियत ज्यादा है, अतः विज्ञानशालाओं में सर्वत्र इसी पैमाने पर बने हुए थर्मामीटर का प्रयोग होता है। इसे 'सेन्टीग्रेड थर्मामीटर' कहते हैं। लगभग १७०० ई० में फ्रांस के एक व्यक्ति रोमर ने पानी के हिमाङ्क को शून्य और क्वथनांक को ८० डिग्री माना और बीच के अन्तर को ८० डिग्री में विभाजित किया। निस्संदेह रोमर की प्रणाली एक व्यर्थ का प्रयत्न था।

वास्तविक या पूर्ण शून्य

हम देखते हैं कि थर्मामीटर के भिन्न-भिन्न पैमानों का निर्माण कालान्तर में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रयत्न के फलस्वरूप हो पाया है। ये पैमाने केवल किसी खास प्रणाली के अनुसार ही ताप का मान डिग्री में अंकित करते हैं। थर्मामीटर यदि किसी वस्तु का ताप शून्य डिग्री बताता है तो इसके कदापि यह अर्थ न लगाने चाहिये कि उस वस्तु के अन्दर की समूची ऊष्मा हर ली गई है और उसके ताप को अब और अधिक नीचे हम नहीं ले जा सकते। ताप के ये पैमाने सुविधानुसार नियत किये गये हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे ऐतिहासिक काल की गणना के लिए हम ईस्वी सन् की गिनती ईसा के जन्मकाल से करते हैं--सृष्टि के जन्मकाल से नहीं। अवश्य ही ताप नापने का वह पैमाना सबसे अधिक वांछनीय होगा, जिसका शून्य उस न्यूनतम ताप से प्रारम्भ होता है, जिसके नीचे ताप जा ही नहीं सकता। इस ताप का सैद्धान्तिक रूप से पता लगाया जा चुका है, और प्रयोगशाला में उस ताप के सन्निकट तक पहुँचा भी जा चुका है। इस पूर्ण शून्य पर पहुँचने के पहले वस्तुओं की ऊष्मा पूर्णतया उनके अन्दर से निकल जाना चाहिए। यदि किसी वस्तु में हद दर्जे की ठण्डक पहुँचाई जाय, यहाँ तक कि उसके अन्दर की समस्त ऊष्मा निकल जाय तो उस वस्तु का ताप अवश्य वास्तविक शून्य डिग्री पर पहुँच जायगा। यह वास्तविक शून्य सेन्टीग्रेड थर्मामीटर की शून्य डिग्री (हिमाङ्क) से भी २७३ डिग्री नीचे पर स्थित है! योरप और अमेरिका की प्रयोगशालाओं में इस पूर्ण शून्य के बहुत निकट तक का ताप तो उत्पन्न किया जा चुका है। इस शून्य के आधे और पाव डिग्री के निकट तक का ताप वैज्ञानिकों ने प्राप्त कर लिया है, किन्तु पूर्ण शून्य तक हम अभी तक नहीं पहुँच पाये हैं।

पारेवाला तापमापी कैसे बनाया जाय?

पारेवाला थर्मामीटर बनाने के लिए काँच की एक पतली नली लेते हैं। इसके एक सिरे को आँच में गरम करके बन्द कर लेते हैं; फिर दूसरी ओर से फूँक मारकर इस सिरे पर एक घुण्डी बना लेते हैं। ऊपरवाले सिरे पर एक कीप-सी भी बना लेते हैं। अब इसी कीप में पारा भर देते हैं। नली के सूराख के बारीक होने की वजह से पारा घुण्डी के अन्दर अपने आप नहीं जा पाता। अतः पारा भरने के लिए घुण्डी को हलकी आँच में गरम करते हैं। घुण्डी के अन्दर की हवा गरम होकर फैलती है, अतः पारे को धक्का देकर कुछ हवा कीप के रास्ते बाहर भी निकल जाती है। घुण्डी को अब ठण्डा करते हैं। ठण्डा करने पर नली की हवा सिकुड़ती है, अतः खाली स्थान भरने के लिए फौरन् पारा नली के अन्दर प्रवेश कर जाता है। इस क्रिया को बार-बार दोहराकर पूरी घुण्डी को पारे
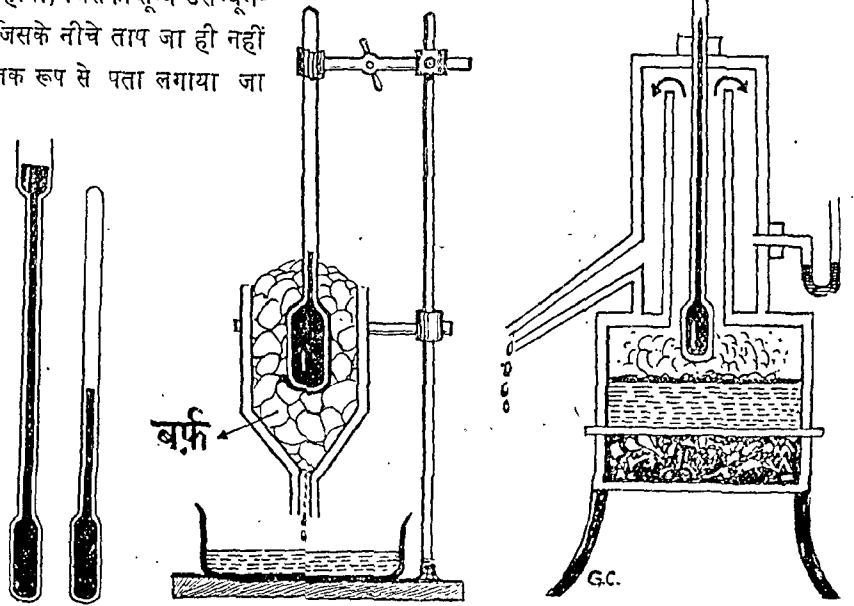
पारेवाला थर्मामीटर बनाना और हिमाङ्क तथा क्वथनाङ्क ज्ञात करना

विवरण पृष्ठ ८७५-८७८ पर पढ़िये।
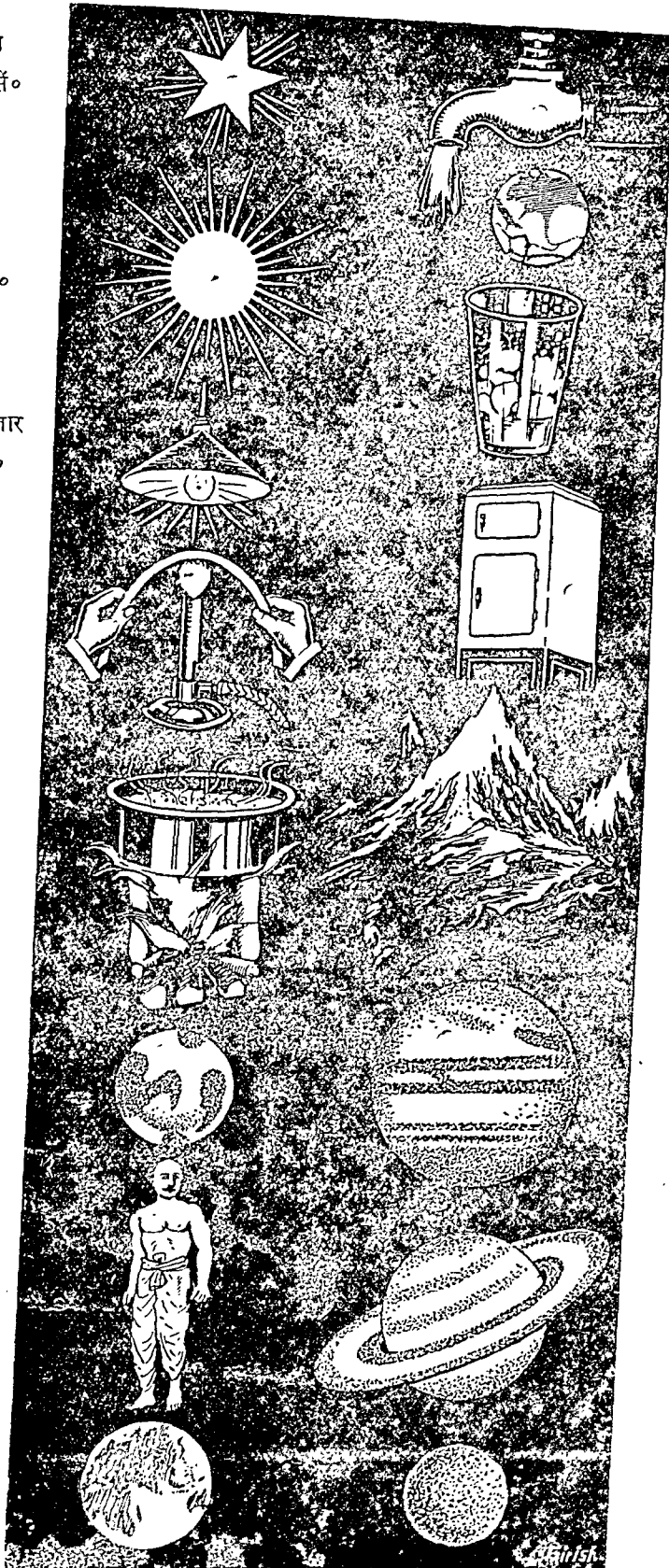
भिन्न-भिन्न ताप के कुछ उदाहरण

से भर लेते हैं। नली में भी कुछ दूर तक पारा भरा रहता है। ऐसे थर्मामीटर से ऊँचे से ऊँचा जितना ताप नापना होता है, उससे भी दो-चार डिग्री अधिक ऊँचे ताप के किसी द्रव में इस तापमापी की घुण्डी को रखते हैं। गरमी पाने पर फैलकर थोड़ा-बहुत पारा नली के बाहर गिर जाता है। तब नली के खुले हुए सिरे को आँच में पिघलाकर बन्द कर लेते हैं (पृ० ८७५ के चित्र में **क**)।

तदुपरान्त थर्मामीटर पर डिग्री के निशान लगाने होते हैं। इसके लिए घुण्डी को पिघलते हुए बर्फ में रखकर देखते हैं कि पारा कहाँ ठहरता है—सेन्टीग्रेड पैमाने पर यहीं निशान शून्य का सूचक हुआ (पृ० ८७५ के चित्र में **ख**)। फिर घुण्डी को उबलते हुए पानी की भाप में रखते हैं (उसी चित्र में **ग**)। अब पारा जिस विन्दु तक चढ़ा वहाँ १०० डिग्री का निशान लगाएँगे। इन दोनों निशानों के बीच की दूरी को १०० बराबर भागों में विभाजित कर लेते हैं। यदि फारेनहाइट थर्मामीटर तैयार करना हुआ तो बर्फ के हिमाङ्क को ३२

डाक्टरी थर्मामीटर
इस प्रकार के थर्मामीटर में केवल ९५° फा० से ११०° फा० तक का ही ताप जाना जा सकता है।

डिग्री मानेंगे और उबलते हुए पानी की भाप के ताप को २१२। इन दोनों के बीच की दूरी को १८० भागों में बाँट देते हैं।

पारे के थर्मामीटर की घुण्डी का शीशा बहुत ही पतला होता है, ताकि जिस वस्तु के स्पर्श में यह घुण्डी आए उसकी उष्णता घुण्डी के अन्दर पारे तक फौरन् पहुँच जाय। थर्मामीटर की नली का सूराख इतना पतला इसलिए रखते हैं कि घुण्डी के पारे में यदि तनिक भी प्रसरण हो तो पारे का डोरा नली में काफी ऊँचा चढ़ जाय। यह पतली नली काँच की मजबूत मोटी दीवाल से घिरी रहती है, अतः बाहर से पारे का सूत काफी मोटा दिखलाई पड़ता है और तापक्रम पढ़ने में आसानी पड़ती है।

डाक्टरी थर्मामीटर

भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के थर्मामीटर बनाए गए हैं। किसी वस्तु का ताप मालूम करने के लिए थर्मामीटर को उस वस्तु से सटाकर रखना जरूरी होता है। थर्मामीटर को उस वस्तु से जहाँ अलग हटाया कि उसका पारा नीचे गिरा। जब डाक्टर यह देखने के लिए हमारे मुँह में थर्मामीटर डालता है कि हमें ज्वर है या नहीं, तब उसके लिए यह सम्भव नहीं हो सकता कि मुँह में रखे हुए थर्मामीटर में ही देख ले कि कितने डिग्री तक पारा चढ़ गया है। रोगी के मुँह से थर्मामीटर निकालते ही पारा नीचे गिर जायगा और डाक्टर यह जान न सकेगा कि वास्तव में रोगी का ताप कितना है। इस मुश्किल को हल करने के लिए डाक्टरी थर्मामीटर की घुण्डी के ऊपर ही नली में एक पतली-सी गाँठ या संकिरण बना देते हैं। ज्वर से आक्रान्त शरीर के स्पर्श से जब पारा गरम होकर फैलता है तो इस संकिरण (गाँठ) के रास्ते से धक्का देकर पारे का डोरा ऊपर चढ़ जाता है। थर्मामीटर को शरीर से जब अलग हटा लेते हैं तो इसका पारा सिकुड़ता है, किन्तु चूँकि पारे के डोरे को इस संकिरण से नीचे लाने के लिए कोई शक्ति ऊपर

संकिरण या गाँठ (परिवर्द्धित पैमाने पर)

से काम नहीं करती, इसलिए इस संकिरण से ऊपर का पारा तनिक भी नीचे नहीं गिर पाता। गाँठ से नीचे का पारा अवश्य सिकुड़ कर बेलनाकार घुण्डी में चला आता है। फलस्वरूप संकिरण पर पारे का डोरा टूट जाता है। और थर्मामीटर की नली में पारा जितनी ऊँचाई तक चढ़ गया था, उतनी ही ऊँचाई तक वह बना रहता है। इस तरह डाक्टर रोगी का ताप (टेम्परेचर) उस थर्मामीटर में पढ़ लेता है। थर्मामीटर को दूसरी बार काम में लाने के पहले झटका देकर ऊपर के पारे को संकिरण के इस पार नीचे को उतार लेना आवश्यक होता है।

डाक्टरी थर्मामीटर में फारेनहाइट थर्मामीटर के ढंग पर निशान लगे होते हैं। चूँकि यह थर्मामीटर शरीर का ही ताप नापने के लिए काम में लाया जाता है, इसलिए इसमें निशान केवल ९५ डिग्री फारेनहाइट से लेकर ११०

डिग्री तक ही लगे होते हैं। स्वस्थ मनुष्य के शरीर का ताप ९८·४ डिग्री होता है। ज्वर होने पर शरीर का ताप ज्यादा-से ज्यादा १०६—१०८ डिग्री तक जा सकता है, इससे आगे नहीं। इस थर्मामीटर में निशान लगाने के लिए पानी के हिमाङ्क और क्वथनाङ्क का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः किसी प्रामाणिक फारेनहाइट थर्मामीटर से मिलान करके इसमें ९५° से ११०° तक के निशान लगा लेते हैं। इसकी घुण्डी में पारा पूरा नहीं भरते, थोड़ी जगह खाली रहती है। जब ताप ९४ डिग्री फारेनहाइट पर पहुँचता है, तब पारा घुण्डी के मुँहा-मुँह भरकर संकिरण से जरा ऊपर उठने लगता है। इस थर्मामीटर में प्रत्येक डिग्री पाँच भागों में बँटी रहती है, ताकि एक डिग्री के पाँचवें अंश तक टेम्परेचर आसानी से पढ़ा जा सके। चूँकि इस थर्मामीटर में ९५ से ११० तक ही निशान लगे रहते हैं, इसलिए इसकी नली कुछ अधिक लम्बी भी नहीं होती। अतः फाउन्टेन पेन की भाँति इसे भी डाक्टर आसानी के साथ जेब में डाल सकता है।

बाजार में भेजने से पहले इंगलैंड की राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में इन थर्मामीटरों की ठीक जाँच की जाती है कि इन पर डिग्री के निशान सही लगे हैं या नहीं। प्रति मास इस प्रयोगशाला में लगभग ५०,००० थर्मामीटरों की जाँच की जाती है। जाँच के समय सही उतरने पर हर एक थर्मामीटर पर NP खोद दिया जाता है, ताकि जन-साधारण इन अक्षरों को देखते ही जान सकें कि इस थर्मामीटर की जाँच उक्त प्रयोगशाला में हो चुकी है।

भाँति-भाँति के तापमापी

स्नान के निमित्त गरम जल का ताप नापने के लिए एक खास ढंग के थर्मामीटर काम में लाये जाते हैं। ऐसे थर्मामीटर की मदद से १४० डिग्री फारेनहाइट तक का ताप नापा जा सकता है। इस थर्मामीटर पर ४० डिग्री से १४० डिग्री तक के निशान बने होते हैं।

स्वयंलेखक उच्चतम-न्यूनतम थर्मामीटर

खेत की मिट्टी का ताप भी फारेनहाइट पैमाने पर बने हुए थर्मामीटर से आँकते हैं। इस थर्मामीटर की नली लगभग दो फीट लम्बी होती है। यह थर्मामीटर लकड़ी पर जड़ा हुआ होता है। इसकी घुण्डी लोहे के नुकीले आवरण के अन्दर रहती है। लोहे के इस खोखले आवरण की दीवालों में सूराख बने होते हैं, ताकि जब थर्मामीटर खेत की मिट्टी में घुसेड़ा जाय तो भुरभुरी मिट्टी इन सूराखों के रास्ते भीतर जाकर घुण्डी तक पहुँच जाय, साथ ही थर्मामीटर की घुण्डी को किसी प्रकार की क्षति भी नहीं पहुँचे।

उच्चतम और न्यूनतम तापमापी

ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए दिन-रात के २४ घण्टों का उच्चतम और न्यूनतम ताप मालूम करने की हमें आवश्यकता पड़ती है। बाजू के चित्र में सिक्स द्वारा आविष्कृत एक उच्चतम-न्यूनतम थर्मामीटर दिखलाया गया है। इसकी घुण्डी 'क' में अलकोहोल भरा हुआ होता है, जो कुछ दूरी तक नली में भी पहुँचता है। घुण्डी 'ख' में भी अलकोहोल भरा रहता है, किन्तु इस घुण्डी का कुछ भाग खाली भी रहता है, ताकि अलकोहोल को फैलने के लिए काफी जगह मिल सके। इन दोनों घुण्डियों को मिलानेवाली बारीक नली में पारे का एक पतला डोरा रहता है, जो दोनों ओर के अलकोहोल के स्तम्भों को अलग रखता है। इस पारे के डोरे के दोनों सिरों पर लोहे का एक छोटा-सा कमानीदार निर्देशक लगा रहता है, जो लचकदार कमानी की वजह से नली की दीवालों से चिपका रहता है (देखो बाजू का चित्र)।

उच्चतम-न्यूनतम थर्मामीटर के निर्देशक

(परिवर्द्धित पैमाने पर) ऊपर के चित्र में क द्वारा अलकोहोल की भाप एवं ख द्वारा अलकोहोल सूचित है।

वायु का ताप बढ़ने पर गरमी पाकर 'क' पर का अलकोहोल जब बढ़ता है तो पारे के डोरे को धक्का देकर स्तम्भ को यह ऊपर चढ़ाता है—पारे के धक्के से लोहे का निर्देशक 'ऊ' भी ऊपर खिसक जाता है। अब यदि वायु का ताप घटा तो 'क' का अलकोहोल भी सिकुड़ेगा, और साथ ही पारे का स्तम्भ नीचे को गिरेगा, किन्तु निर्देशक 'ऊ' काँच की दीवाल से चिपके रहने के कारण नीचे नहीं गिरता। अतः 'ऊ' की ऊँचाई देखकर हम पता लगा सकते हैं कि पिछले २४ घण्टों में वायु का उच्चतम ताप कहाँ तक पहुँचा था। ताप घटने पर 'क' का अलकोहोल सिकुड़ता है, इस कारण पारे का स्तम्भ भुजा में ऊपर को चढ़ता है और निर्देशक 'न' को धक्का देकर ऊपर को खिसकाता है। ताप के पुनः बढ़ने पर 'क' का अलकोहोल फैलता अवश्य है, किन्तु इसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि निर्देशक 'न' को यह नीचे खिसका सके। अत. 'न' की ऊँचाई देखकर हम यह जान सकते हैं कि पिछले २४ घण्टों में न्यूनतम ताप कितना था। ताप जान लेने के उपरान्त चुम्बक की मदद से दोनों निर्देशकों को खींचकर पारे के सिरे पर लगा देते हैं, ताकि दूसरे दिन के लिए उच्चतम और न्यूनतम ताप इस थर्मामीटर पर अंकित हो सकें।

थर्मामीटर का प्रयोग निरे ताप नापने के लिए ही नहीं होता, बल्कि वायु की आर्द्रता या नमी नापने के लिए भी विशेष ढंग के थर्मामीटर बनाये गये हैं। वास्तव में इस यंत्र में दो फारेनहाइट थर्मामीटर लगे रहते हैं। इनमें से एक थर्मामीटर की घुण्डी के ऊपर बारीक मलमल कपड़ा लिपटा होता है, जिसका एक छोर नीचे पानी में लटकता रहता है। पानी इस कपड़े के सहारे ऊपर चढ़ जाता है। अतः हर समय घुण्डी भीगी रहती है। यदि हवा में आर्द्रता कम हुई तो इस घुण्डी पर का पानी तेजी के साथ भाप बनकर उड़ जायगा, और इस क्रिया में घुण्डी ठण्डी भी हो जायगी। फलस्वरूप गीली घुण्डीवाले थर्मामीटर का ताप सूखी घुण्डीवाले थर्मामीटर के ताप से कई डिग्री नीचे होगा। यदि हवा नम हुई तो गीली घुण्डी की सतह से पानी धीरे-धीरे भाप में परिणत होगा, अतः दोनों थर्मामीटरों के ताप में अन्तर भी बहुत कम होगा। बरसात के दिनों में जब कि हवा में नमी भरपूर रहती है, सूखी और गीली घुण्डीवाले थर्मामीटरों के ताप में कुछ भी अन्तर नहीं होता। यदि दोनों थर्मामीटरों के ताप में दस-बारह डिग्री का अन्तर होता है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हवा एकदम सूखी है, किन्तु जब इनके ताप में केवल एकाध डिग्री का ही अन्तर होता है, तो हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि हवा में नमी खूब भरी हुई है, अतः पानी बरसने की भी आशा की जा सकती है।

पारा −३९ डिग्री सेन्टीग्रेड पर जमकर ठोस रूप धारण कर लेता है, इस कारण −३५ डिग्री या इससे कम डिग्री ताप (टेम्परेचर) नापने के लिए यदि हमें थर्मामीटर बनाना है तो उसमें पारे के बजाय अलकोहोल का ही प्रयोग करते हैं। अलकोहोल −१३० डिग्री पर जमता है, अतः हम −१३० डिग्री तक बेखटके इस थर्मामीटर का प्रयोग कर सकते हैं। अलकोहोल ७८ डिग्री सेन्टीग्रेड पर उबलने लगता है, अतः ऊँचा ताप नापने के लिए हम अलकोहोल-थर्मामीटर का प्रयोग कदापि नहीं कर सकते।

गैस-थर्मामीटर

− १३० डिग्री से भी नीचे का ताप नापने के लिए गैस-थर्मामीटर का प्रयोग करते हैं। शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड पर यदि किसी गैस की एक नियत मात्रा ली जाय और उसका दबाव बदले बिना उसका ताप १ डिग्री कम कर दिया जाय तो उसके आयतन में संकुचन के कारण १।२७३ भाग की कमी हो जायगी। दो डिग्री नीचे जाने पर २।२७३ भाग की कमी होगी। इसी प्रकार ताप बढ़ने पर शून्य डिग्री पर गैस का जितना आयतन है, उसका २७३ वाँ भाग प्रत्येक डिग्री पीछे बढ़ेगा। इस प्रकार गैस का दबाव एक-सा रखकर उसके आयतन के परिवर्तन को नापकर ताप का पता लगाया जा सकता है।

अवश्य इस हिसाब से −२७३ डिग्री सेन्टीग्रेड पर पहुँचने पर गैस का आयतन शून्य हो जायगा। ठीक इसी प्रकार यदि गैस का आयतन नियत रखकर उसके ताप को एक-एक डिग्री करके घटाएँ तो गैस के दबाव में भी शून्य डिग्री पर के दबाव के २७३ वें भाग की कमी होगी। इस प्रकार −२७३ डिग्री सेन्टीग्रेड पर पहुँचते-पहुँचते गैस का दबाव भी शून्य हो जाता है। अर्थात् −२७३ डिग्री ताप पर गैस के अणुओं में इतनी शक्ति बाकी नहीं रहती कि वे तनिक भी हरकत कर सकें, उनके अन्दर ऊष्मा बिलकुल ही नहीं रह जाती। अतः इससे नीचे हम इनका ताप ले ही नहीं जा सकते। अतः −२७३ डिग्री सेन्टीग्रेड पूर्ण शून्य है।

हाइड्रोजन गैस का प्रयोग करके हम बहुत ऊँचा ताप नाप सकते हैं और हद दर्जे की ठंडक भी। क्योंकि हाइड्रोजन − २४० डिग्री तक गैस ही बनी रहती है, ठण्डी होकर द्रव या ठोस रूप नहीं धारण कर लेती।

को आसानी के साथ उठाकर हम एक जगह से दूसरी जगह को ले जा सकें।

लकड़ी और पीतल की चालन शक्ति की तुलना करने के लिए डेढ़ फुट का एक गोल डण्डा लीजिए, जिसमें एक ओर आधी दूर तक पीतल हो और दूसरी ओर लकड़ी। पतले कागज की एक तह समूचे डण्डे पर लपेट दीजिए, और स्पिरिट-लैम्प की लौ पर डण्डे को एक सिरे से दूसरे सिरे तक समान रूप से गरम कीजिए। गरम करते समय लौ पर तेजी के साथ डण्डे को फिराइए, ताकि उसके प्रत्येक भाग पर लौ की आँच समान रूप से लगती रहे। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि लकड़ी पर लिपटा हुआ कागज एकदम झुलस गया है, जबकि पीतल पर लिपटे हुए कागज का रंग भी नहीं बदला। बात यह हुई कि सुचालक होने के कारण पीतल ने फौरन् ही अपने ऊपर लिपटे हुए कागज की ऊष्मा ग्रहण कर ली, अतः कागज झुलस न सका। उधर कुचालक होने के कारण लकड़ी ने अपने ऊपर लिपटे हुए कागज की गरमी ग्रहण नहीं की, फलस्वरूप लकड़ी पर लिपटा हुआ कागज जल गया। कागज हटाकर इस डण्डे को अब आप हाथ से स्पर्श कीजिए तो पीतल लकड़ी की अपेक्षा काफी गरम मालूम पड़ेगा।

जाड़े के दिनों में कमरे के अन्दर लोहे की कुर्सी काठ की कुर्सी की अपेक्षा छूने पर ज्यादा ठण्डी मालूम पड़ती है, यद्यपि दोनों का ताप बिल्कुल एक है। चूँकि लोहा ऊष्मा

ठोस, द्रव और गैस में ऊष्मा का परिचालन

ऊष्मा पदार्थों के अणुओं की गति या कंपन की सूचक है। गरम होने की दशा में ठोस, द्रव, गैस सभी पदार्थों में प्रसार होता है। द्रव और गैस के अणु ढीले रहते हैं, इसलिए वे ऊपर-नीचे, जहाँ जगह मिली, पसरने और दौड़ने लगते हैं। इसीलिए पतीली का पानी गरम होने की दशा में उफनकर बर्तन के ऊपर तक आ जाता है (दे० चित्र नं० २) और हवा से भरा गुब्बारा धूप में रखने पर फूलकर बढ़ जाता है (दे० नं० ३)। कभी-कभी हवा के कणों के पसार के लिए काफी जगह भीतर न रहने पर वे गुब्बारे को फोड़कर बाहर भी निकल भागते हैं! ठोस में कणों के छूटकर निकल भागने की तो गुंजाइश नहीं होती, परंतु गरमी की दशा में वे एक दूसरे से सटे हुए रहकर ही काँपने और पसरने लगते हैं, जिससे उस पदार्थ का समूचा आकार बढ़ जाता है। रेल की पटरी के सूर्य की गरमी से तपने पर हमें यह पसार स्पष्ट दिखाई देने लगता है—दो पटरियों के बीच का जोड़ कभी-कभी फैलकर मिल जाता है (दे० नं० १)। बगल के चित्र में ठोस, द्रव और गैस तीनों के ठंडे और गरम होने की दशा का भेद दिखाया गया है।
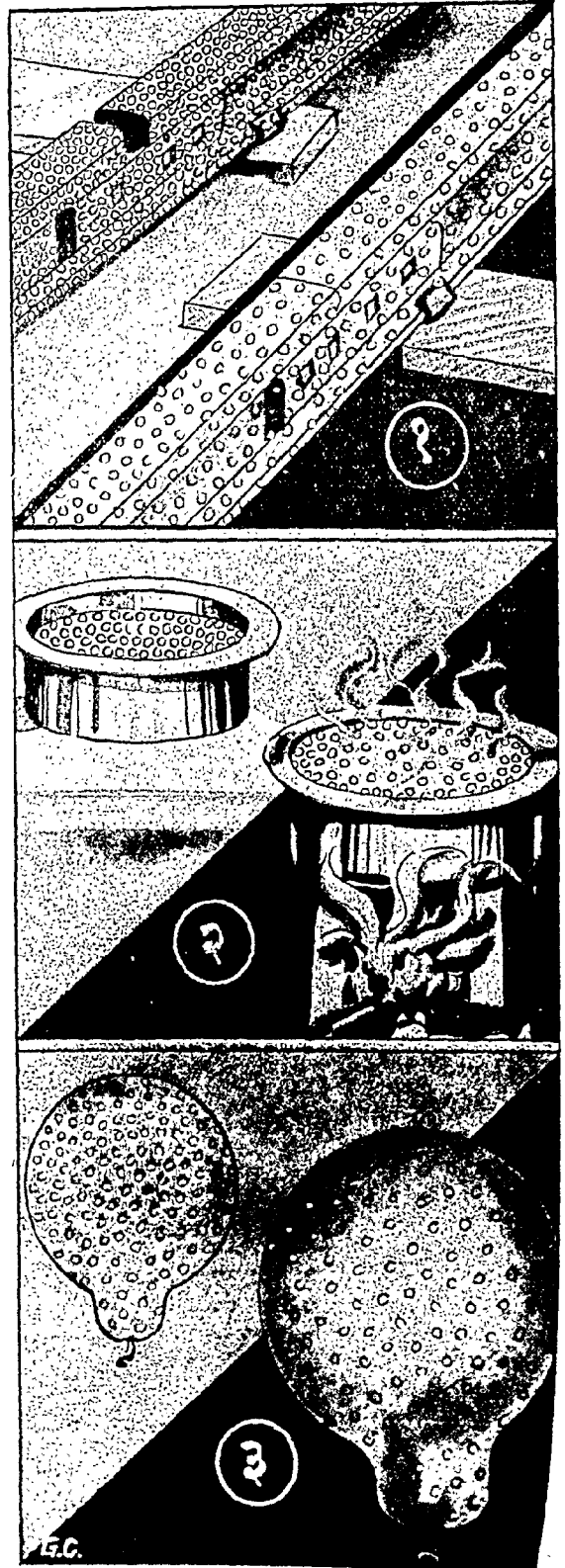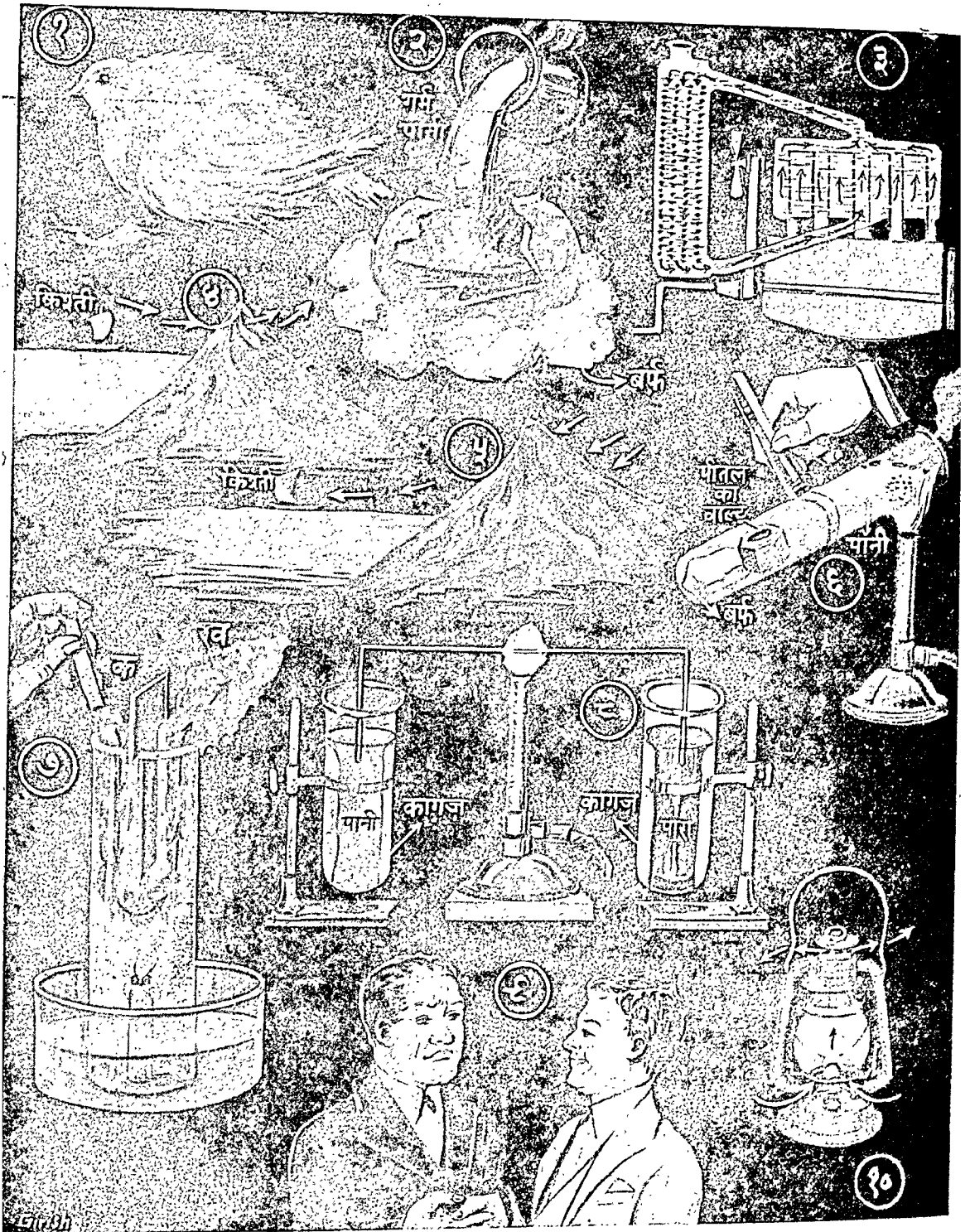
ऊष्मा का परिचालन

१. जाड़े में चिड़िया पर फुला लेती है, ताकि गरमी बाहर न निकल जाय; २. शीशे के मर्तबान के चारों ओर बर्फ के टुकड़े रखकर उस पर गरम पानी उँडेलिए; वह फौरन् टूट जायगा; ३. मोटरकार के इंजिन को पानी के संवहन की सहायता से ठंडा करने का प्रबंध; ४. दिन को समुद्र-किनारे जल-समीर चलती है; ५. शाम को वहीं स्थल-हवाएँ चलने लगती हैं; ६. पानी कुचालक है; ऊपर सिरे पर पानी उबल रहा है, नीचे बर्फ तक न पिघली; ७. सिगरेट का धुँआ क पर नीचे जाता है, ख पर ऊपर की ओर; ८. पारे के चारों ओर लिपटा कागज दूर तक झुलस जाता है, जबकि पानीवाली नली का कागज सिरे पर ही झुलस पाया है; ९. धूप में काले वस्त्र पहननेवाला परेशान है, श्वेत वस्त्रवाला प्रसन्न; १०. लालटेन में नीचे से हवा घुसती और ऊपर के छेदों से बाहर निकलती है।

का सुचालक है और लकड़ी कुचालक, इसलिए लोहे की कुर्सी हमारे शरीर की ऊष्मा को तेजी के साथ खींच लेती है, जबकि लकड़ी उतनी तेजी के साथ हमारे शरीर की गरमी को नहीं खींच पाती ।

पत्थर की अपेक्षा ईंट और कच्ची मिट्टी में ऊष्मा का परिचालन कम मात्रा में होता है । इसी कारण गरमी के दिनों में पत्थर के मकान तप जाते हैं, किन्तु ईंट या मिट्टी के बने मकानों के अन्दर उतनी गरमी प्रतीत नहीं होती। फूस मिट्टी से भी ज्यादा ताप की कुचालक है, अतएव फूस की झोपड़ी गरमी में अपेक्षाकृत ठण्डी रहती है । जेठ की लू की गरमी झोपड़ी के अन्दर जल्दी प्रवेश नहीं कर पाती । माघ-पूस की रात में भी बाहर की ठण्ड का अधिक असर झोपड़ी के अन्दर नहीं हो पाता । प्रयाग के माघ-मेले में टिन से बनी दूकानों के अन्दर लोग रात को सरदी के कारण ठिठुर जाते हैं, जबकि फूस की झोपड़ियों के अंदर इतनी अधिक ठण्ड नहीं मालूम पड़ती ।

चाय के प्याले चीनी मिट्टी के इसलिए बनते हैं, ताकि चाय शीघ्र ठण्डी न हो जाय । चायदानी को भी गरम रखने के लिए उसे रुईदार कपड़े की खोल से ढक देते हैं । सड़क पर मलाई की बर्फ बेचनेवाला भी अपने बर्तन को फेल्ट और नमदे की पट्टी में लपेटकर रखता है, ताकि उसके अन्दर बाहर की गरमी प्रवेश न कर जाय, अन्यथा उसकी सारी बर्फ गल जायगी ।

आपने काँच के ठण्डे गिलास में गरम चाय उँड़ेलकर कभी एकाध गिलास अवश्य तोड़ा होगा । किन्तु पीतल या काँसे के गिलास में गरम-से-गरम चीज डाल दीजिए, वह कभी नहीं चटखेगा । जलती हुई लालटेन की चिमनी पर एकाध बूँद ठण्डे पानी की डाल दीजिए, चिमनी चटाख से टूट जाती है । ऐसा इसलिए होता है कि काँच ऊष्मा का कुचालक है । काँच के ठण्डे गिलास के अन्दर गरम चाय हम जब उँडेलते हैं तो गिलास की भीतरी दीवाल गरम हो जाती है––फलस्वरूप इसमें प्रसार होता है । चूँकि काँच कुचालक है, इसलिए गिलास की बाहरी दीवाल तक गरमी जल्दी पहुँच नहीं पाती, और न इसमें किसी तरह का प्रसार ही होता है । नतीजा यह होता है कि भीतर के प्रसार के जोर का सँभाल न सकने के कारण गिलास फौरन् चटख जाता है । पीतल ऊष्मा का सुचालक है, अतः चाय उँडलते ही समूचे गिलास में क्षण भर के अन्दर ऊष्मा फैल जाती है, और भीतर-बाहर सब ओर एक-सा ही प्रसार होता है । अतः गिलास के चटखने या टूटने की नौबत ही नहीं आती । अब काँच के गिलास पतली दीवालों के भी बनने लगे हैं । एकाएक गरम चाय यदि इन गिलासों में उँडेली जाय तो ये टूटते नहीं, क्योंकि ऐसे गिलास के भीतर और बाहर के ताप में अधिक अंतर नहीं होने पाता, अतः उनके प्रसार में भी कुछ अधिक फर्क नहीं पड़ता । प्रयोगशाला में विभिन्न पदार्थों की ऊष्मा-परिचालन शक्ति की परीक्षा की गई है । यदि पानी की परिचालन-शक्ति को १ मानें तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:––

ताँबा	७४३	पारा	१०·७
लोहा	१४३	शीशा	१·२
सीसा	५७	फलालैन	·०२१

सेफ्टी लैम्प का सिद्धान्त

ताँबे की सुचालन-शक्ति के आधार पर ही सर हम्फ्री डैवी ने अपने प्रसिद्ध 'सेफ्टी लैम्प' का निर्माण किया था । इस ढंग के लैम्पों द्वारा खान के अंदर की गैसों में आग लगने का भय बिल्कुल नहीं रहता । इस लैम्प में काँच की चिमनी के स्थान पर ताँबे के तार की बनी हुई बेलनाकार जाली लगी रहती है । यदि कोई ज्वलनशील गैस खान के अन्दर हुई तो जाली के अन्दर प्रवेश करते ही लैम्प की लौ को छूकर यह जलने लगेगी । किन्तु भीतर की गरमी समूची जाली में फैलकर इधर-उधर की हवा में विलीन हो जाती है, अतः जाली का ताप इतना उँचा नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहरवाली गैस भी प्रज्वलित हो सके । जाली के अन्दर गैस का जलना देखकर खान के मजदूर सचेत हो जाते हैं और लैम्प भी फौरन् ही बुझा दिया जाता है । अन्यथा थोड़ी देर में जाली इतनी गरम हो सकती है कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस जल उठे और समूची खान में आग लग जाए। ठण्डे मुल्कों में मोटरघर में रक्खी हुई मोटरकार के रेडिएटर के अन्दर भी अक्सर सेफ्टी लैम्प रख देते हैं, ताकि बाहर की ठण्डक के कारण रेडिएटर का पानी जमकर बर्फ न बन जाय। पेट्रोल की भाप ज्वलनशील होती है, इसलिए विस्फोट के खतरे से बचने के लिए वहाँ पर सेफ्टी लैम्प ही प्रयुक्त किया जा सकता है । (दे० ८८६ का चित्र) ।

सेफ्टी लैम्प का सिद्धान्त समझने के लिए हम एक दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं । एक साधारण मोमबत्ती लीजिये, और उसे ताँबे की जाली की बनी हुई बेलनाकार चिमनी के बीच में रख दीजिए। अब एक बन्सन गैस बर्नर नजदीक ले आइए और बर्नर की गैस खोल दीजिए, ताकि

जाली के भीतर जाकर वह मोमबत्ती की लौ को स्पर्श कर सके । आप देखेंगे कि गैस जाली के अंदर तो जलती है, किन्तु बाहर नहीं जलती, यद्यपि गैस बाहर भी पर्याप्त मात्रा में मौजूद है ! भीतर जलती हुई गैस का ताप शीघ्रता से जाली में से होकर आसपास की हवा में विलीन हो जाता है, अतः जाली इतनी तप्त नहीं हो पाती कि उसके स्पर्श से बाहर की गैस भी प्रज्वलित हो सके (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र ।)

अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो ऊष्मा के नितान्त कुचालक हैं । ऊन, शीशा, फेल्ट आदि इसी श्रेणी में आते हैं । किन्तु अधम-से-अधम कुचालक के अन्दर भी कुछ-न-कुछ मात्रा में ऊष्मा का संचार अवश्य होता है । पारे के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव और गैसें नितान्त कुचालक हैं । किन्तु इस स्थान पर हमें यह न भूलना चाहिए कि पारा भी एक धातु है और सभी धातुएँ अनिवार्य रूप से ऊष्मा और विद्युत्धारा की सुचालक हुआ करती हैं ।

काँच की एक परखनली में पानी ले लीजिए और पेंदे में बर्फ का एक टुकड़ा डाल दीजिए—पीतल के बोल्टू के भार से बर्फ को पेंदे के पास दबा रहने दीजिए। स्पिरिट-लैम्प की लौ से पानी को एकदम सिरे पर गरम कीजिए । थोड़ी देर में ऊपर का पानी खौलने लगेगा, फिर भी नीचे पेंदे तक इतनी ऊष्मा संचलित न हो पायगी कि बर्फ पिघल सके (दे० ८८४ पष्ठ के चित्र नं० ६) । यदि बिजली का तार डालकर हमें पानी गरम करना है तो 'हीटर' को देगची के अन्दर ठीक पेंदे से सटा
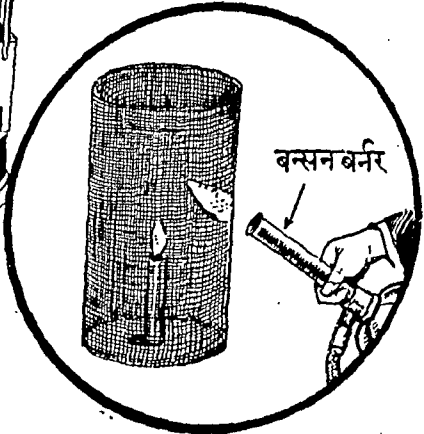
सैफ्टी लैम्प का सिद्धान्त

ताँबे की उत्तम संचालन-शक्ति के आधार पर ही सर हैम्फ्री डेवी ने खानों के लिए खास तौर के एक 'सैफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया, जिससे उन खानों में आग लगने का भय नहीं रहा । इसका सिद्धान्त ऊपर के चित्र में समझाया गया है । इस लैंप में काँच की चिमनी के बजाय ताँबे के तार की बनी हुई बेलनाकार जाली लगी रहती है । यदि कोई ज्वलनशील गैस खान के अंदर हुई तो जाली के अंदर पहुँचते ही यह लैम्प की लौ को छूकर जलने लगेगी । किंतु भीतर की गरमी समूची जाली में फैलकर इधर-उधर की हवा में विलीन हो जाती है, अतः जाली का ताप इतना नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहरवाली गैस भी प्रज्वलित हो सके । जाली के अंदर गैस का जलना देखकर मजदूर सतर्क हो जाते हैं और लैम्प फौरन बुझा दिया जाता है । इस आविष्कार ने सैकड़ों की जान बचाई है । इसका सिद्धान्त बगल के गोलाकार चित्र में दिखाए गए प्रयोग में दिखाया गया है । ताँबे की एक गोलाकार जाली में मोमबत्ती जलाकर रख दी गई है । फिर बाहर से एक बन्सन बर्नर नजदीक लाया गया है । इस बर्नर की गैस खोलते ही उसकी लौ जाली के अंदर तो जलती है, पर बाहर नहीं सुलगती, यद्यपि बाहर भी वह मौजूद है । यही 'सेफ्टी लैम्प' का सिद्धान्त है ।

कर रखना चाहिए, वरना ऊपर रखने पर केवल सतह का पानी गरम हो पाएगा, नीचे का पानी ज्यों-का-त्यों ठण्डा बना रहेगा। पानी और पारे की संचालन-शक्ति की तुलना करने के लिए, काँच की एक परखनली में पानी और दूसरी में पारा लीजिए। पानी और पारा दोनों ही का आयतन एक-सा रखिए। पृष्ठ ८८४ के नं० ८ चित्र के अनुसार ताँबे का एक मोटा तार मोड़कर इस प्रकार आँच के ऊपर रखिए कि तार के दोनों सिरे क्रम से पानी और पारे में डूबते रहें। तब दोनों परखनलियों के चारों ओर पतला कागज लपेट दीजिए। थोड़ी देर में आप देखेंगे कि पारे पर लिपटा हुआ कागज दूर तक झुलस जाता है, जब कि पानीवाली नली पर केवल सिरे के नजदीक का कागज झुलसता है। निस्सन्देह पारा पानी की अपेक्षा ताप का कहीं अधिक सुचालक है।

गैसें भी ऊष्मा की कुचालक होती हैं। हवा में ऊष्मा का परिचालन करीब-करीब नहीं के बराबर होता है। इसी कारण रुई और ऊन आदि फुलफुले कपड़े जाड़े में हमें गरम रखते हैं। इनके अन्दर रोएँ के बीच ढेर-सी हवा फँसी रहती है। अतः हमारे शरीर की गरमी इनमें से होकर बाहर नहीं जाने पाती।

जाड़े के दिनों में जिस दिन कड़ाके की सर्दी पड़ती है, अनेक पक्षी पंख फुलाकर बैठते हैं, ताकि परों के बीच ढेर-सी हवा रुक जाय। यह हवा शरीर की गरमी को बाहर निकलने से रोकती है (पृष्ठ ८८४ के चित्र में नं० १)। ठंडे देशों में कमरों की दीवालें दुहरी बनाई जाती हैं। दोनों दीवालों के बीच लकड़ी का बुरादा या घासफूस फुलफुले तौर पर भर देते हैं, ताकि उनके बीच हवा फँसी रहे। फँसी होने के कारण हवा में संवहन-धारा प्रवाहित नहीं हो पाती है और न चालन द्वारा ही भीतर की गरमी बाहर निकल पाती है। इसी सिद्धान्त पर बर्फ रखने के लिए काठ के सन्दूक भी दुहरी दीवाल के बनाये जाते हैं।

जाड़े में एक मोटे कम्बल की जगह यदि आप दो पतले कम्बल ओढ़ें तो आपको जाड़ा कम मालूम होगा, क्योंकि दो कम्बल ओढ़ने पर उनके बीच बहुत-सी हवा फँसी रह जाती है, और ऊन की अपेक्षा हवा कहीं ज्यादा कुचालक है। यही कारण है कि ऊनी कोट पहनने की अपेक्षा ऊनी शाल ओढ़ने पर हमें ठण्ड कम लगती है। शाल के साथ हम बहुत-सी हवा भी अपने चारों ओर लपेट लेते हैं। इसी कारण से कम्बल में लिपटी हुई बर्फ भी जल्दी नहीं पिघलती।

हद दर्जे की ठण्ड पहुँचाने पर हवा भी द्रव रूप धारण कर लेती है। द्रव हवा बहुत ठण्डी होती है। यदि द्रव हवा में आपकी उँगलियाँ डुबो दी जायँ तो वे ठिठुरकर एकदम सुन्न पड़ जायँगी और जरा-सा झटका लगते ही वे टूटकर हाथ से अलग जा गिरेंगी। किन्तु ऐसी खतरनाक द्रव हवा को जब हम अपनी हथेली पर उँडेलते हैं तो हमें बहुत ज्यादा ठण्ड नहीं मालूम होती, क्योंकि हथेली के स्पर्श में आते ही शरीर की गरमी से नीचे की थोड़ी-सी द्रव हवा गैस रूप धारण कर लेती है। अब चूँकि ऊपर की ठण्डी द्रव हवा और हमारी हथेली के बीच में गैस रूप में हवा की एक पतली-सी तह मौजूद है और यह हवा ऊष्मा की नितान्त कुचालक है, इस कारण हमारी हथेली का ताप
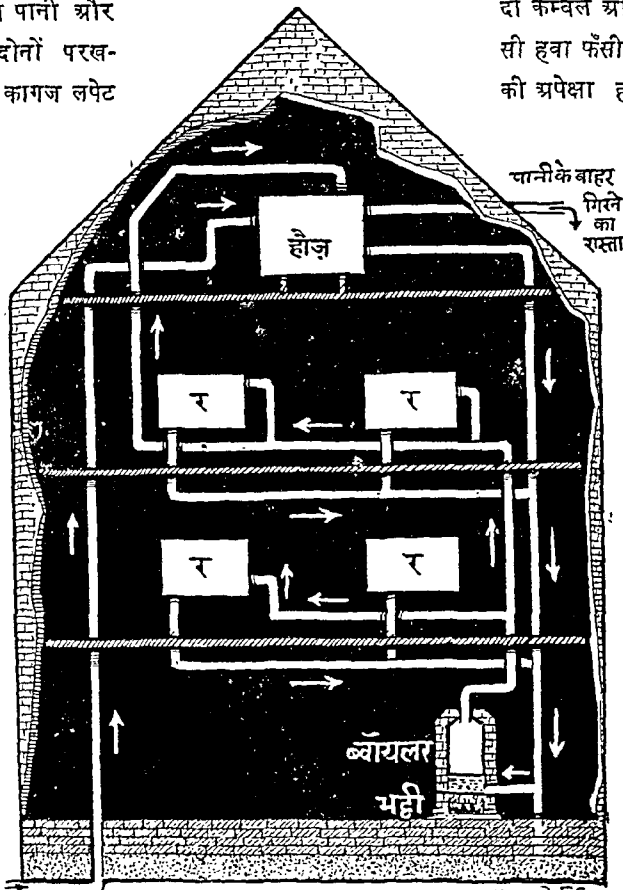
संवहन के प्रयोग से घर को गरम बनाये रखने की योजना

इस चित्र में गरम पानी की संवहन-धारा द्वारा समूचे घर को रेडिएटरों (र) की मदद से गरम करने का प्रबंध दिखाया गया है।

निकल नहीं पाता और फलतः हमें कुछ बहुत-ज्यादा ठण्ड मालूम नहीं होती।

हमने देखा है कि द्रव और गैस दोनों ही ऊष्मा के कुचालक हैं। गैसों में भी द्रव की भाँति ही संवहन धाराएँ बन जाती हैं। पानी से भरी हुई तश्तरी में एक जलती हुई मोमबत्ती खड़ी रख दीजिए। अब तश्तरी में ही शीशे की एक लम्बी चिमनी इस तरह खड़ी कीजिए कि मोमबत्ती चिमनी के बीच में आ जाय। मोमबत्ती कुछ ही सैकण्ड के अन्दर बुझ जाती है। इसी प्रयोग को अब फिर दुहराइए। इस बार ऊपर चिमनी पर 'T' की शक्ल का एक दफ्ती का टुकड़ा इस तरह रखिए कि 'T' का निचला सिरा चिमनी में आधी दूर तक पहुँचे। आप देखेंगे कि अब मोमबत्ती बिना किसी रुकावट के जलती रहती है, क्योंकि इस बार आपने चिमनी के अन्दर संवहन-धारा जारी रखने के लिए सुविधा कर दी है। दफ्ती के एक ओर से ताजी और ठण्डी हवा चिमनी के अन्दर प्रवेश करती है और दूसरी ओर से गरम और दूषित वायु हलकी होने के कारण निकलकर बाहर भागती है (दे० पृ० ८८४ के चित्र में नं० ७)।

ऊष्मा परिचालन का भाँति-भाँति से उपयोग

डिट्ज लालटेनों में नीचे कल्ले के पास अनेक छिद्र बने होते हैं। इन्हीं में से होकर लालटेन के अन्दर ताजी हवा प्रवेश करती है और चिमनी के ऊपर बने हुए सूराखों के रास्ते गरम और दूषित वायु बाहर निकलती है (दे० पृष्ठ ८८४ के चित्र में नं० १०)। यदि नीचेवाले सूराखों को कागज की मदद से बन्द कर दिया जाय तो लालटेन कुछ ही क्षणों में बुझ जाती है, क्योंकि चिमनी के अन्दर ताजी हवा के प्रवेश करने के लिए कोई रास्ता बाकी नहीं रह जाता। ऊपर का सूराख बन्द करने पर भी लालटेन बुझ जाती है, क्योंकि दूषित हवा के बाहर जाने का रास्ता अब बंद हो गया है।
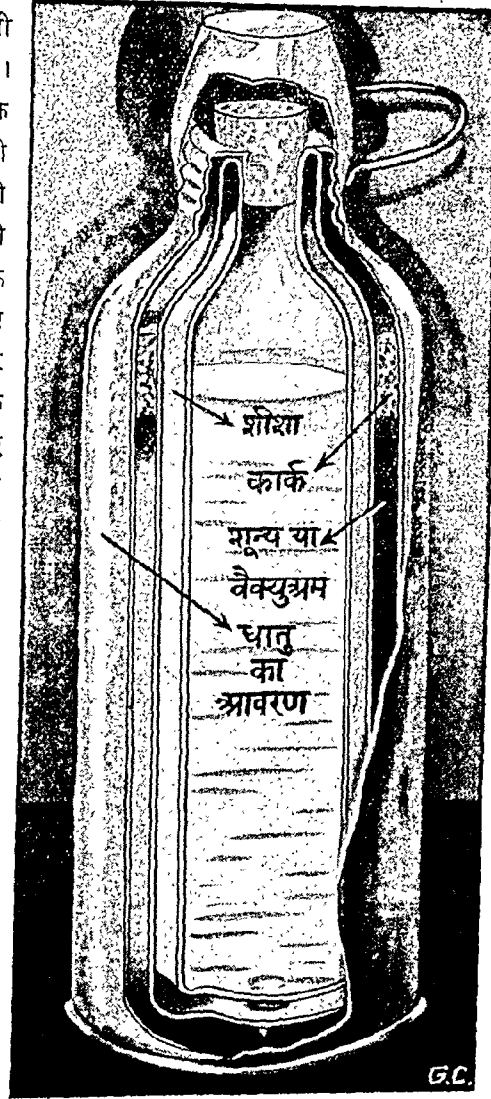
थर्मस फ्लास्क

संचालन, संवहन और विकिरण तीनों के सिद्धान्त की भित्ति पर बनाई गई 'थर्मस बोतल' चाय, बर्फ आदि को रखने के लिए आज के दिन घर-घर प्रचलित हो गई है।

इसी सिद्धान्त पर खानों के अन्दर ताजी हवा पहुँचाने का प्रबंध किया जाता है। प्रत्येक खान में कम-से-कम दो कुएँ गलाए जाते हैं। इनमें से एक के नीचे निरन्तर आग जलती रहती है। अतः यहाँ की हवा गरम होकर एक कुएँ के रास्ते ऊपर उठती है और दूसरे कुएँ से ताजी और अपेक्षाकृत ठण्डी हवा नीचे खान में प्रवेश करती है। इस प्रकार खान के अंदर अबाध रूप से ताजी हवा की संवहन-धारा चलती रहती है।

कमरों के अन्दर ताजी हवा पहुँचाने के लिए ऊपर छत के पास रोशनदान (वेन्टीलेटर) बनाये जाते हैं। हमारे शरीर से निकली हुई गरम हवा इन्हीं वेन्टीलेटरों से होकर बाहर निकल जाती है और ताजी हवा खिड़कियों और दरवाजों के रास्ते कमरे के अन्दर प्रवेश करती है। ठण्डे देशों में गरम पानी की संवहन-धारा से समूचे घर को गरम रखते हैं। पानी को एक बड़े बर्तन में गरम करते हैं---इस बर्तन से गरम पानी एक नली द्वारा ऊपर चढ़ता है। घर के भिन्न-भिन्न कमरों में गरमी पहुँचने के उपरान्त ठण्डा होकर यही पानी एक दूसरे रास्ते से बर्तन के अन्दर वापस लौट आता है (दे० पृ० ८८७ का चित्र)।

मोटरकार के इंजिन को ठण्डा रखने के लिए भी ठण्डा पानी काम में लाते हैं। इंजिन के चारों ओर घूमकर गरम पानी जब रेडिएटर में पहुँचता है तो हवा के झोंके से वह फिर ठण्डा हो जाता है और इंजिन

का चक्कर लगाने के लिए फिर वापस जाता है (देखिए पृष्ठ ८८४ के चित्र में नं० ३) ।

उष्ण कटिबन्ध में समुद्र का जल ध्रुव प्रदेशों के जल की अपेक्षा गरम रहता है, अतः गरम पानी विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर सतह के ऊपर-ऊपर जाता है, और ध्रुवों से ठण्डे पानी की धारा पानी की सतह के नीचे-नीचे विषुवत् रेखा की ओर आती है। 'गल्फ स्ट्रीम' विषुवत् रेखा की ओर से आती हुई इंगलैंड के समुद्रतट से गुजरती है, फलस्वरूप इंगलैंड का जलवायु अधिक ठण्डा नहीं होने पाता।

थाली में परसे हुए गरम भोजन की महक कमरे भर में फैल जाती है, क्योंकि भोजन-सामग्री से उठते हुए कण गरम हवा के साथ ऊपर जाकर कमरे में इधर-उधर फैल जाते हैं।

दिन को धूप के कारण समुद्रतट की जमीन का तापक्रम पानी के तापक्रम की अपेक्षा ऊँचा चढ़ जाता है, अतः जमीन की हवा गरम होकर ऊँची उठती है और समुद्र की ओर से अपेक्षाकृत ठण्डी हवा तट की ओर चलती रहती है। शाम को सूर्यास्त के समय ज़मीन और समुद्र दोनों ही अपनी ऊष्मा खोते हैं, किन्तु इस क्रिया में जमीन पानी की अपेक्षा शीघ्र ठण्डी हो जाती है, अतः अब तट की ओर से समुद्र की ओर हवा चलने लगती है। मछुए समुद्री और स्थल की हवा के सहारे समुद्र में मछली फँसाने के लिए चले जाते और सूर्योदय होते ही समुद्री हवा की मदद से फिर तट पर वापस आ जाते हैं (पृ० ८८४ के चित्र में ४-५) ।

विकिरण द्वारा ऊष्मा का परिचालन

अब ऊष्मा के परिचालन की तीसरी विधि पर हम आते हैं। इस विधि में बीच के पदार्थों को गरम किए बिना ही ऊष्मा एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाती है। एकदम शून्य (वैकुअम) में से होकर ऊष्मा का परिचालन श्रेष्ठतम होता है। शून्य में होकर गुजरने में ऊष्मा की शक्ति का कोई भी अंश क्षीण नहीं होने पाता। किन्तु ऊष्मा जब किसी भौतिक पदार्थ में से होकर गुजरती है तो इसका कुछ अंश तो उस पदार्थ में विलीन होकर ताप को बढ़ाता, कुछ उस पदार्थ के धरातल से छलककर वापस लौट जाता है; और शेष उस पदार्थ को पार करके आगे बढ़ जाता है। शीशा, हवा, पानी आदि पारदर्शक पदार्थों में से होकर विकीर्ण ऊष्मा आसानी से गुजर जाती है; इस क्रिया में ये पदार्थ तनिक भी गरम नहीं हो पाते। आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियों को जब कागज के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो वह कागज तप्त होकर जल उठता है, किन्तु आतशी शीशे को छूकर देखिए तो वह स्वयं ठण्डा ही मालूम पड़ता है! सूर्य की किरणें आतशी शीशे को पार तो कर गईं, किन्तु उन्होंने शीशे को गरम नहीं किया! यदि बर्फ के बने हुए लेन्स से सूर्य-रश्मियाँ केन्द्रीभूत की जायँ तो भी कागज का टुकड़ा जल जायगा, यद्यपि बर्फ के पिघलने की भी नौबत न आयगी! (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। यदि अँगीठी के सामने दफ्ती का टुकड़ा रख दिया जाय तो विकीर्ण ऊष्मा एकदम रुक-सी जाती है, इससे स्पष्ट है कि हमारे पास अँगीठी से ऊष्मा संवहन-धारा द्वारा नहीं आती है, क्योंकि दफ्ती के नीचे-ऊपर से होकर भी संवहन-धारा द्वारा हमारे पास ऊष्मा का पहुँचना सम्भव हो सकता था। साथ ही हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि विकीर्ण ऊष्मा केवल सीधी रेखाओं के मार्ग से आगे बढ़ सकती है। चालन या संवहन में यह शर्त लागू नहीं होती।

विकिरण द्वारा ऊष्मा के परिचालन संबंधी एक प्रयोग

आतशी शीशे से सूर्य-रश्मियों को जब कागज के टुकड़े पर केन्द्रीभूत करते हैं तो कागज तप्त होकर जल उठता है—उसमें से धुँआ निकलने लगता है! परन्तु आतशी शीशा स्वयं ठंडा ही रहता है!

साधारण हवा विकीर्ण ऊष्मा के लिए लगभग पूर्णतया पारदर्शक है। किन्तु पानी की भाप या बादल विकीर्ण ऊष्मा को काफी मात्रा में रोककर अपने में विलीन कर लेते हैं। इसी कारण जिस रात को आसमान में बादल छाये रहते हैं, बड़ी उमस रहती है। उस रात को पृथ्वी की गरमी विकीर्ण होकर ऊपर आसमान में विलीन नहीं होने पाती। कुछ बादल में विलीन हो जाती है और कुछ बादलों से

प्रक्षालित होकर वापस पृथ्वी पर ही लौट आती है। चन्द्रमा के वायुमण्डल में पानी की भाप नहीं है, अतएव वहाँ धूप में धरातल बेहद तपकर जलने लगता है। रात को चन्द्रमा की अधिकांश गरमी शून्य वातावरण में से होकर आसानी से निकल जाता है, अत: उसका धरातल उस समय खूब ठण्डा हो जाता है।

शीशे में से होकर सूर्य की विकीर्ण ऊष्मा आसानी से गुजर सकती है, किन्तु कम गरम विकीर्ण ऊष्मा शीशे को पार नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त पर इंगलैंड-सरीखे ठण्डे देशों में शीशे की दीवालों से घेरकर वाटिकाएँ बनाई जाती हैं। ऐसी वाटिकाओं में गरम देशों के पौधे भी लगाये जाते हैं। सूर्य की विकीर्ण ऊष्मा शीशे को पार करके इस वाटिका में प्रवेश कर सकती है, किन्तु वाटिका के अन्दर से ऊष्मा शीशे को पार करके बाहर नहीं जा पाती, अत: बाहर की अपेक्षा शीशे के कठघरे के अन्दर कम सर्दी रहती है और उपयुक्त गरमी पाकर इसके अन्दर गरम देशवाले पेड़-पौधे भी अच्छी तरह पनपते हैं।

चालन और संवहन दोनों में ही ऊष्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में काफी समय लगता है, किन्तु विकीर्ण ऊष्मा का परिचालन अत्यन्त ही तीव्र वेग से होता है। दुपहरी को आसमान में सूर्य के सामने बादल आए नहीं कि हमें एकदम ठण्ड लगी, और ज्यों ही बादल हटे कि सूर्य की विकीर्ण ऊष्मा पुन: पृथ्वी पर पहुँच जाती है। वास्तव में विकीर्ण ऊष्मा की गति १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड है। सूर्य पृथ्वी से लगभग सवा नौ करोड़ मील की दूरी पर है, किन्तु इस लम्बे फासले को तय करने में विकीर्ण ऊष्मा को केवल लगभग आठ मिनट लगते हैं!

विकीर्ण ऊष्मा को सभी पदार्थ समान मात्रा में विलीन नहीं करते। धूप में काले रंग का खादी का कोट पहनकर चलिए तो पीठ गरमी के मारे जलने-सी लगती है, किन्तु उसी समय यदि सफेद रंग का रेशमी कोट पहनकर बाहर निकलिए तो उतनी गरमी मालूम न होगी (देखिए पृ० ८८४ के चित्र में नं० ९)। रंग की खुरदरी वस्तुएँ विकीर्ण ताप को अच्छी तरह सोखती हैं, किन्तु सफेद रंग की चमकदार पालिशवाली वस्तुओं के अन्दर विकीर्ण ऊष्मा कम विलीन हो पाती है। जाड़े की ऋतु में काले कपड़े इसी कारण पहने जाते हैं कि विकीर्ण ऊष्मा कपड़ों में खूब जज्ब हो जाय।

चूल्हे पर चढ़ाये जानेवाले बर्तनों के पेंदे पर काली राख की एक पतली तह चढ़ा दी जाती है, ताकि चूल्हे की आँच की गरमी बर्तन के अन्दर आसानी से समा जाय।

ऊष्मा सभी वस्तुओं से चारों ओर विकीर्ण होती है। रात के अँधेरे में गरम चिमटा मुँह के पास ले आइए तो उसकी आँच आप फौरन् जान सकेंगे। जो वस्तु जितने ऊँचे ताप पर होगी उतनी ही अधिक ऊष्मा उससे विकीर्ण होगी। किन्तु विकीर्ण ऊष्मा की मात्रा विकिरक के अकेले ताप पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि उसके धरातल की अवस्था पर भी। यदि दो विभिन्न वस्तुएँ एक से ही ताप पर हैं, किन्तु एक का धरातल चिकना, सफेद और चमकदार है और दूसरे का काला और खुरदरा, तो चिकनी वस्तु से कम ऊष्मा विकीर्ण होगी और खुरदरी से अधिक। अर्थात् जो पदार्थ विकीर्ण ऊष्मा कम सोखते हैं, वे स्वयं भी कम ऊष्मा अपने में से विकीरित कर पाते हैं। रेलगाड़ी के इंजिन में जिस नली में होकर ब्वॉयलर से भाप सिलिण्डर में जाती है, उस नली को फायरमैन प्रतिदिन पालिश से माँजकर चमाचम रखता है, ताकि उसके अन्दर से भाप की गरमी विकीर्ण न हो जाय।

थर्मस बोतल का सिद्धान्त

चालन, संवहन और विकिरण इन तीनों क्रियाओं का भली भाँति अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने 'थर्मस बोतल' का निर्माण किया है। थर्मस बोतल का प्रयोग आजकल लगभग सभी घरों में होने लगा है। इस बोतल के भीतर से न तो ऊष्मा बाहर निकल सकती है और न बाहर से ऊष्मा भीतर को प्रवेश कर सकती है। इसीलिए इस बोतल में रखी हुई चाय आदि बहुत देर तक गरम बनी रहती है और इसके अन्दर रखी हुई बर्फ भी जल्दी नहीं पिघलती। इस बोतल के निर्माण में इस बात की पूरी सावधानी रखी गई है कि ऊष्मा का प्रवाह चालन, संवहन या विकिरण किसी भी तरीके से बोतल में से होकर बाहर न जाने पाए।

थर्मस फ्लास्क में दुहरी दीवाल की एक बोतल होती है। भीतर और बाहर की दीवालों के बीच की हवा पम्प द्वारा निकाल ली गई होती है—अत: इन दोनों दीवालों के बीच केवल शून्य रहता है। उनके बीच भौतिक पदार्थ न रहने के कारण चालन या संवहन में से कोई भी क्रिया जारी नहीं हो सकती। अवश्य विकीर्ण ताप शून्य में से होकर आ जा सकता है। इस क्रिया को रोकने के लिए इन दोनों दीवालों के भीतरी धरातल पर दर्पण की भाँति पालिश कर देते हैं। आलोक-रश्मियों की भाँति ऊष्मा की रश्मियाँ भी चमकदार धरातल पर पड़ते ही उलटी वापस हो जाती हैं। इस प्रकार बोतल के भीतर का ताप घंटों एकसाँ बना रहता है (देखिए पृ० ८८८ का चित्र)।

आलस्यमयी नाइट्रोजन गैस

नाइट्रोजन परिमाण की दृष्टि से पृथ्वी का एक उपेक्षणीय मूल तत्त्व और रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से एक आलसी गैस है, तथापि जीवधारियों के जगत् में वह बड़े महत्त्व का कार्य करती है। इस और आगे के कुछ प्रकरणों में इस महत्त्वपूर्ण मूल तत्त्व का विस्तृत रूप से परिचय कराया गया है।

आजकल प्रायः प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है कि हवा में मुख्यतः दो गैसें रहती हैं—ऑक्सिजन और नाइट्रोजन। जैसा कि ऑक्सिजन के अध्याय में कहा जा चुका है, वस्तुओं का हवा में जलना, उनमें जंग लगना अथवा साँस द्वारा प्राणियों के जीवन का संचालन, आदि प्रक्रियाएँ ऑक्सिजन के संयोग द्वारा ही संभव होती हैं। इसीलिए ऑक्सिजन हवा की क्रियाशील गैस कहलाई। नाइट्रोजन स्वयं इन क्रियाओं में कोई भाग नहीं लेती; वह तो अपने आलस्य के प्रभाव से ऑक्सिजन की संयोगात्मक उग्रता को भी मंदतर कर देती है। इन क्रियाओं में ऑक्सिजन का अणु दूल्हे की भाँति अपनी भावी वधू से संयुक्त होने के लिए तत्पर रहता है, किन्तु नाइट्रोजन के अणु बारातियों की भाँति केवल उसके साथ रहनेवाले होते हैं। ऑक्सिजन का अणु तो यौगिक-रूपी दंपति के रूप में परिणत हो जाता है, लेकिन नाइट्रोजन जैसी की तैसी रह जाती है। परंतु तब भी ऑक्सिजन के साथ नाइट्रोजन की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक होती है; उसके बिना तो ऑक्सिजन अत्याचार ढा देती (देखिए पृष्ठ ४६७ का चित्र)।

नाइट्रोजन की निष्क्रियता

हवा में मिश्रित ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसों के उपर्युक्त रासायनिक वर्ताव को हम निम्न प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं :—

मोमबत्ती, दीपक आदि कोई भी जलती हुई वस्तु को किसी समतल स्थान पर रख दीजिए, और उस पर एक शीशे का बेलजार (इसी पृष्ठ का चित्र देखिये) अथवा कोई अन्य उपयुक्त वर्तन औंधा दीजिए, जिससे हवा उसके अन्दर न जा सके। कुछ ही सैकंडों में उसकी लौ कम हो जायगी और वह बुझ जायगी। इसका कारण यह है कि ऑक्सिजन जलती हुई वस्तु से संयुक्त होकर समाप्त हो जाती है, और बची हुई नाइट्रोजन क्रियाहीन होने के कारण जलने में साधक नहीं होती।

श्वास के द्वारा जो ऑक्सिजन हमारे फेफड़ों में पहुँचती है, वह रक्त-संयुक्त कार्बन को जलाकर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के रूप में लौट जाती है; लेकिन नाइट्रोजन के अणु यहाँ भी ऑक्सिजन की उच्छृंखलता को रोकने के अलावा और कोई कार्य नहीं करते। यदि एक चूहे को समतल स्थान पर रखकर उसके ऊपर एक बेलजार औंधा दें तो कुछ ही देर में उसका दम घुट जायगा और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)।
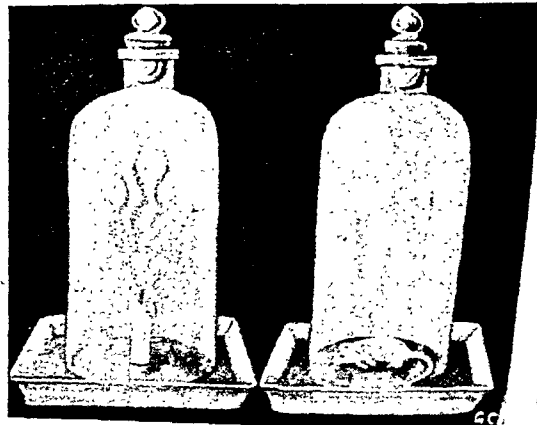
हवा में मिश्रित ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसों का रासायनिक आचरण
(बाईं ओर) मोमबत्ती का प्रयोग; (दाहिनी ओर) चूहे पर प्रयोग।

बेलजार की बची हुई हवा में मुख्यतः नाइट्रोजन और (फेफड़े में ऑक्सिजन के संयोग से बनी हुई) कार्बन

डाइ-ऑक्साइड* गैसें ही पाई जायँगी। ऑक्सिजन के समाप्त होने पर नाइट्रोजन आदि गैसें जीवन का संचालन नहीं कर सकतीं। वास्तव में दीपक या मोमबत्ती के जलने तथा जीवन के संचालन में रासायनिक दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं हैं। कवियों की दीपक अथवा शमा से जीवन की उपमा में कोरी कल्पना ही नहीं, वैज्ञानिक सत्य की भी विद्यमानता है!

हवा में नाइट्रोजन की मात्रा

हम पहले यह बता चुके हैं कि हवा के पाँच आयतनिक भागों में चार भाग नाइट्रोजन का है और लगभग एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। यह अनुपात प्रयोगशाला में सरलता से प्रदर्शित किया जा सकता है—

एक वेलजार पर साधारण पेंसिल द्वारा अथवा कागज चिपकाकर बराबर दूरी पर पाँच निशान बना लीजिए। इस वेलजार को खोलकर एक शीशे के तसले में रखिए और उसमें इतना पानी भरिए कि वह वेलजार के सबसे नीचेवाले निशान तक आ जाय। अब फास्फोरस का एक छोटा-सा टुकड़ा सावधानी से पानी के भीतर ही काटिए, क्योंकि हवा में वह सुलग जाता और कभी-कभी गरमी पाकर जलने लगता है। इस टुकड़े को ब्लॉटिंग पेपर पर सुखाकर एक छोटी-सी चीनी की प्याली में रख दीजिए। वेलजार को हटाकर उस प्याली को पानी पर तैरा दीजिए और उसके ऊपर वेलजार को सावधानी से रख दीजिए (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)। अब एक गरम तार द्वारा फास्फोरस के टुकड़े को छूकर वेलजार में तुरंत डाट लगा दीजिए। फास्फोरस वेलजार के अन्दर सफेद धुआँ देता हुआ जलने लगता है, जो 'फास्फोरस पेंटॉक्साइड' नामक यौगिक का होता है। यह श्वेत पदार्थ या तो पानी में घुलने अथवा वेलजार के भीतरी पृष्ठों पर जमने लगता है। फास्फोरस से संयुक्त होती हुई ऑक्सिजन का स्थान लेने के लिए पानी ऊपर चढ़ने लगता है। उसके बुझ जाने के बाद तसले में इतना पानी और भरिए कि पानी के बाहरी और भीतरी तल बराबर हो जाएँ। ऐसा करने से वेलजार में बची हुई गैस का दबाव फिर वायुमण्डल के दबाव के बराबर हो जाता है, और यह देखा जाता है कि वेलजार के भीतर पानी पहले निशान से दूसरे तक आ गया। इससे यह सिद्ध होता है कि हवा के पाँच आयतनिक भागों में एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन का रहता है, जिसके लुप्त होने से उसके स्थान में पानी आ जाता है। बचे हुए चार आयतनिक भाग प्रायः नाइट्रोजन गैस के होते हैं। इस बची हुई गैस के अन्दर एक जलती हुई खपची अथवा दियासलाई ले जाने से वह तुरंत बुझ जाती है। इस प्रयोग में फास्फोरस इसीलिए उपयुक्त होता है कि उससे यह प्रदर्शन शीघ्रता और सुगमता से हो जाता है। यदि हमें इस समय की परवा न हो तो इसी प्रयोग को जंग लगने की मंद रासायनिक क्रिया द्वारा भी कर सकते हैं।

हवा में नाइट्रोजन और ऑक्सिजन के आयतनिक भागों का अनुपात
(बाईं ओर) वेलजार में फास्फोरस जलाकर किया गया प्रयोग; (दाहिनी ओर) जंग लगने की मंद रासायनिक क्रिया का प्रयोग। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए इसी पृष्ठ का मैटर)।

शीशे की एक इतनी लंबी छड़ लीजिए कि वह वेलजार के अन्दर सुगमता से टिकाकर रखी जा सके। इस छड़ के एक सिरे पर मलमल के एक टुकड़े में लोहे का थोड़ा-सा भीगा हुआ बुरादा बाँध दीजिए। फिर इस छड़ को उपर्युक्त प्रयोग की फास्फोरस की प्याली के स्थान पर वेलजार में इस प्रकार टिकाकर रख दीजिए, जिससे पोटली ऊपर हवा में रहे। फिर वेलजार को डाट लगी हुई डाट से बंद करके पूरे उपकरण को एक सप्ताह तक अलग रखे रहने दीजिए (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)। आप देखेंगे कि वेलजार के भीतर पानी धीरे-धीरे चढ़ता रहता है,

* कार्बन डाइ-ऑक्साइड की उपस्थिति हम चूने के पानी द्वारा पहचान सकते हैं। वेलजार के अंदर थोड़ा साफ पानी छोड़कर उसे हिला दीजिए। यदि उसके भीतर कार्बन डाइ-ऑक्साइड है तो वह दूध-जैसा श्वेत हो जायगा।
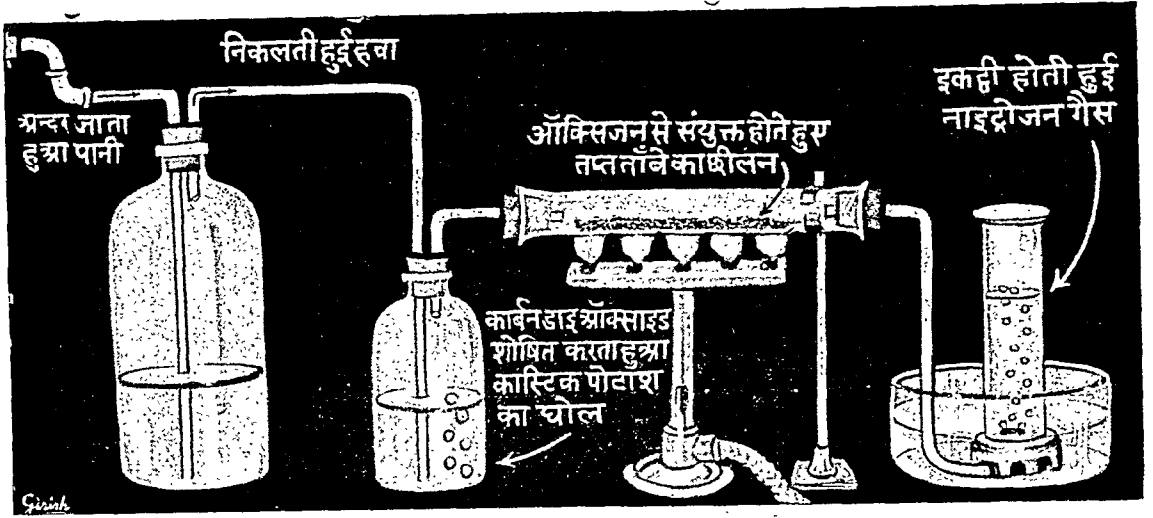
प्रयोगशाला में नाइट्रोजन का उत्पादन—(१)

नल से एक बोतल में धीरे-धीरे पानी आता रहता है, और उसकी हटती हुई हवा कास्टिक पोटाश के घोल में बुलबुलाई जाती है, जिससे उसका कार्बन डाइ-ऑक्साइड पोटाश में शोषित हो अलग हो जाय। यह हवा ताँबे के तप्त छीलन पर प्रवाहित होती है। इससे ऑक्सिजन विलग हो जाती है और बची हुई नाइट्रोजन जारों में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी हो जाती है।

और उसी प्रकार पाँच आयतनों में एक आयतन घेर लेता है। बची हुई गैस के गुणों की परीक्षा करने पर वह नाइट्रोजन सिद्ध होती है। लोहे के छीलनों को भिगो लेना इसलिए आवश्यक है कि पानी जंग लगने की क्रिया का उत्प्रेरक होता है। उसकी अनुपस्थिति में जंग नहीं लगती।

वायुमंडल में नाइट्रोजन स्वतंत्र रूप में रहती है, लेकिन संयुक्त रूप में भी उसका अस्तित्व अनेक वस्तुओं में होता है। सारे नाइट्रेट और अमोनियम लवण नाइट्रोजन से युक्त होते हैं। सोडियम नाइट्रेट (चिली साल्टपीटर अथवा चिलियन शोरा) दक्षिणी अमेरिका के चिली देश में बहुत बड़े परिमाण में मिलता है, और ख़ाद के रूप में अनेक देशों में उपयुक्त होता है। चिली की खानों से प्रति वर्ष लगभग २५ लाख टन शोरा निकालकर बाहर भेजा जाता है। भारतवर्ष में पोटैशियम नाइट्रेट (नाइटर अथवा शोरा) अधिकता से मिलता है। इसके अलावा नाइट्रोजन प्राणियों और वनस्पतियों के कलेवरों में व्यापक रूप से विद्यमान है। इनके कलेवरों के प्रोटीन नामक महत्वपूर्ण अवयव नाइट्रोजन के ही यौगिक होते हैं। इतना होते हुए भी सारी पृथ्वी में नाइट्रोजन मूल तत्त्व का अंश बहुत ही थोड़ा है। १२ प्रधान मूल तत्त्वों को छोड़कर जो शेष मूल तत्त्व पृथ्वी के १% अंश में रहते हैं, उनमें से नाइट्रोजन भी है (देखिए पृ० ९२-९३)। फिर भी इतनी ही नाइट्रोजन चक्ररूप में जड़ और जैव पदार्थों में घूम-फिरकर महान् क्रीड़ाएँ किया करती है। हम जीवधारियों के लिए नाइट्रोजन कितना महत्वपूर्ण और उपयोगी मूल तत्त्व है, इसका पूरा अनुमान सरलता से नहीं किया जा सकता।

नाइट्रोजन की खोज

डेढ़ सौ वर्ष के कुछ ही पहले तक मनुष्य इस गैस से परिचित न था। सन् १७७२ ई० में एडिनबरा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेनियल रदरफर्ड से इसका प्रथम परिचय हुआ। रदरफर्ड ने एक बंद बेलजार में कुछ चुहियों को रक्खा, और श्वास द्वारा बनी हुई कार्बन डाइ-ऑक्साइड को कास्टिक सोडा नामक क्षार के घोल में शोषित कर लिया। इस प्रकार एक ऐसी गैस बच रही, जिसमें न वस्तुएँ जल ही सकती थीं और न जीवन ही संभव था। उसी साल शीले और प्रीस्टली नामक वैज्ञानिकों ने भी स्वतंत्र रूप से बंद हवा में कोयला जलाकर नाइट्रोजन का आविष्कार किया। रदरफर्ड ने इस गैस को 'मेफिटिक एअर' (अर्थात् गंदी वायु) नाम दिया, शीले भी ने उसे 'फाउल एअर' (अर्थात् गंदी वायु) कहा, और लवॉयसियर ने उसे 'एजोट' (अर्थात् जीवनहीन) कहकर पुकारा। इन सभी नामों का अर्थ है ऐसी गैस, जो दहन अथवा जीवन की साधक न हो। सन् १७९० में चैप्टेल ने उसका नाम नाइट्रोजन रक्खा, क्योंकि उसका अस्तित्व नाइटर (शोरे) में होता है।

प्रयोगशाला में नाइट्रोजन कैसे तैयार की जाती है ?

प्रयोगशाला में नाइट्रोजन हवा से अथवा नाइट्रोजन के कुछ यौगिकों से तैयार की जाती है। हवा से नाइट्रोजन या तो बेलजार में फास्फोरस जलाकर निकाली जाती है; या एक दूसरी सुगम रीति यह है कि हवा धीरे-धीरे तांबे के रक्ततप्त छीलनों के ऊपर से प्रवाहित कर दी जाती है। हवा की ऑक्सिजन तांबे से संयुक्त होकर ताम्रिक ऑक्साइड बनाती रहती है, और बची हुई नाइट्रोजन बाहर निकलती रहती है (देखिए पृ० ८९३ का चित्र)। पानी के नल से एक बोतल में धीरे-धीरे पानी आता रहता है, और उसकी हटती हुई हवा पहले कास्टिक पोटाश के घोल में बुलबुलाई जाती है, जिससे उसका कार्बन डाइ-ऑक्साइड पोटाश में शोषित होकर अलग हो जाय। फिर यह हवा तांबे के रक्ततप्त छीलनों पर प्रवाहित होती है और बची हुई नाइट्रोजन गैस-जारों में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है।

किंतु हवा से निकली हुई यह नाइट्रोजन सर्वथा शुद्ध नहीं होती। न्यूनांशों में इसमें आर्गन, क्रिप्टन, जीनन, हिलियम और निऑन नामक निष्क्रिय गैसें मिली रहती हैं। प्रयोगशाला में शुद्ध नाइट्रोजन उसके कुछ यौगिकों के विच्छेदन द्वारा तैयार की जाती है। सबसे सुविधाजनक विधि में लगभग १० ग्राम शुद्ध नौसादार (अमोनियम क्लोराइड) और १५ ग्राम सोडियम नाइट्राइट (अथवा पोटैशियम नाइट्राइट) एक फ्लास्क में ले लिए जाते हैं, और उसमें कुछ पानी डालकर उनका घोल बना लिया जाता है। इसे धीरे-धीरे गरम करने पर नाइट्रोजन गैस निकलने लगती है, और वह पानी को नीचे हटाकर गैस-जारों में भर ली जाती है। अमोनियम क्लोराइड और सोडियम नाइट्राइट की प्रतिक्रिया में अणुभागों के विनिमय द्वारा अमोनियम नाइट्राइट और सोडियम क्लोराइड नामक यौगिक बन जाते हैं। अमोनियम नाइट्राइट एक अस्थिर यौगिक होता है और गरम होते ही नाइट्रोजन और पानी में विच्छेदित हो जाता है—

$$NH_4NO_2 \longrightarrow N_2 + 2H_2O$$

अमोनियम नाइट्राइट का एक अणु	नाइट्रोजन के एक अणु और	पानी के दो अणुओं में विच्छेदित हो जाता है
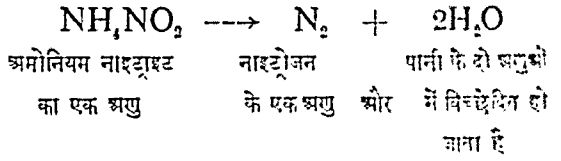
अधिक परिमाण में नाइट्रोजन गैस हवा के द्रवीकरण द्वारा तैयार की जाती है। इसका दिग्दर्शन हम ऑक्सिजन के अध्याय में करा चुके हैं। पृष्ठ ८९७ पर दिए गए चित्र में उसकी विधि विस्तारपूर्वक प्रदर्शित की गई है। जो हवा द्रवित होने से बच रहती है, वह या तो एक दूसरी सर्पिल नली से लौट जाती है, जो पहली सर्पिल नली के बाहर ही बाहर जाती है, या एक ऐसे बेलनाकार मार्ग से लौटती है, जिसके भीतर पहली सर्पिल नली रखी रहती है।
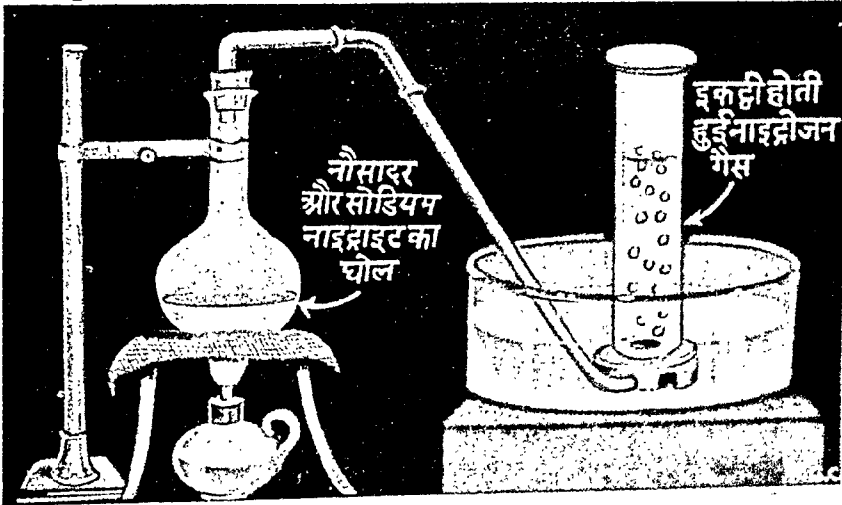
प्रयोगशाला में नाइट्रोजन का उत्पादन—(२)

एक फ्लास्क में १० ग्राम शुद्ध नौसादर और १५ ग्राम सोडियम नाइट्राइट का पानी के साथ घोल बनाकर उसे गरम करते हैं। शुद्ध नाइट्रोजन निकलकर गैसजार में भर जाती है।

पृ० ८९७ पर प्रदर्शित रेखाचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊँचे दबाव से एकाएक मुक्त होने के कारण (जूल-टाम्सन के सिद्धान्तानुसार) और लौटती हवा से अधिकाधिक ठंडी होती रहने के कारण सर्पिलों में हवा का ताप लगातार घटता ही जाता है, यहाँ तक कि वह द्रवित होकर इकट्ठी होने लगती है। इस द्रवीभूत हवा का ताप एक विशेष रीति से इतना बढ़ाया जाता है कि नाइट्रोजन, अधिक वाष्पशील होने के कारण, गैस में

बदलकर निकल आती है और ऑक्सिजन द्रवरूप में शेष रह जाती है।

नाइट्रोजन के गुण

नाइट्रोजन एक रंगहीन, गंधहीन और स्वादहीन गैस होती है। पानी में वह बहुत कम घुलती है। हवा से वह कुछ-कुछ हलकी, लेकिन हाइड्रोजन से १४ गुनी भारी होती है। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन की भांति नाइट्रोजन का भी प्रत्येक अणु उसके दो-दो परमाणुओं के संयोग से बना होता है। इसीलिए उसका अणुसूत्र N_2 लिखते हैं।

जैसा हम ऊपर देख चुके है, नाइट्रोजन गैस न तो अन्य वस्तुओं के साथ सरलता से संयुक्त होती है, और न वह दहन अथवा जीवन की साधिका ही होती है। किन्तु वह विषाक्त नहीं होती; ऑक्सिजन की अनुपस्थिति ही जीवन की घातक होती है, नाइट्रोजन की उपस्थिति नहीं। रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से नाइट्रोजन एक आलसी गैस है। फिर भी, जब वह किसी-न-किसी प्रकार अन्य वस्तुओं से संयुक्त होती है तो बड़े ही महत्वपूर्ण यौगिकों का निर्माण करती है।

नाइट्रोजन का खाद्य यौगिकों में परिवर्तन

कुछ वनस्पतियों की जड़ों में एक प्रकार की गुत्थियाँ रहती हैं, जिन पर विशेष प्रकार के कीटाणु रहते हैं। ये कीटाणु अपनी जीवन-क्रियाओं द्वारा मिट्टी में मिली हुई नाइट्रोजन को ऐसे यौगिकों में बदलते रहते हैं, जो वनस्पतियों के लिए खाद्य हों।

नाइट्रोजन के यौगिक

ऊँचे तापक्रम पर बिजली की चिनगारियों के प्रभाव से नाइट्रोजन न्यूनांशों में ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस में परिणत हो जाती है—

$$N_2 + O_2 = 2NO$$

नाइट्रोजन के एक अणु और ऑक्सिजन के एक अणु के संयोग से नाइट्रिक ऑक्साइड के दो अणु बन जाते हैं।
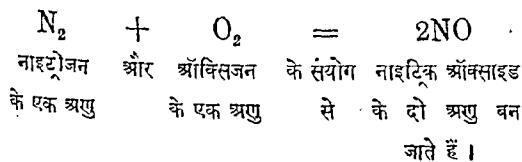
यही प्रतिक्रिया आकाशीय विद्युत् के प्रभाव से अंतरिक्ष में निरंतर हुआ करती है। इस प्रकार बनी हुई नाइट्रिक ऑक्साइड तुरन्त हवा की कुछ और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रोजन परॉक्साइड में परिणत हो जाती है—

$$2\,NO + O_2 = 2\,NO_2$$
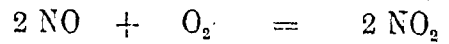
नाइट्रिक ऑक्साइड के दो अणु ऑक्सिजन के एक अणु से मिलकर नाइट्रोजन परॉक्साइड के दो अणुओं में बदल जाते हैं।

यह नाइट्रोजन परॉक्साइड पानी तथा कुछ ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रिक एसिड (शोरे के तेजाब) में बदल जाती है—

$$2\,NO_2 + 2\,H_2O + O_2 = 4HNO_3$$

नाइट्रोजन परॉक्साइड के दो अणु + पानी के दो अणु + ऑक्सिजन का एक अणु = नाइट्रिक एसिड (चार अणु)
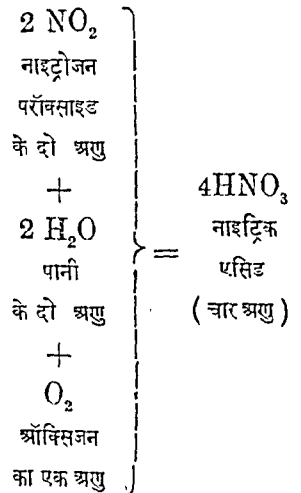
ऐसा कूता जाता है कि चौबीस घंटों में लगभग २,५०,००० टन नाइट्रिक ऐसिड इस प्रकार बनकर तथा पानी में घुलकर पृथ्वी पर उतर आती है। यह ऐसिड रासायनिक क्रिया द्वारा पृथ्वी के कार्बोनेटों और क्षारों को नाइट्रेट नामक लवणों में परिवर्तित कर देती है। सोडियम नाइट्रेट, पोटेशियम नाइट्रेट, कैल्शियम नाइट्रेट और मैग्नेशियम नाइट्रेट, इस प्रकार पृथ्वी में बननेवाले नाइट्रेटों के उदाहरण हैं। इन नाइट्रेटों का धातु-भाग क्षारों और कार्बोनेटों से, और नाइट्रेट भाग (NO_3) नाइट्रिक अम्ल से मिलता है। सोडियम का प्रतीक Na है, इसलिए सोडियम नाइट्रेट का अणुसूत्र $NaNO_3$ लिखा जाता है।

ये नाइट्रेट लवण वनस्पतियों के लिए महत्वपूर्ण भोजन

होते हैं। मिट्टी में मिले हुए इनके घोल को पौधे जड़ों द्वारा शोषित कर लेते हैं और इनसे अपने शरीर के प्रोटीन नामक अवयव बना लेते हैं।

एक दूसरी प्राकृतिक विधि में नाइट्रोजन कीटाणुओं द्वारा संयुक्तावस्था में आती रहती है। कुछ वनस्पतियों, जैसे मटर तथा कुछ अन्य छीमियों के पौधों की जड़ों में एक प्रकार की गुत्थियाँ रहती हैं। इन गुत्थियों पर तथा उनके आसपास कुछ विशेष प्रकार के कीटाणु रहा करते हैं। वास्तव में ये गुत्थियाँ इन्हीं कीटाणुओं की बनाई हुई होती हैं। ये कीटाणु अपनी जीवन-क्रियाओं द्वारा मिट्टी में मिली हुई हवा की नाइट्रोजन को ऐसे यौगिकों में बदलते रहते हैं, जो वनस्पतियों के लिए खाद्य हों। इस प्रकार न केवल इन पौधों को ही खाद्य मिलता प्रत्युत आसपास की मिट्टी भी खाद्य पदार्थों से मिलकर उर्वरा हो जाती है।

जब नाइट्रोजन के एक आयतन और हाइड्रोजन के तीन आयतनों के मिश्रण पर वायुमण्डल के दवाव से दो-सौ-ढाई सौ गुना दवाव डालकर उसे ६००° सें० तक गरम किये हुए लोहे के महीन बुरादे पर से प्रवाहित किया जाता है, तो इस मिश्रण का लगभग सातवाँ भाग संयुक्त होकर अमोनिया गैस में परिवर्तित हो जाता है--

N_2	+	$3H_2$	=	$2NH_3$
नाइट्रोजन		हाइड्रोजन		अमोनिया गैस
(एक अणु)		(तीन अणु)		(दो अणु)
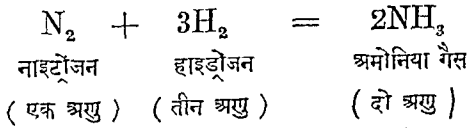
लोहे का बुरादा इसमें केवल उत्प्रेरक (कैटेलाइजर) का काम करता है, वह स्वयं परिवर्तित नहीं होता। इस अमोनिया गैस से या तो उसे अम्लों में शोषित करके अमोनियम लवण बना लेते हैं, जो खाद आदि के काम में आते हैं अथवा उसे एक विशेष विधि से ऑक्सीकरण द्वारा नाइट्रिक ऐसिड में परिवर्तित कर लेते हैं, जिससे अन्य उपयोगी पदार्थ बना लिये जाते हैं। नाइट्रेट खादें और मुख्य विस्फोटक पदार्थ नाइट्रिक ऐसिड से ही बनते हैं।

जब नाइट्रोजन तपते हुए कैल्शियम, मैग्नेशियम, अलुमीनियम, आदि कुछ धातुओं के ऊपर से प्रवाहित की जाती है, तो वह उनसे संयुक्त होकर नाइट्राइड नामक यौगिकों का निर्माण करती हैं। ये नाइट्राइड जब पानी के संसर्ग में आते हैं, तो अमोनिया गैस का उत्पादन होता है। अतएव यह भी नाइट्रोजन को संयुक्तावस्था में लाकर उपयोगी पदार्थों को पैदा करने का एक उपाय है। रक्त-तप्त मैग्नेशियम के ऊपर नाइट्रोजन प्रवाहित करने पर वह पूर्णतः शोषित हो जाती है और मैग्नेशियम नाइट्राइड (Mg_3N_2) बन जाता है। नाइट्रोजन गैस को पहचानने की एक निश्चित रीति यह है कि वह रक्त-तप्त मैग्नेशियम के ऊपर से प्रवाहित कर दी जाय। यदि वह पूर्णतः शोषित हो जाय तो निश्चय ही नाइट्रोजन है।

जब नाइट्रोजन गैस तप्त कैल्शियम कार्बाइड (CaC_2) के ऊपर से प्रवाहित की जाती है, तो कैल्शियम सायनामाइड ($CaCN_2$) नामक यौगिक बन जाता है। यह यौगिक भी खाद के रूप में प्रयुक्त होता है और 'नाइट्रोलिम' आदि व्यापारिक नामों से बेचा जाता है।

सभी मुख्य विस्फोटक पदार्थ, जैसे डायनामाइट, कार्डाइट, गन पाउडर, गनकाटन, पिक्रिक ऐसिड, टी०एन०टी०, आदि, नाइट्रोजन के यौगिकों से ही बने होते हैं। ये सभी यौगिक प्रायः नाइट्रिक ऐसिड के उपयोग से बनाए जाते हैं। नाइट्रोजन स्वातंत्र्य-प्रिय गैस है, जो यौगिकों के बन्धन में नहीं रहना चाहती--संयुक्तावस्था में भी वह स्वतंत्र हो जाने के लिए उतावली रहती है। जरा-सा धक्का अथवा एक चिनगारी नाइट्रोजन के असंख्यों अणुओं को पल भर में विस्फोटक से निकल भागने का अवसर दे देते हैं। नाइट्रोजन तथा उसी क्षण में उत्पादित कार्बन डाइऑक्साइड आदि कुछ अन्य गैसों के यही असंख्यों अणु जब सहसा प्रबलतापूर्वक निकलकर गैस रूप में फैल जाते हैं, तो धड़ाका होता है।

इस प्रकार यद्यपि नाइट्रोजन परिमाण की दृष्टि से पृथ्वी का एक उपेक्षणीय मूल तत्त्व है, और रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से वह एक आलसी गैस है, तथापि जीवधारियों के जगत् में वह बड़े-बड़े कार्य किया करती है। यदि वायुमंडल में नाइट्रोजन के स्थान में हीलियम-सरीखी कोई दूसरी निष्क्रिय गैस भर दी जाय, तो खादों के न बन सकने के कारण शीघ्र ही एक भीषण अकाल पड़ जायगा और सारे वनस्पति और प्राणिवर्गों का अंत हो जायगा; कारण, बिना नाइट्रोजनयुक्त खादों के वनस्पतियों का जीवन और बगैर वनस्पतियों के जानवर और मनुष्यों का जीवन असंभव है। वनस्पति-क्षेत्र में खादों के रूप में संयुक्त होती हुई नाइट्रोजन का महत्व जीवधारियों के लिए चिर-काल से रहा है और सदैव रहेगा; किन्तु इस युग में मानवजाति के लिए रणक्षेत्र में विस्फोटकों से धड़ाके के साथ सहसा निकल भागनेवाली नाइट्रोजन का महत्व भी बहुत बढ़-चढ़ गया है। मनुष्य की जय-पराजय, स्वतंत्रता-दासता, सुख-दुःख, और अस्तित्व-नाश बहुत-कुछ इस मूल तत्त्व पर भी निर्भर हो गए हैं।

गेहूँ का अनाज न मिल सकेगा, अतएव उन्हें इस बात की अभी से फिक्र करनी चाहिए। बात यह थी कि गेहूँ की फसल के लिए नाइट्रोजनयुक्त खाद बहुत आवश्यक है। चिली की इस खाद के उपयोग से अनेक देशों में गेहूँ की उपज कई गुना बढ़ गई थी, अतएव चिलियन नाइट्रेट के समाप्त होने पर सबसे बड़ा धक्का गेहूँ की उपज पर ही बैठता। विलियम क्रुक्स की चेतावनी ने एक सनसनी पैदा कर दी, लेकिन बहुतों ने उसकी हँसी भी उड़ाई। उसके शब्दों में चाहे अतिशयोक्ति भले ही रही हो, किन्तु उसके विचार थे सत्य पर अवलम्बित! अतएव वैज्ञानिकों के सामने यह बात एक महान् समस्या के रूप में आ खड़ी हुई। अब तक विज्ञान काफी व्यवस्थित और उन्नत अवस्था में पहुँच चुका था।

वायुमंडल से रासायनिक खाद का उत्पादन--बर्कलैण्ड और आइड की विधि

नाइट्रोजन के एक अपरिमित भांडार--वायुमण्डल--से घिरे रहते हुए भी नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खादों का अभाव वैज्ञानिकों को खला। धरती के एक वर्गगज के ऊपर टिकी हुई हवा की स्वतन्त्र नाइट्रोजन यदि संयुक्त दशा में लाई जा सके तो लगभग ७०, ०००) रुपए की रासायनिक खाद तैयार हो सकती है! इसका उपाय ढूंढ़ने में वैज्ञानिक लग गए और प्रयोग पर प्रयोग होने लगे। धीरे-धीरे प्रयोगशाओं में उसी विधि का वामन रूप में विकास हुआ, जो विराट् रूप में प्रकृति में बिजली और वर्षा द्वारा नाइट्रेटों के निर्माण में प्रयुक्त होती है। इस संबंध में पहले-पहल १९०५ में बर्कलैण्ड और आइड नामक नार्वे-निवासियों ने इस विधि का सफलतापूर्वक उपयोग करके एक महान् उद्योग की नींव डाली। बर्कलैण्ड और आइड की विधि में एक भट्टी में बिजली का एक धधकता हुआ मंडल फैला रहता है। इस मंडल में चकाचौंध करनेवाला प्रकाश रहता है, और इसको बिजली का सूर्य कहा जाता है। इसके उत्पादन के लिए दो U आकार में झुकी हुई तांबे की नलियों के बीच में एक ऊँचे वोल्टेज ५ बिजली की चिनगा.रि गुजारी जाती हैं,
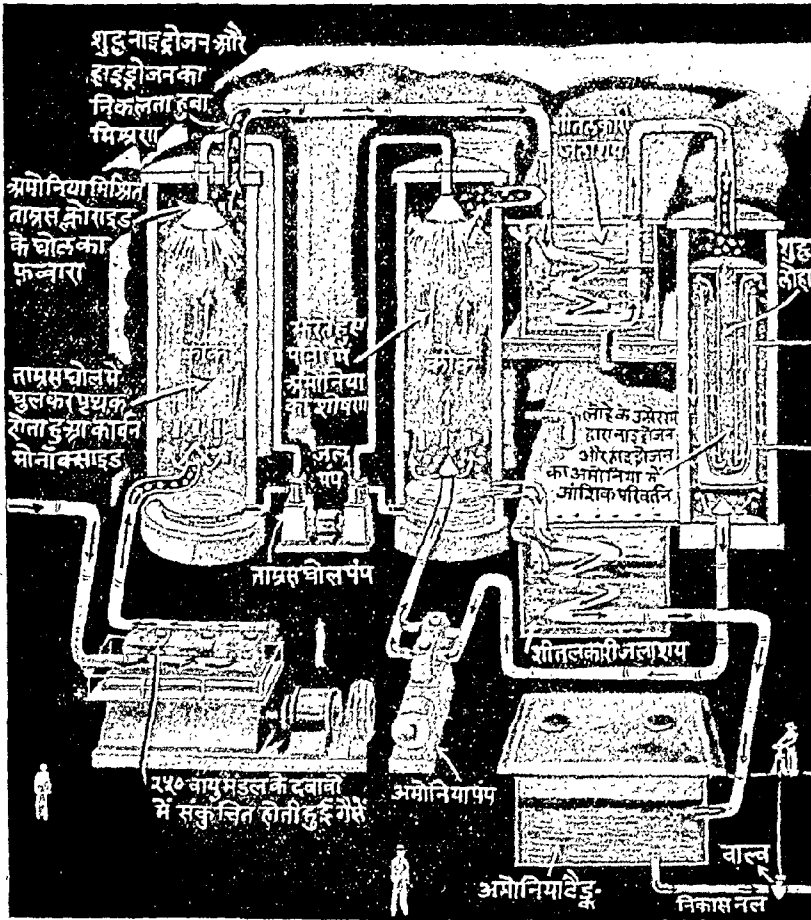
से अमोनिया के उत्पादन का उपकरण

है, कार्बन मोनॉक्साइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैसें प्रथक् कर ली जाती हैं। बची हुई शुद्ध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के मिश्रण से लोहे के उत्प्रेरण द्वारा अमोनिया का उत्पादन होता है। चित्र में दिखाए गए मनुष्यों के आकार से हम विभिन्न मीनारों की ऊँचाई का अंदाजा लगा सकते हैं। हेबर की विधि का प्रयोग जर्मनी में बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। इस विधि से अपने यंत्रों द्वारा जर्मनी ५ लाख टन नाइट्रोजन का स्थिरकरण करने लगा।

अमेरिका में प्रति एकड़ १५ बुशेल, फ्रांस में २० बुशेल, ब्रिटेन में ३२ बुशेल और जर्मनी में ३५ बुशेल गेहूँ पैदा हुआ था। इन देशों के साथ भारतवर्ष की उपज तुलना करना व्यर्थ है। यहाँ अभी रासायनिक खादों के उपयोग का युग आरंभ ही हुआ है। अतएव हमारी औसत उपज पश्चिमी देशों की अपेक्षा बहुत कम है।

लेकिन दूरंदेशी मनुष्य यह विचार किए बिना न रह सका कि चूँकि चिलियन शोरे का भांडार अपरिमित नहीं है; अतः जिस दिन चिलियन मरुस्थल का यह स्तर समाप्त होगा, उसी दिन संसार की बढ़ी हुई जनसंख्या को भूख का सामना करना पड़ेगा। इस विचार से वह चिंतित हो उठा। कैलिचे के सारे क्षेत्र की नाप लेकर यह आँका गया कि उससे लगभग २४ करोड़ टन तक शोरा निकाला जा सकता है। भविष्य में चिलियन शोरे के उपयोग का अनुमान करके संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि-विभाग ने यह सम्मति दी थी कि वह कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जायगा, लेकिन चिलियन नाइट्रेट क्षेत्र के इंस्पेक्टर जनरल की यह राय हुई कि वह कम-से-कम दो सौ वर्षों तक तो अवश्य ही चलेगा।

कुछ भी हो, यह बात तो स्पष्ट ही थी कि यह खाद बहुत लम्बे काल तक नहीं चल सकती थी। इधर खनिज कोयले से कोल-गैस बनाने की विधि में कुछ अमोनिया का भी उत्पादन हुआ और उस अमोनिया से 'अमोनियम सल्फेट' नामक रासायनिक खाद बनाई जाने लगी। लेकिन एक टन कोयले से केवल ७ पौंड के लगभग अमोनियम सल्फेट निकल सका। अतः जितनी खाद इस रीति से बनाई जा सकती थी, वह संसार की आवश्यकताओं को देखते हुए उपेक्षणीय थी। अतएव मानवता के प्रतिनिधि इस संबंध में भविष्य के लिए फिर चिन्तित हो गए।

सन् १८९८ ई० में प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर विलियम क्रुक ने संसार के गेहूँ खानेवालों को एक गंभीर चेतावनी दी और कहा कि सन् १९३१ तक गेहूँ खानेवालों को भरपेट
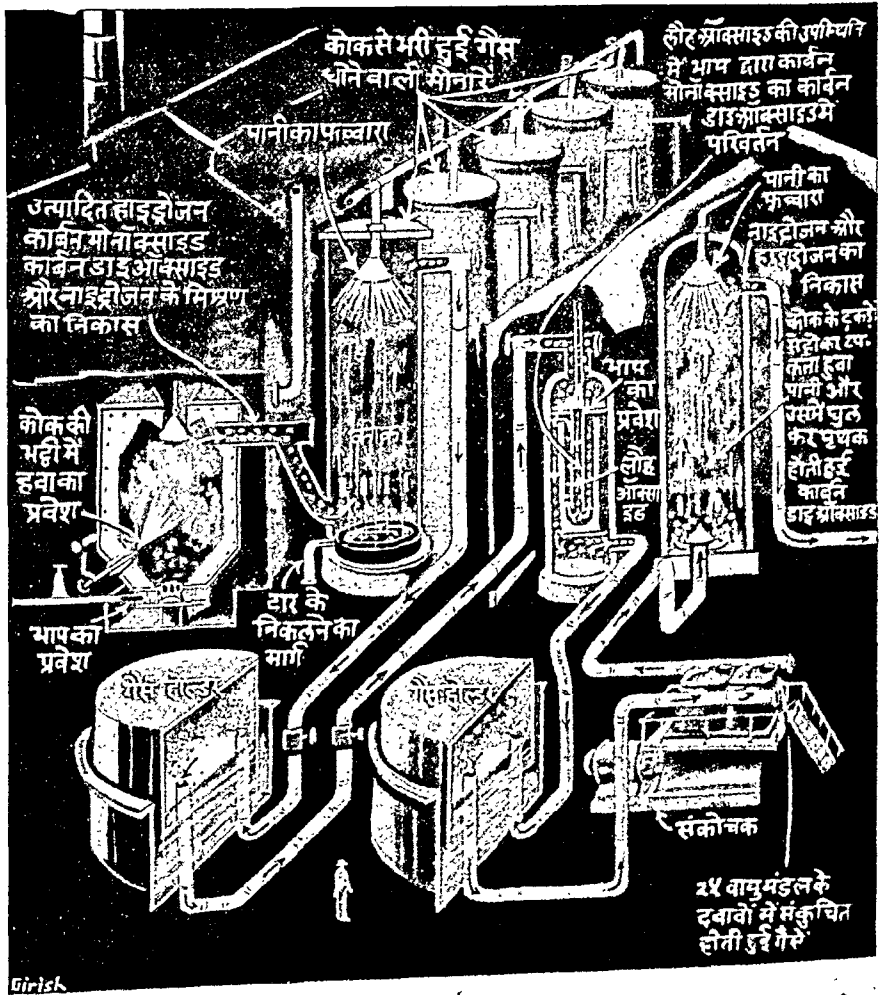
हेवर की विधि द्वारा हवा की नाइट्रोजन

से हेवर हवा की नाइट्रोजन को अमोनिया के रूप में स्थिर कर सकने में सफल हो सका। कोयला, हवा, पानी और लोहा जैसी सस्ती वस्तुओं के उपयोग ऊपर के चित्रों में यही विधि प्रदर्शित है। कोक की भट्ठी से हवा और पानी की क्रियाओं द्वारा हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों का मिश्रण निकलता है। इस मिश्रण से, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है और लेख में विस्तारपूर्वक वर्णित

की पूर्ति कर दी। जर्मनी ने अपने नार्वे के कारखानों को वेच डाला, और अपने देश के उद्योग पर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया। सन् १९१४ में युद्ध के शुरू हो जाने के वाद इंगलैंड और जर्मनी ने चिलियन शोरे के लाने का मार्ग एक दूसरे के लिए वन्द कर दिया। दोनों में इसी वात पर सामुद्रिक युद्ध हुआ, किन्तु इंगलैंड परास्त हुआ। फिर एक दूसरी लड़ाई हुई, जिसमें जर्मनी को पछाड़ खानी पड़ी। इसका फल यह हुआ कि चिली का रास्ता जर्मनी के लिए वन्द हो गया, और इंगलैंड के लिए खुल गया। इस प्रकार जर्मनी के लिए एकमात्र आशा हेवर की विधि ही रह गई। फलतः एक वहुत वड़े पैमाने में हेवर की विधि का उपयोग उस देश में हुआ, जिसका फल यह हुआ कि जर्मनी ने न केवल अपने ही देश की वरन् सारे संसार की स्थिर नाइट्रोजन-संवंधी समस्या सदा के लिए हल कर दी।

जर्मनी १, १६,००० टन स्थिर नाइट्रोजन प्रतिवर्ष चिली से लाया करता था। अव अपने यंत्रों द्वारा वह ५,००,००० टन नाइट्रोजन का प्रति वर्ष स्थिरकरण करने लगा। इसमें सस्तापन इतना था कि जर्मनी के वने हुए नाइट्रेट स्वयं अमेरिका ले जाकर वहाँ के किसानों के हाथ चिलियन शोरे के आधे दामों पर वेचे जा सकते थे! कहा जाता है कि यदि हेवर अपने वुद्धिवल द्वारा अपने देश का सहायक न हुआ होता तो जर्मनी को एक ही दो वर्षों में अपने नाइट्रेट्रों के स्टॉक के समाप्त होने पर, लड़ाई वन्द कर देनी पड़ती। जर्मनी इतने दिनों तक हेवर के ही यंत्र के सहारे लड़ाई लड़ता रहा! युद्ध के समय में जर्मनी प्रतिवर्ष २,००,००० टन नाइट्रिक ऐसिड केवल विस्फोटकों को ही वनाने में खर्च करता था, तव भी उसके स्थिर नाइट्रोजन के भाण्डार में कमी नहीं पड़ती थी!

हेवर-प्रणाली है क्या?

यह हेवर-प्रणाली है क्या, यह भी हमें जान लेना चाहिए। नाइट्रोजन को संयुक्तावस्था में लाने के लिए विजली की विधियों में केवल ऑक्सिजन का उपयोग होता है। हेवर ने इसके वजाय हाइड्रोजन का उपयोग किया। गत प्रकरण में हम यह वता चुके हैं कि जव एक और तीन के आयतनिक अनुपात में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन को मिलाकर और फिर उन्हें लगभग २५० वायुमंडल के दवावों से संकुचित करके लगभग ५००°C तक गरम किए हुए महीन लोहे पर प्रवाहित किया जाता है तो मिश्रण का कुछ अंश अमोनिया में परिवर्तित हो रहता है। इसी रासायनिक क्रिया का उपयोग हेवर ने सस्ते और वड़े पैमाने पर किया।

तत्संवंधी सवसे अधिक प्रचलित विधि पृष्ठ ९०४-१०५ के चित्रों में दिखाई गई है। इसमें ग्रंथ्रसाइट कोयले या कोक की भट्ठी में पहले हवा धौंकी जाती है, जिससे कोयला रक्त-तप्त हो जाता है और साथ-ही-साथ हवा की ऑक्सिजन कार्वन डाइ-ऑक्साइड में वदल जाती है, किन्तु नाइट्रोजन स्वतंत्र रूप में ही रह जाती है। फिर हवा को वंद करके भट्ठी के भीतर भाप धौंकी जाती है। भाप और रक्त-तप्त कोयले की प्रतिक्रिया द्वारा हाइड्रोजन और कार्वन मोनॉक्साइड गैसों का उत्पादन होता है। इस प्रकार भट्ठी से हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्वन मोनॉक्साइड और कार्वन डाइ-ऑक्साइड गैसें निकलकर धोनेवाली मीनारों में चढ़ती हैं। पानी के फव्वारों तथा कोक के टुकड़ों के वीच में टपकते हुए पानी द्वारा उनमें मिले हुए अपद्रव्य अलग हो जाते हैं, और भट्ठी के कोयले से निकलकर आया हुआ कोलतार नीचे वैठ जाता है, जहाँ से वह निकाल लिया जाता है। इसके वाद ये गैसें एक गैस-होल्डर में आकर इकट्ठी हो जाती हैं।

हेवर की प्रतिक्रिया के लिए केवल शुद्ध हाइड्रोजन और शुद्ध नाइट्रोजन की ही आवश्यकता पड़ती है, अतएव इसके वाद कार्वन मोनॉक्साइड और कार्वन डाइ-ऑक्साइड गैसों को पृथक् कर देने का प्रवंध रहता है। पहले गैस-होल्डर से गैसें ऐसी मीनारों में प्रविष्ट की जाती हैं, जिनमें भाप धौंकी जाती रहती है और उसकी उपस्थिति में गैसें लोह की ऑक्साइड के संसर्ग में प्रवाहित की जाती हैं। लौह ऑक्साइड की उत्प्रेरणा से भाप कार्वन मोनॉक्साइड को कार्वन डाइ-ऑक्साइड में वदल देती है और वह स्वयं घटकर हाइड्रोजन के रूप में रह जाती है—

$$H_2O + CO = CO_2 + H_2$$
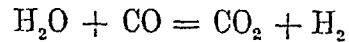
इन मीनारों से निकली हुई गैसें अव एक दूसरे गैस-होल्डर में भर ली जाती हैं। इनमें मुख्यतः हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्वन डाइ-ऑक्साइड गैसें, तथा लघु अंशों में कार्वन मोनॉक्साइड गैस भी रहती हैं। कार्वन डाइ-ऑक्साइड ऊँचे दवाव पर पानी में घुलनशील है। सोडा-वाटर की वोतल में ऊँचे दवाव पर वह घुलित दशा में वनी रहती है, लेकिन जैसे ही डाट खोलकर दवाव हटा लिया जाता है, वह निकल पड़ती है और उसके निकलने के कारण वुलवुले और झाग उठते हुए दिखाई देते हैं। अतएव इस मिश्रण से कार्वन डाइ-ऑक्साइड ऊँचे दवाव में पानी में घोलकर अलग कर लेते हैं।

दूसरे गैस-होल्डर से गैसों को निकालकर पहले २५ वायुमंडलों के दवाव में संकुचित करते हैं। फिर इन गैसों को

विद्युत्चाप का रूप ले लेती हैं। ताँबे की नलियों में ठंढा पानी बहता रहता है, जिससे ताँबा गल न सके। इस चाप पर एक प्रबल विद्युत्-चुंबक का प्रभाव डाला जाता है, जिससे वह फैलकर चपटा और गोल थाल-सा हो जाता है। इसका व्यास लगभग सात फीट और ताप लगभग ३५००°C होता है। जब हवा धौंकनी द्वारा इस विद्युत्-मंडल में होकर प्रवाहित की जाती है तो बिजली और गरमी की चपेट द्वारा नाइट्रोजन और ऑक्सिजन के अणु टूटकर परमाणुओं में बदल जाते हैं। लेकिन प्रभाव के हटते ही फिर वे परमाणु अणुरूप में आ जाते हैं। लेकिन इस गड़बड़ी में कुछ नाइट्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु एक दूसरे से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस के अणुओं में भी बदल जाते हैं।

बिजली की भट्ठी से निकलती हुई हवा में लगभग डेढ़ प्रतिशत नाइट्रिक ऑक्साइड मिली रहती है। यह हवा अब शीघ्र ही ६००°C तक ठंडी कर ली जाती है, कारण इस ताप के ऊपर नाइट्रिक ऑक्साइड का मूल तत्त्वों में पुनः विच्छेदन संभव रहता है। इस हवा को अब नलियों द्वारा ब्वॉयलरों के पानी के भीतर प्रवाहित करते हैं। इस गरमी से ब्वॉयलरों में बनी हुई भाप बाद में नाइट्रेटों के घोल को सुखाने के काम में लाई जाती है। इस प्रकार १५०°C तक ठंडी होकर गैसें ऑक्सीकारी मीनारों में प्रविष्ट होती हैं, और वहाँ नाइट्रिक ऑक्साइड कुछ और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रोजन-परॉक्साइड में बदल जाती है। ये गैसें अब पाँच शोषण-मीनारों में प्रविष्ट होती हैं, जहाँ टपकते हुए पानी और ऑक्सिजन के संयोग से नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइट्रिक ऐसिड में बदल जाता है। इस नाइट्रिक ऐसिड को चूने के पत्थर के संसर्ग में लाकर कैल्शियम नाइट्रेट नामक लवण-खाद बना ली जाती है। कैल्शियम नाइट्रेट के घोल के वाष्पीकरण के लिए ब्वॉयलरों में उत्पादित भाप काम में लाई जाती है।

इस विधि में जो रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, हूबहू वही प्रकृति के अंतरिक्ष में भी हुआ करती हैं। पिछले प्रकरण में हम इन रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि यह विधि उन्हीं देशों में काम में लाई जा सकती है, जहाँ बिजली बहुत ही सस्ती हो। नार्वे में जल-प्रपातों का बाहुल्य और बिजली का उत्पादन अति सरल है; अतएव वहाँ निरंतर लगभग पाँच लाख अश्वशक्ति का उपयोग नाइट्रोजन के स्थिरकरण में हुआ करता है! नार्वे प्रति वर्ष लगभग ४ लाख टन कैल्शियम नाइट्रेट बनाया करता है।

ऑस्टवाल्ड की विधि से अमोनिया का नाइट्रिक ऐसिड में परिवर्तन

अमोनिया का एक आयतन और हवा के आठ आयतनों का मिश्रण एक ऐसे अलुमीनियम के बक्स में प्रविष्ट किया जाता है, जिसके आरपार प्लैटिनम की जालियाँ लगी रहती हैं। प्लैटिनम पहले बिजली द्वारा गरम कर दिया जाता है, बाद में वह प्रतिक्रिया द्वारा उत्पादित गरमी से ही रक्ततप्त रहता है। प्लैटिनम के उत्प्रेरण द्वारा अमोनिया का नाइट्रिक ऑक्साइड में ऑक्सीकरण हो जाता है। इस नाइट्रिक ऑक्साइड में उसी रीति द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बना ली जाती है, जिसका बर्कलैंड और आइड की विधि में उपयोग होता है।

हेबर की विधि

नार्वे के इस उद्योग में सबसे अधिक पूँजी जर्मनी ही की लगी हुई थी, और वह उत्पादित पदार्थों का सबसे बड़ा ग्राहक था। वह न केवल रासायनिक खादों का ही सबसे अधिक उपयोग करता था, वरन् १९१४ की लड़ाई के लिए विस्फोटकों के बनाने में नाइट्रिक एसिड के एक बड़े परिमाण का भी व्यय कर रहा था। लड़ाई के निकट आने पर उसने परदेशी उद्योगों पर सर्वथा निर्भर रहना अनुचित समझा। जर्मनी में जल-शक्ति का अभाव था, अतएव उसने अपने वैज्ञानिकों को किसी ऐसी विधि का आविष्कार करने के लिए उत्साहित किया, जिसका उपयोग जर्मनी में ही सरलता से हो सके।

प्रथम महायुद्ध के एक वर्ष पहले, अर्थात् १९१३ में, फ्रिट्ज़ हेबर ने अपने अनुसंधानों द्वारा अपने देश की इस आवश्यकता

कार्य करता है और इसके प्रभाव से लगभग ९० प्रतिशत अमोनिया हवा की ऑक्सिजन द्वारा नाइट्रिक ऑक्साइड गैस में परिणत होती रहती है। इस नाइट्रिक ऑक्साइड से उसी रीति से नाइट्रिक ऐसिड तैयार कर लेते हैं, जिसका वर्णन हम बर्कलैण्ड और आइड की विधि में कर चुके हैं। ऑस्टवाल्ड की पूर्तिकरनेवाली विधि की सफलता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि प्लैटिनम की दोहरी जाली के एक वर्गफुट से २४ घंटे में ७ टन नाइट्रिक ऐसिड तैयार हो सकती है।

सायनामाइड और सर्पेक विधि

हेबर की विधि के बाद नाइट्रोजन के स्थिरकरण की जो अन्य दो विधियाँ, (कम-से-कम जर्मनी के बाहर), कुछ अपना महत्त्व रखती हैं, उन्हें क्रमशः सायनामाइड विधि और सर्पेक विधि कहते हैं। सायनामाइड विधि में कैल्शियम कार्बाइड का उपयोग होता है। इसे साइकिल के लैम्प में काम आते आपने देखा होगा। इस कार्बाइड को तोड़कर मजबूत बेलनाकार पीपों में भर लिया जाता है, और प्रतिक्रिया शुरू करने के लिए बिजली द्वारा उसे ११००°C तक गरम कर लिया जाता है। अब इसके ऊपर से नाइट्रोजन प्रवाहित की जाती है, जो संयुक्त होकर कैल्शियम कार्बाइड को कैल्शियम सायनामाइड में बदल देती है, और कार्बाइड से कुछ कार्बन ग्रैफाइट के रूप में मुक्त होकर निकल आता है:—

$$CaC_2 + N_2 = CaCN_2 + C$$

कैल्शियम कार्बाइड, नाइट्रोजन, कैल्शियम साइनामाइड, ग्रैफाइट
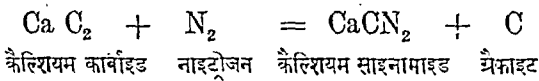
यह सायनामाइड खाद के रूप में प्रयुक्त होता है और लाइम-नाइट्रोजन, नाइट्रोलाइम, नाइट्रोलिम आदि नामों से बिकता रहता है। पानी की क्रिया द्वारा इससे धीरे-धीरे अमोनिया निकलकर मिट्टी में अमोनियम लवणों का उत्पादन करती रहती है। अति तप्त भाप की क्रिया द्वारा कैल्शियम सायनामाइड से अमोनिया का उत्पादन भी कर लिया जाता है:—

$$CaCN_2 + 3H_2O = CaCO_3 + 2NH_3$$

सायनामाइड, भाप, कैल्शियम कार्बोनेट, अमोनिया
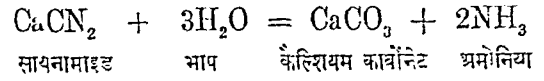
और इस अमोनिया से आवश्यकतानुसार ऑस्टवाल्ड की विधि द्वारा नाइट्रिक ऐसिड और नाइट्रेटों को भी बना लिया जाता है।

सर्पेक विधि अलुमीनियम धातु के बनाने में उपयुक्त होती है। प्रकृति में अलुमीनियम धातु 'बॉक्साइट' नामक खनिज के रूप में बहुत बड़े परिमाण में रहती है। यह बॉक्साइट अशुद्ध अलुमीनियम ऑक्साइड होती है। इस विधि में बॉक्साइट को कोयले के साथ मिलाकर १८००°C तक गरम करते हैं और इस तप्त मिश्रण के ऊपर नाइट्रोजन प्रवाहित करते हैं, जिससे अलुमीनियम नाइट्रोजन से संयुक्त होकर अलुमीनियम नाइट्राइड नामक यौगिक में परिणत हो जाती है—

$$Al_2O_3 + 3C + N_2 = 2ALN + 3CO$$

अलुमीनियम ऑक्साइड, कार्बन, नाइट्रोजन, अलुमीनियम नाइट्राइड, कार्बन मोनॉक्साइड
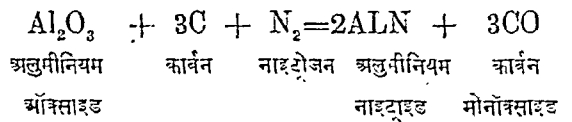
अलुमीनियम नाइट्राइड पर जब दबी हुई भाप की क्रिया होती है तो अमोनिया निकलती है और शुद्ध अलुमीनियम ऑक्साइड बच रहती है, जिससे अलुमीनियम निकाली जाती है। सर्पेक विधि का थोड़ा-बहुत उपयोग फ्रांस के अलुमीनियम के कारखानों में किया जाता है।
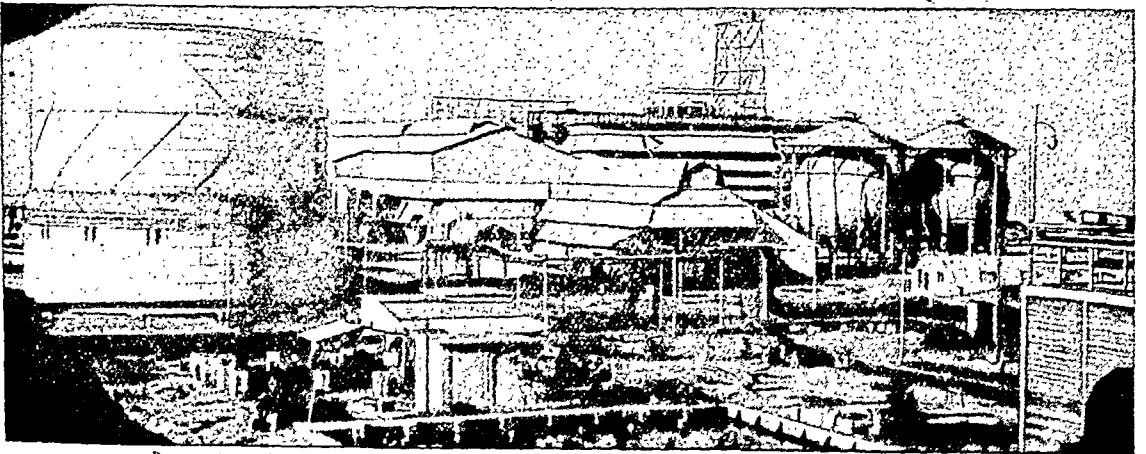
कृत्रिम रासायनिक खाद उत्पन्न करने के लिए प्रस्थापित हमारे देश का सबसे बड़ा कारखाना

यह सिंदरी के सुप्रसिद्ध कारखाने का विहंगम दृश्य है, जहाँ आधुनिकतम विधि से अमोनियम सल्फेट आदि खादें तैयार की जाती हैं।

ऐसी मीनारों में चढ़ाते हैं, जिनमें कोक के टुकड़ों से होकर पानी झरता रहता है। इस दवाव पर पानी में सारी कार्बन डाइ-ऑक्साइड घुलकर पृथक् हो जाती है। अब इन गैसों का दवाव बढ़ाकर २५० वायुमंडल के बरावर कर दिया जाता है और वे ऐसी मीनारों में प्रविष्ट की जाती हैं, जिनमें ताम्रस क्लोराइड का अमोनिया में घोल टपकता रहता है। इस घोल में बची-खुची कार्बन मोनॉक्साइड पूर्णतः शोषित होकर अलग हो जाती है।

इन मीनारों से निकलनेवाली गैसें शुद्ध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का मिश्रण होती हैं, अतएव अब उन्हें ठंडा करके मुख्य प्रतिक्रिया की मीनार में प्रविष्ट करते हैं। इस मीनार के भीतर नलाकार मार्गों में शुद्ध स्पंज-रूपी लोहा भरा रहता है, जिसको विजली द्वारा लगभग ५००°C तक गरम रखते हैं। गैस-मिश्रण का कुछ अंश संयुक्त होकर अमोनिया गैस में बदल जाता है। यहाँ से निकलकर गैसें गिरते हुए पानी की मीनारों में फिर चढ़ती हैं। इन मीनारों में अमोनिया का घोल जमा होता रहता है, जिसे फिर ठंडा करके एक टैंक में इकट्ठा कर लिया जाता है। बची हुई हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का मिश्रण फिर प्रतिक्रिया की मीनार में भेज दिया जाता है। इस अमोनिया को खाद में परिणत करने के लिए या तो गंधक के तेजाव द्वारा अथवा जिप्सम (कैल्शियम सल्फेट), पानी और कार्वन डाइ-ऑक्साइड की संयुक्त क्रिया द्वारा अमोनियम सल्फेट में परिणत कर लिया जाता है।

दूसरी विधि में कैल्शियम कार्वोनेट तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है और अमोनियम सल्फेट का घोल ऊपर रह जाता है। अमोनियम सल्फेट के घोल से वाष्पीकरण द्वारा अमोनियम सल्फेट के रवे विलग कर लिए जाते हैं। आज नाइट्रोजन के स्थिरकरण का यह उद्योग कितना बढ़-चढ़ गया है, इसका अनुमान हम तव लगा पाते हैं, जव हम देखते हैं कि संसार प्रति वर्ष हेबर की विधि से लाखों टन अमोनियम सल्फेट तैयार करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि हम रासायनिक खादों के अभाव से भविष्य में कभी भूखों नहीं मर सकते।

ऑस्टवाल्ड द्वारा हेवर-प्रणाली में सुधार

हेबर की विधि में नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन नहीं होता। लेकिन विस्फोटकों तथा नाइट्रेटों को बनाने में नाइट्रिक ऐसिड की ही आवश्यकता पड़ती है। अतएव एक दूसरे जर्मन वैज्ञानिक आॅस्टवाल्ड ने हेवर की विधि की इस रही-सही बात को भी पूरा कर दिया। ऑस्टवाल्ड की रीति में एक अलूमीनियम के वक्स में आरपार कसी हुई कुछ प्लैटिनम की जालियाँ लगी रहती हैं। इन जालियों को पहले विजली द्वारा लगभग ६००°C तक गरम कर देते हैं, और फिर इस वक्स के भीतर से एक आयतनिक भाग शुद्ध अमोनिया और आठ आयतनिक भाग शुद्ध हवा का मिश्रण प्रवाहित करते हैं। अमोनिया का ऑक्सीकरण शुरू हो जाता है और इतनी गरमी पैदा होती है कि प्रतिक्रिया के शुरू होते ही प्लैटिनम की जालियाँ अपने आप वगैर गरम किए रक्त तप्त रहती हैं। प्लैटिनम केवल उत्प्रेरक का
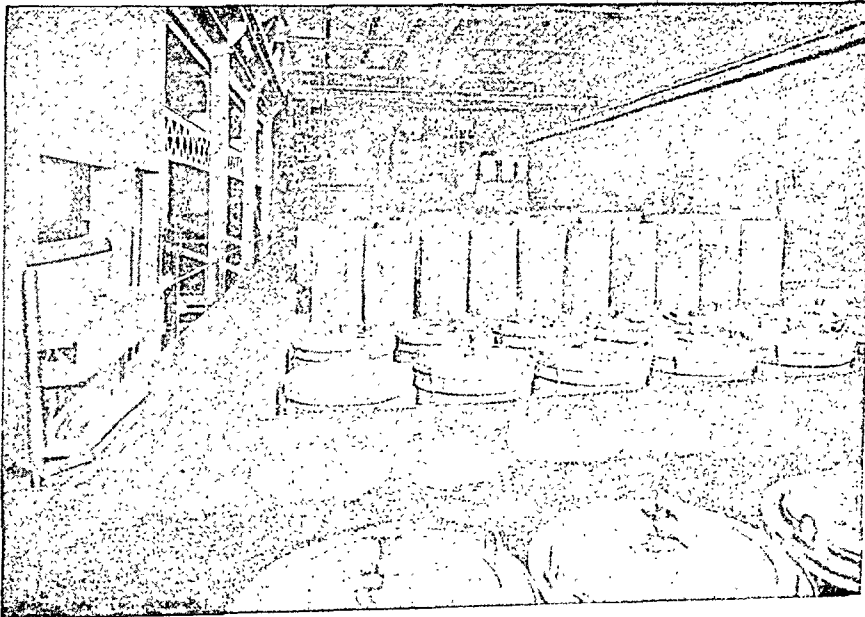
कैल्शियम सायनामाइड विधि

इन मजबूत पीपों में कैल्शियम कार्वाइड भरकर बिजली द्वारा २०००° फारेनहाइट ताप पहुँचाया जाता है और फिर उनमें नाइट्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है।

जलने की क्रिया में कोयला हवा की ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैसमें परिणत होता रहता है; और इस परिवर्तनमें उत्पन्न ताप का ही हम अनेक प्रकार से उपयोग करते हैं। क्या आपको मालूम है कि आयतनिक माप में एक भाग कोयला कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस के कितने भागों का उत्पादन करता है ? यदि कोयले का एक घन सेण्टीमीटर अंश जलाया जाय और उससे उत्पादित कार्बन डाइ-ऑक्साइड को हवा के दवाव में भरकर ठंडी कर ली जाय, तो उसका आयतन लगभग ३००० घन सेण्टीमीटर होगा; किंतु यदि इस क्रिया में उत्पादित गरमी हटा न ली जाय तो इस गरमी से फैलकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड इससे भी कई गुनी अधिक जगह घेरेगी। अतएव कोयले के एक आयतनिक भाग से कार्बन डाइ-आक्साइड के ३००० से कई गुना आयतनिक भाग उत्पन्न हो जाते हैं।

विस्फोटकों का संहारात्मक उपयोग

आधुनिक युद्ध में तोपों एवं वायुयानों से फेंके जानेवाले बमों आदि में प्रयुक्त विस्फोटकों द्वारा जिन दानवीय लीलाओं का प्रदर्शन होता है, उनका कुछ अनुमान इस चित्र द्वारा किया जा सकता है। इन विस्फोटकों के धड़ाके से धरती इस प्रकार फट पड़ती है, जैसी किसी सुप्त ज्वालामुखी के एकाएक जग पड़ने पर होता है। क्षण भर ही में बड़ी-बड़ी इमारतें ढह पड़ती हैं और फौलाद की चादरों से निर्मित बख्तरबंद गाड़ियों तक के भी चिथड़े-चिथड़े उड़ जाते हैं।

कोयले की यह जलने की क्रिया अँगीठी में धीरे-धीरे हुआ करती है, लेकिन यदि एक घन सेण्टीमीटर कोयला किसी डिब्बी में बंद कर दिया जाय और किसी उपाय द्वारा ऑक्सिजन पहुँचाकर उसके सारे कार्बन के परमाणु एकाएक कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अणुओं में परिणत कर दिए जायँ, तो क्या होगा ? एक भयंकर धड़ाका —एक भीषण शक्ति द्वारा डिब्बी को फोड़कर और आसपास की हवा को हटाकर अपने लिए जगह कर लेनेवाली कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस का उत्पादन! जब दो वस्तुओं के टकराने में आवाज होती है, तो एक ही क्षण में प्रचंड वेग से आते हुए कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अरबों-खरबों अणु आसपास की हवा की गैसों के अणुओं से सवेग टकराकर क्यों न एक कान फाड़ देनेवाले धड़ाके को पैदा करेंगे ?

लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि एकाएक कार्बन और ऑक्सिजन का इस प्रकार का संयोग कैसे संभव हो? इस समस्या को नाइट्रोजन हल कर देती है। सभी प्रचंड विस्फोटकों में नाइट्रोजन अपने प्रत्येक परमाणु के साथ कभी दो और कभी तीन ऑक्सिजन के परमाणुओं को लिये हुए तैयार बैठी रहती है। जब नाइट्रोजन का परमाणु ऑक्सिजन के दो परमाणुओं को साथ लिये रहता है तो इन तीन परमाणुओं के गिरोह को 'नाइट्रो' समूह कहते हैं, और इस समूह का सूत्र NO_2 लिखा जाता है। जब नाइट्रोजन ऑक्सिजन के तीन परमाणुओं को साथ लिये रहती है तो चार परमाणुओं के इस गिरोह को 'नाइट्रेट'-समूह कहते हैं और इसका सूत्र NO_3 लिखा जाता है। ये नाइट्रो और नाइट्रेट-समूह कोई पृथक् पदार्थ नहीं होते—वे केवल अणुभागों के रूप में कुछ यौगिकों में संयुक्तावस्था में रहते हैं। नाइट्रोजन और ऑक्सिजन के अलावा इन विस्फोटकों में कभी स्वतंत्र रूप में कोयला और कभी संयुक्तावस्था में कार्बन और हाइड्रोजन दोनों ही रहते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाइट्रोजन यौगिकों के अणुओं से निकल भागने के लिए सदैव तुली बैठी रहती है। हथौड़ी की एक चोट अथवा आग की एक चिनगारी मात्र नाइट्रोजन के बंदीगृह के दरवाजे खोल देती है, और फलतः उसके करोड़ों-अरबों अणु एक क्षण में भाग खड़े होते हैं। इस धोखेबाज नाइट्रोजन के अलग होते ही ऑक्सिजन के उत्तेजित परमाणु अपने पड़ोसी कार्बन और हाइड्रोजन के परमाणुओं से एकाएक संयुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार बने हुए कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस और जलवाष्प के असंख्यों अणु भी नाइट्रोजन के साथ हो लेते हैं। यह सारा परिवर्तन एक क्षण में ही हो जाता है, और विस्फोटक का एक आयतन गैस के आठ-दस हजार आयतनों में फैल जाता है। गैस के ये प्रचंड वेग से फैलते हुए अण गजब ढा देते हैं! वे अपने रास्ते में पड़ जानेवाली वस्तुओं को किस भीषणता से ठेल देते हैं, इसका अन्दाजा आप लगा ही चुके हैं।

किसी भी नाइट्रोजनयुक्त विस्फोटक का धड़ाका कितने कम समय में हो जाता है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। उदाहरणार्थ, एक फुट डायनामाइट की वत्ती का विस्फोटन एक सेकंड के चौबीस हजारवें अंश में हो जाता है! इसका अर्थ यह है कि यदि डायनामाइट की चार-पाँच मील लंबी एक कारतूस बनाई जाय और उसके एक सिरे पर आग लगा दी जाय तो उसका एक सिरे से दूसरे सिरे तक केवल एक सेकंड में ही पूरा विस्फोट हो जायगा!

बारूद

नाइट्रोजनयुक्त विस्फोटक का उपयोग सबसे पहले बारहवीं शताब्दी के मध्य में चीनी लोगों ने बारूद के रूप में किया। लेकिन उनका उपयोग केवल पटाखों को छुटाने ही तक सीमित रहा। तेरहवीं शताब्दी में अरब लोगों

विस्फोटक पदार्थों की लीला कैसा गजब ढहा देती है?

यह पिछले महायुद्ध में बमों द्वारा नष्ट किये गये एक नगर के भवनों का फोटो है। एक ही प्रहार से ये भवन जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े होकर ढेर हो गये हैं! उससे विस्फोटकों की विकराल शक्ति का कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है।

ने भी बारूद का उपयोग किया और वहाँ से लगभग १२७० ई० में रॉजर बेकन द्वारा उसका परिचय योरप-निवासियों को हुआ। युद्ध में उसका उपयोग सबसे पहले अंग्रेजों ने १३४६ ई० में क्रेसी की लड़ाई में किया। सन् १६१३ में खान के खोदने में वह सबसे पहले मार्टिन वीजल नामक एक खान के मैनेजर द्वारा काम में लाया गया।

ऑक्सिजन के संयोग से कुछ पोटैशियम कार्बोनेट (K_2CO_3) और पोटैशियम, गन्धक और ऑक्सिजन के संयोग से कुछ पोटैशियम सल्फेट (K_2SO_4) भी बनता है। यह स्पष्ट है कि बारूद के कोयले के जलने में और अँगीठी में कोयला जलने मे कोई रासायनिक अन्तर नहीं--दोनों में ही कार्बन डाइ-ऑक्साइड का उत्पादन होता है--फिर क्या बात है कि जहाँ अँगीठी में कोयले के जलने में घंटा आधा घंटा तक लग जाता है, वहाँ बारूद में उसी परिवर्तन को एक सैकंड के हजारवें अंश की भी आवश्यकता नहीं पड़ती? यह बात तब स्पष्ट होती है, जब हम यह मालूम कर लेते हैं कि बारूद के कोयले को उसके साथ मिला हुआ शोरा हवा की अपेक्षा तीन हजार गुना अधिक ऑक्सिजन दे सकता है। इस ऑक्सिजन को अवसर पाकर एका-एक छोड़ देने के लिए नाइट्रोजन सदैव तैयार बैठी

बारूद लगभग १५ प्रतिशत लकड़ी का कोयला, ७५ प्रतिशत शोरा (पोटैशियम नाइट्रेट) और १० प्रतिशत गंधक का मिश्रण होता है। इन तीनों वस्तुओं को अलग-अलग खूब महीन पीसकर परस्पर मिला लिया जाता है। आग लगते ही बारूद को एकाएक गैसों में परिणत कर देनेवाला पोटैशियम नाइट्रेट (KNO_3) का नाइट्रेट-समूह होता है। नाइट्रोजन स्वतंत्र गैस के रूप में, कार्बन और ऑक्सिजन, कार्बन डाइऑक्साइड गैस के रूप में और बचे हुए पोटैशियम और गन्धक पोटैशियम सलफाइड के ठोस कणों के रूप में एकाएक निकल पड़ते हैं। बारूद के विस्फोटन में जो धुआँ दिखाई पड़ता है, वह पोटैशियम सल्फाइड और कुछ बचे हुए कार्बन के ठोस कणों के कारण होता है; नाइट्रोजन और कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैसों के अणु तो अदृश्य ही होते हैं। बारूद के धड़ाके में रासायनिक क्रियाएँ मुख्यत: इसी प्रकार होती हैं--वैसे तो पोटैशियम, कार्बन और

बारूद का विस्फोटन

पासवाले डिब्बे में अक्रियाशील बारूद रक्खी हुई है। दूर पर उसी का विस्फोटन हो रहा है। डिब्बे में भरे हुए गेंदनुमा कण मानों बारूद के अवयवों के परमाणु अथवा अणु हैं। इस पदार्थ में एकाएक रासायनिक क्रिया द्वारा क्या परिवर्तन हो जाता है, वह इस चित्र में प्रदर्शित है!

रहती है। बारूद को खुली हुई जगह में जलाने से विस्फोटन नहीं होता और वह चुपचाप जल जाती है। इसका कारण यह है कि उत्पादित गैसाणुओं के फैलने के लिए चारों ओर काफी रास्ता रहता है और विस्फोटक को दबाव के एकाएक न बढ़ने के कारण सहसा धक्का नहीं लगता। लेकिन बंद जगह में, जैसे कारतूस अथवा बंदूक की नली में, या खान अथवा धरती के सूराख में, या

बहुत नाश हो चुका है। जब गनकॉटन चार साल से अधिक पुरानी हो जाती है तो वह बहुधा अपनी स्थिरता खो बैठती है। ऐसी ही बारूद के धड़ाकों द्वारा धोखे में फ्रांस के 'आईना' और 'लिबर्ती' नामक दो बड़े-बड़े युद्धयानों का नाश हो गया था। जापान के भी दो जहाजों की यही गति हुई थी। लेकिन चतुर इंगलैंड गनकॉटन से इस प्रकार का धोखा न खा सका। गनकॉटन का यह गुण यदि १८९८ में ही मालूम हो गया होता तो उसी वर्ष स्पेन और संयुक्त राज्य का युद्ध न होता। अमेरिका का 'मेन' नामक एक युद्धपोत हवाना के बन्दरगाह में रुका हुआ था। एकाएक इसमें एक भीषण धड़ाका हुआ, जिससे न वह केवल जहाज ही चकनाचूर होकर डूब गया, वरन् २६० अमेरिकनों की भी जानें गईं। इससे अमेरिका भर में एक भयानक सनसनी फैल गई, और अमेरिकन लोगों की यही धारणा हुई कि स्पेन-वालों ने ही उनके जहाज को उड़ा दिया है! स्पेन के इस काल्पनिक विश्वासघात का वास्तविक विश्वासघात द्वारा बदला लेने की अमेरिकनों ने ठान ली। उस घटना के छः महीने बाद तक वे दिखावे में स्पेन से समझौता कर लेने का प्रयत्न करते रहे, और इस प्रकार स्पेनवालों को धोखे में डालकर छिपे-छिपे स्वयं युद्ध की तैयारी करते रहे। छः महीने बाद अमेरिका ने स्पेन पर युद्ध की घोषणा कर दी। बेचारे स्पेन का न जाने कितना रक्त और धन फिजूल में बरबाद हुआ और क्रिस्टॉफर कोलम्बस द्वारा खोजे गए नई दुनिया के उसके सारे द्वीप आदि अमेरिका द्वारा छीन लिये गए। कई वर्षों बाद जब 'मेन' समुद्र के भीतर से निकाला गया तो यह देखा गया कि उसके पेंदे पर किसी चोट का चिह्न तक नहीं था! धड़ाका वस्तुतः जहाज के अन्दर ही हुआ था केवल गनकॉटन के अपने आप विस्फोटन के कारण! गनकॉटन की इस उच्छृङ्खलता ने लोगों को संशय में डाल दिया और सुरक्षित रूप से उसका उपयोग असंभव-सा प्रतीत होने लगा। बाद में यह देखा गया कि नाइट्रो-सेलुलोज कुछ अपद्रव्यों की उपस्थिति के कारण ही अस्थायी रहता है। अतएव वह सावधानी से धोकर शुद्ध कर लिया जाने लगा और तब से किसी किसी भय के वह प्रयुक्त होने लगा। कुछ आधुनिक बारूदों में गनकॉटन के साथ थोड़ा-सा कपूर भी मिला दिया जाता है, जिससे गनकॉटन बिलकुल स्थायी हो जाती है। इसी कपूर के अधिक मात्रा में मिलाने से गनकॉटन उसी सेलुलाइड में परिवर्तित हो जाती है, जिससे बने हुए कंघे, डिब्बे, खिलौने आदि से आजकल की दूकानें भरी रहती हैं। इसके अलावा आजकल के नाइट्रो-सेलुलोज से बने हुए बुरादों में पोटैशियम और बेरियम नाइट्रेट तथा लकड़ी का बुरादा भी मिला रहता है। नाइट्रेट उसकी ऑक्सिजन की कमी को पूरा कर देता है, और बुरादा उसकी अत्यधिक प्रचंडता को मंदतर कर देता है। गन-कॉटन और इन नाइट्रेटों के अथवा गनकॉटन और नाइट्रो-ग्लिसरीन (आगे देखिए) के सम्मिश्रण से बंदूकों के जो बुरादे बनाए जाते हैं, उन्हें धूम्रहीन पाउडर कहते हैं, क्योंकि उनमें कुछ ऑक्सीकरण हो जाने के कारण धुआँ बहुत कम उठता है।

गनकॉटन और कार्डाइट

गनकॉटन रुई के ही समान होती है। कार्डाइट पहले रस्सियों के रूप में कर ली जाती है, फिर उससे काट-काटकर उसके छोटे-बड़े टुकड़े कर लिये जाते हैं। दाहिनी ओर कार्डाइट से भरा एक कारतूस दिखाया गया है।

डायनामाइट, कार्डाइट, इत्यादि

इसी बीच में एल्फ्रेड नोबेल नाम का स्वीडननिवासी एक रसायनज्ञ विस्फोटकों के एक नये युग का ही प्रवर्त्तन कर

चुका था। नोबेल के पहले, सन् १८४७ ई० में, यानी गनकॉटन के आविष्कार के नौ वर्ष बाद, सोब्रेरो नामक एक इटैलियन वैज्ञानिक ने देखा कि ग्लिसरीन में तीव्र शोरे का तेजाब मिलाने से पानी से ड्योढ़े भारी एक तेल का उत्पादन हो जाता है। परखने पर वह एक प्रचंड विस्फोटक प्रमाणित हुआ। यह देखा गया कि हलके ही धक्के से वह भयानक धड़ाके के साथ विस्फुटित हो जाता है। शीघ्र ही यह पदार्थ 'उड़ा देनेवाले तेल' के नाम से बदनाम हो गया! अपनी बनावट के कारण इसका ठीक रासायनिक नाम 'ग्लिसरीन ट्राइनाइट्रेट' पड़ा, यद्यपि वह सरलतर उच्चारण होने के कारण अधिकतर 'नाइट्रो-ग्लिसरीन' के गलत नाम से ही पुकारा जाता है, उसी प्रकार जैसे कि सेलुलोज नाइट्रेट (गनकॉटन) 'नाइट्रोसेलुलोज' के गलत नाम से पुकारा जाता है। इन दोनों ही विस्फोटकों में नाइट्रेट-समूह रहते हैं, अतएव उन्हें रासायनिक दृष्टि से 'नाइट्रेट' कहना ही अधिक ठीक है। ग्लिसरीन के एक अणु में कार्बन के तीन परमाणु, हाइड्रोजन के पाँच परमाणु और हाइड्रॉक्सिल (OH) के तीन समूह रहते हैं। इसीलिए हम इसका अणुसूत्र $C_3H_5(OH)_3$ लिख सकते हैं। यदि इसमें विभिन्न मूल तत्त्वों के परमाणु एक साथ करके लिखे जायँ तो इसका अणुसूत्र $C_3H_8O_3$ होगा। जब गंधक के गाढ़े तेजाब की उपस्थिति में नाइट्रिक ऐसिड के अंदर ग्लिसरीन फव्वारे के रूप में प्रवाहित की जाती है तो हाइड्रॉक्सिल (OH) समूह अपनी जगह नाइट्रिक ऐसिड के नाइट्रेट-समूहों के लिए खाली कर देते हैं और उन रिक्त स्थानों में नाइट्रेट टिक जाते हैं। इसलिए नाइट्रो-ग्लिसरीन का अणुसूत्र $C_3H_5(NO_3)_3$ लिखा जा सकता है। ग्लिसरीन से निकले हुए OH समूह नाइट्रिक ऐसिड के बचे हुए हाइड्रोजन परमाणुओं से संयुक्त होकर पानी ($HOH = H_2O$) का उत्पादन करते हैं, और यह पानी गंधकाम्ल द्वारा शोषित होकर अलग होता जाता है।

एल्फ्रेड नोबेल
'डायनामाइट', 'ब्लास्टिंग जिलेटिन', 'कार्डाइट', आदि विस्फोटकों का आविष्कर्ता और नोबेल-पुरस्कारों का प्रदाता।

नाइट्रो-ग्लिसरीन का तैयार करना एक बड़ा ही संकट-पूर्ण कार्य है। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक डॉ० स्लॉसन के शब्दों में नाइट्रो-ग्लिसरीन का बनना बड़ा ही आसान है, लेकिन किसी को भी बिना अपने जीवन का बीमा कराए उसे बनाने का प्रयत्न न करना चाहिए! कारखानों में उसका निर्माण 'संकट-क्षेत्र' में स्थित 'संकट-भवनों' में किया जाता है! ये भवन जमीन में घुसे हुए और लकड़ी के बने होते हैं, और उनके चारों ओर घास से ढकी हुई मिट्टी की मोटी दीवारें खड़ी कर दी जाती हैं। यदि अकस्मात् विस्फोटन हो जाता है तो छत ऊपर उड़ जाती है और दीवालों के उड़े हुए टुकड़े आसपास की घास और मिट्टी की दीवालों से भिड़कर रुक जाते हैं। ऊपर उड़ी हुई छत इन्हीं भग्नावशेषों पर आकर फिर गिर पड़ती है। यदि ये घर ईंटों और पत्थरों के बने हों तो उनके टुकड़े गोलों के समान उड़कर निकटवर्त्ती भवनों को भी तोड़ दें। कारखानों में काम करनेवाले लोग लोहे की कीलोंवाले जूते नहीं पहन सकते, क्योंकि लोहे की उपस्थिति में नाइट्रो-ग्लिसरीन का विस्फुटित हो जाना अधिक संभव रहता है। कभी-कभी केवल धूप के ही प्रभाव से नाइट्रो-ग्लिसरीन का विस्फोटन हो जाता है। नाइट्रो-ग्लिसरीनवाले कपड़े पहने हुए मनुष्य वास्तव में ऐसे चलते-फिरते टारपीडो की भाँति होते हैं, जो किसी समय छूट सकते हैं! थोड़े परिमाण में नाइट्रो-ग्लिसरीन आग लगा देने पर चुपचाप जल जाती है, लेकिन जब वह अधिक मात्रा में होती है तो उसे गरम करना मानों शामत को दावत देना है, नाइट्रो-ग्लिसरीन की तह को अम्लों से पृथक् कर लेने के बाद उसे विशेष सावधानी से कई बार पानी से

धो लेते हैं। फिर उसे शुद्ध सोडा अथवा नमक में से होकर छान लेते हैं, जिससे उसमें मिले हुए पानी और अम्ल इन पदार्थों में शोषित होकर पृथक् हो जाएँ। नाइट्रो-ग्लिसरीन गनकॉटन से भी अनेकों गुना प्रचंड और अत्यधिक अविश्वसनीय विस्फोटक होता है। इसके आविष्कार के बाद इसके निर्माण और उपयोग में इतनी अधिक संख्या में दुर्घटनाएँ हुईं कि बेल्जियम, स्वीडन और ब्रिटेन में इसका उपयोग कानून द्वारा निषिद्ध कर दिया गया था। एक जहाज चिली की खानों में उपयोग के लिए कुछ नाइट्रो-ग्लिसरीन लिये जा रहा था। रास्ते में ही एक भयंकर धड़ाके द्वारा उसका विध्वंस हो गया। इस घटना के बाद इस पदार्थ को

उच्छृङ्खलता पर मानव अधिकार कुछ-कुछ असंभव-सा प्रतीत होने लगा। लेकिन भला मनुष्य इस खोजी हुई महा-प्रचंड शक्ति को बेलगाम ही क्यों छोड़ देता?

इस शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेनेवाला एल्फ्रेड नोबेल सन् १८३३ में ही स्वीडन की राजधानी स्टॉकहाम नगर में जन्म ले चुका था। १८६६ में एल्फ्रेड नोबेल ने यह देखा कि जब नाइट्रो-ग्लिसरीन कतिपय चूर्णों में शोषित कर ली जाती है तो वह अधिक स्थायी और विश्वसनीय हो जाती है, और ठोस रूप में आ जाने के कारण सरलता-पूर्वक काम में लायी जा सकती है। उसने यह भी देखा कि नाइट्रो-ग्लिसरीन के लिए सबसे अच्छा शोषक कीज्लगूर नामक मिट्टी होती है। यह मिट्टी स्वीडन, स्काटलैंड और हैनोवर में अधिकता से पाई जाती है, और सूक्ष्म जल-वनस्पतियों के सिलिका नामक पदार्थ से निर्मित कंकालों की बनी होती है। इसके कण रंध्रमय होते हैं और नाइट्रो-ग्लिसरीन को वे सहज से सोख लेते हैं। कीज्लगूर और नाइट्रो-ग्लिसरीन के इसी मिश्रण को 'डायना-माइट' कहते हैं। कुछ देशों, विशेषतः अमेरिका में जहाँ कीज्लगूर प्राप्य नहीं है, लकड़ी के बुरादे में नाइट्रो-ग्लिसरीन शोषित करके डायना-माइट बनाई जाती है। डायनामाइट साधारण बारूद से दुगुना तेज विस्फोटक होता है, अतः अत्यधिक प्रचंडता के कारण बंदूकों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु खानों को तोड़ने तथा सड़कें, सुरंगें, रेलमार्गों आदि को बनाने के निमित्त पहाड़ों को काटने एवं नहरों को खोदने, आदि कार्यों के लिए डायनामाइट एक बहुत ही उपयोगी विस्फोटक प्रमाणित हुआ।

डायनामाइट के आविष्कार के बारह वर्ष बाद, अर्थात् १८७८ में, अकस्मात् एल्फ्रेड नोबेल को एक नयी बात सूझ पड़ी। क्यों न कीज्लगूर अथवा बुरादे के स्थान पर ठोस गनकॉटन को ही तरल नाइट्रो-ग्लिसरीन में मिलाकर देखा जाय? इन दोनों को मिलाने से जो विस्फोटक तैयार हुआ, वह केवल विश्वसनीय ही नहीं, वरन् साथ-ही-साथ डायनामाइट से भी अधिक प्रचंड था! पाठक देखेंगे कि इन दोनों विस्फोटकों को मिलाने से दोनों की ही विषमताएँ दूर होकर एक सम विस्फोटक का निर्माण हो गया। गनकॉटन एक रेशेदार रुई का पदार्थ था और नाइट्रो-ग्लिसरीन एक तेल; दोनों का ही उपयोग असुविधामय था। किन्तु इनके मिलाने से एक ऐसा विस्फोटक बना, जो इन दोनों दोषों से मुक्त था। गनकॉटन में ऑक्सिजन की मात्रा अपर्याप्त थी, नाइट्रो-ग्लिसरीन में पर्याप्त से भी अधिक। किन्तु दोनों के मिश्रण में वह जितनी चाहिए, उतनी ही हो गई! गनकॉटन उतनी प्रचंड न थी, नाइट्रो-ग्लिस-रीन की प्रचंडता मनुष्य के वश के बाहर थी। दोनों के मिलाने से न केवल नाइट्रो-ग्लिसरीन ही काबू में आ गया, वरन् गन-कॉटन और डायनामाइट से भी अधिक प्रचंड विस्फोटक तैयार हो गया। नोबेल ने पहले लगभग नब्बे प्रतिशत नाइट्रो-ग्लिसरीन और दस प्रतिशत नाइट्रो-सेलुलोज (गन-कॉटन) का मिश्रण तैयार किया। यह मिश्रण 'ब्लास्टिंग जिलेटिन' (उड़ा देनेवाला जिलेटिन) कहलाया। यह इतना प्रचंड विस्फोटक था कि तोपों की मजबूत-से-मजबूत नली भी उसकी विदारण-शक्ति को सहन नहीं कर सकती थी, अतएव इस ब्लास्टिंग जिलेटिन का उपयोग कड़े पहाड़ों को काटने में होने लगा। कठोर-से-कठोर और बड़ी-से बड़ी शिलाओं को उड़ा देना ब्लास्टिंग जिलेटीन के लिए साधारण बात

चिली की खानों में विस्फोटकों का उपयोग

कैलिचे की तह में एक सूराख करके विस्फोटक पहुँचा दिया जाता है। उसके विस्फोटन द्वारा कैलिचे उड़कर ऊपर ढेर हो रहता है।

है। वास्तव में मनुष्य के वशीभूत प्रबलतम विध्वंसक शक्तियों में से ब्लास्टिंग जिलेटीन भी एक है।

इसके बाद नोबेल का प्रयत्न यह रहा कि वह किसी प्रकार नाइट्रो-ग्लिसरीन और नाइट्रो-सेलुलोज के मिश्रण को बंदूकों के भी काम में ला सके। ब्लास्टिंग जिलेटीन की विदारक शक्ति को कम करने के लिए उसने उसमें नाइट्रो-सेलुलोज का अंश बढ़ा दिया और नाइट्रो-ग्लिसरीन का अंश घटा दिया। उसने देखा कि जब इन दोनों विस्फोटकों की मात्रा लगभग बराबर-बराबर हो जाती है, तो यह मिश्रण बंदूकों के लिए एक बड़ा ही उपयुक्त विस्फोटक बन जाता है। लगभग आधा-आधा इन दोनों पदार्थों को और लगभग ५ प्रतिशत वेसलीन को मिलाकर यह विस्फोटक बनाया जाता है। इस मिश्रण को रस्सियों के रूप में कर लेना सबसे अधिक सुविधामय होता है, कारण इन्हीं रस्सियों से उचित आकार में काट-काटकर वह कारतूसों में भर दिया जाता है। इसीलिए इस विस्फोटक का नाम 'कॉर्डाइट' [कॉर्ड (cord) = रस्सी] पड़ा। यह कॉर्डाइट न केवल रिवाल्वरों और छोटी बंदूकों आदि में ही वरन् बड़ी-से-बड़ी तोपों तक में काम आता है। इस कार्डाइट में संचित शक्ति द्वारा छः-छः टन के भयानक गोले २१ मील चौड़ी इंगलिश चैनेल के भी आर-पार छलांग मार जाते हैं-! अपने उद्देश्य को पूरा कर लेने में नोबेल को घोर-से-घोर विपत्तियों को सहना पड़ा, लेकिन वह जरा भी न डिगा। अपने कारखाने के एक धड़ाके में उसके छोटे भाई की मृत्यु हो गई, शोक से विह्वल पिता को लकवा आ गया, पर उसकी दृढ़ता पर कोई आँच न आने पाई।

नाइट्रो-ग्लिसरीन की महाशक्ति को नाथकर ऐल्फ्रेड नोबेल ने करोड़ों रुपए कमाए। पर अपने द्वारा आविष्कृत इन विस्फोटकों के युद्ध में विनाशकारी प्रयोग की विभीषिका से उसका दिल दहल उठा। अतः अपनी इस दानवीय कमाई की एक-एक पाई संसार में शान्ति का पक्ष सुदृढ़ करने एवं युद्ध को रोकने के किए लगाने का संकल्प उसने किया। उसकी वसीयत के अनुसार इसी धन के व्याज से प्रतिवर्ष एक-एक लाख से भी अधिक रुपयों के प्रसिद्ध पाँच नोबेल-पुरस्कार दिए जाते हैं।

पिक्रिक ऐसिड और टी० एन० टी०

ब्लास्टिंग जिलेटिन और कॉर्डाइट के लगभग साथ ही साथ पिक्रिक ऐसिड नाम के विस्फोटक का भी आविष्कार हुआ। पिक्रिक ऐसिड कार्बोलिक ऐसिड (फेनॉल) से बनता है। हमारे अधिकतर पाठक कार्बोलिक ऐसिड नामक निःसंक्रामक द्रव्य से सुपरिचित होंगे; वह हमारे दैनिक व्यवहार में बहुत आता है। कार्बोलिक ऐसिड भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन का एक यौगिक है, और अणु की बनावट के अनुसार उसका सूत्र C_6H_5OH लिखा जाता है। इस पर गंधकाम्ल की उपस्थिति में नाइट्रिक ऐसिड की क्रिया से इसके तीन हाइड्रोजन परमाणु नाइट्रिक ऐसिड के नाइट्रो-समूहों को जगह देने के लिए हट जाते हैं और फलतः पिक्रिक ऐसिड बन जाती है—

$$C_6H_5OH + 3HNO_3 = C_6H_2(NO_2)_3OH + 3H_2O$$

कार्बोलिक ऐसिड	नाइट्रिक ऐसिड	पिक्रिक ऐसिड	पानी
(एक अणु)	(तीन अणु)	(एक अणु)	(तीन अणु)
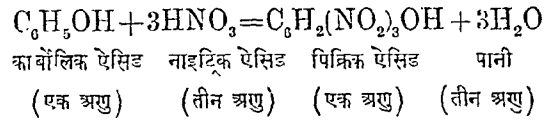
पिक्रिक ऐसिड के पीले रवे नीचे बैठ जाते हैं और वहाँ से वह पृथक् करके धोकर साफ कर लिये जाते हैं। पहले पिक्रिक ऐसिड के घोल से पीली रँगाई हुआ करती थी, लेकिन १८८७ में मैन्चेस्टर की एक रँगाई की मिल में एक धड़ाके द्वारा लोगों का ध्यान उसकी विस्फोटन-शक्ति की ओर खिंचा। तब यह देखा गया कि पिक्रिक ऐसिड की विदारण-शक्ति इतनी प्रचंड है कि वह बंदूकों, तोपों आदि में भी प्रयुक्त नहीं हो सकता। किंतु बमों, तोप से फेंके जानेवाले गोलों, तथा अन्य प्रबलतम विस्फोटकों में वह बहुधा रहता है। कॉर्डाइट द्वारा फेंके जानेवाले वृहद् गोलों में एक-आध टन पिक्रिक ऐसिड का भी भरा रहना कोई असाधारण बात नहीं। साधारण छेड़-छाड़ से पिक्रिक ऐसिड विस्फुटित नहीं होता। सहसा तीव्र प्रहार अथवा मर्करी फल्मिनेट के विस्फोटन द्वारा ही उसका विस्फोटन होता है। पिक्रिक ऐसिड बिना किसी भय के गरम करके १२२°C द्रवणांक पर पिघलाया जा सकता है। पिघला हुआ पिक्रिक ऐसिड शहद के समान रंग का होता है और गोलों आदि में सरलता से भरा जा सकता है। बहुधा इसके साथ गनकॉटन भी अलकोहॉल आदि में घोलकर मिला दी जाती है। पिक्रिक ऐसिड को अंग्रेज लोग 'लिडाइट', फेंच 'मेलि-नाइट' और जापानी 'शिमोज' कहते हैं।

एक दूसरा विस्फोटक टाल्वीन नामक कार्बनिक द्रव से बनाया जाता है। यह द्रव कोलतार से स्रवण द्वारा निकलता है, और अपने अणु की बनावट के अनुसार उसका सूत्र $C_6H_5CH_3$ लिखा जाता है। अतएव यह स्पष्ट है कि यह केवल कार्बन और हाइड्रोजन का ही यौगिक होता है। नाइट्रिक ऐसिड की क्रिया द्वारा इसमें तीन हाइड्रोजन पर-माणुओं के स्थान पर तीन नाइट्रो-समूह प्रविष्ट हो जाते हैं, और ट्राइ-नाइट्रोटाल्वीन [$C_6H_2(NO_2)_3CH_3$]

विस्फोटक बन जाता है। इस लम्बे नाम को लोगों ने छोटा करके टी० एन० टी० कर दिया है। इसी लोकप्रिय नाम से यह पुकारा जाता है। टी० एन० टी० एक हलके पीले रंग का रवादार पदार्थ होता है। केवल ८०°C (अर्थात् पानी के क्वथनांक के २०° नीचे) पर ही वह पिघल जाता है, और गोलों और बमों में पिघलाकर सरलता से भरा जा सकता है। टी० एन० टी० सुलगा देने पर चुपचाप जल जाता है, लेकिन मर्करी फलिमनेट के विस्फोटन द्वारा एक प्रचंड धड़ाके के साथ वह विस्फुटित होता है। अत्यधिक प्रचंडता के कारण टी० एन० टी० भी बन्दूकों और तोपों में उपयुक्त नहीं हो सकता, यद्यपि वह तोपों द्वारा फेंके जानेवाले गोलों में भरा जाता है। टी० एन० टी० के अणु-सूत्र से पाठकों को विदित होगा कि उसमें ऑक्सिजन की मात्रा कार्बन को कार्बन मोनॉक्साइड में भी परिणत कर देने के लिए पर्याप्त नहीं, अतएव टी० एन० टी० से भरे गोलों के फटने पर कोयले के काले बादल छा जाते हैं। पिछले महायुद्ध में इसी कारण अंग्रेजों ने इन गोलों को 'जैक जान्सन' (एक प्रसिद्ध बॉक्सिंग करनेवाले हवशी का नाम), 'कोलबॉक्सेज' (कोयले की संदूकें) आदि उपनामों से पुकारा था।

टी० एन० टी० का आविष्कार सबसे बाद में हुआ। कई बातों में वह अन्य विस्फोटकों से अधिक अच्छा होता है। पिक्रिक ऐसिड की भाँति वह अम्ल नहीं होता, अतएव वह गोलों की इस्पात की बनी दीवालों को नहीं काटता। इसके अलावा वह एक अत्यन्त विश्वसनीय और गोलों में सरलता से भर दिया जानेवाला पदार्थ भी है। टी० एन० टी० के साथ अमोनियम नाइट्रेट (NH_4NO_3) नामक लवण के मिला देने पर एक ऐसा विस्फोटक बनता है, जिससे काला धुआँ नहीं निकलता, कारण टी० एन० टी० के बचे हुए कार्बन का ऑक्सीकरण अमोनियम नाइट्रेट से निकली हुई ऑक्सिजन कर देती है। इस विस्फोटक को 'एमेटॉल' कहते हैं। अमोनियम नाइट्रेट स्वयं एक विस्फोटक होता है, जो ऊँचे ताप पर नाइट्रोजन, पानी और ऑक्सिजन में विस्फुटित हो जाता है। एमेटॉल का उपयोग पिछले महायुद्ध में बहुत हुआ था। खानों को, विशेषतः कोयले की खानों को, काटने के लिए एमेटॉल एक बड़ा ही उपयुक्त विस्फोटक प्रमाणित हुआ है। कोयले की खानों के लिए ऐसा विस्फोटक चाहिए, जो इतना प्रचंड न हो कि वह कोयले की शिलाओं को ही चूर-चूर कर दे, साथ ही जो विस्फुटित होते समय लौ का भी उत्पादन न करता हो। लौ से कोयले की खानों की प्रज्वलनशील गैसों में आग लग जाने की संभावना रहती है। इन दोनों बातों को देखते हुए एमेटॉल कोयले की खानों के बड़े काम का है।

दो पक्ष

हम अपने पिछले एक प्रकरण में देख चुके हैं कि किस प्रकार हवा से बनाई हुई नाइट्रिक ऐसिड द्वारा भूमि को उपजाऊ बनाकर हम अपने जीवित शरीरों का निर्माण कर सकते हैं। उसी नाइट्रिक ऐसिड से विस्फोटक बनाकर और हवा में उसी नाइट्रोजन को लौटाकर हम मानव शरीरों का संहार भी करते हैं। कितनी भीषण असंगति है, लेकिन फिर भी मनुष्य उसे करता है! इसका यह अर्थ नहीं कि विस्फोटक हमारे निर्माणात्मक कार्यों में उपयुक्त ही नहीं हो सकते। यदि फरहाद को इन विस्फोटकों का ज्ञान हो गया होता, तो उसे जीते-जागते ही शीरीं थोड़े से समय में ही मिल गई होती! कठोर-से-कठोर पाषाण-शिलाओं से निर्मित पर्वत-श्रेणियों को भेदकर सैकड़ों मील लंबी सुरंगें, सड़कें और रेल के रास्ते, पनामा-जैसी नहरों द्वारा महासागरों का समागम और सिंचाई के लिए बड़े-से-बड़े बाँध क्या इन विस्फोटकों के बिना संभव होते? एक वह भी समय था, जब हजारों मजदूर वर्षों तक काम करके कहीं एक सड़क अथवा नहर निकाल सकते थे। बिना इन विस्फोटकों के हमें पत्थर का कोयला और अन्य खनिज पदार्थ इतने सस्ते कभी भी न मिल सकते। अमेरिका में तो खेती के लिए भूमि साफ करने, खाइयाँ बनाने, दलदलों को सुखाने, पौधों को लगाने के लिए जमीन में सूराख करने, तथा खेतों की गहरी जुताई करने में भी विस्फोटकों का उपयोग होता है। इस प्रकार की जुताई में कुछ लोग आगे-आगे कई फीट की गहराई में डायनामाइट की बत्तियाँ लगाते चले जाते हैं, और पीछे-पीछे कुछ और लोग उन्हें सुलगाकर हटते चले जाते हैं। डायनामाइट के धड़ाकों द्वारा नीचे की उपजाऊ मिट्टी ऊपर हो रहती है। कल्पना कीजिए, एक ओर तो विस्फोटन-शक्ति द्वारा विदीर्ण शरीर पर प्रियजनों का विलाप, और दूसरी ओर विस्फोटकों की ही आतिशबाजी द्वारा हर्षोत्सवों पर आह्लाद-प्रकाश! एक ओर नाइट्रो-सेलुलोज से बनी हुई झिलमिलाते कृत्रिम रेशम को पहने हुए बच्चे उसी नाइट्रो-सेलुलोज से बने खिलौनों को देखकर किलकारी मारते हैं, और दूसरी ओर नाइट्रो-सेलुलोज द्वारा वही भोले-भाले बच्चे काल के गाल में भी ढकेल दिए जाते हैं! कितना विलक्षण विपर्यय है! अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक एवं पत्रकार डा० स्लॉसन ने ठीक कहा है कि 'मानव संविधान

में नाइट्रोजन का कार्य दो प्रकार का रहता है। ब्रह्मा की भाँति, वह कभी पोषण करनेवाले विष्णु और कभी संहार करनेवाले शिव के रूप में प्रकट होती रहती है।' विष्णुरूप नाइट्रोजन का वर्णन हम पिछले लेख में कर चुके हैं, और उसके तांडव की झाँकी इस लेख में आपको देखने को मिल सकी है। कुछ लोग विस्फोटकों की भीषणता को देखकर ईश्वरीय नियमों अथवा विज्ञान को ही कोसने लगते हैं। पर पत्थर फेंककर किसी दूसरे के सिर को फोड़ देने में पत्थर बेचारे का क्या अपराध? यह तो पूर्णतः मनुष्य पर ही निर्भर है कि वह चाहे तो पत्थर को निर्माणात्मक कार्य में और चाहे संहारात्मक कार्य में लगाए! मनुष्य को सत्य की निंदा न करके स्वयं अपने स्वभाव ही को बदलने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए!

नाइट्रोजन के कुछ महत्वपूर्ण यौगिक

पिछले प्रकरणों में हम नाइट्रोजन के आलस्यमय, जीवन प्रतिपालक, एवं विनाशकारी इन तीन स्वरूपों की मनोरंजक कहानी पढ़ चुके हैं। आइए, अब इस अनोखे तत्त्व के कुछ महत्वपूर्ण यौगिकों से आपका परिचय कराएँ, जो कि हमारे लिए भाँति-भाँति रूप में उपयोगी हैं।

अमोनिया

एक चौड़े मुँह की बोतल में कुछ नौसादर लीजिए और उसमें अनबुझे चूने के कुछ टुकड़े छोड़ दीजिए। बोतल को हिलाकर कुछ देर के लिए रख दीजिए और फिर उसे सूँघिए। यदि आप सावधानी से सूँघेंगे तो संभव है कि गंध की तीक्ष्णता से व्याकुल होकर आपको नाक ढक लेनी पड़ेगी। अपने किसी योग्य मित्र से मजाक करने के लिए, कुसमय में ऊँघते हुए किन्हीं महाशय की नींद भगा देने के लिए, अथवा अफीमची की पिनक उचाट देने के लिए यह एक बड़ा ही अच्छा नुस्खा है। अब किसी कलियुगी कुंभकर्ण के कान के पास ढोल पीटने की कोई आवश्यकता नहीं, बस इसी बोतल को खोलकर उसका मुँह उसकी नाक के पास कर देना काफी होगा! इसी तीक्ष्ण गंध-वाली गैस का नाम 'अमोनिया' है। अपने जुकाम को दूर कर देने के प्रयत्न में बहुधा लोग नौसादर और चूना में युकलिप्टस तैल मिलाकर सूँघते हैं।

वनस्पति और प्राणि-कलेवरों अथवा पदार्थों के सड़ने में जिन गैसों का उत्पादन होता है, उनमें अमोनिया भी एक है। गंदे अस्तबलों और पेशाव-खानों में इसकी गंध साफ मालूम पड़ती है। किसी भी नाइट्रोजन (प्रोटीन)-युक्त जीवपदार्थ को गरम करने से जो गैसें निकलती हैं, उनमें भी अमोनिया होता है। इसी-लिए पहले कभी इसका नाम 'हिरनों के सींगों का अर्क' था। पिछले अध्यायों में हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का वर्णन तो आप पढ़ ही चुके हैं। इन्हीं दोनों गंधहीन गैसों के रासायनिक संयोग से नाक में तीर-सी चुभती हुई चढ़ जानेवाली यह अमोनिया गैस बनती है। इसके एक अणु में नाइट्रोजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के तीन परमाणु रहते हैं। हेबर ने पानी से हाइड्रोजन और हवा से नाइट्रोजन निकालकर इन गैसों के संयोग द्वारा यही अमोनिया गैस बनाई थी और इस प्रकार सजीव जगत् को सुलभ नाइट्रोजन का अपरिमित भांडार सौंप दिया था।

प्रयोगशाला म अमोनिया गैस बनाने की विधि

एक भाग नौसादर और दो भाग सूखे पिसे हुए चूने के मिश्रण को गरम करने से सहज ही प्रयोगशाला में अमोनिया उत्पन्न कर ली जा सकती है। उपकरण में मीनार का चूना अमोनिया को शुष्क बनाने में सहायक होता है।

यदि आपको अमोनिया अपनी प्रयोगशाला में बनाना हो, तो इसके लिए नौसादर और चूना से अधिक सस्ते और अच्छे पदार्थ आपको न मिल सकेंगे--वैसे तो किसी भी अमोनियम लवण तथा कास्टिक

सोडा, कास्टिक पोटाश, आदि किसी भी क्षारीय पदार्थ की रासायनिक प्रक्रिया से अमोनिया का उत्पादन होता है। नौसादर का रासायनिक नाम 'अमोनियम क्लोराइड' (NH_4Cl) है और चूने का अनबूझे रूप में 'कैल्शियम ऑक्साइड' तथा (CaO) और बुझे रूप में 'कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड' [$Ca(OH)_2$] है। दोनों की पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा कैल्शियम क्लोराइड बनकर रह जाता है और अमोनिया गैस निकल पड़ती है—

$$2NH_4Cl + Ca(OH)_2 = 2NH_3 + CaCl_2 + 2H_2O$$
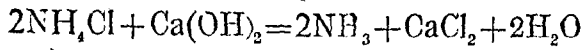
नौसादर बुझा चूना अमोनिया कै०क्लोराइड पानी

एक भाग नौसादर को दो भाग सूखे तथा पिसे हुए बुझे अथवा अनबुझे चूने से मिलाकर एक कठोर शीशे के गोल पेंदेवाले फ्लास्क में ले लीजिए। इस मिश्रण को अनबुझे चूने की तह से ढककर फ्लास्क को नली द्वारा अनबुझे चूने के टुकड़ों से भरी हुई एक मीनार से जोड़ दीजिए। पृ० ९२१ के चित्र के अनुसार, इस मीनार की निकासनली पर एक बोतल अथवा जार औंधा दीजिए। फ्लास्क को गरम करने पर अमोनिया निकलकर बोतल या जार में इकट्ठा होने लगती है। जलशोषक होने के कारण फ्लास्क की ऊपरी तह तथा मीनार में रखा हुआ चूना अमोनिया को शुष्क बनाकर उसे गैस-रूप में निकल जाने में सहायता देता है। अमोनिया हवा से लगभग दुगुनी हलकी होती है, अतएव वह औंधाए हुए पात्र में हवा को नीचे हटाकर एकत्र हो जाती है। अमोनिया एक क्षारीय गैस है, अर्थात् पानी में घुलकर वह अमोनियम हाइड्रॉक्साइड क्षार का उत्पादन करती है ($NH_3 + H_2O = NH_4OH$)। इसी क्षारीय गुण के कारण वह नीले लिटमस अथवा पीली हल्दी से रँगे कागज को लाल कर देती है। यह देखने के लिए कि पात्र अमोनिया से भर गया है कि नहीं, एक भीगा हुआ लिटमस अथवा हल्दी का कागज उसके मुँह के पास ले जाइए। यदि वह लाल हो जाय तो पात्र को भरा समझ लेना चाहिए। एक दूसरा उपाय यह है कि एक शीशे की छड़ के सिरे को सांद्र नमक के तेजाब (हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड) में डुबाकर पात्र के मुँह तक ले जाइए। यदि पात्र अमोनिया से भरा होगा तो छड़ के तेजाब भरे सिरे से घना सफेद धुआँ निकलने लगेगा। अमोनिया हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस से सीधे संयुक्त होकर अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) का उत्पादन कर देती है ($NH_3 + HCl = NH_4Cl$)। यह सफेद धुआँ इसी नौसादर के कणों का होता है।

फव्वारे का मनोरंजक प्रयोग

अमोनिया गैस पानी में अत्यंत घुलनशील होती है। इस घुलनशीलता के कारण एक बड़ा ही मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। इसे 'फव्वारे का प्रयोग' कहते हैं। शीशे के एक बड़े बीकर अथवा तसले में पानी लेकर उसमें थोड़ा-सा फेनालफथलीन का घोल* छोड़ दीजिए। फिर एक सूखे फ्लास्क में अमोनिया गैस भर लीजिए और उसे औंधे ही रखकर एक टोंटीदार नली वाले कार्क से बंद कर दीजिए (इसी पृष्ठ का चित्र देखिए)। अब टोंटीदार नली का बाहरी सिरा फेनालफथलीन मिले पानी में अच्छी तरह डुबाकर फ्लास्क के ऊपर या तो अधिक ठंडा पानी अथवा थोड़ा-सा ईथर छोड़ दीजिए। ठंडक से फ्लास्क की हवा सिकुड़ेगी और पानी ऊपर चढ़ेगा। पानी के संपर्क में आते ही अमोनिया उसमें तेजी से घुलने लगेगी और उसके रिक्त स्थान में बाहर का रंगहीन पानी लाल होकर तेज फव्वारे के रूप में भीतर भरने लगेगा। न समझनेवालों को यह प्रयोग जादू-सा दिखायी देगा। केवल अमोनिया ही नहीं, किसी भी क्षार की उपस्थिति में फेनालफथलीन का घोल लाल हो जाता है। यदि आप बाहर के पानी में थोड़ा लिटमस का घोल मिलाकर उसमें कुछ बूँद तेजाब डाल दें तो वह लाल हो जायगा, लेकिन भीतर फव्वारे के रूप में वह नीला होकर चढ़ेगा। इसी प्रकार हल्दी का पीला पानी चढ़कर लाल हो जायगा। होली का उड़नशील रंग भी अमोनिया के घोल में फेनालफथलीन मिलाकर बनाया जाता है।
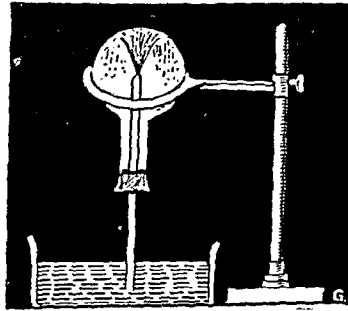
फव्वारे का प्रयोग

फेनालफथलीन के घोल में अमोनिया से भरे फ्लास्क को औंधा रखकर यह मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है।

बर्फ बनाने में अमोनिया का उपयोग

अमोनिया गैस जब संकुचित अथवा द्रवीभूत होती है, या जब वह घुलती है तो गरमी का उत्पादन होता है। इसके विपरीत जब वह प्रसारित अथवा वाष्पीभूत होती है

* इसे बनाने के लिए ६० C. C. स्पिरिट में एक ग्राम फेनालफथलीन घोल लीजिए; फिर उसमें ४० C. C. पानी छोड़कर एक बोतल में चाहें तो छानकर रख लीजिए।

तो ताप के शोषण के कारण ठंडक पैदा होती है। यह अमोनिया के ही लिए नहीं वरन् एक व्यापक सिद्धांत है। पानी में भी यही बात होती है। भीगे कपड़े पहनकर अथवा भीगे शरीर हवा में खड़े होने से जाड़ा इसलिए लगता है कि देह पर से वाष्पीकरण शीघ्रता से होने लगता है। तरल अमोनिया पानी से कहीं अधिक वाष्पशील पदार्थ है, अतएव वह थोड़े समय में ही जल्दी-जल्दी वाष्पीभूत होकर बहुत अधिक ठंडक पैदा कर सकती है। एक फ्लास्क में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल ले लीजिए और उसे लकड़ी के एक गुटके पर थोड़ा-सा पानी छोड़कर रख दीजिए। अब धौंकनी द्वारा तेजी से उसमें हवा बुलबुलाइए। कुछ ही मिनटों में लकड़ी और शीशे के बीच का पानी जम जायगा और फ्लास्क गुटके में चिपका हुआ पाया जायगा। रेफ्रीजरेटरों तथा शीत-भांडारों में अमोनिया के ही वाष्पीकरण द्वारा ठंडक पैदा की जाती है। संकुचित अथवा ठंडा करने से अमोनिया सरलतापूर्वक रंगहीन तरल रूप में द्रवीभूत हो जाती है। इस अमोनिया द्रव के गैसीकरण तथा गैस के प्रसरण में ताप का शोषण अत्यधिक मात्रा में होता है। बर्फ के कारखानों में इसी प्रकार से उत्पादित शीत का उपयोग होता है। पहले संकोचक द्वारा अमोनिया द्रवीभूत कर दी जाती है। इस क्रिया में गरमी का उत्पादन होता है, अतएव संकोचक से निकली हुई गरम तरल अमोनिया ऐसी नलियों में प्रवाहित की जाती है, जिस पर ठंडे पानी के झरने गिरा करते हैं। यहाँ से वह नमक के घोल के तालाब में प्रविष्ट होती है, किन्तु इसके पहले ही वाल्व खोलकर उसका दबाव एकाएक कम कर दिया जाता है, जिससे उसका वाष्पीकरण एवं प्रसरण और साथ ही साथ नमक के घोल से गरमी का शोषण होने लगता है। इस प्रकार नमक के घोल का ताप बर्फ के ताप (0°C) से भी काफी नीचा हो जाता है, किंतु नमक का घोल इस ताप पर भी तरलावस्था में ही बना रहता है। इसी तालाब में बर्फ के पीपे डूबे रहते हैं और उनमें भरा हुआ पानी ठंडा होकर बर्फ हो जाता है। इस तालाब से अमोनिया फिर संकोचक में पहुँचा दी जाती है (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)।

क्षारीय होने के कारण अमोनिया अम्लों को मार देती है और अमोनियम लवण बन जाते हैं। इन लवणों का एक अणु भाग (NH_4) होता है, इसी को अमोनियम कहते हैं। अमोनिया का गैसीय हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से संयोग बड़ा ही मनोरंजक होता है। यह प्रक्रिया भी न
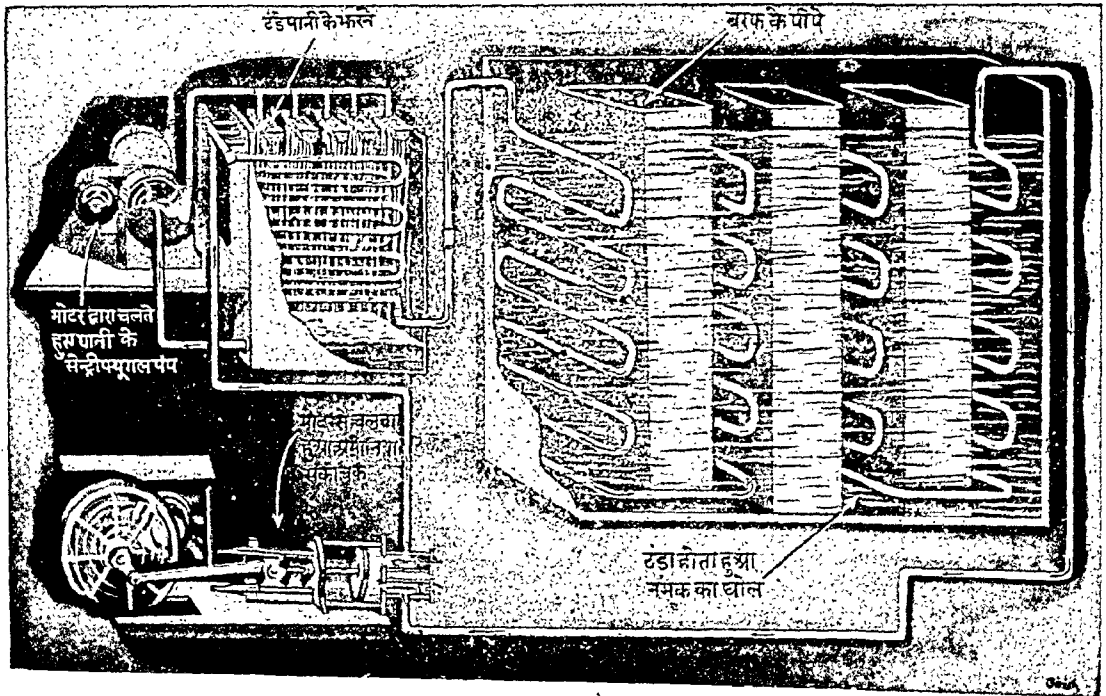
अमोनिया की सहायता से बर्फ कैसे जमाई जाती है

क्या आप जानते हैं कि बाजारों में जो बर्फ बिकती है, उसे तैयार करने में अमोनिया महत्वपूर्ण भाग लेती है? विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।

समझनेवालों के सामने जादू के रूप में दिखाई जा सकती है। एक ग्लास में कुछ बूँद सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड ले लीजिए, और हिलाकर उसे पेंदे पर फैला दीजिए। इस ग्लास को शीशे अथवा दफ्ती के एक टुकड़े से ढक दीजिए। इसी प्रकार एक दूसरे ग्लास में अमोनिया का कुछ प्रबल घोल फैला लीजिए। अब ढकनों सहित एक ग्लास को दूसरे ग्लास पर औंधाकर ऊपर से एक कपड़ा डाल दीजिए। फिर कपड़े के अंदर ही दोनों ढकनों को खींचकर अलग रख दीजिए। अब किसी वस्तु को जलाकर अथवा सिगरेट पीकर उन ग्लासों की ओर धुआँ फेंकिए। कपड़ा उठाने पर दोनों ग्लास घने सफेद धुएँ से भरे दिखाई देंगे ! दर्शक बेचारों को क्या पता कि उन सांद्र घोलों से निकली हुई अदृश्य गैसों ने ही संयुक्त होकर नौसादर के इस धुएँ का उत्पादन किया है ! वे इसे जादू समझेंगे (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र) !
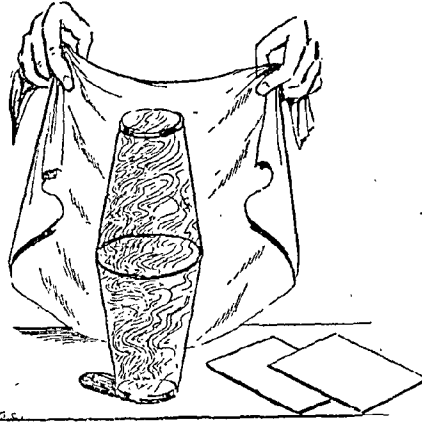
बड़े परिमाण में अमोनिया के लवण ठंडे हलके अम्लों में अमोनिया को मिश्रित करके बनाए जाते हैं। इस प्रकार उत्पादित घोल से सुखाने पर लवण के रवे पृथक् हो जाते हैं। बहुधा कुछ अन्य रासायनिक क्रियाएँ भी काम में लाई जाती हैं। नौसादर या तो अमोनिया हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को मिलाकर, अथवा नमक (सोडियम क्लोराइड) और अमोनियम सल्फेट के घोल को उबालकर बनाया जाता है। दूसरी क्रिया में अणु भागों के विनिमय द्वारा अमोनियम क्लोराइड और सोडियम सल्फेट बन जाते हैं। लगभग सभी सोडियम सल्फेट कम घुलनशील होने के कारण पृथक् हो जाता है और घोल में नौसादर रह जाता है। शेष सोडियम सल्फेट तथा अन्य अशुद्धियों से नौसादर को ऊर्ध्वपातन द्वारा पृथक् कर लेते हैं।

धुएँ का जादू

यह खेल गैसीय हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पर अमोनिया की प्रतिक्रिया द्वारा किया जा सकता है। विवरण इसी पृष्ठ के प्रथम कॉलम में पढ़िए।

अन्य अमोनियम लवणों की भाँति नौसादर एक श्वेत घुलनशील रवादार पदार्थ होता है। घुलने पर वह ऊष्मा को शोषित करता है, अतएव घोल ठंडा हो जाता है। गरम करने पर वह बिना पिघले ही अमोनिया और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की अदृश्य वाष्पों में विघटित हो जाता है, और यह वाष्पें ठंडे स्थान में पहुँचते ही फिर नौसादर के रूप में जम जाती हैं। संक्षेप में, नौसादर ऊर्ध्वपतित होता है। यह लवण बर्तनों में कलई करने और टाँका लगाने में बहुत काम आता है। गरम धातु-पृष्ठ पर नौसादर से निकली हुई हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड आक्रमण करके उस धातु की क्लोराइड का उत्पादन कर देती है, और क्लोराइड वाष्पशील होने के कारण उड़ जाती है। इस प्रकार धातुतल बिलकुल साफ हो जाता है, और टिन अथवा टाँका उस पर सरलता से चढ़ जाता है। बिजली की शुष्क अथवा लेकलांची सेलों में भी नौसादर का उपयोग होता है।

महत्वपूर्ण रासायनिक खाद अमोनियम सल्फेट $[(NH_4)_2SO_4]$, और महत्वपूर्ण विस्फोटक अमोनियम नाइट्रेट (NH_4NO_3) का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। यह विस्फोटक अमोनिया को नाइट्रिक ऐसिड में शोषित करके बनाया जाता है ($NH_3+NHO_3 = NH_4NO_3$)। २५०°C के ऊपर गरम करने पर वह भाप, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन में विच्छेदित होकर विस्फुटित हो जाता है—

$$2NH_4NO_3 = 4H_2O + 4\ N_2 + O_2$$

सन् १९२१ में 'बैडिशे एनिलिन ऐण्ड सोडा फैब्रिक' नामक एक सुविख्यात जर्मन फैक्टरी में अमोनियम नाइट्रेट का एक महाभयंकर धड़ाका हुआ था। कार्यालय के भवन उड़कर साफ हो गए और उनकी जगह पर २५० फीट चौड़ा और ५० फीट गहरा एक खड्ड हो गया ! इसमें ४५० जानें गईं और लगभग डेढ़ अरब रुपये का नुकसान हुआ। इस धड़ाके की आवाज डेढ़ सौ मील तक पहुँची थी, और ५३ मील पर स्थित फ्रैंकफर्ट शहर में भी इसके धक्के से बहुत-कुछ हानि हुई थी। किंतु आज तक यह पता नहीं कि इस धड़ाके का कारण क्या था !

धीरे-धीरे गरम करने पर अमोनियम नाइट्रेट 'हँसानेवाली गैस' का उत्पादन करता है। इसका वर्णन पृष्ठ ९२६ पर आगे दिया हुआ है।

अमोनियम कार्बोनेट अमोनिया का एक अन्य लवण है। अस्थायी होने के कारण वह विच्छेदन द्वारा बराबर

अमोनिया निकालता रहता है। इसीलिए उसमें से हमेशा अमोनिया की तीक्ष्ण गंध आया करती है और लोग उसे जुकाम आदि में सूँघने के काम में लाते हैं।

अमोनियम डाइक्रोमेट [$(NH_4)_2 Cr_2O_7$] नामक लवण अपनी मनोरंजक विच्छेदन-क्रिया के कारण उल्लेखनीय है। इसके अणुसूत्र में Cr क्रोमियम धातु का संकेत है। यह लवण अन्य डाइक्रोमेटों की भाँति गहरे नारंगी रंग का होता है। इसके थोड़े-से छोटे-छोटे स्फटिकों को परखनली में गरम करने से वे अपने आप चिनगारी देते हुए विच्छिन्न होने लगते हैं। नाइट्रोजन और भाप तेजी से निकल जाती है, और हरी चाय से मिलता जुलता क्रोमिक ऑक्साइड का बहुत-सा आयतनिक अंश कुछ परखनली के अंदर रह जाता है और कुछ बाहर बिखर जाता है—

$$(NH_4)_2Cr_2O_7 = N_2 + 4H_2O + Cr_2O_3$$
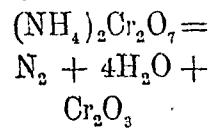
अमोनिया ऑक्सिजन और क्लोरीन के वातावरण में प्रज्ज्वलनशील होती है। उसकी हाइड्रोजन इनसे संयुक्त होकर क्रमश: जल और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में परिणत हो जाती है और नाइट्रोजन गैस मुक्त हो जाती है। यह हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अधिक अमोनिया से संयुक्त होकर नौसादर में बदल जाती है। अमोनिया के घोल में अधिकाधिक क्लोरीन गैस प्रवाहित करने पर, अथवा क्लोरीन गैस को नौसादर के गुनगुने घोल के संपर्क में लाने पर, नाइट्रोजन ट्राइक्लोराइड (NCl_3) नाम के भयानक विस्फोटक का उत्पादन हो जाता है। नाइट्रोजन ट्राइक्लोराइड पानी से ड्योढ़े से भी अधिक भारी एक पीला द्रव होता है। इसकी खोज ड्यूलांग ने की थी, जिसमें उसे अपनी एक आँख और तीन उँगलियाँ गँवा देनी पड़ी थीं। इसका बनाना सदैव महासंकटमय होता है, कारण यह जरा-सी ही छेड़छाड़ से और बहुधा प्रत्यक्षत: अकारण ही विस्फुटित हो जाता है। इसका कोई ठीक नहीं कि वह किस समय फट पड़े। इसी कारण ऐसे बहुत कम रसायनज्ञ हैं, जिन्होंने नाइट्रोजन ट्राइक्लोराइड देखा है। वास्तव में यह पदार्थ भयानकतम और प्रचंडतम विस्फोटकों में से एक है, किंतु उसकी शक्ति का नियंत्रण करने में अभी मनुष्य सफल नहीं हुआ! यदि वह किसी दिन सफल हो सका, तो नाइट्रोजन क्लोराइड दोहरा काम करेगा—प्रचंड विस्फोटक का और विषाक्त गैस के उत्पादक का भी, क्योंकि इससे निकली हुई क्लोरीन युद्धोपयोगी विषाक्त गैस होती है।

अमोनिया के सांद्र घोल में आयोडीन मिलाने से एक काला पदार्थ अवक्षिप्त होता है। इसे नाइट्रोजन आयोडाइड कहते हैं। इसका अणुसूत्र NH_3NI_3 लिखा जाता है, कारण वह अमोनिया और नाइट्रोजन ट्राइआयोडाइड के एक-एक अणु के संयोग से बना होता है। यह भी एक विस्फोटक पदार्थ है किन्तु नाइट्रोजन क्लोराइड जैसा प्रचंड नहीं। यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो नाइट्रोजन आयोडाइड के साथ तमाशा भी किया जा सकता है। अवक्षिप्त नाइट्रोजन आयोडाइड को छन्ना कागज द्वारा छान लीजिए और जब वह भीगा ही रहे, उसी समय चिमटी द्वारा छन्ना कागज के छोटे-छोटे टुकड़े कर लीजिए। सूखने पर ये टुकड़े छड़ी द्वारा छूने से विस्फुटित होंगे। यदि ये टुकड़े पास-पास कतार में रख दिए जांय और उनमें से एक विस्फुटित कर दिया जाय, तो उसके विस्फोटन के धक्के से दूसरे टुकड़े अपने आप विस्फुटित होते चले जायँगे। भीगा नाइट्रोजन आयोडाइड अधिक स्थायी होता है, किंतु सूखने पर वह मक्खी के चलने, फूँकने अथवा धूलिकण के गिरने तक से विस्फुटित हो जाता है! विस्फोटन होने पर अदृश्य नाइट्रोजन हवा में मिल जाती है, किंतु आयोडीन का बैंजनी धुँआ दिखायी देता है।

हँसानेवाली गैस का विचित्र प्रभाव

नाइट्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बननेवाले पाँच प्रकार की ऑक्साइडों में सबसे मनोरंजक और उपयोगी 'नाइट्रस ऑक्साइड' गैस होती है, जिसे सूँघने पर मनुष्य उन्माद से अट्टहास करने लगता है। इसीलिए इसे 'हँसानेवाली गैस' भी कहते हैं।

'हँसानेवाली गैस'

नाइट्रोजन ऑक्सिजन से भिन्न दशाओं में संयुक्त होकर पाँच ऑक्साइडों का उत्पादन करती है। इनमें नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) व नाइट्रिक ऑक्साइड (NO) अदृश्य, और नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड (N_2O_3) व नाइट्रोजन परॉक्साइड (NO_2) भूरे लाल रंग की गैसें होती हैं। नाइट्रोजन पेण्टाक्सॉइड (N_2O_5) सफेद मणिभीय पदार्थ होता है, जो तनिक भी गरमी पाकर पिघलकर भूरी लाल वाष्प में परिणत हो जाता है। पर इन रूपों में सबसे अधिक उपयोगी और मनोरंजक नाइट्रस ऑक्साइड गैस होती है। इसे न्यूनतर परिणामों में सूँघने से चित्त उत्तेजित और उन्मत्त हो जाता है, और बहुधा सूँघनेवाला उन्माद में आकर अट्टहास करने लगता है। इसीलिए इस गैस का नाम 'हँसानेवाली गैस' पड़ा गया है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों पर उसका प्रभाव एक ही सा नहीं पड़ता। कोई हँसने तो कोई नाचने-कूदने, और कुछ लोग विचित्र प्रकार का ही व्यवहार करने लगते हैं (देखिए पृष्ठ ९२५ का चित्र)। यदि थोड़ी-सी ही देर के लिए हवा की नाइट्रोजन और ऑक्सिजन इस गैस के रूप में संयुक्त हो जायँ, तो मनुष्य विचित्र आचरणों द्वारा अद्भुत दृश्य उपस्थित कर दें! अधिक गैस सूँघने से सूँघनेवाले में पीड़ा की चेतना जाती रहती है। इसके बाद वह अचेत हो जाता है, यहाँ तक कि बहुत देर तक सूँघने रहने से मृत्यु तक हो सकती है। इस चेतनानाशक गुण के कारण नाइट्रस ऑक्साइड छोटे और विशेषतः दाँत-संबंधी चीरफाड़ में बहुत काम में लाई जाती है।
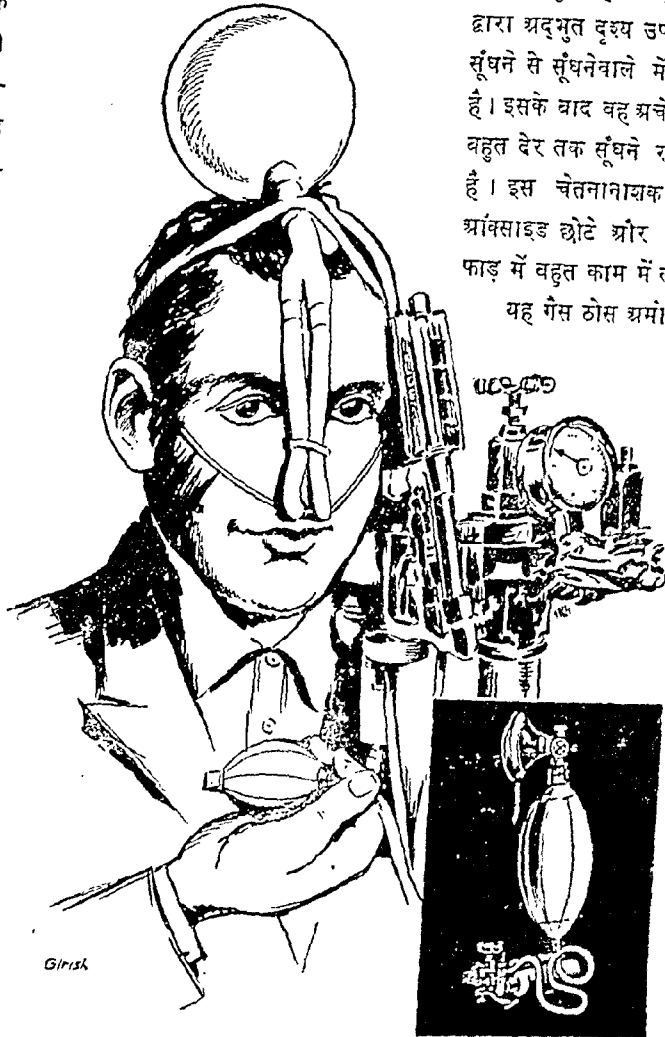
'नाइट्रस ऑक्साइड' का चिकित्सा के क्षेत्र में उपयोग

छोटे विशेषतः दाँत-संबंधी चीरफाड़ में मनुष्य को पीड़ा के प्रति अचेत कर देने के लिए 'हँसानेवाली गैस' का व्यवहार होता है। कोने में दिखाया हुआ यंत्र इस गैस को सुँघाने में बहुधा काम में लाया जाता है। नीचे पड़े हुए सिलिंडरों से गैस रबड़ के थैले में भर ली जाती है। फिर उससे वह मुँह पर ढक देनेवाली टोपी के भीतर पहुँचकर एक नली द्वारा बाहर निकलती रहती है। ऊपर एक ऐसा सुँघानेवाला यंत्र प्रदर्शित है, जिसका आविष्कार पिछले दिनों हुआ है। इस यंत्र द्वारा रोगी स्वयं हवा और नाइट्रस ऑक्साइड का एक मिश्रण सूँघता रहता है, और वह पूर्णतः अचेत नहीं होता। गैस के प्रभाव से उसे दर्द नहीं होता। दर्द मालूम होते ही वह हाथ में रखे हुए रबड़ के यन्त्र को दबाने लगता है, जिससे नाइट्रस ऑक्साइड अधिक मात्रा में पहुँचने लगती और दर्द बंद हो जाता है।

यह गैस ठोस अमोनियम नाइट्रेट को एक गोल पेंदे के फ्लास्क में धीरे-धीरे गरम करके बनाई जाती है—

$$NH_4NO_3 = N_2O + 2H_2O$$

विस्फोटन के संकट से बचने के लिए ताप २००°C से बढ़ने नहीं दिया जाता। बहुधा अमोनियम सल्फेट या सोडियम नाइट्रेट का मिश्रण गरम किया जाता है। इसमें अणु-भागों के विनिमय द्वारा अमोनियम नाइट्रेट और सोडियम सल्फेट बनता रहता है, और यह अमोनियम नाइट्रेट विच्छिन्न होकर नाइट्रस ऑक्साइड का उत्पादन करता रहता है। इस नाइट्रस ऑक्साइड में नाइट्रोजन परॉक्साइड, क्लोरीन, नाइट्रिक ऑक्साइड और अमोनिया भी कुछ-न-कुछ मिली रहती

हैं। रोगी के लिए हानिकारक होने के कारण इन अशुद्धियों का निकाल डालना आवश्यक होता है। अतएव गैस को एकत्र करने के पहले क्रमशः कास्टिक पोटाश घोल, फेरस सल्फेट घोल, तथा सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में बुलबुला लिया जाता है। नाइट्रोजन परॉक्साइड एवं क्लोरीन कास्टिक पोटाश में, नाइट्रिक ऑक्साइड फेरस सल्फेट में और अमोनिया सल्फ्यूरिक ऐसिड में शोषित हो जाती है। नाइट्रस ऑक्साइड ठंडे पानी में बहुत घुलती है, अतएव वह गरम पानी अथवा पारद को नीचे हटाकर जारों अथवा अन्य गैसपात्रों में इकट्ठी कर ली जाती है।

ऑक्सिजन की भाँति नाइट्रस ऑक्साइड में भी वस्तुएँ तेजी और अधिक उजाले के साथ जलती हैं; कारण, नाइट्रस ऑक्साइड सरलता से विच्छिन्न होकर अपनी ऑक्सिजन जलती हुई वस्तु को दे देती है और उसमें ऑक्सिजन का अंश हवा में ऑक्सिजन के अंश से कहीं अधिक होता है।

नाइट्रिक ऑक्साइड गैस आसमान में तड़ित द्वारा बना करती है और वर्कलैण्ड और आइड एवं ऑस्टवाल्ड की विधियों में पहले इसी का उत्पादन होता है। प्रयोगशाला में वह ताँबे पर आधे नाइट्रिक ऐसिड और आधे पानी के मिश्रण की क्रिया से बनाई जाती है। एक फ्लास्क में ताँबे के कुछ छीलन ले लिये जाते हैं और उसमें थिसिल कीप द्वारा नाइट्रिक ऐसिड मिलाकर उसका नीचे का सिरा ऐसिड में डुबा दिया जाता है। पहले भूरे लाल रंग की गैस दिखाई देती है, किंतु शीघ्र ही वह हट जाती है और रंगहीन नाइट्रिक ऑक्साइड पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है। इस गैस का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि हवा या ऑक्सिजन के संपर्क में आते ही वह ऑक्सिजन से संयुक्त होकर भूरे लाल रंग की नाइट्रोजन परॉक्साइड में परिणत हो जाती है; और पानी में घुलकर यही नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन कर देती है। नाइट्रिक ऐसिड के उत्पादन की प्राकृतिक और कृत्रिम विधियाँ इसी क्रिया पर निर्भर हैं। रंग-परिवर्तन के कारण यह क्रिया मनोरंजक भी होती है। नाइट्रिक ऑक्साइड को अभी तक कोई सूँघ नहीं सका है; कारण नाक में चढ़ने के पहले ही वह हवा के संपर्क से परिवर्तित हो चुकती है।

प्रयोगशाला में शुद्ध नाइट्रोजन परॉक्साइड सरलतापूर्वक बनाने के लिए एक मजबूत परखनली में लेड नाइट्रेट को गरम किया जाता है--

$$2Pb(NO_3)_2 = 2PbO + 4NO_2 + O_2$$

लेड नाइट्रेट — लेड मोनॉक्साइड (मुर्दासंख) — नाइट्रोजन परॉक्साइड — ऑक्सिजन
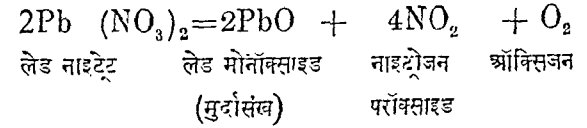
नाइट्रोजन परॉक्साइड बर्फ में गड़ी हुई एक चूल्हाकार नली में प्रवाहित करके द्रवीभूत कर ली जाती है, और उससे निकलती हुई ऑक्सिजन पानी को हटाकर इकट्ठी कर ली जा सकती है। केवल लेड नाइट्रेट ही नहीं, अन्य बहुतेरे नाइट्रेट और नाइट्रिक ऐसिड भी गरम करने पर इस गैस का उत्पादन करते हैं।
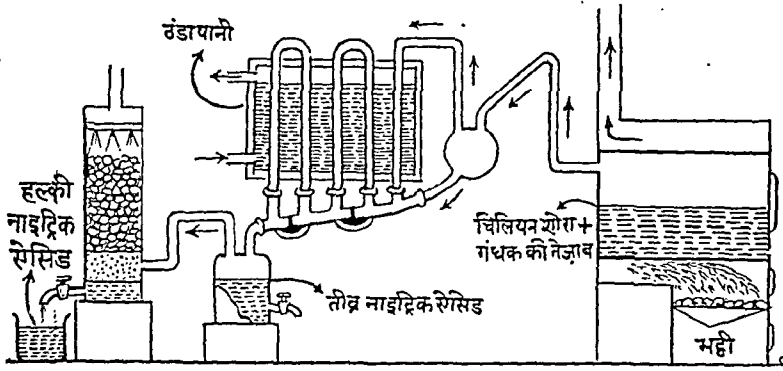
चिलियन शोरे से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन

बृहत् परिमाण में नाइट्रिक ऐसिड के उत्पादन के लिए चिलियन शोरे पर सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड की प्रक्रिया द्वारा, वाष्प रूप में निकली हुई नाइट्रिक ऐसिड को ठंडी करके इकट्ठा कर लेते हैं।

नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड, नाइट्रिक ऑक्साइड और नाइट्रोजन परॉक्साइड को मिश्रित कर देने से बनती है ($NO + NO_2 = N_2O_3$)। नाइट्रोजन पेण्टॉक्साइड का महत्व केवल यही है कि वह नाइट्रिक ऐसिड की अम्लीय ऑक्साइड है, अर्थात् वह पानी से तीव्रता से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऐसिड में परिणत हो जाती है। यह फास्फोरस पेण्टॉक्साइड नामक प्रबलतम जलशोषक और सांद्र नाइट्रिक ऐसिड के मिश्रण को गरम करने से पैदा होती है।

नाइट्रिक ऐसिड

सुनारों के यहाँ आपने नाइट्रिक ऐसिड (शोरे का तेजाब) का उपयोग शायद देखा होगा। चाँदी, ताँबा, जस्ता आदि धातुओं को इस अम्ल में घुलते देर नहीं लगती।

केवल धातुओं को घोलने में ही नाइट्रिक ऐसिड का उपयोग नहीं होता—मनुष्य प्रतिवर्ष लाखों टन नाइट्रिक ऐसिड विस्फोटकों और नाइट्रेट-खादों के ही उत्पादन में खर्च कर डालता है। इसके अलावा सेलुलायड (नाइट्रो-सेलुलोज + कपूर)—जिससे फिल्म, सलाइयाँ, कंघे, खिलौने, तथा अनेकानेक शृङ्गार-संबंधी वस्तुएँ, आदि बनती हैं—तथा कलोडियन (नाइट्रो-सेलुलोज का अल्कोहाल और ईथर के मिश्रण में घोल), जिससे पारदर्शक झिल्लियाँ, कृत्रिम रेशम, वार्निशें आदि अनेकानेक चीजें बनाई जाती हैं, नाइट्रिक ऐसिड की ही देन हैं। बिजली की कुछ सेलों में भी इसका उपयोग होता है। इसके उत्पादन की बर्कलैण्ड और आइड तथा ऑस्टवाल्ड की विधियों का वर्णन हम कर चुके हैं। चिलियन शोरे पर सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड की क्रिया द्वारा भी इसका उत्पादन होता है। ढलवाँ लोहे के भपके में शोरा और गंधकाम्ल का मिश्रण गरम किया जाता है, जिससे नाइट्रिक ऐसिड वाष्परूप में निकल जाती है और सोडियम सल्फेट भपके में रह जाता है। यह नाइट्रिक ऐसिड वाष्प, हवा अथवा पानी से ठंडी होती हुई नलियों में प्रवाहित होकर द्रवरूप में इकट्ठी होने लगती है। उबलने पर नाइट्रिक ऐसिड का कुछ अंश जलवाष्प, नाइट्रोजन परॉक्साइड, तथा ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाता है ($4HNO_3 = 2H_2O + 4NO_2 + O_2$), अतः इस विधि में निकली हुई गैसों को झरते हुए ठंडे पानी की मीनार में में शोषित करके फिर नाइट्रिक ऐसिड में बदल लिया जाता है। प्रयोगशाला में नाइट्रिक ऐसिड तैयार करने के लिए थोड़ा-सा चिलियन शोरा (सोडियम नाइट्रेट) अथवा भारतीय शोरा (पोटैशियम नाइट्रेट) शीशे के एक भपके में ले लीजिए, और कुछ सांद्र गंधकाम्ल मिलाकर उसे बालुका-कुंडी अथवा अस्बेस्टस लगी हुई जाली पर रखकर गरम कीजिए। थोड़ी देर में नाइट्रिक ऐसिड के विच्छेदन से बनी हुई भूरी लाल नाइट्रोजन परॉक्साइड तथा स्वयं नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प से भपका भर जायगा, और फिर बूँद-बूँद करके नाइट्रिक ऐसिड फ्लास्क में जमा होने लगेगी। इस प्रकार जो नाइट्रिक ऐसिड बनती है, वह नाइट्रोजन परॉक्साइड के उसमें घुले होने के कारण पीली होती है। इसके भीतर धौंकनी द्वारा हवा को बुलबुलाने से नाइट्रोजन परॉक्साइड निकल जाती है और ऐसिड रंगहीन हो जाती है।

प्रयोगशाला में शोरे से नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन

शीशे के एक भपके में शोरे के साथ कुछ गंधकाम्ल मिलाकर गरम करने पर नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन किया जा सकता है, जो बूँद-बूँद करके ठंडे पानी में रखखे हुए फ्लास्क में जमा हो जायगा।

केवल शोरा ही नहीं, किसी भी नाइट्रेट लवण को सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गरम करने से नाइट्रिक ऐसिड स्रवित होने लगती है। इसका कारण यह है कि नाइट्रिक ऐसिड गंधकाम्ल से कहीं अधिक वाष्पशील है—नाइट्रिक ऐसिड ८६°C. पर और सल्फ्यूरिक ऐसिड ३३८°C. पर उबलती है। अतः नाइट्रेट लवण को गंधकाम्ल के साथ गरम करने पर अणभागों के विनिमय द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बनकर वाष्पीभूत हो जाती और सल्फेट व शेष सल्फ्यूरिक ऐसिड बच रहती है।

शुद्ध नाइट्रिक ऐसिड एक रंगहीन धूमोत्पादक द्रव होता है। किसी रंगहीन बोतल में नाइट्रिक ऐसिड कुछ खाली भरने पर कुछ दिनों में पीली पड़ जाती है और बोतल का रिक्त भाग भूरे लाल धूम से भरा दिखाई देता है। बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड की वाष्प उजाले में धीरे-धीरे विच्छिन्न होती रहती है। वह इसीलिए लालरंग की बोतलों में रक्खी जाती है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड बड़ी ही कातर वस्तु होती है। उसे त्वचा में न लगने देना चाहिए, नहीं तो घाव हो सकता है। खाल पर पड़ जानेवाली फुन्सियाँ बहुधा सांद्र नाइट्रिक ऐसिड के स्पर्श से काट दी जाती हैं। धोखे से छू भर जाने से खाल पीली पड़कर कुछ दिनों में निकल जाती है। यह पीला रंग खाल पर पिक्रिक ऐसिड के बन जाने के कारण होता है। यदि नाइट्रिक ऐसिड कपड़े पर पड़ जाय, तो उसे तुरंत अमोनिया या (यदि वह न मिले तो) अन्य किसी क्षार के घोल से धो देना चाहिए। कुछ ही सैकंडों की देर हो जाने से कपड़ा कट जाता है। नाइट्रिक ऐसिड, प्रबल अम्ल होने के कारण, नीले लिटमस को तुरंत लाल कर देती है; और आगे, अनेक धातुओं

तथा ग्लिसरीन, सेलुलोज आदि कार्बनिक यौगिकों को नाइट्रेटों में परिवर्तित कर देती है। धातुओं के नाइट्रेट नाइट्रिक ऐसिड के ही लवण कहे जाते हैं, कारण वे इसी अम्ल से हाइड्रोजन का स्थान धातुओं के ले लेने से बनते हैं।

नाइट्रिक ऐसिड से विच्छेदन द्वारा ऑक्सिजन निकलती है, इसीलिए वह एक प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थ है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड में रक्त-तप्त कोयला डाल देने से वह तेज उजाले के साथ जल उठता है, और खूब गरम किए गए लकड़ी के बुरादे पर उसे छोड़ने से बुरादे में आग लग जाती है। नाइट्रिक ऐसिड अनेक धातुओं को नाइट्रेटों में परिणत करके घुला देती है। अन्य अम्लों में धातु घुलने पर हाइड्रोजन निकलती है। नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोजन को निकलने का मौका ही नहीं देती, क्योंकि निकलते ही वह उसे ऑक्सीकरण द्वारा पानी में बदल देती है और वह स्वयं अवकृत होकर प्रायः नाइट्रोजन के ऑक्साइडों के रूप में निकल जाती है। किसी धातु के साथ नाइट्रोजन की कौन-सी ऑक्साइड उत्पन्न होगी, यह नाइट्रिक ऐसिड की सांद्रता तथा ताप पर निर्भर रहता है। सांद्र नाइट्रिक ऐसिड का एक भाग और सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के चार भागों को मिलाने से जो मिश्रण बनता है, उसे 'अम्लराज' कहते हैं, क्योंकि अन्य अनेक अघुलनशील पदार्थों के अलावा उसमें धातुओं के राजा सुवर्ण और प्लैटिनम तक घुल जाते हैं!

बात यह है कि नाइट्रिक ऐसिड हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन को ऑक्सीकरण द्वारा पानी में परिवर्तित कर देती है, और इस प्रकार हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से निकलती हुई 'नवजात' क्लोरीन अत्यधिक क्रियाशील होने के कारण सुवर्ण, प्लैटिनम आदि पर आक्रमण कर उन्हें घुलनशील क्लोराइडों में बदल देती है। इसी रासायनिक क्रिया को न समझ सकने के कारण पुरातन लोगों ने सिंह (अम्लराज) द्वारा हड़पे जा रहे सूर्य (सुवर्ण) के प्रतीक द्वारा उसे समझाया था!

हवा और उसके अद्भुत अवयव

हवा का भी महत्व क्या किसी को बतलाने की आवश्यकता है? वस्तुतः हवा के वरदान की ही बदौलत इस धरती पर जीवन का विकास संभव हो सका है। इस हवा का रासायनिक स्वरूप क्या और कैसा है तथा किन-किन अवयवों को मिलाकर वह बनी है, यही इस प्रकरण में बताया जा रहा है।

जिस अदृश्य वायु के टनों बोझ से हम निरंतर दबे रहते हैं, जिसके बिना हमारा जीवन असंभव है और जो सदैव हमारे सुख-दुःख तथा आराम और कष्ट का एक महान् कारण रहती है, उसी को मनुष्य आदिकाल से लेकर अब से केवल सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तक के लाखों वर्ष लम्बे समय में भी पहचान नहीं पाया। न जाने कितने समय तक वह उसे देवता समझकर उसकी आराधना करता रहा, लेकिन इसका कारण अज्ञान पर अवलंबित केवल एक कोरी कल्पना थी। वास्तव में, उस समय मनुष्य के लिए प्रकृति प्रायः शत प्रति शत एक रहस्य थी——वह उसकी अनुल्लंघनीय वैज्ञानिकता से नितान्त अनभिज्ञ था। अपने ज्ञान के उदयकाल में उसने हवा की महत्ता का अनुभव करके उसे पंच तत्त्वों में स्थान दिया, लेकिन यह वर्गीकरण अपरिपक्व और उथले निरीक्षण पर निर्धारित था। सत्रहवीं शताब्दी में राबर्ट ब्वॉयल आदि चतुर पुरुषों ने इस प्रकार के अटकलों की व्यर्थता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, और इन्हीं के द्वारा निर्धारित मार्ग पर अग्रसर होकर अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रदरफर्ड, शीले, प्रीस्टले और लवॉसियर आदि व्यक्तियों ने प्रयोगों द्वारा हवा के निष्क्रिय और क्रियाशील अवयवों के अस्तित्व को सिद्ध किया। तब तक प्रचलित फ्लोजिस्टन-वाद आदि अंड-बंड विचारों का भंडाफोड़ लवॉसियर ने जिस प्रकार किया था, वह विज्ञान के इतिहास में एक अमर घटना रहेगी। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में हवा के रहस्योद्घाटन का प्रारम्भ हुआ। यह वास्तव में हवा का ही नहीं, रसायन के ही रहस्य का उद्घाटन था। रसायन विज्ञान की नींव हवा के ही रहस्योद्घाटन द्वारा पड़ी, और बिना रसायन के क्रमबद्ध विकास के अन्य विज्ञानों का विकास भी सर्वथा असंभव था। विज्ञान-मन्दिर के आदिकाल से जकड़े हुए द्वार तक लोग ब्वॉयल के निर्देश द्वारा पहुँच सके, किन्तु उसे लवॉयसियर आदि वैज्ञानिक अपनी वायु-विद्या द्वारा ही खोल सके। उसके खुलते ही मनुष्य ने आधुनिक वैज्ञानिक युग में प्रवेश किया।

ध्यानपूर्वक विचार करने से हम देखते हैं कि संसार के प्राय: सभी रासायनिक परिवर्तन हवा के कारण ही संभव होते हैं। मैं इस समय बैठा हुआ यह लेख लिख रहा हूँ। जरा देखिए कि मेरे चारों ओर हवा क्या-क्या कर रही है। मेरे फेफड़े स्वयं बार-बार हवा को खींच रहे हैं, और उसकी ऑक्सिजन कार्बन डाइ-ऑक्साइड में परिणत होकर निकलती जा रही है। नीचे सड़क पर हवा में ही साँस लेकर ताँगे में जुता हुआ चला जा रहा घोड़ा अपने जीवन और कार्य का संचालन कर रहा है। सड़क के उस ओर पल्लवित, पुष्पित और सुरभित होता हुआ वृक्ष हवा में साँस लेकर ही अपनी जीवन-क्रियाओं को संभव कर रहा है। मेरे सामने जो कुछ भी लकड़ी, कपड़े अथवा कागज का सामान है, उसे पेड़-पौधों में हवा ने ही श्वासरूप में प्रविष्ट हो-होकर किसी समय में बनाया था। इनमें स्थिर कार्बन के परमाणु किसी समय कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अणुओं के रूप में हवा में डोल रहे थे। ऊपर रसोई में अँगीठी में कोयला और चूल्हे में लकड़ी जल रही है, अर्थात् कार्बन हवा की क्रिया से कार्बन डाइ-ऑक्साइड में बदलकर फिर हवा में लौटा जा रहा है। नीचे, यह देखिए, सड़क पर उधर से एक मोटरकार और इधर से मोटर-साइकिल निकल गई। क्या उन पर बैठे हुए व्यक्तियों को यह ज्ञात है कि हवा की ही रासायनिक क्रिया द्वारा कार्बन एवं हाइड्रोजन का यौगिक पेट्रोल जलकर, अर्थात् कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा पानी में परिवर्तित होकर, मोटरों को शक्ति प्रदान कर रहा है? रसोई में रक्खी हुई लोहे की कढ़ाई पर यह भूरे लाल रंग की जंग हवा की क्रिया से ही लगी है।

उधर सड़क के उस पार वृक्ष के आगे पड़ी हुई गंदगी हवा के ही ऑक्सिजन और कीटाणुओं द्वारा सड़ी जा रही है, और कल का दूध आज हवा के ही कीटाणुओं द्वारा खट्टा हो गया है—उसकी शकर लैक्टिक एसिड में परिणत हो गई है। बहुत दिन से रक्खा हुआ पान का चूना अब मंद पड़ गया है—हवा की ही कार्बन डाइ-ऑक्साइड की क्रिया से चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड क्षार) खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट) नामक उदासीन यौगिक में बदलकर अपनी तेजी खो बैठा है। यही क्रिया तो दिवाल पर पुते हुए चूने पर भी हुई है। मैं यह लेख फाउंटेन-पेन से लिख रहा हूँ। मैं देखता हूँ कि पहले के लिखे हुए अक्षर गहरे रंग के हो गए हैं, और अभी लिखे हुए हलके रंग के हैं। यह रंग-परिवर्तन हवा की ऑक्सीकारिणी क्रिया द्वारा ही हुआ है। केवल प्राकृतिक परिवर्तनों में ही नहीं, अनेक कृत्रिम विधियों में भी हवा महत्वपूर्ण भाग लिया करती है। भट्टियों का जलना; अमोनिया, नाइट्रिक ऐसिड, सल्फ्यूरिक ऐसिड आदि पदार्थों का निर्माण; तथा ताँबा, जस्ता, सीसा आदि धातुओं का निकालना बहुधा हवा के ही रासायनिक कार्य पर निर्भर रहता है। वास्तव में यदि हवा को संसार की रासायनिक सक्रियता की देवी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन का भारीय अनुपात

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन की खोज होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक लोग हवा के इन दो प्रमुख अवयवों के आयतनिक और भारीय अनुपातों को निर्धारित करने का प्रयत्न करने लगे। रदरफर्ड (१७७२) और शीले (१७७४) ने हवा में फास्फोरस जलाकर लवॉसियर और प्रीस्टले (१७७४) ने पारा गरम करके लीबिग (१८५१) ने कॉस्टिक-क्षारयुक्त पाइरोगलॉल के घोल में तथा ड्यूमास (१८८१) और जॉली (१८७९) ने तप्त ताम्र-छीलनों में ऑक्सिजन शोषित करके; एवं कैवेण्डिश (१७६०) आदि अन्य वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा इन अनुपातों को निर्धारित किया। सभी के प्रयोगों से यह निश्चित हुआ कि हवा का लगभग पाँचवाँ अंश ऑक्सिजन है और शेष चार अंश नाइट्रोजन के हैं। उनमें ड्यूमास और जॉली के प्रयोग सबसे अधिक शुद्ध थे। ड्यूमास ने ऑक्सिजन और नाइट्रोजन का भारीय अनुपात २३ : ७७ और जॉली और कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने उसका आयतनिक अनुपात २१ : ७९ निकाला। पाठक इसी लेख में आगे देखेंगे कि इन वैज्ञानिकों के निष्कर्ष भी सर्वथा शुद्ध न थे। हवा के रहस्यों का उद्घाटन अभी बहुत-कुछ शेष था। उसके अनेकानेक अद्भुत अवयवों का आविष्कार इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक होता रहा है, और उसके विभिन्न अवयवों के परिमाणों पर तो अब भी प्रयोग होते जा रहे हैं।

हवा मिश्रण है या यौगिक?

यह जानकर कि हवा प्रधानतया दो मूल तत्त्वों से बनी है, लोगों को यह शंका हुई कि हवा में ये दोनों मूल तत्त्व स्वतन्त्र रूप से ही मिले हुए हैं अथवा परस्पर रासायनिक बंधन द्वारा संयुक्त हैं—अर्थात् हवा मिश्रण है या यौगिक? इस शंका के समाधान में निम्न तर्क किए गए और इसका मिश्रण होना स्पष्ट हो गया—

(१) रासायनिक यौगिकों में विभिन्न मूल तत्त्वों के परिमाणों का अनुपात सदैव वही रहता है। अमोनिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का एक यौगिक है; वह किसी भी

विधि से कहीं भी उत्पादित की गई हो, उसमें इन मूल तत्त्वों का आयतनिक अनुपात सदैव २ : ३ और भारीय अनुपात १४ : ३ रहेगा । यदि हवा भी यौगिक है तो अनुपातों की यही स्थिरता इसमें भी मिलनी चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता । अधिक भीड़वाले कमरों तथा बेकार पड़े हुए कुओं, बंद मोरियों आदि स्थानों में खुली हवा की अपेक्षा ऑक्सिजन का परिमाण कम रहता है । वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में भी ऑक्सिजन के भारी होने के कारण उसका परिमाण कम होता जाता है ।

(२) रासायनिक संयोग में प्रायः ताप का उत्पादन अथवा उसका शोषण होता है। ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को वायु के इन्हीं अवयवों के अनुपात में मिलाने पर वायु-जैसे गुणोंवाला मिश्रण बन जाता है, लेकिन ताप का उत्पादन अथवा शोषण बिलकुल नहीं होता ।

(३) यौगिकों के अवयव केवल रासायनिक साधनों द्वारा ही अलग किए जा सकते हैं, लेकिन मिश्रणों के अवयव भौतिक अथवा यांत्रिक साधनों द्वारा भी पृथक् किए जा सकते हैं । तरल हवा के आंशिक वाष्पीकरण द्वारा नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का पृथक्करण एक भौतिक विधि पर ही निर्भर है। पानी में घुली हवा में ऑक्सिजन का परिमाण उसके अधिक घुलनशील होने के कारण अधिक होता है । किसी यौगिक के अवयवों के परिमाण इस प्रकार घट-बढ़ नहीं सकते । फिर, जब हवा किसी रंध्रमय पात्र में रक्खी जाती है तो रंध्रों में से नाइट्रोजन, ऑक्सिजन से हलकी होने के कारण, अधिक तेजी से निस्सरित होने लगती है । यह बात मिश्रण में ही संभव है । यौगिकों के अवयव रंध्रों द्वारा इस प्रकार पृथक् नहीं किये जा सकते ।

(४) यदि हम हवा को यौगिक मानें तो ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के आयतनिक अनुपात से, रासायनिक सिद्धांतों के अनुसार, उसका अणुसूत्र N_4O निकलता है, और इस सूत्र के अनुसार हवा को हाइड्रोजन से ३६ गुनी भारी होना चाहिए । लेकिन हवा हाइड्रोजन से केवल १४.३ गुनी ही भारी होती है, और उसका घनत्व इतना तभी हो सकता है, जब हम उसे ऑक्सिजन (घनत्व = १६) और नाइट्रोजन (घनत्व = १४) का मिश्रण मानें ।

निष्क्रिय अवयव

सन् १७८५ में कैवेण्डिश ने हवा की नाइट्रोजन को ऑक्सिजन के साथ बिजली की चिनगारियों द्वारा पूर्णतः संयुक्त करने का प्रयत्न किया । इस प्रकार उत्पादित नाइट्रोजन परॉक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल में और शेष ऑक्सिजन को सोडियम सल्फाइड के घोल में शोषित करके उसने देखा कि प्रत्येक बार एक रंगहीन गैस का बुलबुला (जिसका आयतन ली हुई नाइट्रोजन का १/१२० होता है) बच रहता है । कैवेण्डिश ने इस बुलबुले को बिजली की चिनगारियों द्वारा ऑक्सिजन से संयुक्त कर देने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन वह सफल न हुआ । कैवेण्डिश का यह निरीक्षण वास्तव में, बड़ा ही महत्वपूर्ण था, किंतु उसके सौ वर्ष से भी अधिक बाद तक कोई उसे समझ लेने में समर्थ न हो सका । इसी वर्ष लार्ड रैले ने प्रयोग द्वारा निश्चित किया कि हवा

सर विलियम रैमजे

जिन्होंने आर्गन, नियन आदि निष्क्रिय गैसों की खोज की ।

से निकाली हुई नाइट्रोजन के एक लीटर का भार १.२५७ ग्राम होता है, किन्तु यौगिकों से बनाई हुई गैस का भार केवल १.२५१ ग्राम होता है । इस बात को रैले ने एक पत्र के रूप में 'नेचर' नामक वैज्ञानिक पत्र में प्रकाशित करवाया और अपने पाठकों से प्रार्थना की कि वे इसका कारण ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करें । 'नेचर' के जिस 'रासायनिक पाठक' का ध्यान तुरन्त इस समस्या की ओर आकर्षित हुआ, वह ग्लास्गो-निवासी विलियम रैमजे था । उसने उत्साह और दृढ़ता के साथ इस समस्या

में अपनी खोज शुरू कर दी। अपनी विस्तृत विधि में उसने हवा की कार्बन डाइ-ऑक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल में, जल-वाष्प को सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में, और ऑक्सिजन को रक्त-तप्त ताम्र छीलनों में शोषित करके पृथक् कर लिया, और बची हुई गैस को वह दस दिन तक रक्त-तप्त मैग्नेशियम पर प्रवाहित करता रहा। इतने समय में प्रायः सभी नाइट्रोजन भी मैग्नेशियम से संयुक्त होकर पृथक् हो गई। इस प्रकार जो गैस बची उसका आयतन हवा के आयतन का लगभग १ प्रतिशत था। इसकी परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि जहाँ हाइड्रोजन की अपेक्षा नाइट्रोजन १४ गुनी भारी होती है वहाँ यह बची हुई गैस २० गुनी भारी है। अतः रैमजे को संदेह हुआ कि यह कोई नया मूलतत्त्व तो नहीं है!

आर्गन

इसी बीच लॉर्ड रैले का ध्यान १०० वर्ष से भी अधिक पुराने कैवेण्डिश के प्रयोगों की ओर गया। उसने उन्हें सावधानी के साथ दोहराया, और देखा कि बची हुई गैस रैमजे की ही बची हुई गैस के समान थी। इस बची हुई गैस के रासायनिक गुणों की परीक्षा करने का प्रयत्न अब किया गया। यह तो देखा ही जा चुका था कि ऑक्सिजन जैसी क्रियाशील गैस का उस पर कोई असर नहीं होता। अब अन्य क्रियाशील तत्त्वों, यथा हाइड्रोजन, क्लोरीन, फ्लोरीन, फास्फोरस, गंधक, सोडियम, आदि से भी उसे संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन किसी की भी कुछ न चली। तो क्या इस विलक्षण गैस में रासायनिक गुणों का सर्वथा अभाव था?

तब बिजली की चाप-भट्ठी का आविष्कर्त्ता तथा विद्युत्-धारा के उपयोग से अत्यन्त क्रियाशील फ्लोरीन गैस को बनानेवाला मोइसाँ आगे आया। क्या प्रबल विद्युत्-स्फुलिंगों के प्रभाव में फ्लोरीन-जैसी महाक्रियाशील गैस से भी यह नई गैस संयुक्त न होगी? प्रबल चिनगारियाँ छोड़ी गईं, लेकिन उनकी भी क्या मजाल! यह नई गैस जैसी की तैसी रही! सब हार मान गए! एक ऐसे तत्व का आविष्कार हुआ था, जिसमें कोई रासायनिक गुण होता ही नहीं, किसी भी अन्य मूल तत्त्व—धातु और अधातु—की ओर खिचाव का जिसमें नाम नहीं; जो एक ऐसे व्यक्ति के समान है, जो संयोग के आकर्षणों से सर्वथा मुक्त हो! यदि ऐसे ही सब मूल तत्त्व होते, तो रसायन ही न होता!

इस नए मूल तत्त्व के किरणचित्र की परीक्षा की गई, वह नाइट्रोजन से बिलकुल विभिन्न और एक नए तत्त्व का सूचक था। इसका नाम 'आर्गन' रख दिया गया। 'आर्गन' एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ आलसी होता है।

यद्यपि हवा में आर्गन का परिमाण एक प्रतिशत से भी कुछ कम है, तथापि वह उपेक्षणीय नहीं। पृथ्वी पर प्रति वर्गमील ८० करोड़ टन आर्गन का बोझ लदा रहता है। निष्क्रिय होने के कारण आर्गन बिजली की बत्तियों में भरने के लिए बड़ी ही उपयोगी गैस सिद्ध हुई। जब बल्ब में कोई गैस नहीं रहती तो उसके तंतु से, जो बहुधा टंग्स्टन धातु के बने होते हैं, धातु वाष्पीभूत होकर शीशे पर जम जाती है और धुँधलापन आ जाता है। आर्गन भरने से ऐसा नहीं होता, और न केवल बल्ब की आयु ही वरन् उसका उजाला भी बढ़ जाता है। उसके सर्वथा निष्क्रिय होने के कारण टंग्स्टन तंतु रासायनिक परिवर्तन से भी पूर्णतः मुक्त रहता है। इस उपयोग के लिए आर्गन आजकल द्रवीभूत हवा से आंशिक स्रवण द्वारा पृथक् कर ली जाती है। ताप बढ़ने पर सबसे पहले नाइट्रोजन निकल जाती है, और फिर ऑक्सिजन मिली हुई आर्गन निकलती है। इस मिश्रण से ऑक्सिजन रक्ततप्त ताम्र-छीलनों द्वारा शोषित करके अलग कर ली जाती है और आर्गन बच रहती है। बल्बों में जिस गैस का प्रयोग होता है, उसमें प्रायः ८८ प्रतिशत आर्गन और शेष नाइट्रोजन रहती है।

हीलियम

इसके बाद वायुमंडल में आर्गन से मिलते-जुलते एक दूसरे गैसीय मूल तत्त्व का भी लघु मात्रा में अस्तित्व प्रमाणित हुआ। इसका नाम 'हीलियम' था। इसका आविष्कार वास्तव में फ्रांस के जैन्सेन और इंगलैंड के नार्मन लाक्यर नामक ज्योतिषियों द्वारा सन् १८६८ में ही हो चुका था। इन्होंने इसका अस्तित्व पृथ्वी पर नहीं, वरन् सूर्य के वर्णमंडल में स्पेक्ट्रोग्राफ द्वारा प्रमाणित किया था। ग्रीक में हीलिऑस का अर्थ सूर्य होता है, अतएव इस गैस का नाम हीलियम पड़ा। सन् १८९४ में रैमजे ने 'क्लीवेयाइट' नामक धातव खनिज को शून्य में अथवा हलकी सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गरम करने से निकलनेवाली गैस की परीक्षा की। इस गैस में मिली हुई नाइट्रोजन को उसने शोषकों द्वारा पृथक् कर लिया, और शेष गैस के रश्मिचित्र की परीक्षा करने पर उसने उसे हीलियम पाया। इसके बाद हीलियम का अस्तित्व वायुमंडल, अनेक रेडियोऐक्टिव खनिजों तथा अमेरिका में पाई जानेवाली कुछ खनिज गैसों में सिद्ध हुआ। हवा के २,५०,००० आयतनिक भागों में हीलियम का एक भाग रहता है, किन्तु

अमेरिका की खनिज गैसों में हीलियम के प्राय: १ प्रतिशत से कुछ कम और कभी-कभी ८ प्रतिशत आयतनिक भाग तक पाये गए हैं। उन्हीं गैसों को खूब ठंडा करने से हीलियम के अतिरिक्त अन्य सब गैसें द्रवीभूत हो जाती हैं। बड़े परिमाणों में इसी प्रकार इसे तैयार करते हैं। आर्गन की भाँति हीलियम में भी क्रियाशीलता का पूर्ण अभाव है। उसका सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि वह हाइड्रोजन को छोड़ अन्य सभी गैसों से हलकी होती है। हाइड्रोजन से वह केवल दुगुनी भारी होती है। इसके अतिरिक्त वह अज्वलनशील भी है, अतएव वह गुब्बारों और वायुपोतों के लिए बड़ी ही उपयोगी प्रमाणित हुई। हाइड्रोजन से भारी होने के कारण वह थैलों से उतनी जल्दी छनकर निकल भी नहीं सकती। हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण कभी-कभी पनडुब्बों के साँस लेने के प्रयोग में भी लाया जाता है। अत्यधिक गहराई में पानी के बोझ के कारण शरीर पर दबाव बहुत बढ़ जाता है। वहाँ पनडुब्बे जिस हवा में साँस लेते हैं, उसका भी दबाव बहुत हो जाता है। इस दबी हुई हवा में साँस लेने से नाइट्रोजन रुधिर में अत्यधिक घुल जाती है। इसका फल यह होता है कि यदि आवश्यकता पड़ने पर पनडुब्बे को शीघ्र ही ऊपर उठा लिया जाता है, तो यह नाइट्रोजन रुधिर से बुलबुलों के रूप में निकल पड़ती है, जिससे शरीर की कोशिकाओं पर आघात के कारण उस व्यक्ति की बहुधा मृत्यु तक हो जाती है। हीलियम नाइट्रोजन की अपेक्षा बहुत कम घुलती है, अतएव हीलियम-मिश्रित ऑक्सिजन का उपयोग पनडुब्बों के लिए अधिक निरापद सिद्ध हुआ है।

पिछले दिनों चिकित्सा के क्षेत्र में भी दमा के रोग में हीलियम-ऑक्सिजन के मिश्रण में साँस लेना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। हीलियम के संबंध में एक मनोरंजक बात यह है कि उसके क्वथनांक (-२६९°C) से नीचा किसी भी वस्तु का क्वथनांक नहीं होता। तरल हीलियम के वाष्पीकरण द्वारा -२७२°C तक के ताप पर पहुँचा जा चुका है। पाठकों को कदाचित् ज्ञात होगा कि -२७३°C से नीचा ताप हो ही नहीं सकता। इस ताप पर द्रव्य सर्वथा तापविहीन हो जाता है, अर्थात् उसके अणु नितांत स्तब्ध हो जाते हैं। हीलियम के सहारे मनुष्य इस निम्नतम ताप के बहुत ही निकट जा पहुँचा है। हीलियम की एक अन्य अति मनोरंजक बात यह है कि वह रेडियम, थोरियम, यूरेनियम आदि विकिरणशील धातुओं के परमाणुओं के स्वत: टूटते रहने से बना करता है, और ये मूल तत्त्व हीलियम निकल जाने के बाद अन्य मूल तत्त्वों में परिणत होते रहते हैं। रेडियम धातु इस
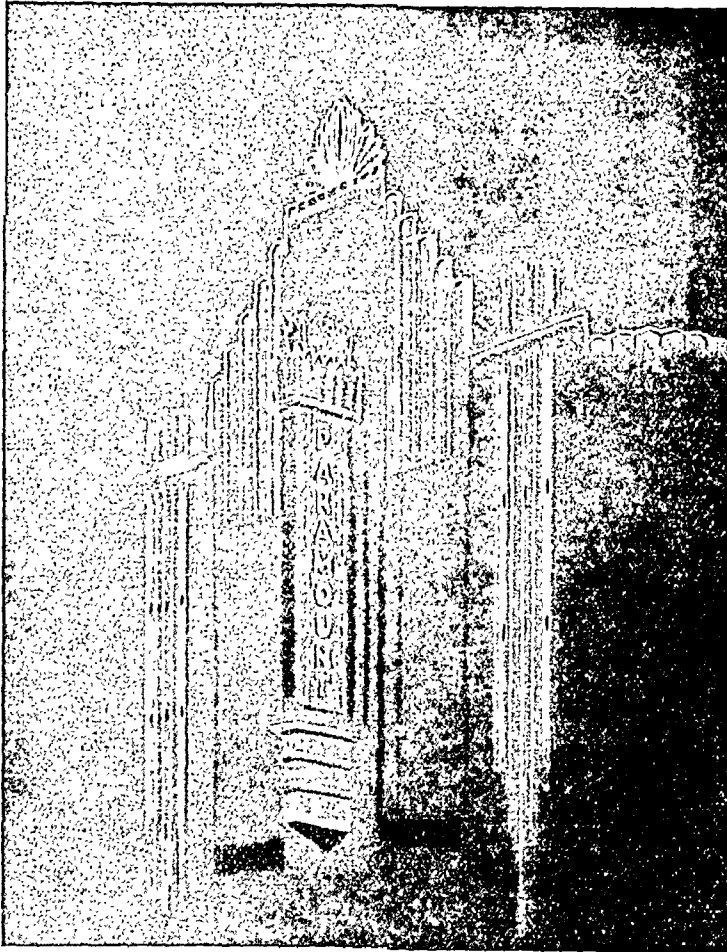
बिजली की रोशनी में नियन का उपयोग

यह नियन-ज्योति द्वारा प्रकाशित एक सिनेमा-भवन का चित्र है। आज के दिन नियन प्रकाश के विज्ञापन आदि की शहरों में भरमार है।

प्रकार खंडित होकर अंत में सीसा में बदल जाती है। विकिरणशील खनिजों के रंध्रों में हीलियम इसीलिए पाया जाता है। विकिरणशील धातुओं से निकलते हुए 'अलफा कण' हीलियम के ही विद्युदाविष्ट परमाणु होते हैं। इस प्रकार डाल्टन की यह प्रचलित धारणा कि परमाणु विभाजित हो ही नहीं सकते, इन विकिरणात्मक अनुसंधानों के बाद खंडित हो गई है। इन अनुसंधानों द्वारा परमाणुओं की रचना के निर्धारित करने में भी बहुत बड़ी सहायता मिली।

नियन, क्रिप्टन और जीनन

हीलियम और आर्गन-जैसी अनोखी गैसों के आविष्कार से रैमजे ने वैज्ञानिक जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया था, लेकिन अभी उसका कार्य समाप्त नहीं हुआ था। मूल तत्त्वों की आवर्त्तसारिणी में इन गैसों को स्थान देने के प्रयत्न में उसे प्रतीत हुआ कि इसी प्रकार के कुछ अन्य मूल-तत्त्वों का भी होना आवश्यक है, और वायुमंडल में ही इन गैसों का अस्तित्व हो सकता है। १२० टन द्रवीभूत वायु के आंशिक स्रवण द्वारा रैमजे और ट्रैवर्स ने १८९८ में हीलियम और आर्गन जैसी तीन अन्य गैसों को ढूंढ निकाला। उनके नाम नियन (=नवीन), क्रिप्टन (=गुप्त), और जीनन (=अपरिचित) रख दिए गए। हवा में इन गैसों का अनुपात बहुत ही कम होता है, इसीलिए तो इनका पता लगाने के लिए १२० टन तरल वायु लेनी पड़ी थी। नियन, क्रिप्टन और जीनन का एक-एक आयतनिक भाग हवा के क्रमशः पचपन हजार, दो करोड़ और सत्रह करोड़ भागों में रहता है। इन अनुपातों का अनुमान दिलाने के लिए कहा गया है कि यदि हवा के अणु दिखाई दे सकते और आँखों के सामने एक-एक करके प्रति सेकंड एक के हिसाब से चलते जाते, तो आर्गन के अणु दो-दो मिनट बाद, क्रिप्टन के आठ-आठ महीने बाद और जीनन के छः वर्ष बाद दिखाई देते! इतने कम परिमाणों में होते हुए भी रैमजे इन्हें ढूंढ़ सका, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। उसके अद्भुत प्रयोगों को देखकर लोगों ने दाँतों तले उँगली दबाई। रेडन नामक एक अन्य मूल गैस की खोज के बाद रैमजे के मूल-तत्त्वों का कुटुंब पूरा हो गया। रैमजे ने एक मूल तत्त्व की नहीं, मूल तत्त्वों के एक अद्भुत कुटुंब की खोज की थी। १९०२ में उसे 'सर' की उपाधि मिली, १९०४ में उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया और १९११ में वह ब्रिटिश एसोसिएशन का सभापति चुना गया। १९१६ में महायुद्ध के कठिन कार्य से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उसी वर्ष ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हो गया।

नियन गैस का एक मनोरंजक उपयोग नियन-प्रकाश के उत्पादन में होता है। ऐसे प्रकाशों को आपने शहरों में बड़ी-बड़ी दूकानों, सिनेमा-भवनों आदि पर विज्ञापनों के रूप में कदाचित् देखा होगा। इन विज्ञापनों के अक्षर आदि शीशे की नलियों के बने होते हैं, जिनमें बहुधा नियन गैस वायुमंडल के लगभग ३५० गुने कम दबाव में भरी रहती है। यह गैस बिजली द्वारा एक तेज लाल प्रकाश से चमक उठती है, और बिजली का खर्च भी बहुत कम होता है। कोहरे आदि में लाल प्रकाश दूर तक दिखाई पड़ सकता है। रेलवे, मोटरकारों आदि के सिगनल इसीलिए लाल बत्तियों के बनाए जाते हैं, और संध्या-सवेरे सूर्य लाल इसीलिए दिखाई पड़ता है कि अधिक वायुमंडल को भेदकर केवल लाल रश्मियाँ ही हम तक पहुँच सकती हैं। अतएव उन देशों में जहाँ कोहरे की अधिकता रहती है, नियन के प्रकाश का बहुत उपयोग होता है। समुद्री प्रकाश-स्तंभों तथा हवाई अड्डों में भी नियन-प्रकाश का उपयोग इसी कारण होने लगा है। लाल रंग के अलावा आपने कुछ अन्य रंगों के भी विज्ञापन देखे होंगे। रंगीन शीशे की नलियों द्वारा अथवा उनमें कुछ अन्य गैसों को भरकर रंगों में परिवर्तन किया जा सकता है। नियन और हीलियम के मिश्रण से स्वर्ण के रंग का प्रकाश, और आर्गन और पारद-वाष्प के मिश्रण से एक मनोहर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है।

इन गैसों की एक विचित्र बात यह है कि इनके अणुओं में केवल एक ही एक परमाणु होता है। हमने देखा है कि हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहा करते हैं, अतएव ये गैसें इस दृष्टि से भी निराली होती हैं। इन गैसों के परमाणु स्वयं आपस में भी संयुक्त नहीं हो सकते। रासायनिक प्रीति का उनमें नाम तक नहीं होता।

कार्बन डाइ-ऑक्साइड

खुली हुई हवा के १०,००० आयतनों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के तीन भाग रहा करते हैं। सजीव जगत् के लिए हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का होना परमावश्यक है। वनस्पति अपनी पत्तियों के रंध्रों द्वारा साँस लेकर इसी कार्बन डाइऑक्साइड से अपने कलेवर का कार्बन ग्रहण करते रहते हैं और यह कार्बन नाना प्रकार से पुनः ऑक्सीकृत होकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड के रूप में वायु में लौटता रहता है। बेहवादार कमरों, बंद मोरियों, अंधे कुओं आदि की हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का परिमाण अत्यधिक हो जाता है। शहरों की हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड प्रति दस हजार भाग में चार भाग के अनुपात से रहती

है। जब तक दस हजार हवा के भागों में ६ भाग तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड रहती है, तब तक उसे साँस लेने के योग्य समझा जाता है। अधिक होने से स्वास्थ्य के लिए वह हानिकारक हो जाती है। जिन स्थानों में भूविवरों अथवा ज्वालामुखी पर्वतों से कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकलती है, वहाँ वह बहुधा हवा से भारी होने के कारण भूपृष्ठ पर इकट्ठी हो जाती है। जावा की एक ऐसी ही घाटी को 'मृत्यु की घाटी' कहते हैं, क्योंकि उसमें पहुँच जाने पर ऑक्सिजन के अभाव से प्राणियों का दम घुट जाता है। एक यात्री का कहना है कि इस घाटी की तह पर सर्वत्र मनुष्यों, जानवरों तथा पक्षियों के अस्थिपंजर बिखरे पड़े हैं। कहते हैं कि नेपल्स (इटली) के समीप स्थित एक गुफा का तल १८ इंच तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड से आच्छादित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो उसमें निरापद चल फिर सकते हैं, लेकिन कुत्तों का दम घुट जाता है।

जलवाष्प

नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, निष्क्रिय गैसें तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अलावा हवा में अन्य अनेक पदार्थ और भी रहते हैं, किन्तु वे अशुद्धियों के रूप में माने जाते हैं; कारण हवा में इनका अस्तित्व अस्थिर होता है और परिमाण बदलता रहता है। जलवाष्प भी इस प्रकार का एक महत्वपूर्ण अवयव है। पृथ्वी के जलाशयों, जैसे समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, तालाबों, आदि से तथा आर्द्र मिट्टी से वाष्पीभूत होकर जलवाष्प हवा में मिलती रहती है। ज्वालामुखी पहाड़ों से भी भाप के रूप में पानी निकलकर हवा में मिलता रहता है। वनस्पति और प्राणी भी पृथ्वी के जलाशयों से जल ग्रहण करते और अपने कलेवरों पर से वाष्पीकरण द्वारा उसे हवा को वापस देते रहते हैं। तथापि प्रधानतः हवा को जलवाष्प सागर से ही प्राप्त होती है। इस जल-वाष्प से वर्षा द्वारा पानी फिर उन्हीं स्थानों में लौट आता है, जहाँ से वह वाष्पीभूत हुआ था। यह जलचक्र धरती और वायुमंडल के बीच निरंतर चला करता है। जलवाष्प हवा से डेढ़ गुना से भी अधिक हलकी होती है, अतएव उससे लदी हुई हवा साधारण हवा की अपेक्षा हल्की हो जाती है। साधारण ताप पर जलवाष्प से संपृक्त हवा में लगभग एक आउंस (आधा छटाँक) पानी का अंश रहता है। वस्तुतः हवा वाष्प-रूप में कितना जल ग्रहण कर सकती है, यह बात ताप पर निर्भर करती है। ऊँचे ताप पर नीचे ताप की अपेक्षा कहीं अधिक जल वायु में रह सकता है। राजस्थान के मरुस्थल की तप्त वायु में हिमशिखरों की वर्षा-वायु की अपेक्षा प्रति घनफुट अधिक जलवाष्प हो सकती है, फिर भी मरुस्थल की वायु बहुत ही सूखी और हिमालय पर की वायु जलसंपृक्त कही जाती है। हवा की यही शुष्कता अथवा आर्द्रता हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालती है। इस आर्द्रता की माप के विषय में भौतिक विज्ञान स्तंभ में आप जानकारी पा चुके हैं। अति आर्द्र वायु में हानिकारक कीटाणु अधिक समय तक रह सकते हैं, अतएव वह हमारे स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छी नहीं होती। गरमी के दिनों में आर्द्र वायु और भी कष्टदायक होती है, कारण हमारे फेफड़ों और शरीर से उतना पानी वाष्पीभूत नहीं होता, जितना कि होना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सूखी हवा में गला, नाक आदि सूखने लगते हैं। वायुमंडल में जलवाष्प की उपस्थिति से हवा के ताप में

हीलियम का एक उपयोग

हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण गहरे समुद्र में पैठनेवाले पनडुब्बों द्वारा साँस लेने के लिए उपयोगी और निरापद सिद्ध हुआ है।

प्रकार खंडित होकर अंत में सीसा में बदल जाती है। विकिरणशील खनिजों के रंध्रों में हीलियम इसीलिए पाया जाता है। विकिरणशील धातुओं से निकलते हुए 'अलफा कण' हीलियम के ही विद्युदाविष्ट परमाणु होते हैं। इस प्रकार डाल्टन की यह प्रचलित धारणा कि परमाणु विभाजित हो ही नहीं सकते, इन विकिरणात्मक अनुसंधानों के बाद खंडित हो गई है। इन अनुसंधानों द्वारा परमाणुओं की रचना के निर्धारित करने में भी बहुत बड़ी सहायता मिली।

नियन, क्रिप्टन और जीनन

हीलियम और आर्गन-जैसी अनोखी गैसों के आविष्कार से रैमजे ने वैज्ञानिक जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया था, लेकिन अभी उसका कार्य समाप्त नहीं हुआ था। मूल तत्त्वों की आवर्त्तसारिणी में इन गैसों को स्थान देने के प्रयत्न में उसे प्रतीत हुआ कि इसी प्रकार के कुछ अन्य मूल-तत्त्वों का भी होना आवश्यक है, और वायुमंडल में ही इन गैसों का अस्तित्व हो सकता है। १२० टन द्रवीभूत वायु के आंशिक स्रवण द्वारा रैमजे और ट्रैवर्स ने १८९८ में हीलियम और आर्गन जैसी तीन अन्य गैसों को ढूंढ निकाला। उनके नाम नियन (=नवीन), क्रिप्टन (=गुप्त), और जीनन (=अपरिचित) रख दिए गए। हवा में इन गैसों का अनुपात बहुत ही कम होता है, इसीलिए तो इनका पता लगाने के लिए १२० टन तरल वायु लेनी पड़ी थी। नियन, क्रिप्टन और जीनन का एक-एक आयतनिक भाग हवा के क्रमशः पचपन हजार, दो करोड़ और सत्रह करोड़ भागों में रहता है। इन अनुपातों का अनुमान दिलाने के लिए कहा गया है कि यदि हवा के अणु दिखाई दे सकते और आंखों के सामने एक-एक करके प्रति सेकंड एक के हिसाब से चलते जाते, तो आर्गन के अणु दो-दो मिनट बाद, क्रिप्टन के आठ-आठ महीने बाद और जीनन के छः वर्ष बाद दिखाई देते! इतने कम परिमाणों में होते हुए भी रैमजे इन्हें ढूंढ सका, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। उसके अद्भुत प्रयोगों को देखकर लोगों ने दांतों तले उँगली दबाई। रेडन नामक एक अन्य मूल गैस की खोज के बाद रैमजे के मूल-तत्त्वों का कुटुंब पूरा हो गया। रैमजे ने एक मूल तत्त्व की नहीं, मूल तत्त्वों के एक अद्भुत कुटुंब की खोज की थी। १९०२ में उसे 'सर' की उपाधि मिली, १९०४ में उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया और १९११ में वह ब्रिटिश एसोसिएशन का सभापति चुना गया। १९१६ में महायुद्ध के कठिन कार्य से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उसी वर्ष ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हो गया।

नियन गैस का एक मनोरंजक उपयोग नियन-प्रकाश के उत्पादन में होता है। ऐसे प्रकाशों को आपने शहरों में बड़ी-बड़ी दूकानों, सिनेमा-भवनों आदि पर विज्ञापनों के रूप में कदाचित् देखा होगा। इन विज्ञापनों के प्रभाव आदि शीशे की नलियों के बने होते हैं, जिनमें बहुधा नियन गैस वायुमंडल के लगभग ३५० गुने कम दबाव में भरी रहती है। यह गैस बिजली द्वारा एक तेज लाल प्रकाश से चमक उठती है, और बिजली का खर्च भी बहुत कम होता है। कोहरे आदि में लाल प्रकाश दूर तक दिखाई पड़ सकता है। रेलवे, मोटरकारों आदि के सिगनल इसीलिए लाल बत्तियों के बनाए जाते हैं, और संध्या-सबेरे सूर्य लाल इसीलिए दिखाई पड़ता है कि अधिक वायुमंडल को भेदकर केवल लाल रश्मियां ही हम तक पहुँच सकती हैं। अतएव उन देशों में जहाँ कोहरे की अधिकता रहती है, नियन के प्रकाश का बहुत उपयोग होता है। समुद्री प्रकाश-स्तंभों तथा हवाई अड्डों में भी नियन-प्रकाश का उपयोग इसी कारण होने लगा है। लाल रंग के अलावा आपने कुछ अन्य रंगों के भी विज्ञापन देखे होंगे। रंगीन शीशे की नलियों द्वारा अथवा उनमें कुछ अन्य गैसों को भरकर रंगों में परिवर्तन किया जा सकता है। नियन और हीलियम के मिश्रण से स्वर्ण के रंग का प्रकाश, और आर्गन और पारद-वाष्प के मिश्रण से एक मनोहर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है।

इन गैसों की एक विचित्र बात यह है कि इनके परमाणों में केवल एक ही एक परमाणु होता है। हमने देखा है कि हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहा करते हैं, अतएव ये गैसें इस दृष्टि से भी निराली होती हैं। इन गैसों के परमाणु स्वयं आपस में भी संयुक्त नहीं हो सकते। रासायनिक प्रीति का उनमें नाम तक नहीं होता।

कार्बन डाइ-ऑक्साइड

खुली हुई हवा के १०,००० आयतनों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के तीन भाग रहा करते हैं। सजीव जगत् के लिए हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का होना परमावश्यक है। वनस्पति अपनी पत्तियों के रंध्रों द्वारा सांस लेकर इसी कार्बन डाइ-ऑक्साइड से अपने शरीर का कार्बन प्राप्त करते रहते हैं और यह कार्बन नाना प्रकार से पुनः ऑक्सीजन-युक्त होकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड के रूप में वायु में लौटता रहता है। घनी आबादी वाले शहरों, बंद कोठरियों, धुएँ आदि की हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का परिमाण अत्यधिक हो जाता है। शहरों की हवा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड प्रति दस हजार भाग में चार भाग के अनुपात से रहती

है। जब तक दस हजार हवा के भागों में ९ भाग तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड रहती है, तब तक उसे साँस लेने के योग्य समझा जाता है। अधिक होने से स्वास्थ्य के लिए वह हानिकारक हो जाती है। जिन स्थानों में भूविवरों अथवा ज्वालामुखी पर्वतों से कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकलती है, वहाँ वह बहुधा हवा से भारी होने के कारण भूपृष्ठ पर इकट्ठी हो जाती है। जावा की एक ऐसी ही घाटी को 'मृत्यु की घाटी' कहते हैं, क्योंकि उसमें पहुँच जाने पर ऑक्सिजन के अभाव से प्राणियों का दम घुट जाता है। एक यात्री का कहना है कि इस घाटी की तह पर सर्वत्र मनुष्यों, जानवरों तथा पक्षियों के अस्थिपंजर बिखरे पड़े हैं। कहते हैं कि नेपल्स (इटली) के समीप स्थित एक गुफा का तल १८ इंच तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड से आच्छादित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो उसमें निरापद चल फिर सकते हैं, लेकिन कुत्तों का दम घुट जाता है।

जलवाष्प

नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, निष्क्रिय गैसें तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अलावा हवा में अन्य अनेक पदार्थ और भी रहते हैं, किन्तु वे अशुद्धियों के रूप में माने जाते हैं; कारण हवा में इनका अस्तित्व अस्थिर होता है और परिमाण बदलता रहता है। जलवाष्प भी इस प्रकार का एक महत्वपूर्ण अवयव है। पृथ्वी के जलाशयों, जैसे समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, तालाबों, आदि से तथा आर्द्र मिट्टी से वाष्पीभूत होकर जलवाष्प हवा में मिलती रहती है। ज्वालामुखी पहाड़ों से भी भाप के रूप में पानी निकलकर हवा में मिलता रहता है। वनस्पति और प्राणी भी पृथ्वी के जलाशयों से जल ग्रहण करते और अपने कलेवरों पर से वाष्पीकरण द्वारा उसे हवा को वापस देते रहते हैं। तथापि प्रधानतः हवा को जलवाष्प सागर से ही प्राप्त होती है। इस जल-वाष्प से वर्षा द्वारा पानी फिर उन्हीं स्थानों में लौट आता है, जहाँ से वह वाष्पीभूत हुआ था। यह जलचक्र धरती और वायुमंडल के बीच निरंतर चला करता है। जलवाष्प हवा से डेढ़ गुना से भी अधिक हलकी होती है, अतएव उससे लदी हुई हवा साधारण हवा की अपेक्षा हल्की हो जाती है। साधारण ताप पर जलवाष्प से संपृक्त हवा में लगभग एक आउंस (आधा छटाँक) पानी का अंश रहता है। वस्तुतः हवा वाष्प-रूप में कितना जल ग्रहण कर सकती है, यह बात ताप पर निर्भर करती है। ऊँचे ताप पर नीचे ताप की अपेक्षा कहीं अधिक जल वायु में रह सकता है। राजस्थान के मरुस्थल की तप्त वायु में हिमशिखरों की वर्षा-वायु की अपेक्षा प्रति घनफुट अधिक जलवाष्प हो सकती है, फिर भी मरुस्थल की वायु बहुत ही सूखी और हिमालय पर की वायु जल संपृक्त कही जाती है। हवा की यही शुष्कता अथवा आर्द्रता हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालती है। इस आर्द्रता की माप के विषय में भौतिक विज्ञान स्तंभ में आप जानकारी पा चुके हैं। अति आर्द्र वायु में हानिकारक कीटाणु अधिक समय तक रह सकते हैं, अतएव वह हमारे स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छी नहीं होती। गरमी के दिनों में आर्द्र वायु और भी कष्टदायक होती है, कारण हमारे फेफड़ों और शरीर से उतना पानी वाष्पीभूत नहीं होता, जितना कि होना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सूखी हवा में गला, नाक आदि सूखने लगते हैं। वायुमंडल में जलवाष्प की उपस्थिति से हवा के ताप में

हीलियम का एक उपयोग

हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण गहरे समुद्र में पैठनेवाले पनडुब्बों द्वारा साँस लेने के लिए उपयोगी और निरापद सिद्ध हुआ है।

प्रकार खंडित होकर अंत में सीसा में बदल जाती है। विकिरणशील खनिजों के रंध्रों में हीलियम इसीलिए पाया जाता है। विकिरणशील धातुओं से निकलते हुए 'अलफा कण' हीलियम के ही विद्युदाविष्ट परमाणु होते हैं। इस प्रकार डाल्टन की यह प्रचलित धारणा कि परमाणु विभाजित हो ही नहीं सकते, इन विकिरणात्मक अनुसंधानों के बाद खंडित हो गई है। इन अनुसंधानों द्वारा परमाणुओं की रचना के निर्धारित करने में भी बहुत बड़ी सहायता मिली।

नियन, क्रिप्टन और जीनन

हीलियम और आर्गन-जैसी अनोखी गैसों के आविष्कार से रैमजे ने वैज्ञानिक जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया था, लेकिन अभी उसका कार्य समाप्त नहीं हुआ था। मूल तत्त्वों की आवर्त्तसारिणी में इन गैसों को स्थान देने के प्रयत्न में उसे प्रतीत हुआ कि इसी प्रकार के कुछ अन्य मूल-तत्त्वों का भी होना आवश्यक है, और वायुमंडल में ही इन गैसों का अस्तित्व हो सकता है। १२० टन द्रवीभूत वायु के आंशिक स्रवण द्वारा रैमजे और ट्रैवर्स ने १८९८ में हीलियम और आर्गन जैसी तीन अन्य गैसों को ढूँढ निकाला। उनके नाम नियन (=नवीन), क्रिप्टन (=गुप्त), और जीनन (=अपरिचित) रख दिए गए। हवा में इन गैसों का अनुपात बहुत ही कम होता है, इसीलिए तो इनका पता लगाने के लिए १२० टन तरल वायु लेनी पड़ी थी। नियन, क्रिप्टन और जीनन का एक-एक आयतनिक भाग हवा के क्रमशः पचपन हजार, दो करोड़ और सत्रह करोड़ भागों में रहता है। इन अनुपातों का अनुमान दिलाने के लिए कहा गया है कि यदि हवा के अणु दिखाई दे सकते और आँखों के सामने एक-एक करके प्रति सेकंड एक के हिसाब से चलते जाते, तो आर्गन के अणु दो-दो मिनट बाद, क्रिप्टन के आठ-आठ महीने बाद और जीनन के छः वर्ष बाद दिखाई देते! इतने कम परिमाणों में होते हुए भी रैमजे इन्हें ढूँढ़ सका, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। उसके अद्भुत प्रयोगों को देखकर लोगों ने दाँतों तले उँगली दबाई। रेडन नामक एक अन्य मूल गैस की खोज के बाद रैमजे के मूल-तत्त्वों का कुटुंब पूरा हो गया। रैमजे ने एक मूल तत्त्व की नहीं, मूल तत्त्वों के एक अद्भुत कुटुंब की खोज की थी। १९०२ में उसे 'सर' की उपाधि मिली, १९०४ में उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया और १९११ में वह ब्रिटिश एसोसिएशन का सभापति चुना गया। १९१६ में महायुद्ध के कठिन कार्य से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और इसी वर्ष ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हो गया।

नियन गैस का एक मनोरंजक उपयोग नियन-प्रकाश के उत्पादन में होता है। ऐसे प्रकाशों को आपने शहरों में बड़ी-बड़ी दूकानों, सिनेमा-भवनों आदि पर विज्ञापनों के रूप में कदाचित् देखा होगा। इन विज्ञापनों के अक्षर आदि शीशे की नलियों के बने होते हैं, जिनमें बहुधा नियन गैस वायुमंडल के लगभग ३५० गुने कम दबाव में भरी रहती है। यह गैस बिजली द्वारा एक तेज लाल प्रकाश से चमक उठती है, और बिजली का खर्च भी बहुत कम होता है। कोहरे आदि में लाल प्रकाश दूर तक दिखाई पड़ सकता है। रेलवे, मोटरकारों आदि के सिगनल इसीलिए लाल बत्तियों के बनाए जाते हैं, और संध्या-सबेरे सूर्य लाल इसी-लिए दिखाई पड़ता है कि अधिक वायुमंडल को भेदकर केवल लाल रश्मियाँ ही हम तक पहुँच सकती हैं। अतएव उन देशों में जहाँ कोहरे की अधिकता रहती है, नियन के प्रकाश का बहुत उपयोग होता है। समुद्री प्रकाश-स्तंभों तथा हवाई अड्डों में भी नियन-प्रकाश का उपयोग इसी कारण होने लगा है। लाल रंग के अलावा आपने कुछ अन्य रंगों के भी विज्ञापन देखे होंगे। रंगीन शीशे की नलियों द्वारा अथवा उनमें कुछ अन्य गैसों को भरकर रंगों में परिवर्तन किया जा सकता है। नियन और हीलियम के मिश्रण से स्वर्ण के रंग का प्रकाश, और आर्गन और पारद-वाष्प के मिश्रण से एक मनोहर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है।

इन गैसों की एक विचित्र बात यह है कि इनके अणुओं में केवल एक ही एक परमाणु होता है। हमने देखा है कि हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहा करते हैं, अतएव ये गैसें इस दृष्टि से भी निराली होती हैं। इन गैसों के परमाणु स्वयं आपस में भी संयुक्त नहीं हो सकते। रासायनिक प्रीति का इनमें नाम तक नहीं होता।

है। जब तक दस हजार हवा के भागों में ६ भाग तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड रहती है, तब तक उसे साँस लेने के योग्य समझा जाता है। अधिक होने से स्वास्थ्य के लिए वह हानिकारक हो जाती है। जिन स्थानों में भूविवरों अथवा ज्वालामुखी पर्वतों से कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकलती है, वहाँ वह बहुधा हवा से भारी होने के कारण भूपृष्ठ पर इकट्ठी हो जाती है। जावा की एक ऐसी ही घाटी को 'मृत्यु की घाटी' कहते हैं, क्योंकि उसमें पहुँच जाने पर ऑक्सिजन के अभाव से प्राणियों का दम घुट जाता है। एक यात्री का कहना है कि इस घाटी की तह पर सर्वत्र मनुष्यों, जानवरों तथा पक्षियों के अस्थिपंजर बिखरे पड़े हैं। कहते हैं कि नेपल्स (इटली) के समीप स्थित एक गुफा का तल १८ इंच तक कार्बन डाइ-ऑक्साइड से आच्छादित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो उसमें निरापद चल फिर सकते हैं, लेकिन कुत्तों का दम घुट जाता है।

हीलियम का एक उपयोग

हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण गहरे समुद्र में पैठनेवाले पनडुब्बों द्वारा साँस लेने के लिए उपयोगी और निरापद सिद्ध हुआ है।

जलवाष्प

नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, निष्क्रिय गैसें तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अलावा हवा में अन्य अनेक पदार्थ और भी रहते हैं, किन्तु वे अशुद्धियों के रूप में माने जाते हैं; कारण हवा में इनका अस्तित्व अस्थिर होता है और परिमाण बदलता रहता है। जलवाष्प भी इस प्रकार का एक महत्वपूर्ण अवयव है। पृथ्वी के जलाशयों, जैसे समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, तालाबों, आदि से तथा आर्द्र मिट्टी से वाष्पीभूत होकर जलवाष्प हवा में मिलती रहती है। ज्वालामुखी पहाड़ों से भी भाप के रूप में पानी निकलकर हवा में मिलता रहता है। वनस्पति और प्राणी भी पृथ्वी के जलाशयों से जल ग्रहण करते और अपने कलेवरों पर से वाष्पीकरण द्वारा उसे हवा को वापस देते रहते हैं। तथापि प्रधानतः हवा को जलवाष्प सागर से ही प्राप्त होती है। इस जल-वाष्प से वर्षा द्वारा पानी फिर उन्हीं स्थानों में लौट आता है, जहाँ से वह वाष्पीभूत हुआ था। यह जलचक्र धरती और वायुमंडल के बीच निरंतर चला करता है। जलवाष्प हवा से डेढ़ गुना से भी अधिक हलकी होती है, अतएव उससे लदी हुई हवा साधारण हवा की अपेक्षा हल्की हो जाती है। साधारण ताप पर जलवाष्प से संपृक्त हवा में लगभग एक आउंस (आधा छटाँक) पानी का अंश रहता है। वस्तुतः हवा वाष्प-रूप में कितना जल ग्रहण कर सकती है, यह बात ताप पर निर्भर करती है। ऊँचे ताप पर नीचे ताप की अपेक्षा कहीं अधिक जल वायु में रह सकता है। राजस्थान के मरुस्थल की तप्त वायु में हिमशिखरों की वर्षा-वायु की अपेक्षा प्रति घनफुट अधिक जलवाष्प हो सकती है, फिर भी मरुस्थल की वायु बहुत ही सूखी और हिमालय पर की वायु जलसंपृक्त कही जाती है। हवा की यही शुष्कता अथवा आर्द्रता हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालती है। इस आर्द्रता की माप के विषय में भौतिक विज्ञान स्तंभ में आप जानकारी पा चुके हैं। अति आर्द्र वायु में हानिकारक कीटाणु अधिक समय तक रह सकते हैं, अतएव वह हमारे स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छी नहीं होती। गरमी के दिनों में आर्द्र वायु और भी कष्टदायक होती है, कारण हमारे फेफड़ों और शरीर से उतना पानी वाष्पीभूत नहीं होता, जितना कि होना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सूखी हवा में गला, नाक आदि सूखने लगते हैं। वायुमंडल में जलवाष्प की उपस्थिति से हवा के ताप में

अधिक विषमता नहीं आने पाती। अधिक ठंडक होने पर जलवाष्प घनीभूत होकर गरमी देने लगती है और अधिक गरमी पड़ने पर फिर वाष्पीभूत होकर गरमी का शोषण करने लगती है।

धूलि-कण और कीटाणु

चट्टानों से अनेक मौसमी कारणों द्वारा धूलि-कण टूट-कर धरती पर बिछ जाते हैं। यहाँ से हवा तथा अन्य गतिशील साधनों द्वारा उड़कर वे हवा में मिल जाते हैं। आग्नेय पर्वतों, उल्काओं, कारखानों की चिमनियों आदि द्वारा भी हवा में धूल आदि मिला करती है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सिगरेट की एक फूंक में लगभग ४० अरब कण निकलकर हवा में मिल जाते हैं! पर ये धूलि-कण एक ही प्रकार के नहीं होते। वे नाना प्रकार के अकार्बनिक और कार्बनिक पदार्थों तथा कोयले से बने होते हैं। शहरों की हवा में प्रति घन इंच ३ करोड़ से भी अधिक धूलि-कण रहा करते हैं। शहरों के बाहर इनकी संख्या इससे लगभग आधी हो जाती है। किसी भी स्थान की हवा धूलि-कणों से सर्वथा मुक्त नहीं होती, यहाँ तक कि महासागरों के ऊपर की हवा में भी प्रति घन इंच प्रायः ५ हजार से चालीस हजार तक धूलि-कण मिलते हैं। असाधारण अवस्थाओं में हवा धूलि के बृहत् परिमाणों को अपनी गोद में उठाकर चल सकती है। चीन की 'लोयस' नामक पीली मिट्टी, जो कहीं-कहीं पर हजारों फीट गहरी है, मध्य एशिया के मरुस्थलों से हवा द्वारा ही लाई गई थी। सन् १९३४ और १९३५ में संयुक्त राज्य, अमेरिका, में आँधियों द्वारा बृहत् कृषि-क्षेत्र धूलि से पटकर नष्ट हो गए थे। मरुस्थलों से हवा द्वारा न जाने कितनी धूलि मीलों तक इधर से उधर हुआ करती है।

भूमंडल पर निरन्तर जारी जल का चक्र

समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, ज्वालामुखी पर्वतों, वनस्पति और प्राणी के कलेवरों, आदि से निरन्तर वाष्पीभूत होकर तथा आभ्यन्तरिक जलाशयों से मिट्टी में चढ़कर पानी प्रति क्षण हवा में मिलता रहता है। यह जलवाष्प घनीभूत होकर वर्षा, हिम, तुहिन आदि के रूप में वायु-मंडल से पुनः धरातल पर लौट आती है। यह जल-चक्र प्रकृति में निरन्तर चला करता है।

हवा में धूलि-कणों का रहना अत्यंत आवश्यक है। वर्षा में हिम, कोहरा, ओस आदि के बिंदु धूलि-कणों के ही आधार पर बनते हैं। गरमी के दिनों में यह धूल आकाश में फैलकर सूर्य के ताप को कम कर देती है। दिन में उजाले का सर्वत्र फैल जाना धूलि-कणों द्वारा ही संभव होता है। तथापि हवा में अत्यधिक धूलि-कणों का रहना हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

हवा में नाना प्रकार के कीटाणु भी बहुत बड़ी संख्या में वर्तमान रहा करते हैं। चीजों का सड़ना, सिरके का उठना, दूध का खट्टा होना, घाव एवं फोड़े का पकना, तथा कुछ बीमारियों का फैलना हवा के कीटाणुओं द्वारा ही संभव

होता है। खुली हुई प्रकाशमय हवा में हानिकारक कीटाणु नहीं पाये जाते। वे अति आर्द्र गरम गंदी हवा में ही अधिक रह सकते हैं।

अन्य अवयव

जलवाष्प, धूलि-कण तथा कीटाणुओं के अलावा अन्य कुछ पदार्थ भी हवा में न्यून अंशों में मिले रहते हैं। प्रायः इन सभी का अस्तित्व और परिमाण देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। अमोनिया और हाइड्रो-कार्बन जीव-पदार्थों के सड़ने अथवा विच्छिन्न होने से हवा में मिलते रहते हैं। ओजोन, हाइड्रोजन परॉक्साइड, और नाइट्रोजन की ऑक्साइडें बिजली के विसर्जन के कारण हवा में बनती हैं। धूप में पानी के तीव्र वाष्पीकरण द्वारा भी ओजोन का उत्पादन होता है। हवा के एक करोड़ आयतनिक भागों में ओजोन एक भाग से अधिक नहीं होती, इससे अधिक होने पर हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और विषाक्त हो जाती है। वायुमंडल के नीचे स्तरों में ओजोन सल्फर डाइ-ऑक्साइड, कार्बनिक यौगिक आदि पदार्थों से अवकृत होकर शीघ्र ही ऑक्सिजन में परिवर्तित हो जाती है। नाइट्रोजन की ऑक्साइडों के पानी में घुलने के कारण हवा में नाइट्रस और नाइट्रिक ऐसिड भी न्यूनांशों में मिलती हैं। शहरों की हवा में सल्फर डाइ-ऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइट और सल्फ्यूरिक ऐसिड का भी पता लगता है। कारखानों में पत्थर के कोयले (जिसमें कुछ गंधक रहता है) और गंधक के खनिजों के जलने से सल्फर डाइ-ऑक्साइड हवा में मिल जाती है। समुद्र-तट पर जलवर्षा में कुछ नमक भी मिला रहता है। यह नमक हवा द्वारा उड़कर आए हुए समुद्र के जलबिंदुओं में होता है। जिन शहरों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड बनाई जाती है, उनकी हवा में भी यह मिश्रित होती है। इनके अतिरिक्त (शहरों में) हवा में लघु मात्रा में कार्बन मोनॉक्साइड और हाइड्रोजन भी रहती है।

समुद्रतल पर हवा के सौ आयतनिक भागों में उसके अवयवों का परिमाण इस प्रकार होता है—नाइट्रोजन, (७८·०८) नियन, (०·००१८) ऑक्सिजन, (२०·९५) हीलियम, (०·०००५) आर्गन, (०·९३) क्रिप्टन, (०·०००१) कार्बन डाइ-ऑक्साइड, (०·०३) जीनन, (०·००००१)।

सारे वायुमंडल का आधा भार ३॥ मील के नीचे ही
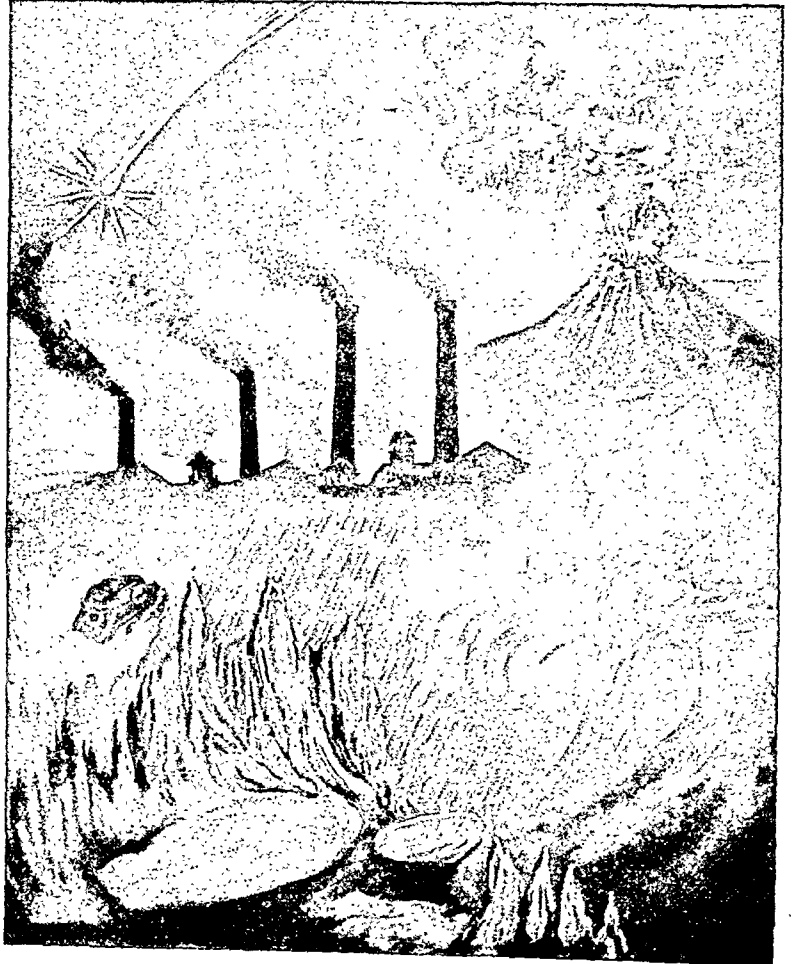
धूलि-कणों की उत्पत्ति और वायुमंडल में उनका प्रसार

मौसमी कारणों द्वारा चट्टानों से धूलि-कण टूटकर फैल जाते हैं, और फिर हवा और अन्य गतिशील साधनों द्वारा वायुमण्डल में मिलते रहते हैं। इसके अलावा आग्नेय पर्वतों, उल्काओं चौबीसों घंटे धुआँ उगलती रहती कारखानों की चिमनियों, आदि से भी कालिख, राख और धूलि के कण निकलकर निरन्तर हवा में व्याप्त होते रहते हैं।

स्थित है। प्रत्येक ३॥ मील के बाद दबाव आधा हो जाता है, अर्थात्, ७ मील पर चौथाई, और १०॥ मील पर वह १/८ हो जाना चाहिए। जो कुछ भी हो, २०० मील तक तो कुछ-न-कुछ हवा का पता लगता ही है। कम-से-कम १८८ मील पर तक तो उल्का देखे गये हैं। वायु की ही रगड़ से वेग से आते हुए उल्का तप्त होकर चमकने लगते हैं। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवप्रदेशों में ४००-५०० मील की ऊँचाई पर 'अरोरा बोरिआलिस' और 'अरोरा आस्ट्रेलिस' नामक ज्योतियों का होना भी वहाँ बहुत ही कम दबाव पर वायव्य अणुओं का होना प्रमाणित करता है। सूर्य से आए हुए और भूचुंबक द्वारा ध्रुवों की ओर प्रचालित इलैक्ट्रानों द्वारा यह अणु प्रकाशमान हो जाते हैं। बिना इन अणुओं के अस्तित्व के यह प्रकाश संभव नहीं हो सकता। ६,२०,००० मील की ऊँचाई पर गुरुत्वाकर्षण इतना कम होता होगा कि वहाँ सबसे हल्की गैस हाइड्रोजन के अणु भी अंतरिक्ष में भागकर शून्य में विलीन हो जाते होंगे।

ऊपर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कम हो जाने के कारण हवा के अवयवों के अनुपातिक परिमाण भी बदलते जाते हैं। लगभग ७ मील ऊपर तक हवा का संगठन प्रायः वही रहता है। इसके ऊपर अधिक भारी गैसों, यथा आर्गन और ऑक्सिजन, का अंश घटने लगता है। लगभग २५ मील पर नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का आयतनिक अनुपात ८७:१३ हो जाता है। और अधिक ऊँचाई पर नाइट्रोजन का अंश भी कम होने लगता है और हाइड्रोजन का बढ़ने लगता है। लगभग ५० मील पर आयतनिक प्रतिशतांकों में नाइट्रोजन का परिमाण ३०, हाइड्रोजन का ६७, ऑक्सिजन का २ और हीलियम का १ हो जाता है। लगभग ८० मील पर हीलियम का अंश भी कम हो जाता है और सारे वायुमंडल में प्रायः हाइड्रोजन ही हाइड्रोजन भरी होती है। इतनी दूरी पर वायुमंडल का दबाव पारे के केवल लगभग ०.००४ मिलीमीटर की ऊँचाई के बराबर होता है। और अधिक ऊँचाई पर हाइड्रोजन का दबाव और भी कम होता है। पूरे वायुमंडल का भार लगभग ५१ हजार करोड़ टन है। यह जलमंडल के भार का १२७० वाँ और स्थलमंडल के भार का बारह लाखवाँ भाग है।
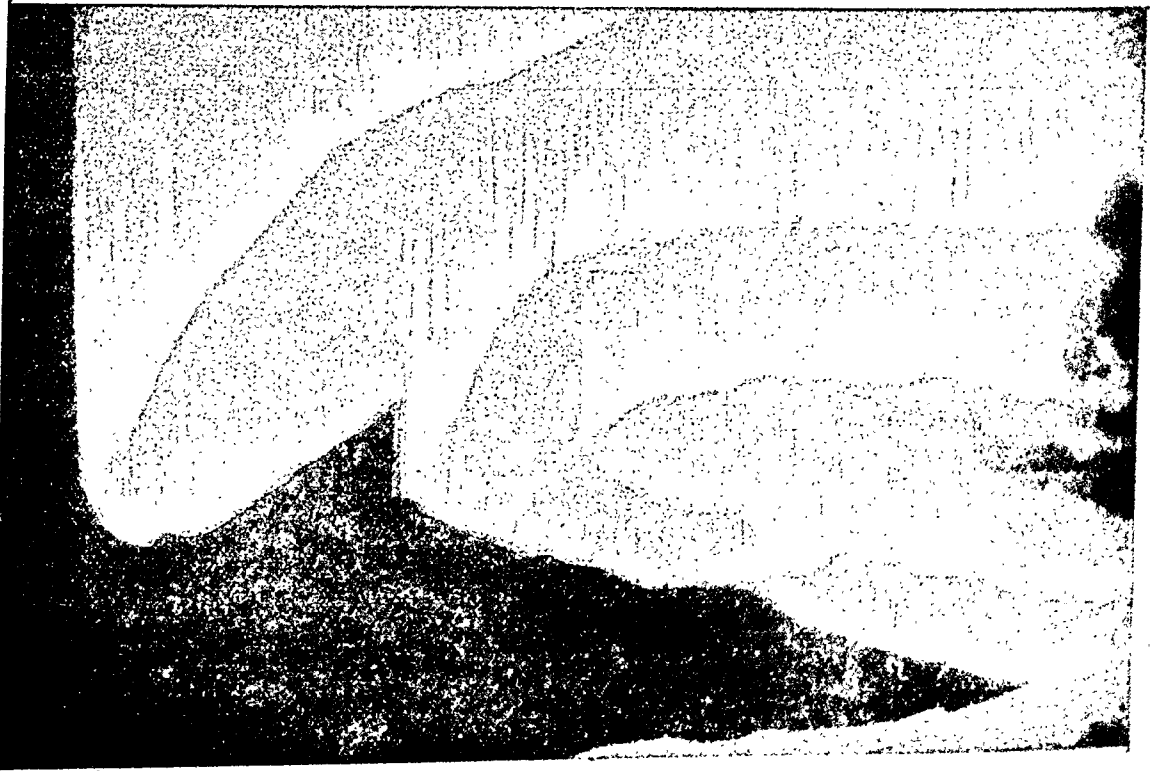
ध्रुव प्रदेशों में चुंबकीय प्रकाश का प्रादुर्भाव ऊँचाई पर वायु की उपस्थिति के बिना असम्भव होता।
ध्रुव प्रदेशों में लगभग चार-सौ पाँच-सौ मील ऊपर इस प्रकार के चुंबकीय प्रकाश की झाँकी मिलती है। यह प्रकाश वायु के अणुओं पर विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध है कि इतनी ऊँचाई पर भी वायु मौजूद है।

अश्वत्थ

जगत् क्या है, यह प्रश्न मनुष्य के लिए एक अबूझ पहेली बना हुआ है। किन्तु भारतीय दर्शनकारों ने जिस सरल और मनोहर रूपक द्वारा इस अबूझ पहेली को समझाने का प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य है। उन्होंने इस संसार की एक अव्यय वृक्ष के रूप में कल्पना की है। कैसा है संसृति का यह विटप, आइए, देखें !

आर्य प्रज्ञान ने जिन स्मरणीय सृष्टि-विषयक कल्पनाओं को जन्म दिया है, उनमें संसार की अश्वत्थ रूप में कल्पना अत्यन्त मनोहर है। संसाररूपी अव्यय वृक्ष देश और काल के अनन्त विस्तार को सब ओर से व्याप्त करके नित्य नये-नये रूपों में फलता-फूलता रहता है। उसकी महिमा कल्पनातीत है और उसकी विचित्रता मानवीय बुद्धि के लिए एक अबूझ पहेली बनी हुई है। यह महान् वृक्ष पुरातन होते हुए भी नित्य नया है। जिस प्रकार वेदों में सूर्य की ज्योतिष्मती पुत्री उषा को एक ही साथ 'पुराणी' और 'युवति' ये दो विशेषण दिये गए हैं, उसी प्रकार हमारा यह संसाररूपी विटप कालचक्र को अपने उदर में रखकर भी कभी बूढ़ा होने का नाम नहीं लेता। इस रहस्यभरे अश्वत्थ के पोषक रस में जो दुर्धर्ष शक्ति विधाता ने एक बार भर दी है, उसके वीर्य से इसका यौवन सदा एकरस बना रहता है। इसके मूल में अमृत और मृत्यु का विलक्षण सम्मिश्रण पाया जाता है। ज्ञानी लोग इसके अमृत-अंश को ग्रहण करते हैं, और अविवेकी जन मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं ले पाते।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संसार के इन्हीं दो विपरीत भावों को इस वेलि के कड़वे और मीठे फल कहा है। भारतीय साहित्य की अमर परम्परा का अनुसरण करके उन्होंने संसाररूपी अश्वत्थ का यों वर्णन किया है:—

अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने;
षटकंध शाखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल विधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे;
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-विटप नमामहे।

(तुलसीकृत 'रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, वेद-स्तुति)

अर्थात्, हे संसाररूपी सनातन वृक्ष, आपको प्रणाम है। इस अनादि वृक्ष की जड़ें अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म के साथ मिली हुई हैं। शास्त्रों में कही हुई जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया नामक जो चार अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके वक्कल हैं। जन्म लेना, रहना, बदलना, बढ़ना, घटना और मरना, ये छः विकार इस वृक्ष के स्कन्ध हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और पाँच विषय, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव ये पच्चीस शाखाएँ हैं। अनेक मनोरथ इस वृक्ष के अनगिनत पत्ते और फूल हैं। मीठे और कड़वे फलवाली मायारूपी वेलि इस पेड़ को चारों ओर से घेरे हुए है। इस प्रकार का यह अनादि वृक्ष सदा हरा-भरा बना रहता है। इस वृक्ष के एक-एक पत्ते पर असंख्य युगों के और अनेक देशों के इतिहास अंकित हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान इसको जीवन के रस से सींचते रहते हैं।

सुदूर योरप के उत्तराखंडवर्त्ती स्कैण्डिनेविया और आइसलैंड आदि देशों के प्राचीन गाथाशास्त्र में भी भारतीय साहित्य से मिलती हुई संसार-विटप की कल्पना पाई जाती है। अंग्रेजी के प्रकाण्ड साहित्यकार कार्लाइल ने स्कैण्डिनेवियावासियों के इस संसार-रूपी अश्वत्थ का निम्न शब्दों में बहुत ही भव्य वर्णन किया है—

"मुझे उनके (उत्तराखंडवर्त्ती स्कैण्डिनेवियावालों के) यग्द्रसील वृक्ष की कल्पना बहुत प्रिय है। वे लोग जीवन की कल्पना एक वृक्ष के रूप में करते हैं। इस वृक्ष का नाम यग्द्रसील है। इसकी जड़ें पाताल-स्थित यमलोक में हैं। इसका तना स्वर्ग तक सिर ऊँचा किये हुए अपनी शाखाओं को सारे संसार में फैला रहा है। यह भव-वृक्ष

है। होला(यम) के लोक में जो धर्मकूप है, उसके जल से भूत, भविष्य और वर्तमान रूपी तीन देवियां इसको सींचती रहती हैं। वहीं निधुग् नामक सर्प अपने परिवार के साथ इसकी जड़ों को कुतरता रहता है। इसकी शाखा-प्रशाखाएँ, जिनमें संसार की दारुण घटनाएँ और सम्पूर्ण कर्मचक्र गुँथा हुआ है, देश-देश और युग-युग में फैली हुई हैं। इस वृक्ष का हरएक पत्ता क्या एक जीवन-चरित्र नहीं है ? क्या इसकी नस-नस में मनुष्यों के कर्म और वचन नहीं छिपे हुए हैं ? जातियों के इतिहास इसकी शाखाएँ हैं। मनुष्य-जीवन की कलकल ध्वनि ही इस भव-विटप के पत्तों की मर्मर ध्वनि है। इसका अस्तित्व हमारे सामने है। मानवीय वासना की उच्छ्वास इसमें व्याप्त है, अथवा झंझावात के रूप में इसको झकझोरती हुई देवों के क्रन्दन-सी जान पड़ती है। यह यग्द्रसील जीवन का विटप है। इसी में भूत, भविष्य और वर्तमान हैं; जो हो चुका है, जो हो रहा है, और जो होगा, इसी का रूप है; अर्थात् 'डुकृञ्, करणे' धातु के असंख्य संसाररूपी वृक्ष के समान दूसरी सत्य, सुन्दर और महान् उपमा मुझे नहीं मिली। इसके विपरीत संसार की यांत्रिक कल्पना कितनी फीकी उतरती है!*

ब्रह्म-वन और संसार-वृक्ष

उत्तराखंड के गाथाशास्त्र का भी जो मूल है, उस आर्य साहित्य में विश्व-विटप का वर्णन और भी अधिक महनीय है। ऋग्वेद का ऋषि अपने सन्देह को साहस के साथ व्यक्त करता हुआ प्रश्न करता है:—

१—मैं नहीं जानता हूँ; पर जो जाननेवाले कवि हैं, उनसे पूछता हूँ; अनजान का जानने के लिए यह प्रश्न है। मैं पूछता हूँ कि छः लोकों को अपने नियतिचक्र में बाँधकर रखनेवाले उस अविनाशी का भी क्या कोई नियत स्वरूप है ?

२—इस विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे, तब क्या उसका आधार (अधिष्ठान) था, और कौन-सी सामग्री (आरम्भण) थी ? यदि विश्व का कोई आरम्भण (उपादान) था, तो वह कैसा था ? विश्वद्रष्टा और विश्वकर्मा प्रजापति ने भूमि को बनाते हुए द्युलोक को अपनी महिमा से बड़ी दूर तक फैलाया।

३—वह ऐसा कौन-सा महावन था ? उस महावन में ऐसा कौन-सा महावृक्ष था, जिसे काट-छाँटकर द्यावा-पृथिवीरूप संसार बनाया गया ? हे विद्वानो, अपने मन से ही यह पूछो कि किस महावन के किस महावृक्ष से इस विश्व को बनाकर उसे अपने में धारण करके प्रजापति सबका अधिष्ठाता बना हुआ है।*

यह विश्वरूप स्तम्भ किस वृक्ष को गढ़-छीलकर खड़ा किया गया है ? कितना उदात्त और मौलिक प्रश्न है, जो तत्त्व की खोज करनेवाले ज्ञानी ऋषि और विज्ञानी, सभी के सामने आता है ! इसके समाधान में एक ओर ब्रह्म की अचिन्त्य निगूढ़ चेतनाशक्ति है, दूसरी ओर विद्युत् के रहस्यात्मक कण और तरंगें हैं। दोनों ही बुद्धि के लिए पहेलियाँ बनी हुई हैं। ब्रह्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, यह वेदाभिमत निश्चित सिद्धान्त है। सृष्टिवित् आप्त महर्षि पूर्व प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं—

ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण

अर्थात् ब्रह्म वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथिवी तराशे गये हैं। हे विद्वानो, मन से चिन्तन करके यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है।

अनेक वृक्षों का समुदाय वन होता है। एक विश्व एक महावृक्ष है। ऐसे-ऐसे कोटि-कोटि विश्व या ब्रह्माण्डों की जहाँ सत्ता है, वही ब्रह्मवन है। ब्रह्म का वह कल्पनातीत स्वरूप सबसे परे होने के कारण 'परात्पर' कहा जाता है। परात्पर ब्रह्मवन के एक-एक महावृक्ष में सहस्र-सहस्र शाखाएँ हैं। एक-एक ब्रह्माण्ड की प्रवृत्ति सहस्रधा और सहस्रमुखी है। वैदिक भाषा में शाखा या टहनी को 'वल्श' कहते हैं। अतएव इस ब्रह्मवन का प्रत्येक ब्रह्मवृक्ष सहस्र वल्शों से युक्त कहा जाता है। यही अनन्त ब्रह्माण्ड का काव्यमय दिग्दर्शन है।× यह महावृक्ष 'अश्वत्थ' कहा जाता है। अश्वत्थ

* कार्लाइल कृत 'ऑन हीरोज एण्ड हीरो वर्शिप।'

* १—अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र कवीन्
पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। ऋ० १।१६४।६

२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमस्वित् कथासीत्। ऋ० १०।८१।२

३—किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्। ऋ० १०।८१।४

× महावन के विशद वर्णन के लिये देखिए ईशोपनिषद् (हिन्दी भाष्य), पं० मोतीलाल शास्त्री, जयपुर, पृष्ठ १७-२२।

नाम संकेतमय है। वैदिक भाषा में आदित्य को अश्व कहा गया है ‡। प्रत्येक वल्श या टहनी के मूल में एक सौर मंडल है। सूर्यरूपी अश्व जिसके आधार पर स्थित है, वही अश्वत्थ है। अथवा विराट् की संज्ञा अश्व है +। जो विराट् बन गया वही सृष्टियज्ञ में सम्मिलित हो गया ×। विराट् विश्व-रूपी अश्व जहाँ स्थित है, वही अश्वत्थ है। नित्य परिवर्तनशील होने के कारण भी संसार को अश्वत्थ कह सकते हैं—न श्वः चिरं तिष्ठति, 'जो कल देर तक न ठहरे',—वही तो जगत् या संसार है।

ऊर्ध्व और अधः

श्रुतियों का अनुवाद करनेवाले गीताशास्त्र में संसाररूपी अश्वत्थ का और भी विशद वर्णन मिलता है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धानि मनुष्यलोके॥१५।-१२॥

अर्थात् ऊर्ध्व या अव्यक्त जिसका मूल है, और अधः या व्यक्त जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह संसाररूपी सनातन अश्वत्थ है। सत्व, रज, तम, ये तीन गुण उन शाखाओं को नित्य पुष्ट करते रहते हैं, विषय-विकार ही उन टहनियों के पत्ते हैं। कर्मबन्धनों से जकड़ी हुई इस संसारवृक्ष की जटाएँ नीचे की ओर मनुष्यलोक में फैलती रहती हैं। यह समस्त वृक्ष कर्मानुबन्धी है। कर्म ही इसके नाना भाँति के संवर्धन और वितान का कारण है। वैराग्य ही इस कर्म-वृक्ष से छुड़ानेवाला दृढ़ शस्त्र है।

इस वर्णन में ऊर्ध्व और अधः शब्द मार्मिक हैं। इनका अर्थ साधारण ऊपर-नीचे नहीं है, बल्कि केन्द्र का नाम ऊर्ध्व है, और परिधि का नाम अधः है। दार्शनिक परिभाषा में भूमा की संज्ञा ऊर्ध्व और अणिमा की अधः है। केन्द्र को ही वैदिक परिभाषा में 'हृदय' कहते हैं। केन्द्र का परिधि रूप धारण करना ही हिरण्यगर्भ का विराट् हो जाना है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है। प्रत्येक परमाणु की आन्तरिक रचना में यही भेद पाया गया है। वैज्ञानिक शब्दों में यदि 'न्यूक्लिअस' से 'इलैक्ट्रान' तक का जो आकाश-प्रदेश है, उसको निकाल दिया जाय तो एक इंच के व्यास की घनीभूत डली में लाखों टन बोझ का परिमाण समा सकता है!

इसी घनद्रव्य से गर्भित अवस्था को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य वस्तु का वीर्य या मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सृष्टि से पहले इसी अवस्था में रहता है। मानवी कर्मों का जो प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वह भी क्या पहले मानसिक क्षेत्र में गर्भित नहीं रहता? हमारा जो रेत या वीर्य है, वह भी स्वर्ण है, हिरण्यगर्भ अवस्थारूपी ऊर्ध्व कारण के बिना सृष्टि या प्रजोत्पादन हो ही नहीं सकता। हिरण्यगर्भ को ही 'शुक्र' कहते हैं। बिना शुक्र के सृष्टि सम्भव नहीं। अतएव कहा जाता है—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'

सबसे पहले हिरण्यगर्भ था, उसी से चराचर भूत उत्पन्न हुए। अथर्ववेद में और निश्चित शब्दों में कहा है—

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत्प्राजनयत्।
तदेकमभवत्। तत् ललाम अभवत्।

(अथर्व० १५। १।३)

अर्थात् सृष्टि की कामना करनेवाले प्रजापति ने अपनी अन्तरात्मा में सुवर्ण (हिरण्य, रेत या शुक्र) के दर्शन किये; तब प्रजनन किया। वह अकेला था; प्रजनन के लिए 'ललाम' बना; महान् बना…और तब उत्पन्न हुआ।

प्रजनन के लिए आत्मा में रेत का दर्शन चाहिए। यही मनु का अविप्लुत ब्रह्मचर्य है। रेत से ललाम भाव उत्पन्न होता है। ललाम भाव ही योषित् की सम्प्राप्ति है। सामाजिक क्षेत्र में इसका नाम विवाह है। विज्ञान में यही धन और ऋण विद्युत् का द्वैभाव है। सृष्टि-प्रक्रिया की विधि विराट् ब्रह्माण्ड में और सूक्ष्म परमाणु में एक-जैसी है। विज्ञान की खोज ने इसी कहानी को सुन्दर रूप में प्रकट किया है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का अनुशासन सर्वत्र समान है।

वैदिक विज्ञान की परिभाषा में केन्द्र को ही प्रजापति कहते हैं। केन्द्र वृत्त के गर्भ में छिपा रहता है, उसकी सत्ता

---

‡ असौ वा आदित्योऽश्वः। तै० ब्रा० ३।६।२३।२।

\+ अदितिमंडल में प्रतिष्ठित सौर एवं पार्थिव प्राण की समष्टि 'अश्व' पशु है। जो सौर प्राण पृथिवी से सूर्य तक फैला है, वही अश्व है। इसी में विराट् पुरुष का अन्तर्भाव है। अश्वमूर्ति विराट् पुरुष है, अथवा यों कहें कि विराट् का नाम ही अश्व है। (देखिए पं० मोतीलाल शास्त्रीकृत शतपथ ब्राह्मण, हिन्दी विज्ञान भाष्य, ३ वर्ष, पृष्ठ ६३)।

× यदश्वत् तदश्वः, जो फूलकर बढ़ गया वही अश्व है। केन्द्र ही विराट् बनकर 'अश्व' बन जाता है। केन्द्र=हिरण्यगर्भ, वही आकाश के साथ मिलकर विराट् या परिधि बन जाता है।

का वर्ता ?

यह प्रश्न ऐसा है, जो बहुत-से उत्तर पाकर भी कभी संतुष्ट हीं होता। कहने को तो संसार के सभी प्रपञ्च इस प्रश्न उत्तर हैं, परन्तु युधिष्ठिर ने विचारपूर्वक इसका जो उत्तर देया है, वही एक सनातन उत्तर जान पड़ता है। युधिष्ठिर ने कहा—

हे यक्ष, संसार-रूपी मोह का कड़ाह है, उसमें सब प्राणी पड़े हुए हैं। रात-दिन का ईंधन जलाकर, नीचे सूर्य की आँच लगाकर, महीने और ऋतुओं की करछल से घोटकर काल हर समय उन प्राणियों को पका रहा है, बस यही एक खबर यहाँ है।*

जैसा अजर अमर प्रश्न है, वैसा ही उसका उत्तर है।

काल क्या है ?

सब प्राणियों को काल का अनुभव है। काल की सत्ता सब चराचर भूतों पर हावी है। कोई ऐसा नहीं, जो काल के अधीन न हो। काल जीवन का कठोर सत्य है। काल की कृपा का नाम आयु है, काल का कोप मृत्यु है। संसार का आदि काल में है, संसार का अन्त भी काल है। काल से आगे-पीछे और कुछ नहीं बचता। काल सब भूतों को रचता है, काल ही उन्हें मार देता है। सोचकर देखें तो सूर्य और चन्द्र, धरती और आकाश, महासागर और महापर्वत, कौन-सी ऐसी वस्तु है जिस पर काल का अंकुश न हो! अग्नि और वायु जैसे देव और प्रकृति की दूसरी सब विराट् शक्तियाँ, एक-एक करके सभी इस काल-चक्र के अधीन हैं।

काल की इस महिमा को देखकर भृगु ऋषि ने पूर्वयुग में कालपरक निम्नलिखित गीत गाया:—

काल अजर है। काल की शक्ति अनंत है। काल सबको देखता है, वह सहस्र आँखोंवाला है। सभी काल के रथ पर बैठे हैं। ज्ञानी इस अश्व पर सवार रहते हैं। मूर्खों पर यह स्वयं सवार रहता है। सब लोक इस अद्भुत रथ के पहियों के साथ घूमते हैं। इस रथ की धुरी में अमृत है, तभी तो वह कभी रुकने या छीजने का नाम नहीं लेता। काल लोकरूपी पहियों को आँगकर आगे ढकेलता है। काल पहला देव है। काल के सिर पर एक पूर्ण कुम्भ रक्खा है। यह घड़ा ज्योति से, आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। यह घड़ा अनेक रूप धरता है। इस सूर्य-रूपी घट से ही चंचल बाल्यकाल, मनमोहक यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं। वह काल सबसे ऊँचे लोक में है। काल ने ही इन रीते भुवनों को जीवन से भर दिया है, काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। पिता-रूप में जो काल था, वही पुत्र-रूप में बन गया। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया, काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित है। सबका होना काल के अधीन है। सूर्य का तपना काल के आधार पर है। काल सूर्य को छोड़ दे, तो सूर्य भी जीवन की सुध भूल जाता है। सब पदार्थ काल के बल पर टिके हैं। आँख जो रात-दिन देखती है, वह काल का ही पसारा है।

हमारा मन, प्राण और नाम सब काल के साथ टँका हुआ है। काल के वरदान को पास आया जानकर सब लोग आनन्द से नाच उठते हैं। तप और ब्रह्म-चर्चित काल में हैं। प्रजापति औरों के पिता हैं, प्रजापति का पिता काल है। काल सब का ईश्वर है। काल ने ब्रह्माण्ड को प्रेरणा दी, काल से उसमें हलचल है और काल से ही उसे ठहराव मिलता है। काल ब्रह्म की शक्ति बनकर प्रजापति को सँभालता है। काल ने प्रजाओं को बनाया, और उनसे भी पहले प्रजापति को बनाया। स्वयम्भू कश्यप काल से बने और काल ने ही तप को पैदा किया।

जल, जो सबकी माता है, काल से उत्पन्न हुआ। काल से दिशाएँ निकलीं। काल पाकर सूर्य आकाश में ऊँचे उठते हैं और काल की गति से फिर नीचे डूब जाते हैं। काल पाकर ही बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठती हुई वायु-प्रदेश की सफाई करती चली जाती हैं। काल के मंगल से पृथ्वी औषध-वनस्पतियों की बढ़ती को पाती है। काल की कृपा से द्युलोक मेघों को गर्भ में भरकर महान् बनाता है।

विधाता के मंत्र ने काल में पहले भूत और भविष्य को रचकर देख लिया। ऋक्, यजु और साम का त्रिविध चक्र काल से फैला। काल ने यज्ञ के सनातन ताने-बाने को फैलाया, उसी से सृष्टि के देवों को अक्षय भाग पहुँचता है। काल ने गन्धर्व और अप्सराओं के नाना भाँति के जोड़ों (चन्द्र-नक्षत्र, मन-इन्द्रिय आदि) को बनाया। काल पर ही सब लोक प्रतिष्ठित हुए। अथर्वा और अंगिरा (प्राण और मन) काल पर रुके हुए हैं। यह लोक और परलोक,

---

* अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
—वनपर्व ३१३।११८

सब पवित्र विधान, व्रत और मर्यादाएँ काल की कीली पर टिकी हुई हैं। काल सबको वश में रखता हुआ ब्रह्म की शक्ति से घूमता है। काल परम देव है।*

काल की सर्वोपरि शक्ति

इन मंत्रों में काल से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है। काल की प्रकट और गुप्त अचिन्त्य महिमा को इतने ओजस्वी शब्दों में वर्णन करनेवाले ये शब्द विश्व के साहित्य में बेजोड़ हैं। यहाँ कहा है कि स्थिति और गति दोनों काल के आश्रित हैं। सब प्राणियों की रचना में काल ने प्रमुख भाग लिया है।

देश के साथ जब तक काल न मिले तब तक सृष्टि का पूरा चौखटा नहीं बनता। सापेक्ष्यतावादी दार्शनिक देश-काल के सम्मिलन को बहुत सच्चे अर्थों में सृष्टि का कारण मानते हैं। देश स्थिति है, काल उसको धक्का या गति देता है। संसार शब्द का अर्थ ही है 'जो चले।' संसार का **संसारपना** काल के अधीन है। 'जगत्' का भी शब्दार्थ वही है। गच्छति इति जगत्; जो जाता है, वह जगत् है। काल के बिना जाना हो नहीं सकता। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर वस्तु का हट जाना, यह गमन क्रिया है। घड़ी की सुई एक अंक से हटकर दूसरे अंक पर चली जाती है। इसी का नाम काल है। सुई की प्रगति का कारण काल है। काल प्रगति का फल नहीं, उसका बीज कारण है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि घड़ी की सुई एक जगह से दूसरी जगह हट गई, इसका फल क्षण, मुहूर्त और घंटे हैं। बात असल यह है कि काल ही घड़ी की गति का बीज है। काल फल नहीं है, वह स्वयं बीज है, निर्माता है, पिता है। घड़ी तो मनुष्य की कल्पना का कल-पुर्जा है, उसे मनुष्य की चाभी चाहिए, तब सुइयों में प्रगति आती है। पर प्रकृति की घड़ी हमारे सामने है। उसकी चाभी में अमृत है।। वहाँ न गति की बाधा है, न रोक है। सूर्य नक्षत्र और पृथ्वी, स्थिर कोई नहीं है। सब जगत् के अन्तर्गत हैं। सबमें 'गम्लृ गतौ' धातु के रूप समाये हुए हैं। इनको धक्का देनेवाली शक्ति कौन है ?

यह प्रेरक शक्ति काल है। काल पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर हमारे सामने रात-दिन, महीने, ऋतु और संवत्सर की कल्पना करता है। पृथ्वी का घूमना घड़ी की सुई की तरह स्थान बदलना है। इसके पीछे चाभी भरनेवाली अमर शक्ति काल है। सारे ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं जो काल के सामने आकर पैर अड़ा सके। दूर-से-दूर तक नक्षत्र और नीहारिकाएँ सभी काल की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपनी कुंडली खोलते चले जा रहे हैं। छोटे-से-छोटे परमाणु भी प्रगति के शासन में हैं। अरबों बरस भले ही लगें, पर रेडियम के परमाणुओं का तेज छीनकर उन्हें सीसा बना देने की शक्ति काल ने अपने हाथ में रक्खी है। वैज्ञानिक बताते हैं कि दो अरब वरसों में हिरण्यमय (रेडियमधर्मी) पदार्थों के परमाणुओं का विशकलन होते-होते यह दशा हुई है। यह प्रक्रिया काल की नाप की एक प्राकृतिक घड़ी मात्र है। असल बात तो काल की अप्रतिहत शक्ति है। अणु और महत् दोनों में वह व्याप्त है।

मूर्त-अमूर्त काल

जो काल इतना बलवान् है, क्या वही सृष्टि का कारण नहीं है ? इस प्रश्न पर भारतवर्ष ने अपनी निजी दृष्टि से विचार किया है। एक काल वह है, जो लव-निमेष-युग के रूप में हमारे अनुभव में आता है। यह काल का मूर्त रूप है। घड़ी की सुई से बननेवाले मिनिट और घण्टों की तरह मूर्त काल प्रगति का फल है। इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है, वह अमूर्त या अव्यक्त काल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस बात की खोज करते हुए कि सृष्टि का कारण क्या है, काल को एक कारण कहा गया है। पर यह पूर्वपक्ष है। सृष्टि का असली कारण तो ब्रह्म की अचिंत्य शक्ति है। काल का जो मूर्त या व्यक्त रूप है, वह सृष्टि की प्रेरणा करता हुआ भी उसका आदि मूल कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जो काल ब्रह्मशक्ति का ही दूसरा नाम है, जो सब देवों और सब भूतों से पीछे है, वही अव्यक्त अमूर्त शक्ति सृष्टि का बीज है। इसी काल को लक्ष्य करते हुए अथर्ववेद में काल को परम देव कहा गया है।

भारतीय दार्शनिक परिभाषा में काल और ब्रह्म पर्यायवाची हो जाते हैं। हमारे 'सहस्रनाम' ग्रन्थों में सब देवों के निरपेक्ष स्वरूप का एक नाम काल भी पाया जाता है।

अमूर्त काल के व्यक्त अवयव सूर्य के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव लवनिमेष से युगपर्यन्त काल सूर्य से गृहीत है। यह काल का शुक्ल या प्रकट पक्ष है। काल का जो एकरस रूप है, उसमें मास, ऋतु और संवत्सर के विराम-चिन्ह कहीं देखने में नहीं आते। हमारी आँखों के सामने काल का जो प्रवाह है, उसमें कहीं पर कोई पक्का निशान

* अथर्ववेद [कांड १९; सूक्त ५३-५४]

पड़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। काल के हिसाब-किताब की कल्पना अमूर्त काल की दृष्टि से माया है। अव्यक्त काल को मूर्त काल की तुलना में कृष्ण कहा गया है। सूर्य का दूसरा नाम गरुत्मा, सुपर्ण या गरुड़ है। सूर्य खगेन्द्र है। खे आकाशे गच्छति खगः; आकाश में जो विचरण करे वह खग है। नक्षत्र और ग्रह 'खग' हैं, इनमें सूर्य खगेन्द्र या पक्षिराट् है। सूर्य मूर्त काल का प्रतीक है। उसका उलटा जो एकरस काल है, वह कृष्णरूप होने से कागभुशुंडि कहा गया है। गरुड़ कल्पान्त तक रहते हैं। जब तक विष्णु की सृष्टि है, तभी तक गरुड़ हैं। कागभुशुंडि अमर हैं, मृत्यु उनका स्पर्श नहीं करती।

अहोरात्रवाद

काल के ऊपर कहे गए दो स्वरूपों की दार्शनिक छानबीन का प्राचीन नाम 'अहोरात्रवाद' है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पहले की अप्रतर्क्य दशा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उस समय रात और दिन का बिलगाव नहीं था—

न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

सृष्टि के होते ही प्रलय की कल्पना होती है। रात और दिन एक जोड़ा है। इसी के बहुत से नाम हैं। यह जगत् द्विधाबद्ध है। दिन सृष्टि है, रात प्रलय है। दिन प्रकाश या ज्योति, रात अन्धकार या तम है। दिन शुक्लभाव है, रात कृष्णभाव। दिन स्थिति है, रात विघटन या चरभाव है। दिन का नाम सत्य और रात का नाम ऋत है। दिन द्युलोक है, दिन के साथ देवों का सम्बन्ध है। रात पृथ्वी है, उसके साथ आसुरी शक्ति का सम्बन्ध है। असुरों की सत्ता रात में बढ़ती है। दिन ज्ञान और रात अज्ञान है। ब्रह्माण्ड में जब तक सूर्य की तरह के संचित शक्ति-केन्द्र हैं, तब तक सृष्टि या काल है। जब शक्ति के अधःप्रवाह से संचित केन्द्र विलीन हो जाएँगे अर्थात् शक्ति एकरस होकर सर्वत्र समान रूप से फैल जायगी, तभी सृष्टि का अन्त होगा, वही कृष्ण काल या प्रलय है। विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के इस बराबर बह जाने को, ऊँचे केन्द्र से नीचे की ओर बँट जाने को, 'ऊष्मा प्रगति का दूसरा नियम कहा जाता है।

'कालं कालेन पीड़यन्'

यहाँ एक दार्शनिक उलझन पैदा होती है। यदि शक्ति के ऊर्ध्व केन्द्र इसी तरह बिखरते रहेंगे तो प्रलय अवश्यंभावी है। उस प्रलय के बाद फिर सृष्टि कैसे होगी? वैज्ञानिकों का कहना है कि अब तक का जो हमारा अनुभव है, उससे यह तो मालूम होता है कि शक्ति बँट रही है, पर कहीं भी उपरोक्त दूसरे नियम की उल्टी प्रक्रिया देखने में नहीं आती। अर्थात् ब्रह्मांड में बराबर फैली हुई शक्ति में नये संचित शक्तिकेन्द्र पैदा होते नहीं देखे जाते। जो जल एक समान धरातल पर फैल गया है, उसे फिर ऊँचा उठाने के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता होती है। कुछ वैज्ञानिक इस बाह्य कारण को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं।

ऋषियों के अनुसार काल की प्रगति एक चक्र के समान है। मनु ने इसे यों कहा है कि काल ही काल पर दबाव डालकर प्रलय के बाद सृष्टि करता है। घड़ी की जो चाबी समाप्त हो गई है, उसके कूकने का प्रबन्ध भी साथ-ही-साथ है। *इसी का उदाहरण सोना और जागना है।* सोने के बाद जागना उसी प्रक्रिया का फल है। प्रलय में पुनः शक्ति का संचय ही तप है। किसी अचिन्त्य शक्ति के तप से ही भारतीय ऋषि सृष्टि का विकास स्वीकार करते हैं।

लोमश

अर्वाचीन भूगर्भशास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने हमारी काल-सम्बन्धी कल्पना को विस्तृत बना दिया है। वैज्ञानिकों की दृष्टि से पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। आर्यों के संकल्प में दिया हुआ सृष्टि-संवत्सर भी करीब इतना ही है। हमारा संकल्प देश और काल का सूत्र रूप से परिचय देता है। मनुष्य देश और काल की संधि के किसी बिन्दु पर खड़े होकर किसी कार्य को करने का संकल्प करता है। हमारे प्रचलित संकल्प-मंत्र में ये पाँच विषय रहते हैं—किस देश में, किस काल में, कौन व्यक्ति, किस काम को, किस उद्देश्य से करना चाहता है। यही संकल्प का पाठ है। काल की गणना को आर्यों ने एक शास्त्र का रूप दे दिया था। मानुष, पित्र्य, दैव और ब्राह्म चार प्रकार के दिन-रात की कल्पना की गई है। महर्षि वार्कलि ने काल की माप का यह पहाड़ा स्थिर किया था—

१५ स्वेदायन	=	१ लोमगर्त
१५ लोमगर्त	=	१ निमेष
१५ निमेष	=	१ अन
१५ अन	=	१ प्राण
१५ प्राण	=	१ इदम्
१५ इदम्	=	१ एतर्हि
१५ एतर्हि	=	१ क्षिप्र
१५ क्षिप्र	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र

इसके आगे पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प के परिमाण हैं। काल के इन भेदों का अनन्त काल के साथ जो सम्बन्ध है, उसे पुराणकारों ने लोमश ऋषि की कल्पना से प्रकट किया है।

एक सृष्टि ब्रह्मा का दिन और एक प्रलय ब्रह्मा की रात है। ऐसे रात-दिनों को जोड़कर जब सौ वर्ष पूरे होते हैं, तब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है। लोमश ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा की एक आयु लोमश की आयु का एक दिन समझा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोमश को प्रतिदिन अपने पिता का अन्त्य श्राद्ध करना पड़ता है। इसके लिए लोमश सारे सिर का क्षौर न कराकर अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु के बराबर काल की सत्ता समाई हुई है। लोमश का नाम ही यह प्रकट करता है कि उनके रोम-रोम में काल का यह अनन्त परिमाण भरा हुआ है। लोमश की देह के रोएँ गिनने का सामर्थ्य भला किसमें हो सकता है?

लोमश की आयु में कितने सर्ग और प्रलय पार उतर जाते हैं, इसकी कल्पना भी गणित के अंकों द्वारा हमारे मस्तिष्क को नहीं हो सकती। अनन्त काल की नाप करने में भला कौन समर्थ हो सका है? दोनों की कल्पना से बुद्धि चकराने लगती है। मेटरलिंक के शब्दों में काल और देश, जीवन और चैतन्य, अनन्तता और नित्यता—ये अगम्य और अचिन्त्य रहस्य हैं।

देश

हम सत्य की खोज में निकले हैं। एक अदम्य जिज्ञासा इस विश्व-प्रपंच का रहस्य जान लेने के लिए हमें विकल कर रही है। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, सत्य नये-नये भेष धारण कर हमें भुलावे में डालने लगता है। यही देश और काल की समस्या के बारे में भी लागू है। मुश्किल तो यह है कि जिस वस्तु की खोज हम करने जा रहे हैं, उससे हम स्वयं ओत-प्रोत हैं। यहीं हमें अपनी पराधीनता, अपनी सीमाओं का भान होता है। इस अद्भुत, अज्ञेय, अनंत शक्तिशाली वस्तु के एक पहलू 'काल' का तो विवेचन पिछले प्रकरण में संक्षेप में किया जा चुका है। आइए, अब देखें कि उसके दूसरे पहलू 'देश' के सम्बन्ध में दार्शनिक और वैज्ञानिक क्या कहते हैं!

'मैं हूँ,' यह प्रतीति मनुष्यमात्र के मन में होती है। पर 'मैं हूँ' इस अनुभव के साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा रहता है—'मैं कहाँ हूँ'। 'कहाँ' का उत्तर ही 'देश' सम्बन्धी ज्ञान है। देखने में यह प्रश्न साधारण-सा जान पड़ता है, पर विचारने पर ज्ञात होता है कि हमारे समस्त जीवन और ज्ञान की सत्ता इसी 'कहाँ' की ही कृपा पर निर्भर है।

'कहाँ' का महत्त्व

यदि 'कहाँ' न हो तो 'मैं हूँ' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही न रहे। 'कहाँ' को साथ लेकर ही इस जगत् की स्थिति सम्भव है। 'कहाँ' का अर्थ 'देश' है। देश के बिना सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, मनुष्य-पशु-पक्षी, मार्ग-भवन-उपकरण, अर्थात् व्यवहार में आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं, उन सबकी स्थिति निराधार हो जाती है। जब देश ही नहीं, तो उसमें भरे हुए पदार्थों का अस्तित्व बुद्धि कैसे मान सकती है! हमें जो पदार्थों की प्रतीति होती है, उसमें हम उन्हें देश में किसी क्रम से सजे हुए रूप में विचारते हैं। इसका यह अर्थ होता है कि दो पदार्थ एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। एक पदार्थ जिस स्थान को घेरे हुए है, दूसरा उसी को घेरकर नहीं टिक सकता। यह असम्भव है। इसीलिए साधारण मनुष्य की बुद्धि भी इस बात को बिना दलील के स्वयंसिद्ध सत्य की भाँति मान लेती है।

काल और देश का अभिन्न सम्बन्ध

पर हमें अपने कथन में और सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब हम यह कहते हैं कि दो पदार्थ एक स्थान को घेरकर नहीं टिक सकते, तो उस कथन में एक बात और छिपी रहती है। हमारा तात्पर्य यह होता है कि एक **ही समय में** एक स्थान पर दो चीजों का भौतिक अस्तित्व असम्भव है। भिन्न-भिन्न समय में तो एक स्थान पर हजार चीजें भी रह सकती हैं। अतएव दार्शनिक अर्थों में काल का देश के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है, अथवा यों कहें कि देश का काल के साथ गहरा सम्बन्ध है। देश-काल एक अभिन्न चौखटा है। हमारे अनुभव का स्वयंसिद्ध वाक्य 'मैं हूँ' यदि कुछ बुद्धि-गम्य अर्थ रखता है, तो उस अर्थ को

हमें देश-काल की रूप-रेखा में रखकर ही समझना होगा। 'मैं हूँ', यह ज्ञान देश-सापेक्ष्य है और काल-सापेक्ष्य भी है। दोनों का समान बल है। मुष्टिक और चाणूर के जैसा समान बल लेकर देश और काल रूपी दो पहलवान मानव के हर एक अनुभव से सदा टक्कर लेते रहते हैं। इनमें से एक का नाम है 'कहाँ ?' और दूसरे का नाम है 'कब ?' 'कहाँ' और 'कब' की मैत्री सृष्टि के आदि से है, इनका 'साप्तपदीन सख्य' प्रलय तक बना रहेगा। सम्भवत: मानवीय मस्तिष्क प्रलय की कल्पना भी बिना 'कुत्र' और 'कदा' की छाया के नहीं कर सकता। यह शाश्वत द्वन्द्व है। एक ओर 'कदा कहि तदा तदानीं तर्हि' की धारा है; दूसरी ओर कुत्र-तत्र का समानान्तर प्रवाह है। दोनों में सनातन पार्थक्य है, कभी संकर नहीं होता। फिर भी सृष्टि-प्रक्रिया के लिए दोनों का अभिन्न सम्बन्ध हुए बिना काम भी नहीं चलता।

'कदा' और 'कुत्र' एक-दूसरे के पूरक हैं

कवि के शब्दों में कहें तो हम कह सकते हैं कि कदा पुरुष और कुत्र स्त्री है। दोनों का विवाह-सम्बन्ध रचाए बिना ब्रह्माजी सृष्टि नहीं कर सकते। पुरुष जब तक अकेला रहा, सृष्टि में उसका मन नहीं लगा। सृष्टि के लिए ललाम भाव चाहिए। ललाम भाव या विवाह की मूल स्त्री है। इसलिए बिना पुरुष-स्त्री के मिलन भाव के प्रजापति का क्रम अग्रसर नहीं होता काल पुरुष है, देश स्त्री है। काल की तरह संतत गतिशील तत्त्व में स्थिरता का सम्पर्क देश से ही होता है। स्त्री-रूपी देश में जब मनुष्य प्रतिष्ठा पाता है, तभी वह एक स्थान में जमकर रहता है।

बिना स्त्री के मनुष्य फिरन्दर या खानाबदोश प्राणी बन जाता है। देश-सम्बन्धी प्रतिष्ठा जिसमें नहीं रही, उसी की संज्ञा परिव्राट् होती है। स्त्री केन्द्र है, गृहस्थ-रूपी मंडल का वह ध्रुव-बिन्दु है। केन्द्र या ध्रुव-बिन्दु ही देश का प्रतीक है। ध्रुव-बिन्दु जब चंचल हो जाता है, तभी वस्तु का विनाश निकट आ जाता है। चंचला स्त्री समाज और कुल की प्रतिष्ठा और दृढ़ स्थिति को अस्तव्यस्त कर डालती है। देश और काल ने बहुत ही गहरे और सच्चे अर्थों में मनुष्य-जीवन को बनाने और बिगाड़ने में हिस्सा लिया है। शतपथ ब्राह्मण में नाम-रूप के बारे में कहा है–

ते ह एते ब्रह्मणः महती अभ्वे, महती यक्षे।

अर्थात् नाम और रूप ब्रह्म के दो बड़े मायिक रूप हैं, दो बड़े यक्ष हैं। जो यजन या पूजन के योग्य हो, उसे यक्ष कहते हैं। देश और काल से बढ़कर ब्रह्म का पूजनीय रूप और क्या हो सकता है? ये रूप इतने चमत्कारी हुए कि इनके द्वारा ही सृष्टि का अत्यन्त रहस्यमय और आश्चर्य से भरा हुआ ताना-बाना फैल गया। सृष्टि के विस्तृत पट से अधिक सुन्दर और रमणीय पट की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऋग्वेद में कहा है कि दो विरूप युवतियाँ इस तन्तु को रात और दिन बुनती रहती हैं। उन युवतियों का रूप विविध है, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इसी कारण इस वस्त्र में आगे चलकर विलक्षण रमणीयता के दर्शन होते हैं। इन दो रूपों को ऋषियों ने 'अभ्व' भी कहा है। 'अभ्व' की परिभाषा है—अभूत्वा भवतीति, जो न होकर भी होवे, वास्तविक सत्ता न होते हुए भी जो दिखाई पड़े। यही माया है। शतपथ ब्राह्मण में नाम और रूप को 'अभ्व' और 'यक्ष' कहा गया है। नाम-रूप ही देश-काल हैं। नाम काल है, रूप देश है। ये केवल परिभाषाएँ हैं। यों भी साधारणत: लोक में नाम काल पर विजयी होकर अमरपन चाहता है, और रूप देश में अपने विविध आकारों का प्रसार करता है।

क्या देश-काल निरी माया (भ्रान्ति) है?

प्रश्न यह है कि क्या देश और काल मायिक हैं, क्या उनकी प्रतीतिमात्र है, वास्तविक सत्ता नहीं? यह प्रश्न वेदान्त में बड़े महत्व का माना गया है। तत्व-जिज्ञासा के मार्ग में यह बार-बार सामने आता है। आज विज्ञान भी इस प्रश्न से लोहा ले रहा है। ज्ञानी लोग आन्तरिक अनुभव और साक्षात् दर्शन के आधार पर देश-काल को माया कहते हैं। वेद में भी इनका नाम 'अभ्व' है। इनके विपरीत जो नित्य तत्त्व है, वह ब्रह्म है। वही 'आभु' कहलाता है। 'आभु' का अर्थ है--आ समन्तात् भवतीति, जो सब ओर से भर रहा हो। ब्रह्म और नाम-रूप या देश-काल का सम्बन्ध आभु और अभ्व का अथवा सत्य और माया का सम्बन्ध है।

आधुनिक विज्ञान का अभिमत

अर्वाचीन विज्ञान ने भी अब देश-काल के वास्तविक स्वरूप की छानबीन की ओर अपना पैर बढ़ाया है। प्राचीन रेखागणित के अनुसार देश ध्रुव या अचल प्रतीति का विषय था। देश का ज्ञान मनुष्य के मन में स्वाभाविक संस्कारों के कारण स्वयंसिद्ध-सा बन गया था। पर देश-सम्बन्धी ज्ञान का स्वरूप क्या है, इसकी विवेचना करते समय हमारा ध्यान देश में स्थित पदार्थों की पारस्परिक

दूर अथवा निकटस्थ परिस्थिति की ओर जाता है। जब हम मान लेते हैं कि सूर्य एक स्थान पर है, तब चन्द्रमा की स्थिति का अनुमान करने के लिए आधार प्राप्त होता है। सूर्य की तुलना में चन्द्रमा किधर और कहाँ है, इसकी प्रतीति देश की प्रतीति है। देश-सम्बन्धी ज्ञान का सबसे अधिक आवश्यक अंग पदार्थों का क्रम है, जिसके अनुसार हम उनका अनुभव प्राप्त करते हैं। हमारे सामने मेज पर रक्खी हुई चीजों में जो आगे-पीछे, दाहिने-बायें' या ऊपर-नीचे का क्रम है, उसी के कारण देश की कल्पना का खाका पूरा होता है। देश का साहचर्य दिशाओं के साथ है।

प्राचीन कलाविदों की कल्पना के अनुसार छः दिक्कुमारिकाएँ मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड-चक्र को अपने कन्धों पर उठाए हुए दुर्धर्ष वेग से एक नियत अक्ष पर घूमती रहती हैं। दिशाओं के त्रिविक्रम से ही विराट् रूपधारी विष्णु देश में अपने तीन पैर उठाते हैं। प्राचीप्रतीची, दक्षिणा-उदीची, ऊर्ध्व-अधः यही देश का सूत्र रूप है।

नित्य देश और सनातन काल वस्तुतः हमारी पहुँच से बाहर हैं

परन्तु यह कल्पना केवल व्यवहार के लिए मान ली गई है। एकरस देश में कोई भी ऐसी रेखा या बिन्दु नहीं पाया जाता, जिसे अटल मानकर देश का विस्तार नापने के लिए हम बाध्य हों। एकरस काल का भी यही स्वभाव है। उसके संततवाही प्रवाह में कोई भी ऐसा क्षण नहीं पकड़ा जा सकता, जहाँ से शकारि विक्रम ने साका करके अपना संवत् चला दिया हो। विक्रम से पहले जो काल बीत गया, उसकी क्या कल्पना हो सकती है, कहाँ से उसको नापना शुरू किया जाय? हम देख चुके हैं कि घड़ी की सुई के एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटकर चले जाने का परिणाम हमारा व्यावहारिक काल है। इस काल का हमें जिस विधि से ज्ञान होता है, उसके लिए देश में दो विन्दुओं की कल्पना आवश्यक है—एक चल, दूसरा अचल—जहाँ से कि चल विन्दु की नाप-जोख की जा सके। पर प्रकृति के विधान में इस प्रकार के ध्रुवविन्दु का नितान्त अभाव है। अतएव दार्शनिक ढंग से न देश की कल्पना बनती है और न काल की। हाँ, व्यावहारिक पक्ष में इन दोनों का स्वयंसिद्ध अनुभव सबको हो ही रहा है। नित्य देश और सनातन काल का अनुभव हम सबकी पहुँच से बाहर है। वह मनुष्य के मस्तिष्क का विषय नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ ही उसके ज्ञान में सहायक हो सकती हैं।

सापेक्ष्यतावाद

जब से सापेक्ष्यतावाद ने विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया है, तब से देश और काल की दशा और भी शोचनीय हो गई है। प्राचीन प्रमाणों से निश्चित अनुभव हमें प्राप्त होता था। वह भी अब अपरिवर्तनशील नहीं समझा जाता। प्राचीन गणित का मत था कि एक गज की लम्बाई, चाहे जिस परिस्थिति में नापी जाय, ३६ इंच ही रहेगी। अपने पास के देश से लेकर ब्रह्माण्ड के दूरातिदूर प्रदेश में भी इस नियम का अपवाद नहीं है। गति और स्थिति की हर एक दशा में देश और काल के परिमाण एक-से बने रहते हैं। पर अब यह समझा जाने लगा है कि देश का परिज्ञान हमारा एक विशेष प्रकार का अनुभव ही है, उसकी स्वतंत्र वास्तविक सत्ता है या नहीं हम नहीं जानते। मनुष्य का अनुभव किन्हीं विशेष परिस्थितियों में होता है। मनुष्य की आँखें पदार्थ को देखती हैं, हम उसके आकार और परिमाण का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अनुभव में हमारी इन्द्रियों के अतिरिक्त प्रकाश भी एक कारण है। हम जिस परिस्थिति में रह रहे हैं, उसमें प्रकाश की किरणें प्रति सैकंड १ लाख ८६ हजार मील की नियत गति से गमन करती हैं। हम जिस क्षण वस्तु को देखते हैं, उसी क्षण प्रकाश की किरणें हमारी ओर चलने लगती हैं। इस दूरी को पार करने में उन्हें कुछ समय गणित की दृष्टि से लगना चाहिए। पर हमें यह अन्तर मालूम नहीं होता। कारण कि देश की जिस दूरी से प्रायः हमें काम पड़ता है, उसको तय कर लेने में प्रकाश-रश्मियों को जो समय लगता है, वह नगण्य-सा है। प्रकाश-किरण की रफ्तार इतनी अधिक है कि वह एक सैकंड में २५ हजार मील परिधिवाले इस पृथ्वी-मंडल के सात चक्कर काट सकती है। पर इस अनन्त ब्रह्माण्ड में तो कितने ही नक्षत्र इतनी दूर हैं कि जहाँ से प्रकाश-किरणों को भी आने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं! जब तक उस नक्षत्र की प्रकाश-किरण हमारे पास न आ जाय, तब तक देश-काल के चौखटे में उसका अस्तित्व हमारे लिए सिद्ध नहीं हो सकता।

जिस समय देश का पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व और काल की भी पृथक सत्ता स्वयंसिद्ध मान ली जाती थी, उस समय की गणित-वृद्धि को लेकर हम यह संतोष कर सकते थे कि काल की सहायता के बिना भी देश में वस्तु की स्थिति सम्भव है। परन्तु अब तो देश-काल का जाल अखंड या संतत माना जाता है। इस अखंड स्थिति में आये हुए पदार्थ का ही ज्ञान हमें हो सकता है, अन्य का नहीं। न

'देश' की अनन्त व्यापकता की प्रत्यक्ष झांकी : लाखों प्रकाश-वर्ष दूर की एक नीहारिका की झलक

लाखों-करोड़ों प्रकाश-वर्ष की दूरी तक अपनी निगाह दौड़ानेवाले दूरदर्शकों के रूप में जब से मनुष्य ने मानो एक नवीन ब्रह्माण्डभेदी नेत्र पा लिया है, तब से उसके सामने इस विश्व के भौतिक कलेवर के एक के बाद एक नित नये परदे खुलते चले जा रहे हैं। प्रस्तुत चित्र में दूरदर्शक में दिखाई देनेवाली 'मृग' नक्षत्र-समूह की एक महान् नीहारिका का दृश्य है, जो पृथ्वी से कई लाख प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है। कोरी आँख से यह हमें मात्र एक धुँधले बिन्दु-सी दिखाई पड़ती है, परन्तु है वस्तुतः इतनी दीर्घकाय कि उसका व्यास दस हजार अरब मील के लगभग आँका जाता है! विज्ञान यह बताता है कि ऐसी कोटि-कोटि नीहारिकाएँ इस अनंत आकाश में कोटि-कोटि प्रकाश-वर्षों की दूरी पर चक्कर काट रही हैं। तो फिर 'काल' की भाँति 'देश' को भी कौन अपने पैमाने के शिकंजे में कसने का दावा कर सकता है?

केवल देश में, और न केवल काल में हम किसी वस्तु को जान सकते हैं। देश-काल की अखंड स्थापना के कारण भूत और भविष्य के विचारों में भी उथल-पुथल पैदा हुई है। मान लीजिए ब्रह्म-हृदय नक्षत्र से जो प्रकाश-किरण चली, वह चौदह करोड़ वर्ष में हमारे पास तक आकर पहुँची। उस नक्षत्र की उन अतीत घटनाओं की हमारे ज्ञान में सम-सामयिक प्रतीति वस्तुतः प्रकृति की ओर से आज सम्भव हो सकी है। प्रकाश-किरणों की गति के जो नियम हैं, उनसे हमारा ज्ञान जिस प्रकार नियंत्रित हो रहा है, उसी को हम सत्य ज्ञान मानेंगे। कालविरहित देश में ब्रह्म-हृदय नक्षत्र की १४ करोड़ वर्ष पूर्व की सत्ता, जिसे हम अब तक सत्य समझते थे, भले ही हो; पर वह कल्पना है, सत्य नहीं। प्रकृति जिस आयोजन से सत्यात्मक प्रतीति हमें कराती है हमें उसी को मान्य समझना होगा। अतएव हमारे देश-कालात्मक अनुभव में ब्रह्म-हृदय का भूतकाल जब प्रविष्ट होता है, हम तभी उसे सत्य मानने के लिए विवश हैं। ज्ञान के जो प्राकृतिक साधन हैं, हम उन्हीं पर निर्भर हैं। उनसे आगे या पीछे हटकर हम किसी घटना का कल्पनात्मक अनुभव नहीं कर सकते। यदि करें भी तो उस अनुभव की प्रणाली वैज्ञानिक नहीं कही जायगी।

अभी जो उदाहरण दिया गया है, उसमें प्रकाश की नियत गति मानकर ही यह दिखाया गया है कि ब्रह्म-हृदय का भूतकाल कितना पिछड़कर भी हमारे वर्तमान काल का समसामयिक हो जाता है। मान लीजिए कि यदि गति इससे दुगनी होती, तब तो आधी ही देर में वह अनुभव हमारे पास तक आ जाता। अर्थात् हमारे अखंड देश-काल के साथ उस समाचार का सम्बन्ध किसी अन्य प्रकार से हुआ होता। और यदि ब्रह्म-हृदय नक्षत्र के प्रकाश की गति से हमारी अपनी गति दुगनी हो जाती, तो उस समाचार का कभी हमारे साथ सम्बन्ध होता ही नहीं। अर्थात् हमारे देश-काल के लिए उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार काल-सम्बन्धी व्यावहारिक परिमाण हैं। कवि ने कहा है कि कागभुशुण्डिजी ने राम के सापेक्ष्य उदर में करोड़ों ब्रह्मांडनिकायों का दर्शन किया और शतकल्प तक वह घूमते फिरे, फिर भी—

उभय घरी मँह मैं सब देखा।
भयेउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥

यहाँ कालकृत परिमाण भिन्न-भिन्न लोकों के हैं। मानवीय धरातल पर जो काल का प्रवाह है, यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र उसी का साम्राज्य हो।

देश-काल की अनुभूति का द्रष्टा के साथ सापेक्ष्य सम्बन्ध

देश की प्रतीति भी द्रष्टा या अनुभव-कर्त्ता की स्थिति से सापेक्ष्य है। मान लीजिए कि हमसे एक मील की दूरी पर एक शेर लेटा हुआ है। इस स्थिति में, जब कि द्रष्टा और दृश्य वस्तु नियत स्थान पर हैं, वस्तु की लम्बाई, चाहे देखनेवाले कितने ही हों, सबको बराबर दिखाई देगी; क्योंकि सबका देश-काल का चौखटा एक-सा है। परन्तु यदि सिंह वेग से भागने लगे, तो उसकी लम्बाई में हमारी अपेक्षा से कुछ अन्तर पड़ जायगा, चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो। यदि वही सिंह एक लाख मील की तेजी से दौड़ने लगे तो उसकी लम्बाई में हमको वास्तविक फर्क दिखाई पड़ेगा। यह कथन युक्ति या बुद्धि के विपरीत जान पड़ता है। और यह सच है कि मानवीय व्यवहार में इस तरह की विप्रतिपत्ति के अवसर नहीं आते। फिर भी वैज्ञानिक सापेक्ष्यतावाद को मानकर पुराने देश-काल सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन करने पर विवश हुए हैं। ये कथन इतने सीधे नहीं हैं, जितने कि जान पड़ते हैं। इनके व्याख्यान और सिद्धि के लिए अत्यन्त जटिल युक्ति और पेचीदा गणित-शैली का आश्रय लेना पड़ता है, जो व्यावहारिक या लौकिक क्षेत्र से परे की वस्तु है, दार्शनिक मतवाद के लिए उसका कुछ भी महत्त्व क्यों न हो।

देश और काल अचिन्त्य तत्त्व हैं

भारतीय दर्शन में देश-काल की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता को बहुत पुराने समय से ही स्वीकार कर लिया गया था। लोक-दृष्टि से देश और काल दोनों का अनुभव हम रात और दिन करते रहते हैं। इनसे ऊपर उठकर इनके सत्य स्वरूप की मीमांसा में देश और काल वैसे ही अचिन्त्य तत्त्व हैं, जैसे आत्मा, चैतन्य, ब्रह्म आदि। विज्ञान के नये दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण अंश वह है, जिसमें देश-काल की सत्ता एक दूसरे से अखंड मानी गई है। भारतीय दर्शन भी इस अखंडता को स्वीकार करता है। देश-काल दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। इन्हें द्वन्द्व कहा गया है। सृष्टि के लिए दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। काल गति है, देश स्थिति है। गति-स्थिति के सम्मिलन का नाम ही जगत् है। बृंहणत्व या बढ़ना काल की शक्ति से होता है। पर देश न हो तो बृंहण की प्रक्रिया नहीं हो सकती। केन्द्र से परिधि की उत्पत्ति वस्तुतः देश के ही अधीन है। दूसरे शब्दों में, अणु से विराट् होना देश की कृपा पर निर्भर है।

पृथ्वी
की कहानी

गँठवा और उसका प्रतिपालक नागकेसर

बीच में दिखाई दे रहे मनोहर बैंगनी पुष्प-व्यूहवाले पौधे---गँठवा---को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह छिपे-छिपे अपने पड़ोसी लाल फूलवाले पौधे---नागकेसर---का सर्वनाश करने में तत्पर है। इसका वास्तविक भेद जानने के लिए इनकी जड़ों को खोदकर देखना पड़ेगा। (चित्रकार---श्री राजेन्द्र वर्मा सिठौले)।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का पिण्ड कई पर्तों से मिलकर बना है। केन्द्रीय पिण्ड जिस पदार्थ से बना है, वह चिप्पड़ के पदार्थ की अपेक्षा न केवल भारी है, वरन् रचना में भी भिन्न है। चिप्पड़ का पदार्थ हल्के पत्थरों और चट्टानों का बना है। इस हल्के पदार्थ की गहराई १०० मील से अधिक नहीं है। इस पर्त के नीचेवाले पर्त की रचना बराबर एक-सी है और इसका पदार्थ भारी है। इसका घनत्व ६ है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक और अनुमान भी निर्धारित किया जा सकता है। वह यह है कि चिप्पड़ के पदार्थ से केन्द्र तक का पदार्थ धीरे-धीरे भार में बराबर बढ़ता गया है। यहाँ तक कि ठीक केन्द्र के पदार्थ का घनत्व ९ या १० के लगभग है। ऊपर के दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार पृथ्वी पिण्ड का औसत घनत्व ५·५२ ही निकलता है।

ऊपर की दोनों ही धारणाओं के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि पृथ्वी भीतर से पोली नहीं, वरन् ठोस है, और भीतर का पदार्थ छिलके या चिप्पड़ के पदार्थ की अपेक्षा कहीं भारी है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भीतर के पदार्थ का भारी होना बाहर के विशाल पिण्ड के बोझ और दबाव पर निर्भर है अथवा क्या पृथ्वी के भीतर के पदार्थ का अधिक घनत्व भारी धातुओं के केन्द्र की ओर घनीभूत होने के कारण है? इस समस्या को हल करनेवाले कुछ विद्वानों का विचार है कि चिप्पड़ के पदार्थ का दबाव और बोझ ही पृथ्वी के भीतर से भारी होने का कारण है। आइए, देखें कि यह भार कितना है।

पृथ्वीपिण्ड की रचना

पृथ्वी के गोले की एक फाँक दिखाकर विभिन्न परतों को स्पष्ट किया गया है—क—पृथ्वी का वायुमंडल; ख — चिप्पड़ या खोल, जो 'ग्रेनाइट' नामक आग्नेय पत्थर का बना है; ग—'बेसाल्ट' नामक आग्नेय चट्टानों का स्तर; घ—अति आग्नेय चट्टानें च—सिलिकन-मैग्नेशियम का स्तर; छ—लौह मिश्रित सिलिकन की परतें, ज— लौह निकल के तप्त पदार्थ द्वारा निर्मित मध्य पिण्ड।

भूगर्भ पर बाह्य पृष्ठ का भार

भूपृष्ठ से एक मील नीचे की चट्टानों पर प्रति वर्ग फुट १२,६०० मन का बोझा लदा है। ज्यों-ज्यों हम अधिक गहराई तक पहुँचते जायँगे, यह बोझा बढ़ता ही जायगा। बढ़ने की चाल प्रति मील के पश्चात् ऊपर की संख्या से भी अधिक होती जायगी, क्योंकि नीचे की चट्टानें दबाव और बोझ के कारण और अधिक घनी होती जाएँगी और इस कारण प्रति वर्ग फुट इनका भार भी ऊपर की हल्की चट्टानों की अपेक्षा अधिक होगा, यहाँ तक कि पृथ्वी के केन्द्र के पदार्थ पर प्रति वर्ग फुट लगभग ६,००,००,००० या ८,००,००,००० मन बोझ लदा होगा।

इतने विशाल बोझे के दबाव से अवश्य ही भूगर्भ का पदार्थ संकुचित होगा। इसमें संशय करने की कोई गुंजाइश नहीं है। परन्तु इतने बोझ से चट्टानें कितनी संकुचित हो सकती हैं, इस बात को जान सकना मनुष्य के लिए अभी तक संभव नहीं हो सका है। क्योंकि किसी भी प्रयोगशाला में मनुष्य अभी तक इतना अधिक दबाव उत्पन्न करने में सफल नहीं हो सका है, जितना पृथ्वी के केन्द्र पर होने का अनुमान किया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या चिप्पड़ की साधारण चट्टानें इतने अधिक बोझ के दबाव से इतनी अधिक संकुचित हो सकती हैं कि उनका घनत्व ऊपर की चट्टानों की अपेक्षा दूना हो जाय? मनुष्य के प्रयोगों से तो यह बात असम्भव ही सिद्ध हुई है, अन्य कारणों तथा दलीलों से भी इसकी सत्यता में संशय होता है।

भू-तरंगें

इस सम्बन्ध में भूचाल की तरंगों की गति की नाप-जोख से विशेष सहायता मिली है। सीसमोग्राफ नामक यंत्र से यह मालूम हो जाता है कि भूचाल के कंपन की सूचनाएँ उस यंत्र तक कब और किस वेग से पहुँचीं। गति, वेग और समय जान लेने से यह जाना जा सकता है कि भूचाल किस केन्द्र से प्रारम्भ हुआ। जिस स्थान पर भूचाल उत्पन्न करनेवाली घटना घटित होती है, उस स्थान से भूपृष्ठ को विचलित करनेवाली तरंगें उसी प्रकार उठती हैं, जैसे शान्त जल में पत्थर डालने से तरंगें उठती हैं। जल में जैसे एक बार खलबली हो जाने पर लगातार तरंगें आती रहती हैं; फिर धीरे-धीरे उनका वेग कम होता जाता है, और अन्त में वे विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार भूचाल की तरंगें बड़े वेग से आती हैं और फिर धीरे-धीरे कम होती हुई वे विलीन हो जाती हैं।

इन्हीं तरंगों की गति और वेग ने भूगर्भ की बनावट पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है। सीसमोग्राफ पर अंकित भूचाल-तरंगों के चित्रों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पृथ्वी के ठोसपन और लचीलेपन के कारण भूचाल का कँपन पृथ्वी के भीतर बड़े तीव्र वेग से दौड़ता है। सीसमोग्राफ यंत्र पर पहले इसी कँपकँपी का वेग अंकित होता है। इसके साथ-ही-साथ भूचाल की तरंगें पृथ्वी-पृष्ठ के ऊपर भी चलती हैं, परन्तु इनका वेग अभ्यन्तर की तरंगों से बहुत कम होता है और इसलिए ये तरंगें अभ्यन्तर की तरंगों के अंकित होने के उपरान्त अंकित होती हैं।

हमारे लिए पृथ्वी के भीतर से होकर आनेवाली तरंगें ही अधिक महत्व की हैं, क्योंकि इन्हीं तरंगों के अध्ययन और अनुसन्धान से हमें पृथ्वी के गर्भ का हाल मालूम होता है। वैज्ञानिकों ने इन तरंगों की कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण विशेषताएँ ज्ञात की हैं—

पृथ्वी के भीतर इन तरंगों की चाल गहराई के साथ-साथ बराबर बढ़ती जाती है। १,८०० मील की गहराई तक तो तरंगों की गति तीव्रता से बढ़ती है, परन्तु उसके पश्चात् उनका वेग बढ़ने के स्थान पर एकदम कम होना आरंभ हो जाता है। यहाँ तक कि ४,००० मील व्यासवाले केन्द्रीय पिण्ड के भीतर होकर जाना इन तरंगों के लिए असंभव हो जाता है, और वे वहाँ से मुड़कर बाहर निकल आती हैं। इस सम्बन्ध में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि तरंगों की गति का बढ़ने का वेग ऊपर से ७५० मील की गहराई तक तीव्रता से बढ़ता है और ७५० से १,८०० मील तक बढ़ता तो है, परंतु उसकी तीव्रता कम हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी के चिप्पड़ से होकर आनेवाली तरंगों की गति और उसके भीतर होकर आनेवाली तरंगों की गतियों में भी महान् अन्तर है।

पृथ्वीपिण्ड की बनावट

गोले की परत काटकर विभिन्न स्तर और उनकी गहराई (मीलों में) दिखाई गई है।

भूचाल की इन तरंगों के वेग से वैज्ञानिकों ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह इस प्रकार है—

(१) पृथ्वी के चिप्पड़ की गहराई अधिक-से-अधिक १०० मील है और यह पृथ्वी का सबसे हलका पदार्थ है।

(२) चिप्पड़ के नीचे का पदार्थ केन्द्र की ओर शनैः-शनैः भारी और सघन होता जाता है। केन्द्र के निकटवाला

अभ्यन्तर उत्तप्त है या शान्त ?

अभी तक हमने अभ्यन्तर की वनावट की ओर ध्यान दिया है। भूगर्भ उत्तप्त है अथवा शीतल, इस बात का उत्तर हमें नहीं मिला। गहरी खानों के अन्दर जब हम जाने लगते हैं, तो हमको ऊपर की अपेक्षा अधिक गरमी प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों हम गहराई में उतरते जाते हैं, गरमी भी बढ़ती जाती है। साधारणतः प्रति ५० फीट की गहराई के पश्चात् एक अंश फारेनहाइट की अधिकता से ताप बढ़ जाता है। कहीं-कहीं गरमी इससे भी अधिक तीव्रतापूर्वक बढ़ती है और कहीं पर इससे कम। परन्तु यह सत्य है कि अधिक गहरी खानों का ताप भूपृष्ठ के ताप की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है।

उपर्युक्त अनुभव से यही प्रतीत होता है कि पृथ्वी के भीतर की चट्टानें अवश्य ही उष्ण अवस्था में हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि चट्टानों की गरमी का कारण चट्टानों में यूरेनियम और थोरियम नामक तत्वों का पाया जाना है। ये तत्व रेडियोधर्मी तत्व कहलाते हैं। इनके निरन्तर विकिरण और विच्छेद की क्रिया से गरमी उत्पन्न होती है। चट्टानें ऊष्मा की अच्छी चालक नहीं हैं। इसलिए यह गरमी फैल नहीं पाती और यदि भूगर्भ के किसी भाग में यूरेनियम आदि की अधिकता हुई, तो उस स्थान पर इतनी अधिक गरमी उत्पन्न हो सकती है कि चट्टानों को पिघला दे।

ऊपर हमने बताया है कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी के केन्द्र की ओर जायँगे, त्यों-त्यों गरमी अधिक होती जायगी। इस हिसाब से केन्द्र पर पहुँचते-पहुँचते अभ्यन्तर का ताप ३,५०,००० अंश होना चाहिये। इतने भयंकर ताप में कोई भी पदार्थ विना पिघले रह नहीं सकता। तब क्या पृथ्वी के भीतर का पदार्थ द्रवित और पिघली हुई दशा में है ? जब हम केन्द्र के ऊपर पड़नेवाले असाधारण दवाव का ध्यान करते हैं, तव हमारी समझ में आ जाता है कि इतनी उष्णता होते हुए भी भयंकर दवाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि धातुएँ वहाँ पिघली हुई दशा में रह सकें।

ज्वालामुखी पर्वतों के द्वारा जो पिघला हुआ लावा तथा अन्य पदार्थ भूगर्भ से आता है, उसे देखकर हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि यह पदार्थ पृथ्वी के भीतर भी पिघली हुई अवस्था में रहा होगा। पर हमारा यह अनुमान करना सत्य नहीं है। इसका कारण हम ऊपर बता चुके हैं। पृथ्वी के भीतर संतुलन या अन्य किसी कारण से जब किसी स्थान पर दवाव कम हो जाता है, तो यूरेनियम आदि के विकिरण से उत्पन्न गरमी चट्टानों को पिघलाकर वाहर की ओर ढकेलती है। चिप्पड़ का पर्त यदि उस स्थान पर कमजोर होता है, तो अन्दर का पिघला हुआ पदार्थ चिप्पड़ तोड़कर ज्वालामुखी के उद्गार के रूप में वह निकलता है।

हम पहले प्रकरण में यह बता चुके हैं कि समतुलन के कारण पृथ्वी के भीतर उथल-पुथल होती रहती है, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपर के पृष्ठ पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे किसी उच्च प्रदेश की धरती घिसकर काँप के रूप में किसी निचले प्रदेश में इकट्ठी होती है, वैसे-वैसे काँप के नीचे की जमीन बोझ से दवती जाती है। ऊँचा प्रदेश अथवा पहाड़ घिसता जाता है। काँप से दवे प्रदेश का बोझा भीतर के पदार्थ को हल्के पहाड़ के नीचे-जाने को दवाता है और यह घना पदार्थ दवाव के कारण द्रव की भाँति बहकर पर्वत के नीचे जाकर उसको ऊँचा उठाये रखने की चेष्टा करता है। पर ऊपर की घिसी हुई मिट्टी की अपेक्षा नीचे का पदार्थ अधिक भारी होता है, इसलिए पर्वतीय प्रदेश लगातार नीचे होते रहते हैं और अन्त में समतल मैदान बन जाते हैं। इस प्रकार भूगर्भ के कारण पृथ्वी के ऊपर की रूपरेखा पर भी प्रभाव पड़ता है।

भूपृष्ठ के साधारण खनिज और उनकी पहचान

भूपृष्ठ या पृथ्वी का चिप्पड़ जिन अवयवों से बना है, वे विविध रासायनिक तत्त्वों के यौगिकों के रूप में पाए जाते हैं। यही 'खनिज' कहलाते हैं। भूविज्ञान की दृष्टि ही से नहीं, वल्कि हमारे आर्थिक जीवन के लिहाज से भी इनका अध्ययन अति महत्वपूर्ण है।

यद्यपि धरातल पर १०१ मूल तत्त्व पाए जाते हैं, तथापि भूपृष्ठ की रचना में जिन मूल तत्त्वों की वाहुल्यता है, वे वस्तुतः केवल २१ ही हैं। इन्हीं २१ तत्त्वों को लेकर भूपृष्ठ के ९९ प्रतिशत भाग का निर्माण हुआ है—शेष मूल तत्त्व भूपृष्ठ के १ प्रतिशत भाग के ही अधिकारी हैं। इन २१ तत्वों में भी केवल ८ ही ऐसे हैं, जो महत्व के हैं। स्वतंत्र रूप में मूल तत्त्व बहुत कम पाए जाते हैं। सोना, गन्धक, कोयला (कार्बन), प्रभृति दो-चार तत्त्व तो मूल तत्त्व

के रूप में भूपृष्ठ में पाए जाते हैं, शेष सब एक दूसरे के साथ रासायनिक रूप में सम्मिलित रहते हैं। मूल तत्त्वों के इन रासायनिक सम्मेलनों को, जिनकी रासायनिक रचना, प्राकृतिक रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि भौतिक गुण निश्चित होते हैं, 'खनिज' कहते हैं।

खनिज प्रायः निरे मूल तत्त्व के भी हो सकते हैं, जैसे हीरा, गन्धक, कोयला, सोना, चाँदी आदि। परंतु बहुधा एक से अधिक मूल तत्त्वों के योग से ही खनिज की रचना होती है। ऐसे खनिजों की रचना में जिन मूल तत्त्वों का समावेश होता है, उनका अनुपात सदैव एक ही सा रहता है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा खनिज के अवयवों का अनुपात निर्धारित होते ही खनिज की पहचान करने में सरलता हो जाती है। उदाहरणार्थ, बिल्लौरी पत्थर की रासायनिक रचना सिलिकन और ऑक्सिजन नामक दो तत्त्वों के योग से होती है। अब चाहे किसी प्रकार का भी बिल्लौरी पत्थर क्यों न हो, उसमें सिलिकन के एक अणु के साथ ऑक्सिजन के दो अणुओं का अवश्य योग होगा। जब हम किसी खनिज का रासायनिक विश्लेषण करें और उसमें सिलिकन और ऑक्सिजन के अणुओं का उपर्युक्त अनुपात पाएँ, तब हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि यह खनिज या तो बिल्लौर है अथवा उसी का कोई दूसरा रूप है।

परन्तु रासायनिक विश्लेषण की सुविधा हमें प्रत्येक स्थान पर मिलना असम्भव है। इसलिए यदि इसी के भरोसे हम रहें तो खनिजों की पहचान करने में हम बड़ी असुविधा का अनुभव करेंगे। इसके विपरीत खनिजों की प्राकृतिक (स्वाभाविक) अवस्था तथा उनके भौतिक गुणों द्वारा हम प्रत्येक स्थान में उनकी जाँच कर सकते हैं। इसलिए यह जानना परम आवश्यक है कि खनिजों के किन भौतिक और स्वाभाविक गुणों द्वारा उनकी पहचान की जा सकती है।

भौतिक गुण

हमें यह न भूलना चाहिए कि खनिजों की खोज हम पर्वतीय प्रदेश के शिलाखण्डों में ही करते हैं। मैदानों में खनिजों का मिलना असंभव-सा है, क्योंकि मैदान तो शिलाखण्डों की ऐसी महीन चूरचार से बने होते हैं कि उसमें खनिज अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते हैं। अतएव उन जंगलों और पहाड़ों में हमें ऐसे ही साधनों का उपयोग करना चाहिए, जो हमें वहाँ सुलभ हों। आगे हमने खनिजों के केवल उन्हीं भौतिक गुणों का वर्णन किया है, जिनके द्वारा सरलतापूर्वक बिना किसी प्रकार के यंत्रों के उपयोग के उनकी पहचान की जा सकती है।

(१) खनिजों का केलासीय या रवादार होना—लगभग सभी खनिज रवादार होते हैं, और विभिन्न खनिजों के रवे विभिन्न आकार-प्रकार के होते हैं, क्योंकि प्रत्येक खनिज के अणुओं की एक निश्चित आन्तरिक रचना होती है, जिसके अनुसार खनिजों के निम्नतम अंश चिकने समतल फलकों से घिरे रवों के रूप में पाए जाते हैं। रवों के फलक सरल रेखाओं से सीमित होते हैं। जहाँ दो फलक मिलते हैं, वहाँ एक धार बन जाती है। रवों में सबसे सुन्दर और पूर्ण रवा स्फटिक (क्वार्ट्ज) या बिल्लौर का होता है, जिसे स्फटिक मणि के नाम से भी पुकारा जाता है। स्फटिक मणि में छः चतुर्भुजाकार समपार्श्व होते हैं और प्रत्येक पार्श्व के दोनों सिरों पर एक-एक त्रिभुजाकार पार्श्व पाया जाता है। उन छहों त्रिभुजाकार पार्श्वों के एक बिन्दु में मिलने से रवे के दोनों सिरों पर छः फलकवाले दो अंकुरों की रचना हो जाती है। स्फटिक मणि का कोई भी रवा आप लें, प्रत्येक की रचना इसी प्रकार की होगी। इसी प्रकार कैलसाइट नामक खनिज का रवा भी एक आदर्श रवा है। इस खनिज के रवों की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक रवे का चूर्ण करने पर वह वैसे ही असंख्य छोटे रवों में बिखर जाता है और ऐसे प्रत्येक छोटे रवे का आकार-प्रकार उसी बड़े रवे के समान होता है, जिसका कि वह खण्ड होता है।

रवे विभिन्न आकार के और असंख्य होते हैं। परंतु प्रत्येक खनिज के रवे सदैव एक ही आकार-प्रकार के होते हैं। इस प्रकार रवों द्वारा खनिजों की पहचान बड़ी सरलता से की जा सकती है। कुछ ऐसे भी खनिज हैं, जिनके रवे नहीं होते। ये रवाहीन (एमार्फस) खनिज कहलाते हैं। परन्तु ऐसे खनिज कम ही हैं और अनुकूल अवस्था में इनके भी रवे बन जाते हैं।

(२) खनिजों के रवों की तड़कन—ऊपर हमने कैल्साइट के रवे के जिस विशेष गुण का वर्णन किया है, अन्य खनिजों में भी उसी तरह एक विशेष प्रकार से खण्डित होने का गुण होता है। इस गुण को रवों की तड़कन कहते हैं। रवों की इस विशेषता के कारण खण्डित होने पर भी इनके खण्ड रवों के रूप में पहचाने जा सकते हैं। कैल्साइट के रवे समबाहुविषमकोणीय छः चतुर्भुजों से घिरे ठोस होते हैं। खण्डित होने पर उन रवों का मौलिक रूप बना ही रहता है। इसी प्रकार साधारण लवण के रवे घनाकार होते हैं। इन रवों की तड़क परस्पर समकोण पर झुकी तीन दिशाओं में होती है और प्रत्येक दिशा घनाकार रवे

के एक फलक के समानान्तर होती है। अभ्रक के रवों की तड़क एक फलक के समानान्तर की दिशा में होती है। फलस्वरूप अभ्रक सदैव पतले-पतले परतों के रूप में चीरी जा सकती है। यह अभ्रक की एक अनोखी विशेषता है।

(३) **खनिजों और उनकी लकीरों के रंग**—खनिजों के रंग भी बहुधा निश्चित होते हैं। एक प्रकार का खनिज सदैव एक ही रंग का होता है और उसका रंग बहुधा दूसरे खनिजों के रंगों से विभिन्न होता है। परन्तु कभी-कभी एक ही खनिज कई रंग की जातियों में भी पाया जाता है, जैसे साधारणतः स्फटिक रंगविहीन अथवा दूधिया रंग का होता है, परन्तु इसके हल्के गुलाबी, हरे, भूरे तथा कत्थई रंग के भी नमूने मिलते हैं। यह तो हुई खनिजों के ऊपरी रंग की बात। पर बहुधा ऐसा भी होता है कि ऊपर से देखने में खनिज जिस रंग का प्रतीत होता है, उसका चूर्ण उससे विभिन्न रंग का होता है। सोनामाखी (चाल्कोपाइराइट) नामक ताँबे के गंधक मिश्रितखनिज का रंग ऊपर से सोने जैसा पीला होता है, परन्तु उसका चूर्ण काला होता है। इसी प्रकार काले रंग के लौह पाषाण (हैमेटाइट) का चूर्ण लाल रंग वाला होता है। चूर्ण का रंग जाँचने के लिए खनिज द्वारा खींची गई लकीर का रंग जांचा जाता है। यह लकीर चीनी मिट्टी की एक खुरदरी पटिया की कसौटी पर खनिज को खुरेंचकर बनाई जाती है।

(४) **खनिजों की आभा**—कुछ खनिजों में एक विशेष प्रकार की आभा होती है, जो अन्य खनिजों में नहीं होती। कुछ खनिज एकदम आभाविहीन भी होते हैं। जिन खनिजों में आभा होती है, उनमें से कुछ तो हीरे के समान दमकते हैं, और कुछ मोतियों के समान चमकते हैं। कुछ खनिजों की चमक काँच के भग्न खण्ड की-सी होती है और कुछ की रेशम के समान! किसी-किसी में मोरपंख जैसी चमक होती है। पर हर हालत में प्रत्येक खनिज की आभा भिन्न होती है।

(५) **खनिजों की कठोरता**--कठोरता द्वारा भी खनिजों की पहचान की जाती है। प्रत्येक खनिज की कठोरता भिन्न होती है। कुछ इतने नरम होते हैं कि हाथ के नाखून से खुरेंचे जा सकते हैं और कुछ इतने कठोर कि उन पर लोहे की धार भी नष्ट हो जाती है। खनिजों की कठोरता की जाँच के लिए विभिन्न कठोरतावाले १० खनिजों को उनकी कठोरता के क्रम से रखकर एक माप निर्धारित कर लिया गया है। उदाहरणार्थ, सबसे कम कठोरतावाले खनिज सेलखरी की कठोरता को एक के बराबर और सबसे कठोर खनिज हीरे की कठोरता को दस के बराबर माना जाता है। बीच की कठोरताओं के लिए अन्य खनिजों के मापदण्ड का उपयोग किया जाता है। जिन खनिजों का उपयोग कठोरता की माप के लिए किया जाता है, क्रम से उनके नाम निम्न तालिका में दिए जाते हैं:—

१—सेलखरी (टाल्क); २—हरसौंठ (जिप्सम); ३—कैल्साईट; ४—फ्लुओराईट; ५—एपेटाईट; ६—फैल्सपार; ७—स्फटिक (क्वार्ट्ज); ८—पुखराज; ९—कुरंद; १०—हीरा।

उपर्युक्त सूची में से प्रत्येक खनिज क्रमानुसार अपने पूर्ववाले खनिज को खुरेंच सकता है, और अपने से अधिक कठोर आगेवाले खनिज से खुरेंचा जा सकता है। इन खनिजों के अतिरिक्त कठोरता की जाँच पैसे, नाखून, चाकू की नोक, काँच की धार, आदि से भी की जाती है।

(६) **खनिजों का भारीपन**—कुछ खनिज हल्के और कुछ भारी होते हैं। बहुधा धातुमिश्रित खनिज भारी होते हैं। प्रत्येक खनिज का आपेक्षिक घनत्व निश्चित होता है, जिसके कारण अन्य खनिजों से वह अलग किया जा सकता है। किसी खनिज का घनत्व २ और किसी का २० तक होता है। साधारणतः खनिजों के छोटे-छोटे खण्डों को हाथ में तौलकर ही उनके भारीपन का अन्दाजा लगाया जाता है। परन्तु खनिजों के आपेक्षिक घनत्व की जाँच सरलतापूर्वक 'वाकर्स वैलेन्स' नामक यंत्र से की जा सकती है। यह एक लम्बी तराजू-सा यंत्र होता है, जो एक धुरी पर एक किनारे के पास सधा रहता है। इसके छोटे पलड़े में एक निश्चित वजन बँधा रहता है और बड़े पलड़े में खनिज खण्ड को आगे-पीछे खिसकाकर पैमाने को समतल रखते हुए लटकाया जाता है। पहले खनिज को हवा में लटकाया जाता है और फिर जल में डुबाकर। दोनों बार की माप से खनिज का आपेक्षिक घनत्व सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि पैमाने को समतल रखने के लिए पहले खनिज को 'अ' स्थान पर लटकाया गया था और जल में डुबाकर फिर उसको समतल करने के लिए पुनः 'ब' स्थान पर लटकाया गया तो खनिज का आपेक्षिक घनत्व निम्नलिखित अनुसार होगा:—

$$\text{आपेक्षिक घनत्व} = \frac{\text{ब}}{\text{ब} - \text{अ}}$$

खनिजों के उपर्युक्त भौतिक गुण ऐसे हैं, जिनकी जाँच के लिए किसी प्रकार के यंत्रों आदि की आवश्यकता नहीं

पड़ती और इन गुणों की पहचान करने से खनिजों की पहचान सरलता से की जा सकती है। परन्तु जब तक खनिजों की पहचान का अभ्यास खनिजों के नमूनों को स्वयं अपने हाथ में लेकर न किया जाए, तब तक केवल पुस्तकों के आधार पर उनकी पहचान नहीं की जा सकती, चाहे उन पुस्तकों में इन खनिजों का कितने ही विस्तार से वर्णन क्यों न किया जाय।

अब हम भूपृष्ठ के कुछ ऐसे उपयोगी और महत्वपूर्ण खनिजों का वर्णन करेंगे, जो बाहुल्यता से पाए जाते हैं तथा चट्टानों की रचना में जो विशेष रूप से काम आते हैं। चिप्पड़ की चट्टानों की रचना के अध्ययन के लिए इन खनिजों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भूपृष्ठ जिन तत्त्वों से मिलकर बना है, खनिज पदार्थ उन्हीं तत्त्वों के रासायनिक यौगिक रूप हैं। हम बता चुके हैं कि भूपृष्ठ की रचना में जिन तत्त्वों का समावेश है, उनमें ऑक्सिजन, सिलिकन, अल्यूमिनियम तथा लोहा नामक चार तत्त्वों का बाहुल्य है। यही कारण है कि भूपृष्ठ के खनिजों में भी इन्हीं तत्त्वों से बने खनिजों की प्रचुरता है। ये तत्त्व अधिकांश ऑक्साइडों के रूप में भी मिलते हैं। कुछ गन्धक से सम्मिलित सल्फाइडों के रूप में पाये जाते हैं, परन्तु ऐसे खनिजों की बाहुल्यता नहीं है। अकेले एक तत्त्व के रूप में मिलनेवाले खनिज (प्राकृतिक रूप में पाए जानेवाले सोना, गन्धक प्रभृति खनिज) अत्यन्त ही अल्प मात्रा में मिलते हैं। पहले हम भूपृष्ठ के ऑक्सिजन-प्रधान खनिजों का अध्ययन करेंगे।

ऑक्साइड अथवा ऑक्सिजन-प्रधान खनिज

स्फटिक (क्वार्ट्ज)—यह सिलिकन का ऑक्साइड है और धरातल पर प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २·६५ है और यह रवादार होता है। इसके रवे यदि पूर्ण होते हैं, तो दर्शनीय होते हैं। स्वच्छ निर्मल रवे को 'स्फटिक मणि' अथवा 'बिल्लौर' कहते हैं। स्फटिक मणि एकदम पारदर्शक काँच की भाँति होता है और बहुधा रंगविहीन होता है, परन्तु कभी-कभी उसके रंगीन रवे भी पाये जाते हैं। रंगीन स्फटिक गुलाबी, पीला, लाल, हरा, भूरा, कत्थई और काला आदि कई रंगों का होता है। जो स्फटिक सिलिकन का विशुद्ध ऑक्साइड होता है, वह सदैव रंगविहीन ही होता है। अन्य तत्त्वों की मिलावट से रंगीन स्फटिक की रचना होती है। बैंजनी रंगवाले स्फटिक को 'याकूत' (एमेथिस्ट) कहते हैं। काले रंग के अपारदर्शक खनिज को 'सूर्यकांत' (जैस्पर) मणि के नाम से पुकारते हैं। 'गोमेदक' (एगेट) भी इसी खनिज की एक जाति है। इस खनिज की 'ओपल' आदि अन्य कई बहुमूल्य जातियाँ हैं, जो कीमती मणियों की श्रेणी में गिनी जाती हैं।

स्फटिक की पहचान करना कठिन नहीं है। इसकी चमक काँच के सदृश्य होती है और कठोरता काँच से भी अधिक। इसकी नोक से काँच पर खरोंचा जा सकता है, और चाकू की नोक द्वारा इस पर खरोंच नहीं होती। साधारण अम्लों (तेजाबों) में यह घुलनशील नहीं है। यह खनिज भूपृष्ठ की अधिकांश चट्टानों का आवश्यक अंग है। जल की प्रक्रिया से यह प्रायः ठोस चट्टानों की दरारों में भर जाता है और चट्टानों में यह बहुधा धारियों के रूप में पाया जाता है।

लोहे के ऑक्साइड खनिज—भूपृष्ठ पर सिलिकन के उपर्युक्त खनिज के अतिरिक्त लोहे के ऑक्साइड खनिजों की भी बाहुल्यता है। लोहे के ऑक्सीजन-मिश्रित तीन खनिजों के नाम महत्त्व के हैं—लाल गेरू या हेमेटाइट, रामरज अथवा पीला गेरू या लिमोनाइट, तथा चुम्बक पत्थर या मैग्नेटाइट। लाल गेरू में ७० प्रतिशत भाग लोहा तथा ३० प्रतिशत भाग ऑक्सिजन का होता है। अन्य तत्वों के मिश्रण से बहुधा इस अनुपात में अन्तर पड़ जाता है। इसके रवे विषमकोण-चतुर्भुजाकारी फलक वाले होते हैं। चाकू की नोक द्वारा इस खनिज पर खरोंच करना कठिन है। रवादार गेरू बहुत कम पाया जाता है। बहुधा यह पिण्डाकार तथा पर्तों के रूप में मिलता है। इसका आपेक्षिक घनत्व ५·१६ से ५·२८ तक होता है। रंग में यह लाल, भूरा तथा इस्पात के समान काला होता है। इसका चूर्ण तथा इस पर खरोंच की लकीर सदैव लाल होती है। कभी-कभी इस खनिज का अबरक के समान चमकदार और परतीला रूप भी पाया जाता है। रेशेदार गेरू भी कभी-कभी देखने में आता है। इस खनिज का उपयोग लोहे के उत्पादन में सर्वत्र होता है। साधारण चट्टानों में लाल रंग बहुधा लोहे के इसी खनिज के कारण पाया जाता है। गेरू का उपयोग रंग बनाने में बहुत होता है। भारत में मयूरभंज राज्य में इस खनिज की बाहुल्यता है।

पीला गेरू अथवा रामरज खनिज गेरू की ही एक जाति है। जल की प्रतिक्रिया द्वारा लोहे के अन्य खनिजों के परिवर्तन से इस खनिज की रचना होती है। इस खनिज में ६० प्रतिशत भाग लोहा, २५ प्रतिशत भाग ऑक्सिजन और शेष भाग जल होता है। इसकी रचना जलाशयों,

भिन्न-भिन्न जाति के खनिजों के रवे या केलास

(कृपया पंक्तिवार, ऊपर से बाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए) **प्रथम पंक्ति**— टूर्मलीन सेलेनाइट; **द्वितीय पंक्ति**—सोनामाखी के दो रूप; गंधक; **तृतीय पंक्ति**—फ्लुओरस्पार; ऐंटीमनी सल्फाइड; याकूत; **चतुर्थ पंक्ति**—फैल्स्पार; आर्गेनाइट; **पाँचवीं पंक्ति**—स्फटिक; नीलम; माणिक; पन्ना; पुखराज, हीरा आदि कुछ प्रधान मणियाँ; कैल्साइट ।

कन्दराओं आदि के तले पर होती हैं। कन्दराओं में स्टैलेक्टाइट और स्टैलेग्माइट नामक विचित्र रचनाओं के रूप में भी यह खनिज पाया जाता है। इसका रंग पीला परन्तु बहुधा भूरापन लिए हुए होता है। वार्निश और पेंट बनाने के उद्योग में यह बहुत काम आता है। इसका भारीपन अधिक नहीं है और आपेक्षिक घनत्व ३·६४ होता है। कठोरता भी लाल गेरू की अपेक्षा कम होती है। यह भुरभुरा होता है और बहुधा पिण्डाकार मिलता है। इसकी खरोंच पीली अथवा भूरी होती है और चूर्ण मटीला अथवा पीला। हमारे देश में इसे 'रामरज' कहते हैं और यह दीवालों को पीला करने तथा पीले रंग के कपड़े रंगने के काम आता है।

चुम्बक पत्थर, जिसे अंगरेजी में 'मैग्नेटाइट' कहते हैं, लोहे का ऑक्सिजन-मिश्रित तीसरा महत्वपूर्ण खनिज है। इसमें लोहे का अंश ७२·४१ प्रतिशत तथा शेष भाग ऑक्सिजन होता है। चुम्बक पत्थर रवादार जाति का भी पाया जाता है तथा रवाहीन पिण्ड के रूप में भी। इसका रंग लोहे के समान होता है। खरोंच भी लोहे के समान काली होती है और चूर्ण भी वैसा ही। चुम्बकत्व इस खनिज की विशेषता है। इसीलिए इसका नाम चुम्बक पत्थर पड़ा है। चुम्बक की सुई द्वारा इसकी पहचान सरलता से की जा सकती है।

सिलिकेट-प्रधान खनिज

भूपृष्ठ पर लोहे के खनिजों के अतिरिक्त अल्युमिनियम और सिलिकन के खनिजों की भी बहुतायत है इन तत्वों के खनिजों में सबसे महत्वपूर्ण खनिज फेल्स्पार है, जिसकी कई जातियाँ हैं।

सिलिकेट-प्रधान खनिजों में दूसरा महत्वपूर्ण खनिज अबरक है। फेल्स्पार बहुतायत से पाए जाते हैं। नीचे इन्हीं खनिजों का वर्णन हम करने जा रहे हैं।

फेल्स्पार––यह खनिज परिवार मुख्यतः पोटेशियम, सोडियम आदि क्षार तथा अल्युमिनियम धातु के संयुक्त सिलिकेटों के रूप में पाए जानेवाले खनिजों से मिलकर बना है। इस परिवार में सेलिसयन, हायलोफेन, आर्थोक्लेज, माइक्रोक्लाइन, एनआर्थोक्लेज, सोडा आर्थोक्लेज, अल्बाइट, आलीगोक्लेज, एँडेसाइन, लेब्रेडोराइट तथा अनार्थाइट आदि खनिज सम्मिलित हैं। इस विशद फेल्स्पार परिवार को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जाता है।

(१) आर्थोक्लेज, जो पोटेशियम-अल्युमिनियम का सिलिकेट है (इसका सूत्र $KAlSi_3O_8$ है)।

(२) माइक्रोक्लाइन, जो रासायनिक रचना में आर्थोक्लेज के समान ही होता है, परन्तु अणुरचना की विभिन्नता के कारण जिसके रवों की रचना आर्थोक्लेज से भिन्न होती है।

(३) प्लेजियोक्लेज, जो सोडियम अल्युमिनियम-सिलिकेट तथा कैल्शियमअल्युमिनियम सिलिकेट का संयुक्त रूप है। (इसका सूत्र $NaAlSi_3O_8-CaAlSi_3O_8$ है)।

फेल्स्पार की कठोरता ६ है। आपेक्षिक घनत्व पोटाश फेल्स्पार का २·५४ से २·५७ तक और सोडा फेल्स्पार का २·६२ से २·७६ तक होता है। इसके रवों में दो दिशाओं में तड़क होती है। तड़क की दिशा एक-दूसरे से समकोण होती है। फेल्स्पार के रवे स्फटिक के रवों के ही समान होते हैं, फिर भी अपनी कठोरता और तड़क की विशेषता के कारण वे शीघ्र ही पहचाने जाते हैं। साधारण अम्लों में यह खनिज घुलनशील नहीं है।

आर्थोक्लेज फेल्स्पार ग्रेनाइट नामक शिला का विशेष अंश है। अन्य आग्नेय तथा परिवर्तित शिलाओं में भी यह पाया जाता है। इसका रंग सफेद, लाल, गुलाबी और भूरा होता है। कभी-कभी, परन्तु बहुत कम, हरे रंग का भी आर्थोक्लेज मिलता है। खरोंच सभी रंग के प्रतिरूपों की सफेद होती है। विशेष आभा अथवा रंग के कारण भी इस वर्ग के किसी-किसी प्रतिरूप का विशेष नाम रख लिया गया है।

फैल्स्पार खनिज जल और वायु की प्रतिक्रिया से केम्रोलिन नामक मिट्टी में परिवर्तित होते रहते हैं। इसी मिट्टी को 'चीनी मिट्टी' भी कहते हैं।

नेफलीन—यह खनिज भी फैल्स्पार के समान ही रासायनिक रचना में सोडा-अल्युमिनियम-सिलिकेट ($NaAlSiO_4$) है। परन्तु इसमें सिलिका का अंश कम होता है। कभी-कभी पोटेशियम का अंश भी इसमें रहता है। यह खनिज अधिक नहीं पाया जाता। इसका प्राप्तिस्थान आग्नेय शिलाएँ हैं। परन्तु नेफलीनदार आग्नेय शिलाएँ भूपटल पर अधिक नहीं पाई जातीं। नेफलीन का रंग फैल्स्पार के समान सफेद मटियाला या लाल होता है। स्फटिक के समान इसमें भग्न काँच की-सी चमक होती है। इसकी कठोरता ५.५ से ६ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.५५ से २.६५ तक। इस वर्ग के खनिज भी स्फटिक के साथ किसी आग्नेय शिला में नहीं मिलते, क्योंकि सिलिका का बाहुल्य होने पर उस आग्नेय पिण्ड से नैफलीन के स्थान पर फैल्स्पार का बनना अधिक सम्भव है। काँच बनाने में इस खनिज का उपयोग हो सकता है। किशनगढ़, जूनागढ़ तथा मद्रास में यह खनिज आग्नेय शिलाओं में पाया जाता है।

अबरक—फैल्स्पार के समान ही खारों और अल्युमीनियम धातु के सिलिकेटों का एक और खनिज-परिवार है, जिसे 'अबरक' या 'अभ्रक' के नाम से पुकारा जाता है। अबरक के चमकीले पारदर्शी पतरीले रूप से बहुधा सभी परिचित होंगे। इसी का चूरा अबीर के रूप में देखने में आता है। इस खनिज-परिवार में भी कई सदस्य हैं। परन्तु बायोटाइट नामक काला अबरक तथा मस्कोवाइट नामक सफेद अबरक ही अधिक प्राप्य हैं। मस्कोवाइट तथा बायोटाइट के अतिरिक्त फ्लोगोपाइट नामक एक तीसरा अबरक भी पाया जाता है। यह पीतवर्ण होता है। आजकल अबरक का उपयोग बिजली के यंत्रों में बहुत होता है। इस कार्य में सफेद और पीला अबरक ही उपयोगी होता है। काला अबरक केवल आयुर्वेदिक ओषधियों के उपयोग में आता है। सोडियम, पोटेशियम और लीथियम के अबरक बहुधा सफेद होते हैं। रंगदार अबरकों में लोहा, मैग्नीशियम आदि धातुओं का योग रहता है। सभी अबरक सोडियम, पोटेशियम, लीथियम तथा अल्युमिनियम के सिलिकेट हैं फैल्स्पार से इनकी रासायनिक रचना में यही विभिन्नता होती है। कि इनमें जल के अणु भी मिले होते हैं। उदाहरणार्थ, मस्कोवाइट नामक पोटेशियम के अबरक का सूत्र है—$2H_2O.\ K_2O\ 3AlO_3.\ 6SiO_2$।

अबरकों की पहचान उनकी तड़क की विशेषता से की जा सकती है, जो अन्य खनिजों में नहीं पाई जाती। अबरक की तड़क सदैव एक ही दिशा में होती है, जिसके कारण उसको महीन परतों में चीरा भी जा सकता है। अबरक की महीन परत भी लचकीली और नरम होती है। पारदर्शक होना इस खनिज-परिवार का दूसरा विशेष गुण है। मास्कोवाट अबरक की कठोरता २ से २.५ तक तथा बायोटाइट की २.५ से ३ तक होती है। सभी अबरक हल्के वज़नवाले होते हैं।

अबरक की गिनती साधारण शिलानिर्माणकारी खनिजों में की जाती है और ग्रेनाइट तथा पेगमेटाइट शिलाखण्डों में स्फटिक तथा फैल्स्पार के साथ वह बहुधा पाया जाता है। उसकी परतीली रचना तथा परतों की तड़क की विशेषता से ही उसकी मोटी-मोटी तहों वाली चट्टानों को माइका-शिष्ट' कहते हैं।

बिहार, उड़ीसा, मद्रास तथा राजस्थान में अबरक के काफी शिलाखण्ड पाए जाते हैं।

क्लोराइट—यह अबरक से मिलता-जुलता खनिज है। रासायनिक रचना में भी यह अबरक के समान है। यह मैग्नीशियम और अल्युमिनियम का सिलिकेट है। इसका रंग हरा होता है और इसकी तड़क अबरक के समान होती है, परन्तु इसके परत उतने लचकीले और नरम नहीं होते। कठोरता २ से २.५ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.६५ से २.८५ तक होता है। बहुधा इस खनिज की रचना बायोटाइट तथा अन्य खनिजों के विनाश से होती है। शिलाखण्डों में हरा रंग मुख्यतः इसी खनिज के कारण होता है। इस खनिज की शिलाएँ बिहार और मद्रास राज्य में मिलती हैं।

उपर्युक्त सिलिकेट-प्रधान खनिजों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण शिलानिर्माणकारी खनिज ऑगाइट (जिसे पायरोक्जीन भी कहते हैं), हार्नब्लैण्ड, ओलीवाइन, जहरमोहरा या सरपैण्टाइन, तामरा या गार्नेट तथा टूर्मलीन आदि हैं। ये सब सिलिकेट खनिज हैं।

ऑगाइट—इस खनिज को पायरोक्जीन भी कहते हैं। इसकी रचना कैल्शियम, मैग्नीशियम तथा लोहे के सम्मिलित सिलिकेट के रूप में होती है। इसमें कुछ अंश अल्युमीनियम का भी रहता है। इसका रंग प्रायः काला होता है, परन्तु लकीर या खरोंच रंगहीन होती है। इसके रवे आठ सीधे पहलवाले प्रिज्म के रूप में पाए जाते हैं। इसकी

तड़क दो दिशाओं में होती है और दोनों के बीच ९०° का कोण होता है। तड़क की दिशाएँ फलकों के समानान्तर होती हैं। इस खनिज की कठोरता ५ से ६ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २.६ से ३.४ तक। इन गुणों में यह खनिज हार्नब्लैण्ड नामक खनिज से मिलता है। परन्तु हार्नब्लैण्ड के रवे चमकदार होते हैं। ऑगाइट के रवों में विशेष चमक नहीं होती तथा तड़कने पर भी वे चमकविहीन ही रहते हैं।

पायरोक्जीन से रासायनिक रचना में मिलता-जुलता परन्तु अन्य गुणों में भिन्न एक और खनिज-परिवार होता है, जिसे एम्फीबोल कहते हैं। यह कैल्शियम- मैगनीशियम, लोहा और सोडियम का सिलिकेट हैं। इस परिवार के दो सदस्य ही महत्त्व के हैं—(१) हार्नब्लेंड और (२) एसबेस्टॉस। ये खनिज आग्नेय तथा परिवर्तित शिलाओं में पाए जाते हैं। भारत में ऐसी शिलाएँ बहुत हैं।

हार्नब्लेंड—यह खनिज काले रंग का होता है। पर कभी-कभी हरे रंग का भी पाया जाता है। रवे ६ सीधे फलक वाली प्रिज्म के रूप में पाए जाते हैं। तड़क दो दो दिशाओं में होती है। ये दिशाएँ प्रिज्म के फलक के समानान्तर होती हैं और उनके बीच ५६° या १२४° का कोण होता है। इसकी कठोरता और खरोंच ऑगाइट के समान होती है और रवे चमकदार होते हैं तथा तड़कने पर भी इसके परत चमकदार ही निकलते हैं। इसके ६ फलक के रवे ऑगाइट के ८ फलकवाले रवों से इसकी पहचान करने में मुख्य सहायता देते हैं।

एसबेस्टॉस—यह भी एम्फीबोल परिवार ही का एक सदस्य है। यह रेशेदार होता है। यही इसकी सबसे बड़ी पहचान है और इसी कारण यह बहुमूल्य भी है। इसके रेशे साधारणतः लम्बे, पतले और लचकदार होते हैं और खनिज खण्ड को अँगुली से खरोंचकर अलग किए जा सकते हैं। यह खनिज अग्नि-प्रतिरोधक होने के कारण बहुत उपयोगी है। इसके रेशों का उपयोग रस्सी बनाने, कपड़ा बुनने तथा मोटी चादरें बनाने के लिए किया जाता है। इस खनिज के कपड़ों प्रयोग का आग बुझानेवाले लोग करते हैं। भारत में यह खनिज मुंगेर जिले में बहुत पाया जाता है। दक्षिण में मैसूर राज्य में भी यह काफी पाया जाता है। यह खनिज परिवर्तित शिलाखण्डों में मिलता है और मैग्नीशियम का जलीय सिलिकेट है। इसी की भाँति जहरमोहरा नामक खनिज परिवार का भी एक सदस्य है, जिसके रूप और गुण इससे एकदम मिलते जुलते हैं।

सेलखरी या टाल्क—यह खनिज अत्यधिक चिकना और नरम होता है। यह भी अबरक की भाँति परतदार होता है, परन्तु इसके परत अलग-अलग नहीं होते। साधारणतः यह सफेद रंग का होता है, परन्तु इसकी भूरी मटमैली तथा हरे रंग की जातियाँ भी पाई जाती हैं। खनिजों की कठोरता की इकाई का पैमाना इसी की कठोरता पर स्थापित है। यह नाखून से बड़ी सरलता से खरोंचा जा सकता है। इसका आपेक्षिक घनत्व २.७ होता है और रासायनिक रचना देखने से पता चलता है कि यह भी मैग्नीशियम का जलीय सिलिकेट है। इसका सूत्र $3MgO.\ H_2O.\ 4SiO_2$ है। इसकी और भी दो जातियाँ सोपस्टोन और स्टेटाइट हैं। एक और भी जाति इसकी होती है, जिसे पॉटस्टोन कहते हैं। इस किस्म की सेलखरी बर्तन और खिलौने बनाने के काम आती है। अच्छी किस्म की सेलखरी के चूरे से चेहरे तथा बदन पर लगाने का पाउडर बनता है, जिसे टाल्कम पाउडर कहते हैं। कागज बनाने में भी सेलखरी का उपयोग होता है। भारत में यह खनिज मध्य प्रदेश में जबलपुर के पास भेड़ाघाट में, राजस्थान में, तथा बिहार और उड़ीसा क्षेत्र में सरायकेला, मयूरभंज सिंहभूमि आदि में पाया जाता है।

जहरमोहरा या सरपैण्टाइन—यह भी सेलखरी से मिलता-जुलता एक चिकना और मोमी चमकवाला खनिज होता है। इसका रंग बहुधा अंगूरी हरा होता है। यह लाल, भूरा, पीला और चित्तीदार (धब्बोंवाला) भी होता है। जड़ाव के लिए इसकी शोभा निराली होती है। बहुधा इसी काम के लिए संगमरमर के साथ इसका प्रयोग होता है। इसकी रासायनिक रचना सेलखरी के समान होती है, परन्तु इसमें लोहे का अंश भी रहता है। इसकी उत्पत्ति ओलीवाइन नामक खनिज पर जल की प्रतिक्रिया होने से होती है। इसका आपेक्षिक घनत्व २.५ से २.६ तक होता है और कठोरता ३ से ४ तक होती है। मद्रास और राजस्थान में यह खनिज काफी पाया जाता है। एक प्रकार के एसबेस्टॉस के रूप में भी यह खनिज मिलता है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

चीनी मिट्टी या कैओलीन—हम ऊपर बता चुके हैं कि फेल्सपार नामक खनिज-परिवार पर जल और वायु की प्रतिक्रिया से एक प्रकार की खनिज मिट्टी की उत्पत्ति होती है। यह अल्युमिनियम का जलीय सिलिकेट होती है और हम इसे चीनी मिट्टी कहते हैं। यह खनिज प्रायः सफेद रंग का होता है। पीले और भूरे रंगवाली चीनी

मिट्टी भी पाई जाती है। कभी-कभी सफेद में लाल रंग की छींट-सी मिली होती है। इसकी कठोरता २ से २·५ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व २·६। चीनी मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनते हैं तथा कागज और कपड़े बनाने में भी वह काम आती है।

तामरा या गारनेट--यह भी लोहे और अल्युमिनियम का एक सम्मिलित सिलिकेट है। इसका सूत्र साधारणत: $Fe_3\ Al_2\ [SiO_4]_3$ होता है। लोहे और अल्युमिनियम के स्थान पर अन्य धातुएँ भी इसमें सम्मिलित रहती हैं। भिन्न-भिन्न धातुओं के सम्मिलन से विभिन्न रंगों का तामरा पाया जाता है। साधारणत: तामरा का रंग लाल होता है। इसके रवे १२ या २४ फलकवाले होते हैं। इसके पारदर्शक रवे बहुमूल्य होते हैं और रत्न माने जाते हैं। इसकी कठोरता ६.५ से ७.५ तक होती है। इसकी कठोरता का उपयोग इसके चूर्ण द्वारा अन्य खनिजों को घिसने और चमकाने में होता है। औजारों पर धार धरनेवाले सान देने के पत्थर इसी खनिज के चूरे से बनते हैं।

ओलीवाइन--इसका रासायनिक संगठन $(MgFe)_2 SiO_4$ है। यह खनिज अंगूरी रंग का होता है, परन्तु कभी-कभी पीला भी देखने में आता है। इसकी खरोंच रंग-विहीन होती है। रवे दानेदार होते हैं। कठोरता ६.५ से ७ तक होती है और आपेक्षिक घनत्व ३.२७ से ३.३७ तक होता है। यह आग्नेय शिलाओं में पाया जाता है और भारत में गिरनार पर्वत पर तथा अन्य कई स्थानों पर इसकी शिलाएँ मिलती हैं।

टूर्मलीन--रासायनिक संगठन के अनुसार इस परिवार के तीन वर्ग होते हैं--(१) अलकली टूर्मलीन, जिनमें सोडियम, पोटेशियम या लिथियम के सिलिकेट होते हैं; (२) मैगनीशियम टूर्मलीन, जो मैगनीशियम धातु के सिलिकेट होते हैं, और (३) आयरन टूर्मलीन, जो लोहे के सिलिकेट होते हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के टूर्मलीन में बोरोन तथा अल्युमीनियम धातु का सम्मिलन रहता है। टूर्मलीन का संगठन बड़ा पेचीदा है। इसका रंग काला होता है। इसके रवे प्रिज्म के समान ३,६ अथवा ९ सीधे फलकवाले होते हैं। रवों के फलों पर सीधी महीन समानान्तर रेखाएँ पड़ी रहती हैं। इसकी कठोरता ७ से ७.५ तक और आपेक्षिक घनत्व २.९ से ३.२ तक होता है। इसमें तड़क तो होती ही नहीं। चूरा करने पर यह कोयले के समान प्रतीत होता है। नीले, लाल, और हरे रंग का होने पर यह पारदर्शक होता है। इन पारदर्शक टूर्मलीन की गणना रत्नों में की जाती है। अबरकदार पेग्मेटाइट नामक आग्नेय शिलाओं में यह अधिकता से पाया जाता है। परिवर्तित शिलाओं में भी यह काफी मात्रा में पाया जाता है।

कार्बोनेट खनिज

ऊपर जिन खनिजों का उल्लेख किया गया है, वे सिलिकाप्रधान हैं। अब हम कुछ ऐसे साधारण खनिजों का वर्णन करेंगे, जिनमें कार्बन का मिश्रण रहता है। मेग्नेसाइट, कैल्साइट और डालोमाइट इनमें प्रधान हैं। मैलाकाइट और अजूराइट नामक ताँबे के खनिज भी कार्बोनेट होते हैं।

मेग्नेसाइट--यह मैग्नीशियम का कार्बोनेट है। इसका सूत्र $MgCO_3$ है। यह सफेद, पीले और भूरे रंग का होता है। साधारणत: यह बर्फ के रंगवाला होता है। रवादार होते हुए भी इसके रवे इतने सूक्ष्म होते हैं कि इसे रवादार कहना कठिन होता है। इसका उपयोग मेग्नेशिया बनाने के लिए किया जाता है। यह मेग्नेशिया वास्तव में मेग्नेसाइट से कार्बन डाई-ऑक्साइड गैस निकल जाने से बनती है। यदि मेग्नेसाइट को १०००° सेण्टीग्रेड पर फूंका जाय तो उसमें २-३% गैस शेष रह जाती है। यह पदार्थ जल में भिगोकर वायु में रखने से बहुत कड़ा हो जाता है और अग्निप्रतिरोधक होने के कारण भट्टियों आदि के उपयोग में लाया जाता है। इसी मेग्नेसाइट को यदि १५००° सेण्टीग्रेड के ताप पर फूंका जाय तो उसमें सम्मिलित कार्बोनिक एसिड गैस लगभग सारी की सारी अलग हो जाती है। यह अत्यन्त उपयोगी और बहुमूल्य अग्निप्रतिरोधक पदार्थ होता है। ऊँचे तापवाली भट्टियों के लिए इसी पदार्थ का उपयोग दीवारें और पेंदी आदि बनाने के लिए किया जाता है। ताँबा गलाने की भट्टियों तथा इस्पातशोधक भट्टियों में इसका उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। मेग्नेसाइट रवादार कम पाया जाता है। इसकी कठोरता ३.५ से ४.५ तक होती है और घनत्व २.८ से ३ तक। इस खनिज की उत्पत्ति मैग्नीशियम सिलिकेटवाले खनिजों (ओलीवाइन,

है। कभी-कभी यह भूरा, पीला, नीला, लाल और मटमैला भी मिलता है। इसकी सफेद पारदर्शक जाति मूल्यवान होती है। इसकी कठोरता ३होती है और नाखून से यह खरोंचा जा सकता है। आपेक्षिक घनत्व २·७१ होता है। नमक के तेजाब के पड़ने से इस खनिज में कार्बोनिक एसिड गैस की उत्पत्ति होती है, जो बुदबुदों के रूप में उठती है। कैल्साइट की अनेक जातियाँ हैं। संगमरमर और चूने के पत्थर की चट्टानों में यह विशेष पाया जाता है। चूने का पत्थर तथा संगमरमर चूने के ही कार्बोनेट हैं। परन्तु वे कैल्साइट के समान स्वच्छ नहीं होते तथा उनकी जाति प्रायः रवाहीन होती है। नमक के तेजाब का प्रभाव इन खनिजों पर भी कैल्साइट के ही समान होता है।

डालोमाइट––यह खनिज कैल्शियम और मैग्नीशियम का सम्मिलित कार्बोनेट है। यह सम्मिलन रासायनिक है, अर्थात् कैल्शियम कार्बोनेट और मैग्नीशियम कार्बोनेट दोनों को मिलाकर यह खनिज नहीं बना है और न दोनों को अलग ही किया जा सकता है। इसके रवे भी होते हैं, परन्तु यह अधिकतर रवाहीन ही पाया जाता है। रंग सफेद होता है, पर कभी-कभी पीलापन, कालापन अथवा हल्का भूरापन लिये हुए होता है। कठोरता ३·५ से ४ और आपेक्षिक घनत्व २·८ से २·९ तक होता है। नमक का गरम तेजाब डालने से इस पर कार्बोनिक ऐसिड गैस के बुदबुदे उठते दिखाई देते हैं। ठण्डे तेजाब का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह संगमरमर और चूने के पत्थर के साथ पाया जाता है। इसका उपयोग अग्निप्रतिरोधक के रूप में होता है। बिहार, मध्यप्रदेश, छोटा नागपुर, पंजाब तथा राजस्थान में यह खनिज चट्टानों की धारियों में पाया जाता है।

उपर्युक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त कुछ गन्धकमय खनिज भी हैं, जिनको उनसे निकलनेवाली धातुओं के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन खनिजों में प्रधान खनिज ताँबे, लोहे, चाँदी, जस्ते और सीसे के मूल्यवान सल्फाइड हैं। ताँबे के सल्फाइड को सोनामाखी और लोहे के सल्फाइड को रूपामाखी कहते हैं। चाँदी का गन्धकमय खनिज अर्जेन्टाइट, सीसा का गैलेना और जस्ता का स्फेलेराइट कहलाता है।

सोनामाखी या चाल्कोपाइराइट––यह ताँबे का मुख्य खनिज है। इसमें ताँबा, लोहा और गन्धक का सम्मिलन है। इसमें ३२·४ से ३५ प्रतिशत तक ताँबे का अंश रहता है। यह रवाहीन अधिक मिलता है, पर रवादार भी होता है। इसका रंग पीतल का-सा होता है, परन्तु कभी-कभी मोर के पर-सी आभा भी दिखाई पड़ती है। लकीर भूरापन लिये काली होती है। वह थोड़ी चमकदार भी होती है। इसमें धातु की-सी चमक होती है। इसकी कठोरता ३·५ से ४ तक और आपेक्षिक घनत्व ४·१ से ४·३ तक होता है। यह खनिज बिल्लौर की धारियों में अन्य धातु खनिजों के साथ अथवा परिवर्तित शिलाओं में पाया जाता है। इसका जमाव प्रायः उस गरम जल अथवा घोल द्वारा हुआ है, जो भूगर्भ से किसी समय भूपृष्ठ पर आते-आते रुक गया है। सोनामाखी को ही फूँककर तथा तपाकर ताँबा निकाला जाता है।

रूपामाखी या पाइराइट––यह लोहे और गन्धक का सम्मिलित खनिज है। पर गन्धकमय होने के कारण इससे लोहा धातु निकालने का उपयोग नहीं किया जाता। हाँ, गन्धक का तेजाब बनाने तथा गन्धक बनाने के काम में यह खनिज आता है। रंग इसका भी पीतल जैसा होता है, परन्तु लकीर काली होती है। रवे प्रायः घनमूलीय आकार के होते हैं। इसकी कठोरता ६ से ६·५ तक और आपेक्षिक घनत्व ४·९५ से ५·०१ तक होता है।

रूपामाखी जलवायु के प्रभाव से भूरे गेरू में परिवर्तित हो जाती है और सोनामाखी ताँबे के कार्बोनेट में। ताँबे के कार्बोनेट दो रंग के होते हैं। हरे रंग के कार्बोनेट को (जिसमें जल भी सम्मिलित रहता है) मैलाकाइट और नीले रंगवाले को अजूराइट कहते हैं। ताँबे के ये भी उपयोगी खनिज हैं।

गन्धक का एक और उपयोगी खनिज होता है, जिसे हरसोठ (जिप्सम) कहते हैं। यह कैल्शियम का जलीय कार्बोनेट है। यह खनिज प्रायः सफेद रंग का होता है और रवादार पाया जाता है तथा इसके रवे प्रायः पारदर्शक होते हैं। इसके रवों की तड़क अबरक के समान एक दिशा में होती है। इसकी कठोरता २ होती है और आपेक्षिक घनत्व २·३२ के लगभग। हरसोठ बहुधा चूने के पत्थर के साथ पाया जाता है। इसका उपयोग आजकल गन्धक का तेजाब बनाने के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त खनिजों के अतिरिक्त कोयला तथा सेंधा नमक ये दो साधारण खनिज ऐसे हैं, जिन्हें प्रायः प्रत्येक मनुष्य सरलता से पहचान सकता है। इसके अलावा अन्य कई असाधारण तथा विशेष खनिज भी हैं, जिनकी तालिका बहुत लम्बी है। परन्तु हमने जिन खनिजों का वर्णन किया है, वे ही खनिज प्रायः भूपटल के सब भागों में मिलते हैं और इन्हीं से मिलकर भूपृष्ठ या चिप्पड़ की मुख्य-मुख्य चट्टानों की रचना हुई है।
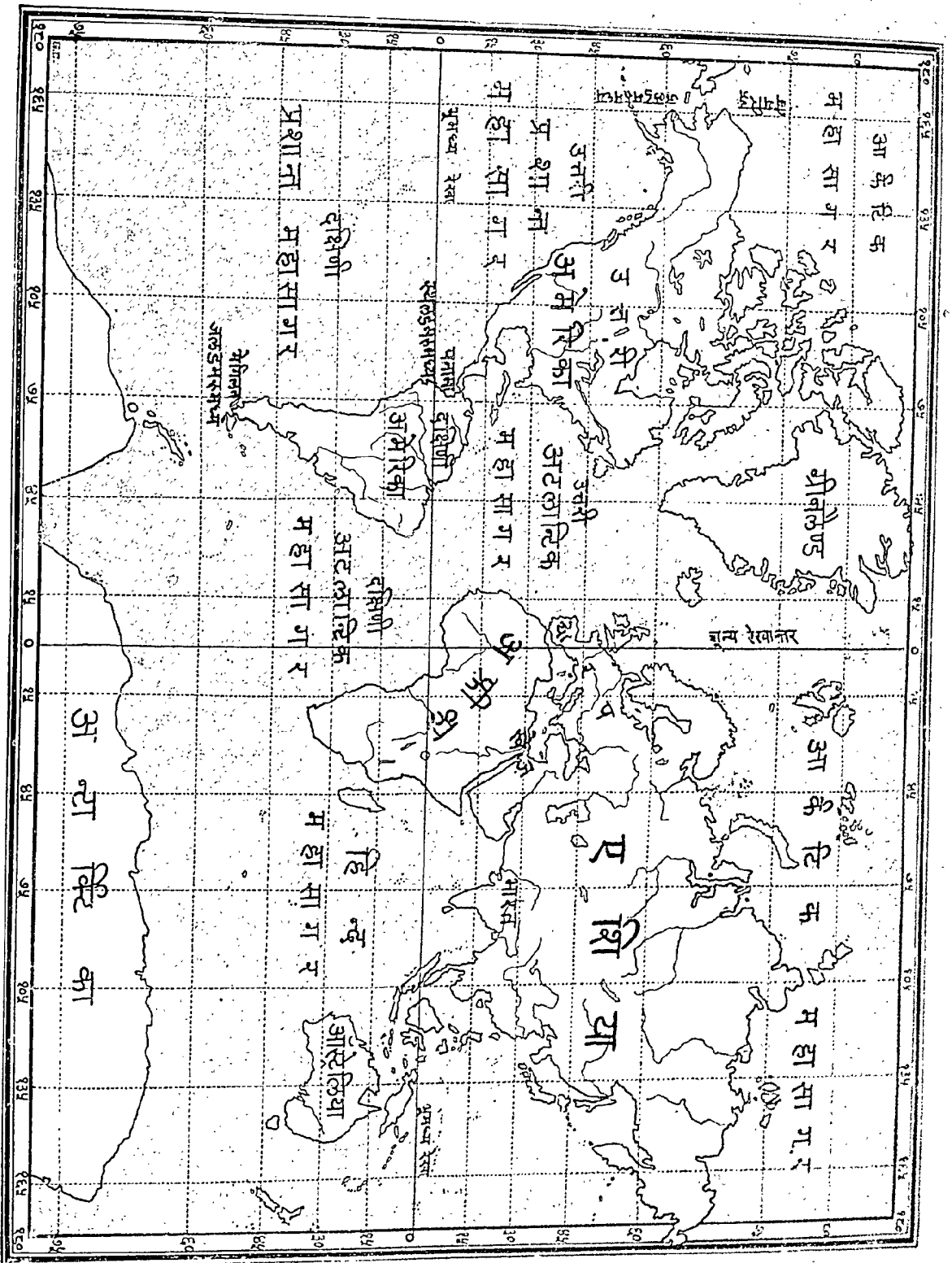
भूमंडलके स्थल और जल भाग

श्वेत भाग स्थल और नीला भाग जल का सूचक है। मुख्य - मुख्य स्थलखण्डों (महाद्वीपों) और जल खंडों (महासागरों) के नाम यथा स्थान निर्देशित हैं।
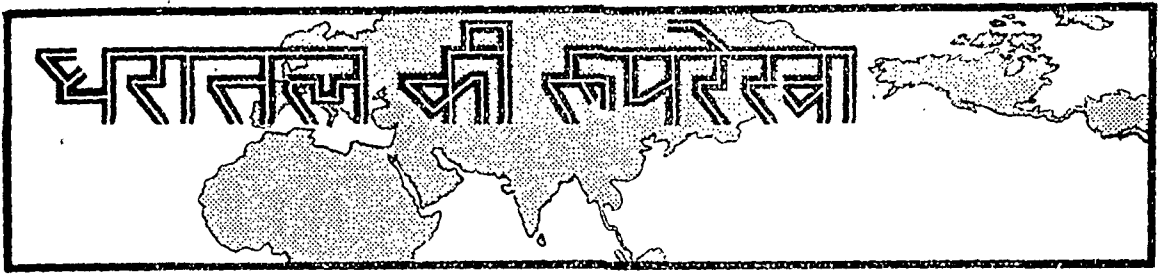
स्थलमण्डल :: प्राकृतिक रचना

धरती के जल, स्थल और वायु इन तीनों विभागों में आकार और विस्तार की दृष्टि से यद्यपि स्थल भाग अन्य दो भागों से छोटा है, तथापि महत्व की दृष्टि से उसी का स्थान हमारे लिए सबसे ऊँचा है। कारण, उसी की गोद में हम बसे हुए हैं और वहीं पृथ्वी की सारी शोभा निखरी हुई है। तो फिर आइए, पहले इसी भूभाग की जानकारी प्राप्त करें।

मनुष्य जितना स्थलमण्डल के विषय में जानता है उतना ज्ञान उसे न जलमण्डल के विषय में है और न वायुमण्डल के विषय में। इसका कारण यह है कि स्थलमण्डल ही मनुष्य का निवासस्थान है। जितनी सरलता से वह स्थलमण्डल पर विचरता है, उस प्रकार न वह जलमण्डल में तैर सकता है और न वायुमण्डल में उड़ सकता है। इसीलिए स्थलमण्डल की प्राकृतिक बनावट के विषय में मनुष्य ने बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

समस्त पृथ्वी पर स्थलमण्डल का विस्तार लगभग ५,५०,००,००,०० वर्गमील के क्षेत्रफल में है। शेष भाग अर्थात् १४,३०,००,००० वर्गमील में जलमण्डल या महासागरों का विस्तार है। अर्थात् समस्त पृथ्वीमण्डल का केवल २९ प्रतिशत भाग जल के बाहर है और शेष ७१ प्रतिशत भाग जलमग्न है।

सभी जल-स्थल-खण्ड विषम त्रिभुजाकार हैं

पृथ्वी के मानचित्र (नकशा) या ग्लोब के अध्ययन से मालूम होगा कि लगभग सभी जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार हैं। परन्तु इस बात में एक विशेषता यह है कि स्थलखण्डों के त्रिभुजों के आधार उत्तर की ओर हैं और नुकीले भाग दक्षिण की ओर। इसके विपरीत जलखण्डों के त्रिभुजों के आधार दक्षिण की ओर हैं और नुकीले भाग उत्तर की ओर। यही नहीं, और भी एक विशेषता है, और वह यह है कि यदि हम पृथ्वी के केन्द्र से होती हुई कोई सीधी रेखा खींचें और यदि उसका एक सिरा जल को छूता हो तो दूसरा सिरा अवश्य स्थल को छुएगा और स्थल को छूनेवाली रेखा का दूसरा सिरा जल को छुएगा। अर्थात् पृथ्वी पर जल और स्थल एक दूसरे के ठीक विपरीत दिशा में स्थित हैं। ऐसे स्थान 'कुदलान्तर' कहलाते हैं। इस प्रकार ऑस्ट्रेलिया का महाद्वीप उत्तरी अटलाण्टिक का कुदलान्तर है। अफ्रीका और योरप मध्य प्रशान्त महासागर के कुदलान्तर हैं। इसी प्रकार उत्तरी अमेरिका हिन्द महासागर का कुदलान्तर है। और अन्टार्कटिका महाद्वीप आर्कटिक महासागर का कुदलान्तर है।

चतुष्फलक का सिद्धान्त

पृथ्वी के जल और स्थलखण्डों का विषम त्रिभुजाकार होना एक विशेष महत्व की बात है और वैज्ञानिकों ने इसका कारण खोज निकालने की चेष्टा की है। इसी खोज के परिणामस्वरूप उस सिद्धान्त की रचना की गई है, जिसे 'चतुष्फलक का सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी का ढाँचा चतुष्फलक के समान माना गया है और इसी के कारण पृथ्वी का प्रत्येक जल और स्थलखण्ड विषम त्रिभुजाकार है।

ज्यामिति में चतुष्फलक उस ठोस आकृति को कहते हैं, जो चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के संयोग से बनता है। यदि एक त्रिभुज को आधार मान लें और उसकी तीनों भुजाओं पर तीन अन्य त्रिभुजों को खड़ा किया जाय और उनको आपस में जोड़ दिया जाय, तो जो आकृति बनेगी वह चतुष्फलक होगी। कहा जाता है कि हमारी पृथ्वी की आकृति भी ऐसी ही बनती जाती है।

इसका कारण यह है कि पृथ्वी का भीतरी भाग अभी भी तप्त है और धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। जैसे-जैसे यह ठण्डा होता जाता है, सिकुड़ता भी जाता है। परन्तु ऊपर का पृष्ठ तो ठोस और कड़ा हो गया है, इसलिए वह सिकुड़ नहीं सकता। इसका फल यह होता है कि भीतर के भाग के

सिकुड़ने से पृथ्वी का घनफल तो कम होता जाता है, परन्तु धरातल का क्षेत्रफल ज्यों का त्यों स्थिर ही बना हुआ है। इसीलिए पृथ्वी को ऐसी आकृति धारण करनी पड़ रही है, जिसका धरातल बड़ा होते हुए भी घनफल कम हो। गणितज्ञों के विचार में गोले की आकृति इसके लिए सम्भव नहीं है, चूँकि धरातल के विस्तार के अनुसार गोले का घनफल बहुत अधिक होता है। परन्तु चतुष्फलक का घनफल धरातल के क्षेत्रफल के अनुसार बहुत कम होता है। अर्थात् यदि एक ही क्षेत्रफल के धरातल के भीतर गोला और चतुष्फलक दोनों रक्खे जायँ, तो चतुष्फलक का घनफल गोले के घनफल से बहुत कम होगा। इसलिए विद्वानों का विचार है कि ज्यों-ज्यों पृथ्वी का घनफल (सिकुड़ने के कारण) कम होता जाता है (और धरातल का क्षेत्रफल चूँकि स्थिर ही रहता है), त्यों-त्यों वह चतुष्फलक का रूप धारण करती जाती है। परन्तु अभी तक पृथ्वी पूर्णतया चतुष्फलक के रूप को धारण नहीं कर पाई है, बल्कि आजकल वह न तो ठीक गोलाकार ही है और न पूर्ण चतुष्फलक ही।

द्वीप और महाद्वीप

समस्त स्थलमण्डल अनेकों छोटे-बड़े भूखण्डों से मिलकर बना है। इन भूखण्डों को द्वीपों और महाद्वीपों के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि उनके चारों ओर जल है। पृथ्वी के विशाल स्थलखण्डों के विस्तार का हाल हम पहले बता चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि समस्त स्थलमण्डल को दो भागों में बाँटा जाता है, जिनमें से एक को 'पुरानी दुनिया' कहते हैं, जिसमें एशिया, योरप, अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया सम्मिलित हैं; और दूसरे को 'नई दुनिया', जिसके अन्तर्गत उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप आते हैं।

नई दुनिया के विषय में योरपवासी सन् १४९२ ई० तक पूर्णतया अनभिज्ञ थे। कोलम्बस ने उस वर्ष इन महाद्वीपों का पहले-पहल ज्ञान प्राप्त किया। इसीलिए योरपवालों ने इन स्थलखण्डों को 'पुरानी दुनिया' के मुकाबले में 'नई दुनिया' का नाम दे दिया।

पुरानी दुनिया कई विशाल स्थलखण्डों से मिलकर बनी है। योरप और एशिया से मिलकर जो महाद्वीप बनता है, उसे 'यूरेशिया' कहते हैं। पृथ्वीमण्डल पर 'यूरेशिया' सबसे बड़ा स्थलखण्ड है। अकेला एशिया खण्ड ही भारतवर्ष से विस्तार में दस गुना है और योरप भी लगभग दुगुना। पृथ्वी के मानचित्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यूरेशिया ही मुख्य भूखण्ड है और शेष सब महाद्वीप उसके चारों ओर फैले हुए मानों उसी के छिन्न-भिन्न खण्ड हैं।

भूमध्यसागर योरप को अफ्रीका से जुदा करता है, परन्तु दोनों महाद्वीप इस सागर के पश्चिमी भाग में जिब्राल्टर प्रणाली के निकट एक दूसरे से मिलने की चेष्टा करते हैं। लाल सागर का संकीर्ण जलखण्ड एशिया और अफ्रीका को अलग करता है, परन्तु लाल सागर के दक्षिणी भाग में 'बाब-अल-मंडब' या 'आँसुओं के द्वार' के स्थान पर ये दोनों भूखण्ड भी एक दूसरे को छूने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। उत्तर की ओर स्वेज के पास तो दोनों एक दूसरे से बलपूर्वक अलग किए गए हैं। पिछली शताब्दी में जब स्वेज की नहर नहीं बनी थी, तब ये दोनों महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

पुरानी दुनिया और नई दुनिया भी एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध बनाने के लिए एशिया के उत्तर-पूर्व के कोने में बेयरिंग जलडमरूमध्य के पास बहुत समीप आ जाते हैं। यदि बीच में यह हिम और तुषारमण्डित जलखण्ड न होता तो इस स्थान पर एशिया और उत्तरी अमेरिका एक दूसरे से मिल जाते। इस स्थान को छोड़कर एशिया और अमेरिका और कहीं समीप नहीं हैं। एशिया के पूर्वी तट से अमेरिका का पश्चिमी तट प्रशान्त महासागर के विस्तीर्ण जलमण्डल के कारण सहस्रों मील की दूरी पर है।

ऑस्ट्रेलिया का विशाल द्वीप एशिया के दक्षिण-पूर्व में, भूमध्यरेखा के दक्षिण में, एशिया महाद्वीप से छोटे-छोटे द्वीपों की शृंखला द्वारा बँधा हुआ-सा स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दैवी शक्ति ने ऑस्ट्रेलिया से एशिया तक पहुँचने के लिए एक विशाल प्राकृतिक पुल की रचना की थी, जो छिन्न-भिन्न होकर छोटे-बड़े द्वीपों के रूप में अब भी एशिया और ऑस्ट्रेलिया को एक में मिलाने की चेष्टा करता है।

अमेरिका का भूभाग एशिया की अपेक्षा योरप और अफ्रीका से अधिक निकट है। प्रशान्त महासागर पार करने की अपेक्षा अटलाण्टिक को पार करने में कम दूरी चलना होता है।

क्या सभी महाद्वीप कभी एक थे ?

यदि पृथ्वी के स्थलमण्डल को पूरब से पश्चिम इकट्ठा करने की चेष्टा की जाय तो नई और पुरानी दुनिया एक दूसरे में इस प्रकार सट जायँगी कि समस्त स्थलमण्डल एक ही भूभाग दिखाई देगा। उत्तरी अमेरिका, ग्रीनलैंड और स्केन्डिनेविया सब मिलकर योरप और अमेरिका तथा एशिया को सम्मिलित कर देंगे और दक्षिणी अमेरिका अफ्रीका के पश्चिमी तट से जुड़ जायगा।

स्थलमण्डल के खण्डों की बनावट देखने से पता चलता है कि इनके किनारे कहीं-कहीं तो सीधी रेखा के सदृश बने हैं और कहीं-कहीं बहुत अधिक वक्र और घुमावदार हैं। कहीं-कहीं तो उनमें जल का संकीर्ण भाग स्थल के भीतर घुस गया है और कहीं स्थल का संकीर्ण भाग दूर तक जल में चला गया है। कहीं स्थल दो विशाल जलखण्डों को अलग करता है, तो कहीं जल की पतली प्रणाली दो स्थल-खण्डों को अलग करती है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि समस्त स्थलमण्डल समतल या सपाट नहीं है। प्रत्येक देश में कहीं पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, कहीं पर नीचे मैदान। कहीं पर समतल पठार हैं, तो कहीं पर रेगिस्तान। कहीं ऊँची-नीची ढालू चट्टानें हैं, तो कहीं पर गहरी घाटियाँ हैं। स्थलमण्डल के मानचित्रों में स्थल की ऊँचाई-नीचाई दिखाने के लिए विविध रंगों की सहायता ली जाती है और ऐसे प्रत्येक चित्र के नीचे तालिका में ऊँचाई और रंगों का सम्बन्ध बता दिया जाता है। स्थलखण्डों की ऊँचाई और नीचाई का अध्ययन करने के पूर्व हम स्थल के प्रधान खण्डों की भूपृष्ठ पर स्थिति और उनकी बनावट का अध्ययन करेंगे।

यूरेशिया का विशाल स्थलखण्ड

पहले यूरेशिया के विशाल भूखण्ड को ही लीजिए। यह दो प्रधान महाद्वीप 'एशिया' और 'योरप' से मिलकर बना है। दोनों ही महाद्वीप पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित हैं, परन्तु एशिया का विस्तार उत्तर और दक्षिण दोनों ही दिशाओं में योरप से कहीं अधिक है। इसी कारण एशिया का धुर उत्तरी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा अधिक शीतल है और उसी प्रकार दक्षिणी भाग योरप के किसी भी प्रान्त की अपेक्षा गरम है। एशिया का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध में स्थित है, परन्तु योरप का सारा प्रदेश उष्ण कटिबन्ध के बाहर उसके ऊपर स्थित है। एशिया का दक्षिणी भाग, अर्थात् वर्मा, मलाया, लंका और भारतवर्ष, भूमध्यरेखा के जितने समीप है, योरप का कोई भी प्रान्त उतने निकट नहीं है। योरप के स्थलखण्ड के अध्ययन से प्रतीत होगा कि

यदि नई और पुरानी दुनिया के भूभाग सटा दिये जायें तो वे इसी प्रकार मिलकर एक भूभाग बन जायेंगे

उस स्थिति में अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी निकला हुआ कंधा ठीक उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के बीच के खाँचे में घुस जायगा और इसी तरह दक्षिणी अमेरिका का पूर्वी कोण अफ्रीका के पश्चिमी खाँचे में प्रवेश कर जायगा। इससे कई लोग सोचते हैं कि क्या आरंभ में ये सब एक ही भूभाग के अंग थे, जो बाद में विलग होकर इन टुकड़ों में बँट गया!

योरप में एशिया की अपेक्षा जलखण्ड ने अधिक प्रवेश-स्थान प्राप्त कर लिये हैं। फलतः योरप के बहुत कम स्थान ऐसे हैं, जो सागर से बहुत दूर हों। उसका समुद्रतट बहुत लम्बा, घुमावदार और प्राकृतिक रूप से सुरक्षित है। इसी कारण योरप-निवासी अच्छे नाविक हैं।

यूरेशिया के भूखण्ड को चार महासागर घेरे हुए हैं। इस भूखण्ड में अनेकों प्रायद्वीप हैं, परन्तु स्थलखण्ड के भीतर जलमण्डल की शाखाएँ केवल योरपीय खण्ड में अधिक हैं। अटलाण्टिक महासागर का ही एक खण्ड बाल्टिक सागर के रूप में योरप के मध्य स्थलखण्ड में घुस गया है। इसी महासागर के एक भाग, उत्तरी सागर, ने ब्रिटिश द्वीपसमूह को योरप के मुख्य स्थलखण्ड से एकदम अलग ही कर दिया है। योरप के दक्षिण में भूमध्यसागर के लम्बे जलखण्ड में स्थलखण्ड की तीन प्रमुख शाखाएँ घुस गई हैं और अनेकों द्वीपखण्ड बन गए हैं। ये तीन प्रमुख प्रायद्वीप (१) आइबेरियन (जो स्पेन और पुर्तगाल के संयोग से बनता है), (२) इटैलियन (जिसमें सिसिली का द्वीप भी सम्मिलित है), और (३) बालकन (जिसमें ग्रीस के छोटे-छोटे द्वीपखण्ड भी सम्मिलित हैं) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस जलखण्ड को पूर्वीय भाग में दर्रे दानियाल या 'डार्डेनल्स' का जलडमरूमध्य मारमारा सागर से सम्मिलित करता है, और इस छोटे से सागर और काले सागर का सम्बन्ध बासफोरस जलडमरूमध्य के द्वारा होता है। स्थलखण्ड से घिरा कैस्पियन सागर (एक विशाल झील) योरप और एशिया की सीमा निर्धारित करता प्रतीत होता है। इस प्रकार योरप की दक्षिणी सीमा (अटलान्टिक से कैस्पियन सागर तक) बराबर टेढ़ी-मेढ़ी और घुमावदार बनी है और लगभग सारी ही समुद्रतट पर स्थित है। उत्तर में आर्कटिक महासागर की एक भुजा श्वेत सागर के रूप में स्थलखण्ड में प्रवेश कर गई है।

एशिया

योरप की अपेक्षा एशियाखण्ड बहुत अधिक विस्तीर्ण है। इसका भी बहुत-सा भाग प्रायद्वीपों के रूप में जलखण्डों में घुस गया है, परन्तु इसके विस्तीर्ण क्षेत्रफल की तुलना में उसका विस्तार बहुत ही कम है। एशिया की बनावट योरप की अपेक्षा अधिक ठोस और जलखण्डरहित है। एशिया के दक्षिण में हिन्द महासागर का विशाल जलखण्ड फैला है, जिसमें योरप के समान तीन प्रायद्वीप स्थित हैं। आइबेरियन प्रायद्वीप की समानता के लिए यहाँ पर 'अरब का प्रायद्वीप' है, जिसे तीन सागर घेरे हुए हैं। इन दोनों प्रायःद्वीपों की बनावट एक-सी प्रतीत होती है, क्योंकि इनके तट अधिक टेढ़े-मेढ़े नहीं बने हैं। भारत का प्रायद्वीप इटली के प्रायद्वीप के समान है। इटली के सिसिली द्वीप की भाँति लंका का टापू इसी का अंश है और उत्तर में आल्प्स पर्वत की तरह यहाँ हिमालय का मुकुट है। पूर्वीय प्रायद्वीप इंडोचीन कहलाता है। इसकी और बालकन प्रायद्वीप की बनावट भी एक-सी ही प्रतीत होती है।

एशिया के पूर्वी तट की दो रेखायें हैं। एक तो प्रधान तट-रेखा और दूसरी द्वीपश्रृंखला की रेखा, जो तट के समान्तर उत्तर से दक्षिण तक फैली है। इन दोनों तटों के बीच में कई सागर, खाड़ियाँ और जलडमरूमध्य हैं, जो सब पैसिफिक या प्रशान्त महासागर के ही अंश हैं। मलाया प्रायद्वीप के नुक्कड़ पर रोमानिया अन्तरीप का चक्कर लगाकर जब हम उत्तर की ओर मुड़ते हैं, तब हमें सबसे पहले दक्षिणी चीन सागर मिलता है। स्याम की खाड़ी और टांगकिंग की खाड़ी इसी दक्षिणी चीन सागर के जलांश हैं। दक्षिणी चीन सागर पैसिफिक महासागर का ही अंश है, परन्तु बोर्नियो और फिलिपाइन द्वीपसमूहों ने इसको मुख्य जलांश से पृथक् कर दिया है। दक्षिणी चीन सागर से उत्तर की ओर जाने पर हमें फारमोसा का जलडमरूमध्य मिलता है, जो फारमोसा द्वीप को चीन के स्थलखण्ड से पृथक् करता है। इस जलडमरूमध्य को पार करने पर हम पीले सागर में घुस जाते हैं। पीला सागर स्थलखण्ड के भीतर घुसा प्रतीत होता है। इसे कोरिया का प्रायद्वीप और जापान का सबसे दक्षिणी द्वीप घेरे हुए हैं, जो मुख्य जलांश से मिलने में इसके लिए बाधक हैं। पीले सागर और योरप के उत्तरी सागर की स्थिति एक-सी प्रतीत होती है। पेचिली की खाड़ी पीले सागर का अन्तरतम भाग है। इस जलांश को दो छोटे प्रायद्वीप जबड़ों की भाँति पकड़े हुए हैं।

कोरिया जलडमरूमध्य के आगे हमें जापान सागर मिलता है, जो एक ओर मुख्य एशिया महाखंड और दूसरी ओर जापान द्वीपसमूह की दो दीवारों के बीच में बन्द प्रतीत होता है। इस सागर के उत्तर में तारतारी की खाड़ी है। उसके जलडमरूमध्य से होकर हम शीतल ओखटस्क सागर में पहुँच जाते हैं, जो बेयरिंग सागर से ठंडे जल से कमचटका के प्रायद्वीप द्वारा पृथक् हो गया है।

योरप और एशिया का उत्तरी तट आर्कटिक महासागर पर स्थित है। यह सबसे कम महत्व का है, क्योंकि यहाँ का जल सदैव हिममंडित रहता है। इस तट की

बनावट भी अधिक घुमावदार या कटी-पिटी नहीं है, वरन् सरल रेखा के समान है। इस ओर के सागरतट के विषय में लोगों का ज्ञान भी बहुत कम है, क्योंकि यहाँ पर कोई बन्दरगाह नहीं है।

अफ्रीका

आइए, यूरेशिया के तट की बनावट के अध्ययन के पश्चात् हम अफ्रीका महाद्वीप की सीमा का अध्ययन करें। यह विशाल ठोस स्थलखण्ड भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर फैला हुआ है। उसका सबसे उत्तरी भाग लगभग उसी अक्षांश पर स्थित है, जिस पर काश्मीर का एकदम उत्तरी हिस्सा है। उत्तरी भाग का अन्तिम छोर भूमध्यरेखा से जितने अंश उत्तरी अक्षांश में हैं, दक्षिणी भाग का अन्तिम छोर उतने ही अंश दक्षिण अक्षांश में हैं। मोटे विशाल कंधे के समान इसका एक स्थल अंश पश्चिम में अटलांटिक महासागर में घुसा हुआ है और वैसा ही एक अंश हिन्द महासागर में घुसकर दक्षिण में एक लम्बा-चौड़ा गोल प्रायद्वीप बनाता है।

इस स्थलखण्ड को भूमध्यसागर का जलखण्ड योरप से पृथक् करता है। इसका आकार भारतवर्ष के आकार से मिलता-जुलता है। लंका के टापू के सदृश इसके साथ भी मेडागास्कर द्वीप जुड़ा हुआ है। इसका तट योरप और एशिया के समुद्रतटों की अपेक्षा बहुत सीधा बना है। इसका समुद्रतट दक्षिणी अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया के समुद्रतटों जैसा है। पश्चिमी किनारे पर गिनी की चौड़ी खुली खाड़ी है। उत्तर में ट्रिपोली की खाड़ी और पूर्वी तट पर अदन की खाड़ी है, जो कि हिन्द महासागर का ही अंश है। तट से दूरी पर स्थित द्वीपों में मेडागास्कर ही सबसे प्रसिद्ध और बड़ा द्वीप है, और सब द्वीप छोटे तथा नगण्य हैं। योरप और एशिया की भाँति इसके तट पर न अधिक जलडमरूमध्य हैं और न अनेक प्रायद्वीप।

ऑस्ट्रेलिया

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित है। ऑस्ट्रेलिया शब्द का अर्थ ही दक्षिणी देश है। इस देश का नाम योरपवालों ने ऑस्ट्रेलिया इसी कारण रक्खा है कि इसका विस्तार दक्षिणी गोलार्द्ध में है। विषुवत् रेखा के जिन उत्तरी अक्षांशों में भारतवर्ष फैला हुआ है, लगभग उन्हीं अक्षांशों में दक्षिण में ऑस्ट्रेलिया स्थित है। फ्रीमैण्टिल नामक बन्दरगाह भारत के सबसे निकट है। यह कोलम्बो के दक्षिण-पूर्व में ३,३०० मील दूर है। इस विशाल द्वीप की आकृति और तटरेखा बहुत ही सरल है।

इसके उत्तरी तट पर कारपेंटेरिया की खाड़ी है, जिसके पश्चिम और पूर्व दोनों ओर प्रायद्वीप हैं। पश्चिमी प्रायद्वीप बड़ा और चौड़ा है और पूर्वी छोटा और नुकीला। दक्षिण में समुद्र स्थल के भीतर घुसकर 'ग्रेट ऑस्ट्रेलियन बाइट' नामक चौड़ी खाड़ी बनाता है। इसी के दो अंश स्पेन्सर की खाड़ी और सेण्ट विसेण्ट की खाड़ी के रूप में स्थल में दूर तक घुस गए हैं।

ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण में तस्मानिया का द्वीप है, जिसको बास जलडमरूमध्य मुख्य स्थल से पृथक् करता है। यहाँ भी जल की एक शाखा स्थल में घुस गई है और वह पोर्ट फिलिप के पास अच्छी खाड़ी बनाती है, जिसके कारण मेलबोर्न के प्रसिद्ध बन्दरगाह का महत्त्व है। ऑस्ट्रेलिया भी अफ्रीका की भाँति ठोस भूखण्ड प्रतीत होता है। इसका तट भी टूटा-फूटा नहीं है, जिसमें जल की शाखाएँ घुसकर जहाजों के लिए स्थल में दूर तक घुस आने का मार्ग बना सकें। समुद्रतटीय प्रदेश को छोड़कर शेष भाग समुद्र से काफी दूर हैं।

ऑस्ट्रेलिया का पूर्वी तट अन्य भागों से थोड़ा अधिक टूटा-फूटा है। पूर्वी तट की एक और विशेषता है, जो संसार के किसी भी महाद्वीप के तट में नहीं पाई जाती। वह विशेषता यह है कि इस तट के निकट ही बहुत दूर तक मूँगे की एक भीत पाई जाती है। इस भीत की लम्बाई १,२०० मील के लगभग है और यह उत्तरी-पूर्वी तट से २५-३० मील दूर है। कहीं-कहीं इस भीत के कुछ अंश इतने ऊँचे हो गए हैं कि जल के बाहर वे मूँगे के टापू के रूप में निकल आए हैं। ऑस्ट्रेलिया संसार का सबसे छोटा महाद्वीप है। इसका क्षेत्रफल एशिया महाद्वीप के क्षेत्रफल का केवल छठवाँ भाग ही है।

न्यूजीलैण्ड

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्व में दक्षिणी गोलार्द्ध के दो महत्त्वपूर्ण द्वीप हैं, जो न्यूजीलैंड के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्यूजीलैंड ऑस्ट्रेलिया द्वीपखण्ड से बिल्कुल पृथक् है। इसके दोनों द्वीप उत्तर-दक्षिण में कुक जलडमरूमध्य के द्वारा अलग होते हैं। दोनों द्वीपों को मिलाकर भी इनका क्षेत्रफल ऑस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैंड प्रांत से भी कम है। इन द्वीपों का तट ऑस्ट्रेलिया के समुद्रतट से सर्वथा भिन्न है। इसमें स्थान-स्थान पर सागर की शाखाएँ स्थल में घुस आई हैं। इटली को यदि उल्टा लटकाया जाय [illegible]मकी आ[illegible] जीलैंड से बहुत-कुछ मिलती-जुल[illegible] लैंटी की खाड़ी तथा पूर्व में हाक[illegible]

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के दोनों महाद्वीपों का एक सम्मिलित नाम 'नई दुनिया' है। ग्लोब में नई दुनिया का विस्तार भारतवर्ष के एकदम पीछे है। भारत के मध्य में ८०° पूर्व अक्षांश की रेखा है और उत्तरी अमेरिका के मध्य में १००° पश्चिमी अक्षांश की रेखा है। इस प्रकार इन दोनों के बीच आधा भूगोल स्थित है।

नई दुनिया के दोनों महाद्वीपों की आकृति बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। दोनों के उत्तरी भाग चौड़े हैं और दक्षिणी भाग नुकीले हो गए हैं। उत्तरी अमेरिका का तट अधिक टूटा-फूटा है और स्थल में अनेकों स्थान पर जल-शाखाएँ प्रवेश कर गई हैं। दक्षिणी अमेरिका के तट में सागर के बहुत कम अंश स्थल में पहुँच पाये हैं।

उत्तरी अमेरिका के उत्तरी तट पर हडसन की विशाल खाड़ी है, जो उत्तर में ठण्ढे आर्कटिक महासागर से और दक्षिण में अटलाण्टिक महासागर से सम्बन्धित है। पूर्वीय तट पर सेण्ट लारेंस की खाड़ी है, जिसका कुछ अंश न्यूफाउण्डलैण्ड तथा नोवास्कोशिया के टापुओं से बन्द हो गया है। लेब्राडर के विशाल प्रायद्वीप के कारण हडसन की खाड़ी और सेण्ट लारेंस की खाड़ी पृथक् हो गई हैं। दक्षिण में स्थल का एक अंश फ्लोरिडा प्रायद्वीप के रूप में अटलांटिक महासागर में दूर तक चला गया है और मैक्सिको की खाड़ी के रूप में महासागर के जल को प्रधान जलखण्ड से अलग करता है। मैक्सिको की खाड़ी को दक्षिण में यूकातान प्रायद्वीप ने बन्द कर रक्खा है। इन दोनों प्रायद्वीपों के बीच में क्यूबा का मुख्य द्वीपखण्ड है। मेक्सिको की खाड़ी किसी भयानक पशु के मुख के समान प्रतीत होती है, फ्लोरिडा और यूकातान प्रायद्वीप दो जबड़ों की भाँति खुले हुए हैं और क्यूबा तथा उसके पूर्व की द्वीपशृंखला लम्बी जीभ के समान है, जिसकी नोक दक्षिणी अमेरिका के तट को छूती प्रतीत होती है।

आर्कटिक महासागरवाला तट बहुत अधिक टूटा-फूटा है। हडसन की खाड़ी के उत्तर में असंख्य प्रायद्वीप, जलडमरूमध्य और द्वीपखण्ड हैं। बैफिन की खाड़ी ग्रीनलैण्ड के विशाल टापू को अमेरिका के स्थलभाग से पृथक् करती है। ग्रीनलैण्ड का यह विशाल द्वीप एकदम शीत कटिबन्ध में है और अधिकांशतः हिमाच्छादित है। उत्तरी तट के अन्य छोटे-छोटे टापू भी अधिकतर हिमाच्छादित हैं और मनुष्य के उपयोग के नहीं हैं। इनमें से बहुत-से तो ऐसे हैं, जिनके विषय में अभी तक मनुष्य अनभिज्ञ है।

पश्चिमी तट का उत्तरी भाग भी बहुत टूटा-फूटा है और द्वीपों की शृंखला के कारण जल की पतली लम्बी शाखाएँ दूर तक स्थल में चली गई प्रतीत होती हैं। द्वीपों की भीत के कारण मुख्य स्थलखण्ड और द्वीपखण्ड के बीच जलयानों के लिए बहुत सुरक्षित मार्ग है। इन सब द्वीपों में वैंकोवर प्रधान है। पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग में कैलिफोर्निया का प्रायद्वीप लम्बे पतले स्थलखण्ड के रूप में कैलिफोर्निया की खाड़ी द्वारा प्रधान स्थलखण्ड से पृथक्-सा हो गया है।

उत्तरी अमेरिका की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस स्थलखण्ड के भीतर अनेकों छोटे-छोटे जलखण्ड झीलों के रूप में फैले हैं। इनमें से अधिकतर सभी झीलों का जल मीठा है। इन झीलों में सबसे बड़ी झीलें सुपीरियर, मिचिगन, हूरन, ऐरी और ओन्टेरियो हैं, जिनमें संसार भर की झीलों का आधे से अधिक जल भरा है। सुपीरियर मीठे पानी की संसार भर में सबसे बड़ी झील है। इसी प्रकार की नौ अन्य झीलें हैं, जिनमें से प्रत्येक १०० मील से भी अधिक लम्बी है। ये झीलें महाद्वीप के उत्तरी भाग ही में पाई जाती हैं, दक्षिणी में नहीं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों का सम्बन्ध मेक्सिको के नुकीले भाग के अन्त में पनामा के स्थलडमरूमध्य द्वारा होता है। पनामा और मेक्सिको के बीच की सँकड़ी स्थल की पट्टी 'मध्य अमेरिका' कहलाती है। पनामा के स्थलडमरूमध्य को काटकर आजकल पनामा की नहर बनाई गई है। यह नहर पूर्व के कैरिबियन सागर के द्वारा अटलांटिक महासागर और पैसिफिक महासागर को सम्बन्धित करती है। कैरिबियन सागर दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप द्वारा दक्षिण में, पश्चिमी द्वीपसमूह के द्वारा उत्तर में, तथा मध्य अमेरिका द्वारा पश्चिम में घिरा हुआ है। पश्चिमी द्वीपसमूह धनुषाकार रूप में फैला है।

दक्षिणी अमेरिका का आकार समकोण त्रिभुज के समान है। इस त्रिभुज का आधार पैसिफिक महासागर है और उत्तरी और दक्षिणी अटलांटिक उसकी दो अन्य भुजाएँ हैं। संकीर्ण पनामा स्थलडमरूमध्य द्वारा यह मध्य अमेरिका से जुड़ा है। इस महाद्वीप के तट में भी बहुत कम स्थानों पर सागर स्थल के भीतर दूर तक घुस आया है। दक्षिण में पैसिफिक महासागर के तट पर अनेकों छोटे-छोटे द्वीप हैं, जो सम्भवतः स्थल के जलमग्न हो जाने के अवशेष-चिह्न हैं। इन द्वीपों में सबसे बड़े का नाम टेरा-डेल-फ्यूगो है। इस द्वीप और प्रधान स्थलखण्ड के बीच में सँकड़ा लम्बा

मैगिलन नामक जलडमरूमध्य है, जो बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है और जिसको पार करना अब तक बड़े ही दुस्साहस का कार्य समझा जाता था। पुर्तगाल के मैगिलन नामक सुप्रसिद्ध नाविक ने ही इसमें से होकर सर्वप्रथम यात्रा की थी। इसलिए उसके नाम पर इस जलडमरूमध्य का नाम रख दिया गया। ऑस्ट्रेलिया या अफ्रीका महाद्वीपों की अपेक्षा दक्षिणी अमेरिका की स्थिति भूमध्यरेखा के अधिक दक्षिण में है और इसका पश्चिमी तट उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट से भी अधिक पूर्व में है। यह महाद्वीप दक्षिणी ध्रुवप्रदेश के निकटतर है।

अण्टार्क्टिका

स्थलमंडल का अध्ययन करते समय हमें दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में स्थित 'अण्टार्क्टिका' नामक उस विशाल हिमाच्छादित भूखंड को भी नहीं भुलाना चाहिये, जो कि लम्बाई-चौड़ाई के लिहाज से एक महाद्वीप कहा जा सकता है।

अण्टार्क्टिका या दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश संसार का छठा महाद्वीप है। वहाँ कड़ाके की सर्दी पड़ती है और अंधड़ चलते रहते हैं। ऐसे विशाल हिमखण्ड और बर्फीले प्रदेश वहाँ हैं कि उनके सामने मनुष्य एक नन्हीं बिंदी-सा नजर आता है। दक्षिण का यह ध्रुव-प्रदेश पृथ्वी का एक बहुत ऊँचा पठार हे। इसका भीतरी भाग समुद्र सतह से ९,००० फीट ऊँचा तथा इस ऊँचाई भी हजारों फीट ऊँची हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों से आच्छादित है। इस हिमप्रदेश में साल भर शुष्क रेत-कणों के समान चमकीले बर्फ-कणों की झड़ी लगी रहती है। इस समूचे प्रदेश की ऊँची समतल भूमि लाखों वर्षों से लगातार बरसती बर्फ की हजारों फीट मोटी तह से ढकी हुई है। यहाँ पर समुद्र में भी हजारों फीट नीचे तक डूबे हुए भिन्न-भिन्न आकार के बर्फ के तैरते हुए विशाल पहाड़ों की भरमार है। ६०-६० मील तक लम्बे पानी पर तैरनेवाले बर्फ के वे पहाड़! प्रकृति का कितना भव्य और साथ ही भयानक दृश्य वह होगा! यहाँ न तो कोई मनुष्य ही रहता है और न वनस्पति ही पैदा होती है। हाँ, पेंग्वीन नामक एक विचित्र प्राणी यहाँ का एकमात्र निवासी है, परन्तु यह भी समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में ही मिलता है। दूरी से यह कुछ-कुछ मनुष्य-जैसा ही दिखाई पड़ता है।

आपको यह जानकर हैरानी होगी कि इस चिरतन हिमखंड के अंचल में भी प्रकृति की दो प्राकृतिक चिमनियाँ निरंतर आग और धुआँ उगल रही हैं! ये हैं 'माउण्ट ऐरेबस' (१३,००० फीट) और 'माउण्ट टेरर' नामक दो ज्वालामुखियों की चोटियाँ! निश्चय ही पृथ्वी का यह दक्षिणतम भूभाग अनेक रहस्यों को अपने अंचल में छिपाये हुए है। पिछले पचास वर्षों में सुप्रसिद्ध कप्तान स्कॉट और शैकल्टन, एमंडसन, बर्ड आदि से लेकर अभी हाल के डॉ० फुश और हिलारी के ऐतिहासिक अभियानों तक अनेक वीरतापूर्ण प्रयास इस महाद्वीप के रहस्योद्घाटन में योग दे चुके हैं। फिर भी अभी इसका अधिकांश अज्ञात और रहस्यपूर्ण बना हुआ है।

आज इस अज्ञात भूभाग को हथियाने के लिए सभी शक्तिशाली राष्ट्र अपने-अपने अधिकारों का दावा पेश कर रहे हैं। क्यों? कारण यह है कि इसके बर्फीले गर्भस्थल में कोयला आदि कई प्रकार के खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी से सभी अपने-अपने झंडे वहाँ गाड़ने के लिए उत्सुक हैं। सम्भव है, वह दिन भी आ जाय, जब कि संसार के राष्ट्रों में इस बर्फीले महाद्वीप के लिए भी रण-भेरी झनझना उठे!

पहाड़ और पठार या धरती के उच्च प्रदेश

पिछले प्रकरण में हमने स्थलमण्डल की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया है। परंतु किसी क्षेत्र की बाह्य रूपरेखा से ही हम उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। यह जानना भी आवश्यक है कि उस क्षेत्र की भूमि की बनावट कैसी है। अतः इस अध्याय में हम स्थलमण्डल की ऊँचाई-नीचाई की जाँच करेंगे और देखेंगे कि कहाँ तो उस पर गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ हैं और कहाँ पर पठार, सपाट मैदान और नीची भूमि आदि है।

स्थल की ऊँचाई का आधार सागर का ऊपरी जलतल माना जाता है। सागर के जलतल की रेखा से यदि हम स्थल के विविध आकारों की ऊँचाई की तुलना करें तो हमें उन आकारों की पारस्परिक ऊँचाई का मान प्राप्त हो जाता है। पृथ्वी के स्थलभागों की बनावट सब स्थानों पर समान नहीं है। कहीं तो भूमि सागरतल से कई मील ऊँची है और कहीं वह केवल कुछ ही फीट की ऊँचाई पर स्थित है। कहीं-कहीं स्थल यदि सपाट है, तो कहीं पर ऊँचे ऊँचे ढाल भी हैं। कहीं तो स्थल अपने आस-पास से सहस्रों फीट ऊपर उठा हुआ आकाश से ब
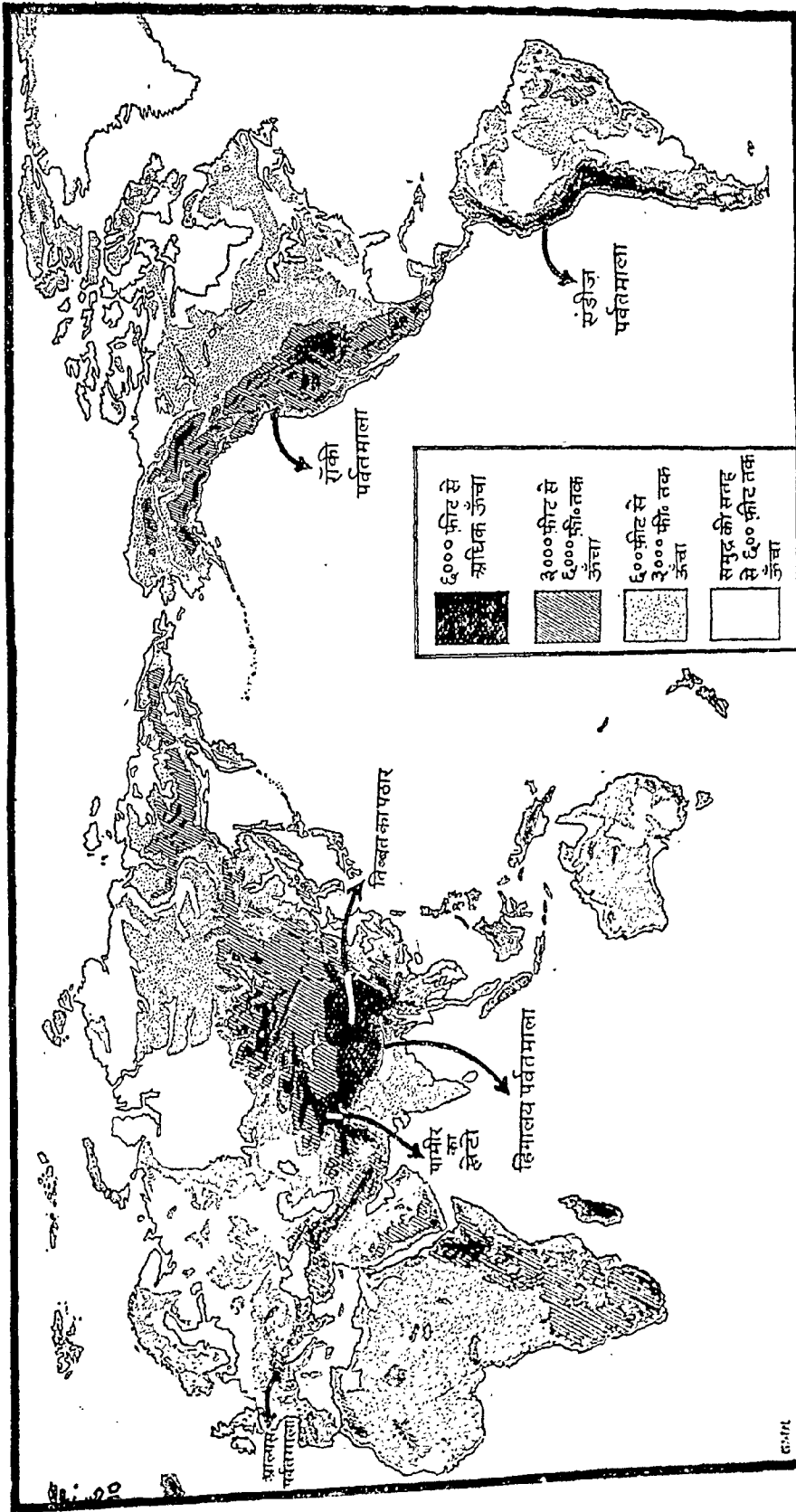
स्थलमण्डल की ऊँचाई

सम्पूर्ण स्थल का बहुत कम भाग ऐसा है, जो सागर की सतह से ६०० फीट की ऊँचाई से कम है। १० प्रतिशत भाग की औसत ऊँचाई ६,००० फीट से अधिक है। ४० प्रतिशत भाग ६०० से ३,००० फीट तक ऊँचा है। शेष भाग ३,००० फीट से ६,००० फीट तक ऊँचा है। यदि समस्त स्थलखण्ड को सपाट कर दिया जाय, तो उसकी ऊँचाई सागर से २,३०० फीट होगी। नक्शे में विभिन्न संकेत-चिन्हों द्वारा भिन्न-भिन्न ऊँचाइयाँ दिखाई गई हैं।

चेष्टा करता है तो कहीं पर गहरी घाटियों के रूप में मानों पाताललोक के दर्शन कराता है।

स्थलमण्डल की ऊँचाई

सम्पूर्ण स्थलखण्ड का पाँचवाँ भाग ऐसा है, जो सागरतल से ६०० फीट की ऊँचाई से भी कम है। केवल १० प्रतिशत स्थल भाग की ही औसत ऊँचाई सागरतल की अपेक्षा ६,००० फीट से अधिक है। २० प्रतिशत भाग (या दूसरा पाँचवाँ भाग) ६०० से १,५०० फीट तक ऊँचा है। लगभग इतना ही भाग ऐसा है, जिसकी ऊँचाई १,५०० से ३,००० फीट तक है। शेष भाग (अर्थात् ६,००० फीट ऊँचे १० प्रतिशत स्थल को छोड़कर) ३,००० फीट से ६,००० फीट की ऊँचाई तक का है। यदि किसी आकस्मिक घटना के फलस्वरूप सागर के जल में बाढ़ आ जाय, तो स्थल का बहुत-सा अंश जलमग्न हो जायगा। परन्तु सागर का जलतल ६,००० फीट नीचा हो जाने पर भी स्थल की सीमा का विस्तार अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि सागरतल का ८० प्रतिशत क्षेत्रफल, अर्थात् ११,४०,००,००० वर्गमील के लगभग क्षेत्र, ६,००० फीट से भी अधिक गहरा है।

यदि समस्त स्थलखण्ड को बिल्कुल सपाट कर दिया जाय, अर्थात् समस्त ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों को नष्टभ्रष्ट करके स्थलखण्ड के नीचे स्थानों में भर दिया जाय, तो इस सपाट स्थलखण्ड की ऊँचाई सागरतल से केवल २,३०० फीट होगी। उसी प्रकार यदि समस्त जलमण्डल की तलहटी को समतल किया जाय तो उसकी गहराई सागरतल से १२,०००-१३,००० फीट होगी। अर्थात् सागर के जलतल से स्थलतल की औसत ऊँचाई केवल आधा मील के लगभग है और सागर की तली की गहराई लगभग ढाई मील है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि धरातल का द्वितीयांश उसके शेष तृतीयांश से तीन मील गहरे गर्त्त में है।

स्थलमण्डल का सर्वोच्च स्थान हिमालय पर्वत का गौरीशंकर या एवरेस्ट शिखर है। इसकी ऊँचाई सागरतल से २९,००२ फीट अर्थात् साढ़े पाँच मील के लगभग मानी जाती है। वस्तुतः पामीर और तिब्बत के पठार तथा हिमालय का सारा क्षेत्र स्थलमण्डल का सबसे ऊँचा भाग है। इसी से इसे 'दुनिया की छत' कहा करते हैं।

स्थलमंडल के प्रधान आकार धरती के धँसने अथवा ऊपर उठने से बनते रहते हैं, परन्तु भूपटल का कोई भाग ज्योंही समुद्र के ऊपर उठता है, त्योंही कई प्राकृतिक शक्तियाँ उसके रूप को बदलने में लग जाती हैं। इसी से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न अंगों का जो रूप आदि में था, वह आज नहीं है, और जो रूप आज है, वह भविष्य में बहुत-कुछ बदल जायगा। इस सम्बन्ध में विशेष हाल विस्तारपूर्वक 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत लिखा गया है। उसी स्तम्भ में यह भी बताया गया है कि पृथ्वी की रचना में आज भी क्या परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के होते हुए भी स्थल के प्रधान आकार बने ही रहते हैं। यह सम्भव है कि जहाँ आज पर्वत-श्रेणियाँ हैं, वहाँ कल को मैदान हो जायँ और जहाँ आज मरुस्थल है, वहाँ हरियाली दिखाई देने लगे, परन्तु स्थल के मूल आकार बने ही रहेंगे—एक स्थान पर नहीं तो दूसरे स्थान पर ही सही।

मैदान, पठार, पर्वत और घाटियाँ

धरातल पर पाए जानेवाले स्थल के ये प्रधान आकार, जो नष्ट नहीं होते, चाहे उनका स्थान परिवर्तित हो जाय, मैदान, पठार, पर्वत तथा उनके बीच पाई जानेवाली घाटियाँ हैं। सभी स्थलखण्ड इन चार प्रकार के आकारों से बने हैं। मैदान स्थल के निचले सपाट भाग हैं और पठार तथा पर्वत उठे हुए भाग। घाटियाँ पर्वत-श्रेणियों या पठारों के अन्तर्गत अकस्मात् नीचे हो जानेवाले भाग हैं और ये बहुधा पर्वत-खण्डों की दो समानान्तर श्रेणियों के बीच में पाई जाती हैं। मैदानों, पठारों तथा पर्वतों की ऊँचाई-नीचाई की कोई निश्चित माप नहीं है। सागरतल के समान ऊँचाईवाले प्रदेश मैदान भी हो सकते हैं और पठार या पर्वत भी। वास्तव में इन आकारों की विभिन्नता उनकी बनावट या रचना में है, ऊँचाई के कारण नहीं।

कुछ मैदानों की ऊँचाई सागरतल से कुछ ही फीट ऊपर है और बहुत-से मैदानों की ऊँचाई सहस्रों फीट भी है। अधिक ऊँचाई पर जो मैदान हैं, वे बहुधा सागरतट से दूर हटे हुए स्थल भाग में हैं। यह सम्भव है कि मैदानों की ऊँचाई पठारों और पर्वतों से भी अधिक हो, परन्तु ऐसे मैदान भी अपने निकटतम पठारों और पर्वत-श्रेणियों से नीचे ही होंगे। इसका कारण यह है कि पर्वतों और पठारों के नष्टभ्रष्ट होकर घिसे हुए अंशों का ही नाम लौकिक भाषा में मैदान है।

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में बताया गया है कि जलधाराओं के द्वारा मैदान कैसे बनते हैं। सागर के द्वारा भी मैदानों की रचना होती है। ऐसे मैदान सागर-तट के निकट के स्थलखण्डों में पाये जाते हैं। सागर-तटीय मैदानों की रचना दो प्रकार से होती है। या

तो वे उस मिट्टी, बालू और काँप के निरन्तर जमते जाने से बन गए हैं, जिसको नदियों ने हजारों वर्षों से बहा-बहाकर छिछले सागर (या महाद्वीपीय ढाल) पर इकट्ठा किया है; या वे महाद्वीपीय ढाल पर से सागर के जल के हट जाने से बन गए हैं।

अन्तर्स्थलीय मैदान जल, वायु आदि की क्रिया से नष्ट हुए पर्वतों और पठारों के कणों के समतल रूप से बिखर जाने से बने हैं। मैदान स्थल के अधिकाश भाग में पाये जाते हैं और ये स्थल के महत्त्वपूर्ण आकार हैं। पृथ्वी की अधिकांश जनता मैदानों में ही रहती है। वास्तव में मैदान ही अधिकतर मनुष्य की क्रीड़ा भूमि रहे हैं। इसका कारण यह है कि मैदानों में आवागमन सफलतापूर्वक होता है, खेती आदि में भी रुकावट नहीं पड़ती, तथा प्राकृतिक कठिनाइयाँ वहाँ कम होती हैं। नदियों को भी मैदानों में बहने में सरलता होती है और इसीलिए जल की यहाँ कमी नहीं होती। इसी से संसार भर की घनी आबादी उपजाऊ मैदानों में ही पाई जाती है।

अब हम यह देखेंगे कि हमारे प्रधान स्थलखण्डों में कितना और कौन-सा भाग मैदान है और कौन-सा पठार है तथा कितने भाग को पर्वत घेरे हुए हैं। हम अपना अध्ययन पुरानी दुनिया के स्थल-आकारों से आरम्भ करेंगे और सर्वप्रथम धरातल के सर्वप्रधान महाखण्ड यूरेशिया अर्थात् एशिया और योरप की जाँच करेंगे।

एशिया की पर्वतश्रेणियाँ

यूरेशिया की ऊँची भूमि का विस्तार योरप के दक्षिणी-पश्चिमी छोर से अटलांटिक महासागर के तट से आरम्भ होकर एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर पर पैसिफिक महासागर के तट पर समाप्त होता है। इस ऊँची भूमि की पट्टी यूरेशिया के मध्य भाग से कुछ दक्षिण की ओर फैली है। यूरेशिया के जितने भी प्रायद्वीप दक्षिण की ओर हैं, उन सभी में इस ऊँची भूमि की शाखाएँ चली गई हैं।

सिकुड़े हुए पर्वतों की एक लम्बी-चौड़ी श्रेणी इस महाद्वीप की बनावट की विशेषता है। इस पर्वतश्रेणी का केन्द्र पामीर का पठार है। परन्तु इस ऊँचे पर्वतीय प्रदेश का अधिकांश भाग भारत और बर्मा के उत्तर में फैला है। यदि हम हिन्दूकुश के पश्चिमी छोर और हिमालय पर्वत के एकदम पूर्वी छोर को मिलाती हुई एक रेखा खीचें और इस रेखा के दोनों छोरों को एशिया के उत्तरी-पूर्वी किनारे के अन्तिम सिरे से मिला दें, तो जो विशाल त्रिभुज बनेगा, उसी के भीतर एशिया का ऊँचा प्रदेश—पर्वत और पठार भाग—फैला है। इस त्रिभुज की भुजाओं से ढालू धरातल आरम्भ होकर नदियों के मैदान अथवा सागरतटीय मैदानों में समाप्त होता है।

इस क्षेत्र का सर्वोच्च प्रदेश भारत के उत्तर में हिमालय की गगनचुम्बी श्रेणियों के अन्तर्गत है। पामीर के पठार से पर्वतों की श्रेणियाँ पश्चिम की ओर हिन्दूकुश, एलबुर्ज और काकेशश इत्यादि के रूप में फैलती हुई योरप की पर्वत-श्रेणियों से जा मिलती हैं। पूर्व में, एक ओर तो ये श्रेणियाँ सर्वोच्च पर्वत हिमालय को उठाती हुई ऑस्ट्रेलिया की ओर निकल जाती हैं और दूसरी ओर ये क्यूनलून, किंघन और स्टैनोवोई पर्वतों से होती हुई उत्तरी अमेरिका की पर्वतश्रृंखला से जा मिलती हैं। इस प्रकार एशिया के पर्वतों का सम्बन्ध संसार की अन्य सभी पर्वतश्रेणियों से है।

एशिया की पर्वतश्रेणियों की एक विशेषता यह है कि इनसे घिरा हुआ सभी स्थल ऊँचा है, नीचा नहीं। एशिया के मानचित्र को देखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। पर्वत-प्रदेश समस्त एशिया के लगभग आधे भाग को घेरे हुए है, जो इस विशाल स्थलखण्ड में एक महाविशाल चट्टान के रूप में उभरा हुआ है। इस उभरे हुए प्रदेश के धरातल पर (इस धरातल की ऊँचाई पृथ्वी के बहुत-से पर्वतों से भी ऊँची है, विशेषकर योरप के) पर्वतों की अनेक ऊँची चोटियाँ हैं, जो सदैव हिमाच्छादित रहती हैं। इन हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियों के अन्तर्गत अनेकों घाटियाँ (जिनका धरातल योरप के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से भी ऊँचा है) तथा अगणित ऊँचे-ऊँचे पठार हैं।

हिमालय और क्यूनलून पर्वत-श्रेणियों के बीच में तिब्बत का विस्तृत पठार है, जो सागरतल से तीन मील की ऊँचाई पर है। इतनी ऊँचाई को भारत के प्रायद्वीप के अन्य ऊँचे-से-ऊँचे पर्वत भी नहीं पहुँचते। क्यूनलून के पार फिर पठार-प्रदेश है, जो तिब्बत की अपेक्षा बहुत नीचा है। इस पठार को 'तारिम बेसिन' कहते हैं, क्योंकि इस पर तारिम नाम की नदी बहती हुई लावनार झील में गिरती है। इस पठार का विस्तार इस झील के बहुत आगे पूर्व में किंघन पर्वत-श्रेणियों तक चला गया है। यह विस्तार मंगोलिया का पठार है, जिसका एक भाग प्रसिद्ध गोबी का रेगिस्तान है, जहाँ कभी भूलकर भी वर्षा नहीं होती। तिब्बत और हिमालय के पूर्वी छोर पर की पर्वत-श्रेणियाँ घूमती हुई एक दूसरे के समानान्तर इन्डोचाइना के प्रायद्वीप में घुस गई हैं।

यदि हम कैस्पियन सागर के दक्षिणी छोर से एक रेखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर तक फैलाते हुए खींचें तो यह रेखा

एशिया के ऊँचे प्रदेश की उत्तरी सीमा पर स्थित होगी। वैसे पश्चिमी प्रदेश में भी दूर तक ऊँची भूमि का विस्तार है। यह क्षेत्र उत्तर में काले सागर और कैस्पियन सागर से लेकर दक्षिण में अरब सागर तक फैला है। यद्यपि यह स्थलखण्ड कहने को उच्च प्रदेश कहलाता है, तथापि इसकी ऊँचाई न तिब्बत के सदृश है और न पामीर के पठार के समान ही है, जिसे 'संसार की छत' कहते हैं। इस उच्च प्रदेश के तीन अलग-अलग खण्ड हो गए हैं। एक 'ईरान का पठार' कहलाता है। यह अरब सागर के उत्तर में और कैस्पियन सागर के दक्षिण के प्रदेश में फैला है। पूर्व में सुलेमान पर्वत की श्रेणियाँ इसको सिन्धु की घाटी से पृथक् करती हैं और उत्तर में इसके सिरे पर हिन्दूकुश और एलबुर्ज श्रेणियाँ हैं। दूसरा 'एशिया माइनर का पठार' है, जो एशिया के एकदम पश्चिमी भाग में है। इसका विस्तार काले सागर और भूमध्यसागर के बीच में है। तीसरा पश्चिमी पठार 'अरब का पठार' है, जो लाल सागर के पूर्व में फैला है। यह एकदम सूखा और उजाड़ है।

योरप के उच्च प्रदेश

योरप की पर्वत-श्रेणियों की स्थिति एशिया के ही समान है। जिस प्रकार एशिया का दक्षिणी प्रदेश अधिकांश पहाड़ी है, उसी प्रकार योरप का भी है। जिस प्रकार एशिया का सर्वोच्च पर्वत-खण्ड हिमालय है, उसी प्रकार योरप का आल्प्स पर्वत है। आल्प्स पर्वत पुटीकृत श्रेणियों के समानान्तर विस्तार से बना है। इन श्रेणियों के बीच में गहरी और ढालू घाटियाँ हैं। आल्प्स पर्वत-श्रेणियों की ऊँचाई योरप भर के पर्वतों से अधिक है। इन श्रेणियों का सैकड़ों मील लम्बा भाग हिमाच्छादित है और इन हिमाच्छादित श्रेणियों के बीच-बीच में स्वच्छ जल की झीलें भरी हैं, जिनमें से योरप की बहुत-सी प्रमुख नदियों का जन्म होता है।

दुनिया के सर्वोच्च शिखर 'एवरेस्ट' या गौरीशंकर की झाँकी

इसकी ऊँचाई २९,००२ फीट है। इस चोटी पर चढ़ने के लिए अनेक साहसी दलों ने वर्षों तक कठिन प्रयास किया। अंत में कर्नल हंट के नेतृत्व में २९ मई, १९५३, के दिन तेनसिंग और हिलारी ने उस पर जा पहुँचने में सफलता प्राप्त की।

आल्प्स पर्वत-श्रेणियों से कई शाखाएँ निकलकर इधर-उधर फैल जाती हैं। पूर्व की ओर धनुषाकार फैली कारपैथियन पर्वत-श्रेणियाँ हैं। दक्षिणी योरप के तीनों प्रायद्वीप भी पहाड़ी प्रदेश के अंग हैं। पश्चिम में स्पेन और पुर्तगाल में 'आइबेरियन पठार' फैला है, जो अटलाण्टिक महासागर के तट को छूता है। इस चौकोर पठार में कहीं-कहीं ऊँची-ऊँची पर्वतमालाएँ भी हैं, जिनमें पिरेनीज की श्रेणियाँ प्रमुख हैं। ये श्रेणियाँ इस पठार-प्रदेश को योरप के प्रधान खण्ड से अलग करती प्रतीत होती हैं।

आल्प्स से एक अन्य शाखा दक्षिण की ओर पैर के आकारवाले इटली के प्रायद्वीप की हड्डी के समान बढ़ी हुई है। सिसिली का पहाड़ी टापू इसके अँगूठे के समान स्थित है। पूर्व में आल्प्स की श्रेणियाँ बाल्कन प्रायद्वीप के पठार को लाँघती हुई भूमध्यसागर तक पहुँच जाती हैं, जहाँ इनका अन्त छोटे-छोटे पहाड़ी टापुओं की शृंखला में होता है। योरप के दक्षिणी भाग के प्रायद्वीप सभी उच्च प्रदेशीय हैं।

अफ्रीका का पठार

अफ्रीका महाद्वीप की बनावट यूरेशिया से सर्वथा भिन्न है। इस विशाल स्थलखण्ड में बहुत-सी छोटी पर्वत-श्रेणियाँ

हैं। और सब महाद्वीपों में लम्बे-चौड़े नीचे मैदान पाये जाते हैं, परन्तु अफ्रीका नीचे मैदानों से रहित है। यह सारा-का-सारा भूखण्ड दक्षिण भारत के पठार से भी ऊँचा है। वास्तव में, सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप एक विस्तृत पठार है, जिसकी सीमा और महाद्वीप की सीमा एक ही हैं। केवल कहीं-कहीं समुद्रतटीय प्रदेश ही नीची भूमि के उदाहरण हैं। परन्तु इनकी चौड़ाई बहुत कम है और इनके ऊपर एकाएक ही पठार की ऊँचाई आरम्भ हो जाती है। यहाँ की नदियाँ भी, यद्यपि उनमें से कई संसार की बहुत बड़ी नदियों में से हैं, अपनी घाटियों में नीचे मैदान नहीं बना पातीं। केवल नील नदी के डेल्टे की भूमि ही नीची है।

इस विस्तीर्ण पठार की ऊँचाई सभी जगह एक-सी नहीं है। पूर्व और दक्षिण की ओर अन्य भागों की अपेक्षा ऊँचाई अधिक है। इस ऊँचे भाग में चट्टानों के भ्रष्ट हो जाने और धँस जाने के कारण एक बहुत लम्बी और गहरी घाटी बन गई है, जिसमें अफ्रीका की प्रमुख झीलें पाई जाती हैं। इन झीलों में से रूडाल्फ झील प्रसिद्ध है। अन्य झीलें एलबर्ट, एडवर्ड, टैंगानिका और नियासा हैं।

यदि हम लाल सागर के मध्य से एक रेखा नाइगर नदी के उद्गम-स्थान तक खींचें, तो इस रेखा के उत्तर का प्रदेश नीचा पठार और दक्षिण का प्रदेश, कांगों की घाटी को छोड़कर, ऊँचा पठार कहा जा सकता है। यह ऊँचा पठार-प्रदेश सपाट नहीं है, वरन् इधर-उधर कहीं बहुत ऊँचा भी हो जाता है। इसी प्रकार यदि एक रेखा लाल सागर के मध्य से अफ्रीका के दक्षिणी छोर तक खींची जाय, तो यह ऊँची भूमि की द्योतक मानी जा सकती है। यह पर्वत-श्रेणी हिमालय की भाँति बहुत विस्तीर्ण नहीं है, वरन् आसपास के पठार से अधिक ऊँची हो गई है और इसको पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग कहा जा सकता है। अबीसीनिया के पहाड़ इन्हीं श्रेणियों के अंग माने जा सकते हैं। अबीसीनिया के ये पहाड़ पुराने ज्वालामुखी पहाड़ हैं और लावा से ढके हुए हैं।

इस उच्च प्रदेश के अन्य छोर पूर्वीय और दक्षिणी तट तक चले गए हैं। यहाँ पर उनको ड्रेकनवर्ग के नाम से पुकारा जाता है। मध्य में, विक्टोरिया झील के आसपास, इस उच्च प्रदेश की ऊँचाई सबसे अधिक हो गई है। यहीं पर अफ्रीका के सर्वोच्च शिखर केनया, किलिमाजारो और रूएनजोरी पाए जाते हैं। यद्यपि केनया पहाड़ भूमध्यरेखा पर है, तथापि उसकी चोटी पर सदा वर्फ ही जमी रहती है।

हमने ऊपर जिस पहली रेखा की कल्पना की थी, उसके उत्तर का प्रदेश यद्यपि पठार ही है, तथापि वह नीचा है। इसमें केवल एक भाग ऊँचा है, जो दक्षिण-पूर्व से उत्तर की दिशा में फैला है। इसको तिबस्ती का पठार कहते हैं। दूसरा अंग वह है, जो गिनी की खाड़ी के उत्तरी तट पर फैला है। इसी ऊँचाई के कारण नाइगर नदी को बड़ा भारी चक्कर लगाना पड़ता है। उत्तर-पश्चिम के कोने में एटलस पहाड़ है, जो स्पेन के सामने पड़ता है। भारत के पश्चिमी घाट से इस पहाड़ की ऊँचाई तिगुनी है। यह भी वर्फ से ढका रहता है। एटलस पहाड़ की दो श्रेणियाँ हैं और उनके बीच में पठार है।

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के उच्च प्रदेश

यह महाद्वीप भी अफ्रीका की भाँति एक पठारखण्ड है। इसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पूर्वीय भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है और उत्तर से दक्षिण की ओर एक कोने से दूसरे कोने तक पहाड़ के रूप में फैला हुआ है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इस पहाड़ के भिन्न-भिन्न नाम हैं। पठार का ढाल अधिकांश भागों में स्थल की ओर ही है। पूर्वीय पहाड़ों में पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है, जिसके दक्षिणी भाग में नदियाँ बहती हैं।

न्यूजीलैण्ड के दोनों द्वीप पहाड़ी हैं। पश्चिमी भाग अधिकांश पर्वतीय ही है, परन्तु पूर्वी भाग नीचा मैदान है। यहाँ की पर्वत-श्रेणी दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व तक टापुओं की मध्यवर्त्ती रेखा के समान फैली है। दक्षिणी द्वीप में ये पहाड़ ऊँचे हैं और पश्चिमी तट को छूते हैं। इनको दक्षिणी आल्प्स के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि योरप के आल्प्स पर्वतमाला की भाँति इस पहाड़ के भी उच्च शिखर हिमाच्छादित रहते हैं। घाटियों में हिमानियाँ बहती हैं। उत्तरी टापू में तीन-चार ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत भी हैं। इनकी ऊँचाई हमारे पश्चिमी घाट से अधिक है। इनके आस-पास का प्रदेश लावा और राख से आच्छादित है। यहाँ की पहाड़ियों की दरारों से गरम जल के फौव्वारे निकलते रहते हैं।

उत्तरी अमेरिका के पर्वत और पठार

उत्तरी अमेरिका का पश्चिमी भाग ऊँचा और पहाड़ी है। पश्चिमी भाग के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हैं। इन श्रेणियों का सिलसिला एशिया के पामीर पठार से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि पर्वतश्रेणियों की जो शाखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर की ओर आई

है, वही उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में दौड़ती चली गई प्रतीत होती है। बेयरिंग का जलडमरूमध्य इस पर्वतश्रेणी में एक विशाल दर्रे की भाँति है, जिसमें सागर का जल भर गया है। इस महाद्वीप के उत्तर में स्थित ग्रीनलैंड का विशाल टापू एकदम पहाड़ी है, जिस पर बर्फ जमी रहती है।

पश्चिमी पर्वत-श्रेणियों की बनावट उत्तर और दक्षिण के छोरों पर पतली और बीच में अधिक फैली हुई है। सारा का सारा पश्चिमी भाग इन्हीं पर्वत-श्रेणियों में भरा हुआ है। पश्चिम में इनकी पहुँच एकदम महासागर के तट तक हो गई है। वहाँ नीची या मैदान कहाने योग्य बहुत कम चौड़ी भूमि बची है।

इस पश्चिमी पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग रॉकी पर्वत कहलाता है। यह यहाँ की सबसे ऊँची पर्वत-श्रेणी है और इस लम्बे पठार की रीढ़ के समान ठीक उसके मध्य में उत्तर से दक्षिण तक यह फैली है। रॉकी पर्वत के पश्चिम में और कई पर्वत-श्रेणियाँ हैं। उत्तर में इनका नाम कास्केड है और दक्षिण में इनको सियरानिवादा कहते हैं। दोनों का संयुक्त नाम पैसिफिक पर्वत-श्रेणी है, क्योंकि यह एकदम पैसिफिक महासागर के तट को छूती है और कहीं-कहीं सागर के भीतर तक चली गई है। उत्तर की ओर अलास्का में रॉकी पर्वत-श्रेणी और पैसिफिक पर्वत-माला दोनों मिल-सी गई हैं। यहीं पर इनकी ऊँचाई भी अधिक हो जाती है। उत्तरी अमेरिका के सर्वोच्च पर्वत-शिखर माउंट लोगान और मैककिन्ले इसी भाग में हैं। इन दोनों पर्वत-श्रेणियों के बीच में ऊँचे-ऊँचे पठार हैं, जिनमें कहीं-कहीं पर लावा भी फैला हुआ है, क्योंकि इन पहाड़ों में थोड़े दिनों पहले तक बड़े-बड़े ज्वालामुखी अग्निवर्षा करते रहते थे। आजकल ये पूर्ण शान्त हैं। कहीं-कहीं पर इनके पठारों में गहरे खड्ड भी बन गए हैं, जिनमें से बड़ी-बड़ी जल-धाराएँ बह निकली हैं। इनमें से कोलम्बिया, फ्रेजर और कोलरैडो नामक नदियों के खड्ड मुख्य हैं।

इन पठारों में विशेषकर दक्षिण की ओर कई स्थान ऐसे हैं, जहाँ से बाहर को पानी का निकास नहीं है। ये स्थान प्रायः सूखे अर्द्ध-मरुप्रान्त जैसे ही हैं।

पश्चिमी पठार का दक्षिणी भाग 'मेक्सिको का उच्च पठार' कहलाता है। इस पठार के दोनों ओर उसी प्रकार पश्चिमी और पूर्वी सियरामादरी पहाड़ फैले हैं, जैसे हमारे दक्षिण के पठार के दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं। एकदम दक्षिणी छोर भी उत्तरी भाग की भाँति ऊँचा हो गया है। 'मेक्सिको के पठार' के अन्त में ओरिजावा और पोपोकेटीपेल नामक ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत हैं।

उत्तरी अमेरिका की बनावट में उसके उत्तर में स्थित पुरानी चट्टानों का चबूतरा भी महत्त्व का है। इस प्लेटफ़ार्म को 'कनाडा का ढाल' कहते हैं। यही अमेरिका का सबसे पुराना भाग है और इस महाद्वीप का शेष भाग

(दाहिनी ओर)
संसार के कतिपय प्रमुख पर्वत-शिखरों का एक तुलनात्मक मानचित्र
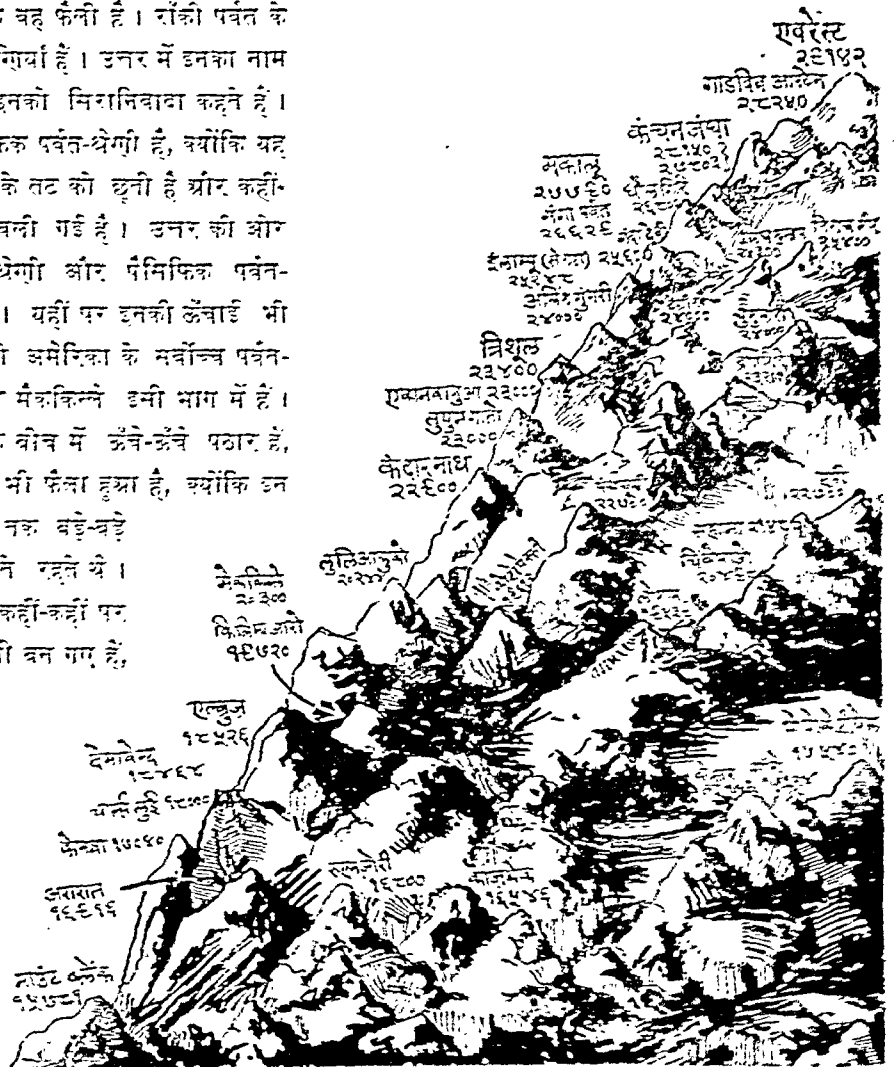
इसी 'ढाल' के सहारे पर रचित है। पूर्व और दक्षिण की ओर तो इसका अधिकांश भाग नई मिट्टी से ढक गया है, किन्तु उत्तर-पूर्व की ओर, जहाँ इसकी ऊँचाई कुछ अधिक है, यह पुरानी ही चट्टानों का बना है। यह भाग 'लेब्राडर का पठार' कहलाता है। सेन्ट लारेन्स नदी से दक्षिण की ओर नीची पहाड़ियों का क्रम आरम्भ हो जाता है। ये पहाड़ियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती हुई अपालेशियन पहाड़ियाँ कहलाने लगती हैं। इस पूर्वीय पहाड़ी भाग का अन्त दक्षिण-पश्चिम में स्थित ओजार्क पठार में होता है।

मध्य अमेरिका का प्रदेश लगभग सबका सब पहाड़ी है। इसमें ज्वालामुखी पर्वतों की प्रधानता है। इस प्रदेश के सबसे ऊँचे पहाड़ *स्थलडमरूमध्य* के चौड़े *भाग* में हैं। पश्चिम में पैसिफिक महासागर के तट पर ऊँचे ज्वालामुखी पर्वतों की श्रेणियाँ हैं। इनकी राख से घाटियाँ भरी पड़ी हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह उन पहाड़ों की चोटियों का बना है, जो *जल* में घुस गए प्रतीत होते हैं। यहाँ भी अनेक ज्वालामुखी पर्वत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ सजीव हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पहाड़ी भाग

दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी भाग एण्डीज पर्वतमाला से आच्छादित है। ये पहाड़ पश्चिमी भाग के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए हैं और रॉकी पर्वतों की भाँति नवीन और पुटीकृत हैं। इनमें भी ज्वालामुखी पर्वतों की अधिकता है। दक्षिण की अपेक्षा ये उत्तर में अधिक चौड़े हैं। उत्तरी भाग में बड़े-बड़े सूखे पठार भी हैं। एण्डीज पर्वतमाला का मध्य भाग सबसे अधिक चौड़ा और सबसे ऊँची चोटियोंवाला है। इस भाग की ऊँचाई हिमालय के सर्वोच्च शिखरों को छोड़कर सबसे अधिक है। भूमध्यरेखा के समीप एण्डीज में दो बड़े ज्वालामुखी पर्वत हैं, जिनके नाम कोटोपेक्सी और चिम्बोराजो हैं। कोटोपेक्सी अभी तक प्रज्वलित है, परन्तु चिम्बोराजो सुषुप्त हो गया है और इसके मुख पर अधिक ऊँचाई के कारण बर्फ जम गई है। दक्षिण में एकानकागुआ नामक सुषुप्त ज्वालामुखी है। यही नई दुनिया की सर्वोच्च चोटी है। और अधिक दक्षिण में पर्वतों की ऊँचाई कम हो गई है। वहाँ की छोटी-छोटी पहाड़ियों के खण्ड सागर में टापू की भाँति चमकते हैं। एण्डीज पर सदैव बर्फ जमी *रहती है और भूमध्यरेखा के स्थान पर भी हिमानी और बर्फ* की कमी नहीं है। बीच-बीच में ऊँचे पठार-प्रदेश भी हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पूर्वीय भाग पश्चिमी भाग की भाँति सब-का-सब तो पहाड़ी नहीं है, परन्तु उत्तर का प्रदेश पहाड़ों से ढका है। यह प्रदेश 'ब्रेजील का पठार' कहलाता है। यह पठार बहुत ही पुरानी चट्टानों का बना है। ब्रेजील के पहाड़ बहुत ऊँचे तो नहीं हैं, किन्तु समुद्र की ओर से लगभग दीवाल की भाँति सीधे खड़े हैं, जिससे उस ओर बहुत ऊँचे दिखाई पड़ते हैं। पूर्वीय भाग के पहाड़ों को अमेजन की खाड़ी दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरीय भाग गाईना का उच्च प्रदेश है और दक्षिण का भाग ब्रेजील का उच्च प्रदेश। ये पर्वतीय देश वास्तव में लंबे-चौड़े पठार हैं, जो घने वनों से ढके हैं।

मैदान और उनमें बहनेवाली नदियाँ

जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, धरातल के स्थलभागों में मैदानों और उन्हें सींचनेवाली जलधाराओं अर्थात् नदियों का महत्व सबसे अधिक है, कारण पृथ्वी के इन्हीं भागों में जीवन की झांकी सबसे अधिक निखरी और पनपी है। आइए, प्रस्तुत प्रकरण में माता वसुन्धरा के इसी महत्त्वपूर्ण अंचल और उसमें प्रवाहित धाराओं का निरीक्षण करें।

हम बता चुके हैं कि समस्त स्थलमण्डल समधरातल वाला भूभाग नहीं है। पिछले प्रकरण में हमने स्थल के उन भागों का सिंहावलोकन किया था, जो साधारणतः समुद्र-तल से बहुत ऊँचे और असमतल हैं और जिनको पर्वत और पठार प्रदेशों के नाम से पुकारा जाता है। इन प्रदेशों की भूमि अधिकांश में ढालू होती है और कहीं-कहीं इनकी चोटियाँ बहुत ही ऊँची हो गई हैं। इन प्रदेशों की भूमि पथरीली और ढालू होने के कारण जितनी वर्षा वहाँ होती है, उसका अधिकांश भाग नीची भूमि की ओर बह जाता है। इसी जल के बहकर आने के मार्ग को जलधारा, सरिता या नदी कहते हैं। ये जलधाराएँ और सरिताएँ जब ऊँचे प्रदेशों पर होनेवाली वर्षा के जल को नीचे भूभाग की ओर लेकर दौड़ती हैं, तब इनमें बड़ा वेग होता है और उस वेग के बल से ही ये अपने मार्ग को अधिक गहरा और सीधा बनाती हुई आगे बढ़ती हैं। इसी कारण इनके मार्ग का भूभाग नीरस भूमि में परिणत होता जाता है। प्रत्येक नदी

अपनी 'उपत्यका' को, अथवा उस भूमि को जिसका कि जल बहकर उसमें आता है, सदैव चौरस भूमि अर्थात् मैदान में परिणत करने के प्रयत्न में रहती है।

धरातल के स्थल-भाग की वह भूमि, जो पर्वत और पठारों से नहीं ढकी है एवं नीची है, मैदान कहलाती है। आइए, देखें, स्थलमण्डल के मैदानों का कहाँपर कितना विस्तार है और उनमें कौन-सी नदियाँ अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं।

यूरेशिया का विशाल मैदान

स्थल के विशाल खण्ड यूरेशिया के उच्चस्थलीय प्रदेश के विषय में हम जान चुके हैं कि इसका विस्तार इस भूखण्ड के दक्षिणी भाग में है। अतः यूरेशिया का उत्तरी भाग अवश्य ही निचला मैदान होना चाहिए। वास्तव में स्कैन्डिनेविया और कमचटका के प्रायद्वीपों को छोड़कर योरप का तथा एशिया का उत्तरी भाग एक विस्तृत ढालू मैदान है। इस मैदान का ढाल समुद्र की ओर पश्चिम या उत्तर की ओर है। पश्चिमी योरप की पिरेनीज पर्वत-श्रेणियों के पास से आरम्भ होकर यह मैदान पूर्व की ओर फैलता चला गया है। उत्तरी सागर के तट-प्रदेश की ओर इस मैदान का ढाल कम चौड़ा है, परन्तु पूर्व में अधिक चौड़ा हो गया है और उत्तर में बाल्टिक और श्वेत सागर से लेकर दक्षिण में काले और कैस्पियन सागर तक वह फैला है। योरप का पूर्वीय अर्धभाग इसी विस्तृत मैदान का अंग है। यही मैदान यूराल पर्वत की नीची श्रेणियों को पार करता हुआ एशिया के उत्तरी भाग तक फैला है। पूर्व की ओर यह फिर संकीर्ण हो गया है। इस मैदान के पश्चिमी भाग का ढाल अटलाण्टिक महासागर की ओर है और इस भाग की सभी नदियाँ अपना जल अटलाण्टिक महासागर में ही बहाती हैं। कुछ उत्तरी सागर में मिलती हैं और कुछ बाल्टिक में। पूर्व में चलने पर इस मैदान का ढाल आर्कटिक महासागर की ओर और कुछ भाग का काले और कैस्पियन सागर की ओर हो जाता है।

यूरेशिया की नदियाँ

इस मैदान की प्रमुख नदियाँ गारोन, ल्वायर, सीन, राइन, एल्वा, विस्चुला और वोल्गा योरप के खण्ड में बहती हैं और ओबी, येनिसी तथा लीना एशिया महाद्वीप में। योरप में बहनेवाली पहली तीन नदियाँ फ्रांस में, दूसरी दो जर्मनी में, विस्चुला पोलैण्ड में और वोल्गा रूस में होकर बहती हैं। ये नदियाँ इन प्रदेशों के लिए व्यापारमार्ग का काम देती हैं, अतः उपयोगी हैं। इनमें बड़ी-बड़ी नौकायें और छोटे-छोटे स्टीमर चलते रहते हैं। इन नदियों की
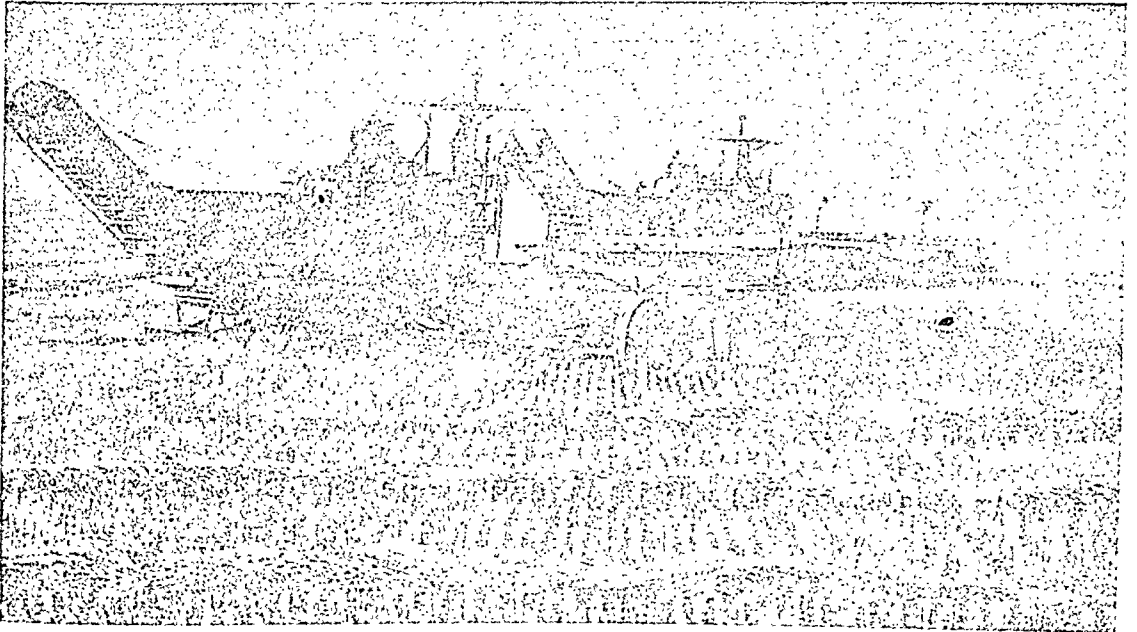
यूरेशिया के महान् उत्तरी मैदान की एक झाँकी

इस मैदान का अधिकतर अंश सोवियत रूस के क्षेत्र में है। आधुनिक कृषि-यंत्रों द्वारा किस प्रकार यह क्षेत्र एक महान् उपजाऊ अन्न-भांडार बना लिया गया है इसकी झाँकी प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित है।

उपत्यकाएँ बहुत उपजाऊ हैं। राइन योरप की सबसे बड़ी नदी न होते हुए भी सबसे अधिक महत्त्व की है। आल्प्स पर्वत-श्रेणियों से निकलकर यह उत्तरी सागर की ओर बहती है। इसकी आधी दूरी तक सागर से छोटे-छोटे स्टीमर इसमें चले आते हैं।

रूस के मैदान में बहनेवाली अनेकों नदियाँ आर्कटिक और श्वेत सागरों में गिरती हैं। इनमें से अधिकांश बर्फ से ढकी रहती हैं। इन नदियों का अधिक महत्त्व नहीं है। वोल्गा नदी अपनी अनेकों शाखाओं और उपनदियों से जल ग्रहण करती हुई, लम्बी दौड़ के बाद, कैस्पियन सागर में मिलती है। यह नदी व्यापारिक मार्ग की दृष्टि से बहुत उपयोग की है। काले सागर में तीन महत्वपूर्ण नदियाँ आकर अपना जल गिराती हैं। इनमें से डैन्यूब नदी सबसे अधिक लम्बी और उपयोगी है। दूसरी नदियाँ नाईपर और नाईस्टर भी बड़े काम की हैं। ये नदियाँ अधिकांश में चौरस मैदान में बहती हैं और इनमें स्टीमर चलने का सुभीता है। शीत ऋतु में इनमें बर्फ जम जाती है और तब इनके द्वारा आवागमन बन्द हो जाता है। डैन्यूब नदी काले सागर के पश्चिमी तट पर गिरती है। इसके द्वारा आल्प्स पर्वत से आनेवाली जलधाराओं का जल समुद्र में पहुँचता है। हंगरी के चौरस और उपजाऊ मैदान में यह इठलाती हुई बहती है। मध्य योरप का बहुत-कुछ आर्थिक जीवन डैन्यूब नदी के किनारे ही पर पाया जाता है। परन्तु इस नदी पर व्यापार अधिक नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस नदी में कई स्थानों पर पानी का बहाव इसके पहाड़ी भागों से निकलने के कारण बहुत ही तेज है। इसके अतिरिक्त शीत काल में यह नदी भी अधिकतर जम जाती है, जिससे उन दिनों इसमें नावें नहीं चल सकतीं।

पूर्वीय योरप एक बहुत ही बड़ा स्थल-भाग है और वह प्रायः एक बड़ा मैदान है, जिसकी ऊँचाई समुद्र-तट से लगभग ६०० फीट के ऊपर है, अर्थात् हमारे देश के सिंधु-गंगा के मैदान की-सी ऊँचाई यहाँ मिलती है। इसकी बनावट बहुत सादी और लगभग एक ही सी है। इस मैदान के भीतर केवल वाल्डाई की पहाड़ी ही एक ऊँची भूमि है। काकेशश और यूराल पर्वत इस मैदान की सीमा बनाते हैं। इसका दक्षिणी भाग यूक्रेन प्रान्त है, जो अपनी काली मिट्टी के लिए प्रसिद्ध है। उसका काला रंग उसमें मिली हुई बहुत-सी सड़ी हुई वनस्पतियों के कारण हो गया है। पूर्वीय योरप के उत्तर पश्चिमी भाग में झीलों की संख्या अधिक है।

एशिया खण्ड के उत्तरी भाग में साइबेरिया का मैदान है। इस मैदान की ओबी, येनिसी और लीना नदियाँ एशिया के ऊँचे प्रदेश से निकलकर आर्कटिक महासागर में मिलती हैं। साइबेरिया का मैदान येनिसी नदी तक तो समतल है, परन्तु उसके आगे ऐसी समतल भूमि केवल समुद्र के किनारे ही मिलती है। समुद्र से हटकर स्थल की ओर ये मैदान ऊँचे-नीचे हैं और इनमें पहाड़ियाँ अधिक हैं। पश्चिमी साइबेरिया का मुख्य जलमार्ग ओबी नदी है। येनिसी का मार्ग लगभग सीधा है। इसकी एक मुख्य सहायक नदी एशिया की सबसे बड़ी मीठे पानी की झील बैकाल से निकलकर इसमें मिलती है। ये तीनों नदियाँ बहुत लम्बी हैं और समतल मैदान में धीमे वेग से बहती हैं। इनकी सहायक नदियाँ एक दूसरे से दूर हटी हुई बहती हैं। इन नदियों और इनकी सहायक धाराओं के द्वारा नावें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी दिशाओं में चलाई जा सकती हैं। ग्रीष्म ऋतु में इनका उपयोग बहुत अधिक होता है। नावें और स्टीमर दोनों ही इनमें चलते हैं। परन्तु शीत ऋतु में इनमें बर्फ जम जाती है। दक्षिण में इनका उद्‌गम होने के कारण ग्रीष्म ऋतु आते ही वहाँ की बर्फ गल जाती है, परन्तु उत्तरी भाग में कड़ी बर्फ जमी रहती है। गली हुई बर्फ का पानी जब समुद्र की ओर बहता है तो कड़ी बर्फ उसे रोक देती है और किनारों की भूमि पर बाढ़ आ जाती है। यह भूमि कई सप्ताह तक जलमग्न रहने के कारण दलदल सरीखी हो जाती है। इस कारण इन नदियों का उतना उपयोग ही हो पाता है, जितना नकशे में इनकी स्थिति देखने से प्रतीत होता है।

साइबेरिया के मैदान के दक्षिण-पश्चिम की ओर अरल सागर के चारों ओर एक और मैदान है, जिसे तूरान का मैदान कहते हैं। यह मैदान अधिकतर सूखा है और स्टेप कहलाता है। यह मैदान कास्पियन सागर की ओर बढ़कर योरप के मैदान में मिल जाता है। साइबेरिया और तूरान के मैदानों के मध्य में किरगीज नामक एक छोटा-सा पठार है।

यूरेशिया का दक्षिणी भाग अधिकांश में ऊँचा और पहाड़ी होने के कारण यहाँ पर मैदान अधिक नहीं हैं। दक्षिणी खण्ड अधिकांश प्रायद्वीपों से बना है, जिसमें आइबेरिया, बालकन, अरब और दक्खिन के पठार हैं, या इटली और मलाया सरीखे पहाड़ी भाग हैं। पठारों और पहाड़ों के बीच-बीच में कहीं-कहीं मैदान भी हैं। यहाँ कुछ सँकरे समुद्रतटीय मैदान भी दिखाई देते हैं।

१. अमेजन, २. नील, ३. येनिसी, ४. यांगसीक्यांग, ५. आमूर, ६. लीना, ७. कांगो, ८. मेकांग, ९. नाइजर, १०. ह्वांगहो, ११. मिसीसिपी, १२. वोल्गा, १३. सेंट लारेन्स, १४. यूकॉन, १५. ओबी, १६. पराना, १७. कोलोरेडो, १८. सेंट फ्रांसिस्को, १९. डेन्यूब, २०. फरात, २१. सिंधु, २२. ब्रह्मपुत्र, २३. जंबेसी, २४. इरावदी, २५. पेरेम्बे, २६. गंगा, २७. सास्केचवान, २८. मरे, २९. ड्वीना, ३०. नाइपर, ३१. एल्ब, ३२. सर दरिया, ३४. आमू दरिया, ३५. दजला, ३७. आरेंज।

दक्षिणी योरप में रोन और पो नदी की घाटियाँ नीची भूमि हैं। रोन नदी आल्प्स पर्वत के पश्चिमी भाग से निकलकर संकीर्ण घाटी में बहती हुई दक्षिण की ओर जाकर भूमध्यसागर में मिल जाती है। जलयात्रा के मार्ग की दृष्टि से इस नदी का उपयोग तनिक भी नहीं होता, परन्तु इसकी घाटी की नीची भूमि रेल और सड़कों के लिए अत्यन्त ही महत्व की है। भूमध्यसागर से फ्रांस की सीमा के भीतर के स्थानों में पहुँचने के लिए इस घाटी से होकर ही प्रधान मार्ग बना है। पो नदी आल्प्स पर्वत के दक्षिण के उपजाऊ मैदानों के बीच से होकर पूर्व की ओर चली जाती है और भूमध्यसागर में मिल जाती है।

एशिया की नदियाँ और मैदान

एशिया में मसोपटामिया या इराक की घाटी फारस की खाड़ी तक चली गई है। इस घाटी में दजला और फरात नदियाँ बहती हैं। जहाँ ये नदियाँ एक दूसरे के अति निकट आ जाती हैं, वह भाग अति उपजाऊ है। भारत में सिन्धु-गंगा का प्रसिद्ध मैदान है। मसोपटामिया और सिन्धु-गंगा के मैदान पहले कभी तो जमीन के बहुत अधिक नीचे भाग थे, किन्तु अब नदियों के द्वारा लाई गई पहाड़ों की मिट्टी से भर गए हैं। मसोपटामिया में इस भराव की प्रगति अभी तक जारी है और शातुल-अरब नदी के द्वारा लाई हुई मिट्टी ईरान की खाड़ी को प्रति दिन भरती जा रही है। इन्हीं मैदानों से लगे हुए दो बहुत ही प्राचीन पहाड़ी भाग अरब और दक्षिणी भारत के पठार हैं, जो किसी समय अफ्रीका के पठार से अवश्य जुड़े रहे होंगे।

यूरेशिया के पूर्वीय भाग अर्थात् पैसिफिक महासागर के तटवर्तीय भाग में भी यूरेशिया के दक्षिणी भाग की भाँति प्रायद्वीप अधिक हैं। इस तट की ओर बहकर आनेवाली नदियों का उद्गम ऊँची पहाड़ी भूमि में होता है। पैसिफिक महासागर में गिरनेवाली प्रमुख नदियाँ आमूर, ह्वांगहो, यांगसीक्यांग, सीक्यांग, मेकांग और मिनाम हैं। आमूर नदी यवलोन्वाय पहाड़ों से निकलकर उजाड़ पहाड़ी प्रान्त में बहती है। इसके मुहाने के पास की भूमि उपजाऊ मैदान है। आमूर नदी गंगा से लम्बाई में दुगुनी है, और जलमार्ग के लिए बहुत उपयोगी है। परन्तु उत्तरी अक्षांशों में बहने के कारण वर्ष के आधे दिनों में इसमें बर्फ जमी रहती है, इसलिए इसका महत्व घट जाता है।

ह्वांगहो या पीली नदी और यांगसीक्यांग चीन की प्रसिद्ध नदियाँ हैं और एशिया के पूर्वी तट में गिरनेवाली नदियों में सबसे अधिक महत्व और उपयोग की हैं। उत्तरी चीन का मैदान ह्वांगहो नदी की घाटी में फैला है और 'ह्वांगहो बेसिन' कहलाता है। मध्य चीन में यांगसीक्यांग का प्रभुत्व है और यह भाग 'यांगसीक्यांग बेसिन' के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिणीय चीन सीक्यांग नदी की उपत्यका का मैदान है।

उत्तरी चीन और मध्य चीन के बीच की सीमा तसिंगलिंग पहाड़ हैं। पूर्व की ओर ये पहाड़ बहुत नीचे होकर चीन के उत्तरीय मैदान में मिल गए हैं। यह उत्तरीय मैदान मध्य चीन तक बराबर चला गया है। उत्तरीय चीन का पश्चिमीय भाग पहाड़ी है, परन्तु इसका अधिकांश मार्ग प्रायः लोयस मिट्टी से ढका है और ढालू भूमि पर खेती प्रचुर मात्रा में होती है। पूर्व की ओर मैदान है, जो समुद्र तक चले गए हैं। इन मैदानों का सिलसिला समुद्र के निकट शान्टुंग प्रायद्वीप में टूट जाता है। यह प्रायद्वीप पहाड़ी है, जिसे पिचली की खाड़ी इसके उत्तर में स्थित लाउटुंग प्रायद्वीप से अलग करती है।

लोयस मिट्टी

उत्तरीय चीन की मुख्य भूमि विशेषतया लोयस मिट्टी की ही है। जहाँ यह मिट्टी गहरी है और इसे पानी काफी मिल जाता है, वहाँ इसके समान उपजाऊ मिट्टी दूसरी है ही नहीं। पश्चिम में इस मिट्टी की गहरी तह से छोटे-छोटे पहाड़ तक ढक गए हैं। पूर्व में ह्वांगहो नदी के कारण मैदान का अधिक भाग इस मिट्टी से ढक गया है और बहुत उपजाऊ बन गया है। यह मिट्टी बहुत ही महीन और हल्की होती है, इस कारण यह पश्चिमी भाग में चलनेवाली हवा तथा ह्वांगहो नदी के जल में हमेशा भरी रहती है। पश्चिमीय भाग में शांसी आदि प्रान्तों में यह मिट्टी हवा के साथ इतनी अधिक मिली रहती है कि इसके कारण अधिक दूर तक दिखाई ही नहीं पड़ता। ह्वांगहो नदी में इसी मिट्टी के कारण बहुधा बाढ़ आ जाती है। यह नदी की तह में धीरे-धीरे जमती जाती है और थोड़े ही दिनों में नदी की तह को ऊँचा उठाकर तथा किनारे तोड़कर उसके जल को दोनों ओर फैला देने का कारण होती है। इस बाढ़ को रोकने के लिए चीनी लोगों ने इस नदी के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे बाँध बनवा दिए हैं, जिसका फल यह हुआ है कि ह्वांगहो नदी की धारा अपनी घाटी से कई फीट की ऊँचाई पर बहने लगी है। लोयस मिट्टी समुद्र में पहुँचकर जल को पीला कर देती है। यही कारण है कि यहाँ का समुद्र पीला सागर कहलाता है।

मध्य चीन का मुख्य अंग यहाँ की यांगसीक्यांग नदी की घाटी है। चीन के इस भाग में जीवन का साधन यही नदी है और इसलिए यह भाग एक कोने से दूसरे कोने तक बहुत ही घना बसा हुआ है। यह नदी तिब्बत के पठार के अज्ञात स्थल से निकलकर पूर्व की ओर बहती है और चीन को लगभग दो सम भागों में विभाजित करती है। इस नदी का मध्य भाग एक चौड़ा मैदान है। इस भाग से समुद्र के तट तक नावों के द्वारा अच्छा मार्ग है। हांकाऊ से नीचे नदी चौड़ी हो जाती है और उसके डेल्टे का आरम्भ हो जाता है। यह डेल्टा संसार के बहुत उपजाऊ और उन्नत डेल्टों में से है।

दक्षिणी चीन में सीक्यांग नदी की घाटी महत्व की है। यह नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है। इस नदी की लम्बाई यांगसीक्यांग और ह्वांगहो नदियों के समान नहीं है और न यह उन नदियों के समाम उपजाऊ भूमि में ही बहती है।

मेकांग नदी तिब्बत के पठार के पूर्वीय भाग से निकलकर एशिया महाद्वीप के दक्षिणी-पूर्वीय कोने की ओर बहकर समुद्र में मिल जाती है। बर्मा की सालवीन नदी की भाँति इसमें नाव चलाना असम्भव-सा है। इसका कारण यह है कि इसकी धारा मार्ग में भँवर से पूर्ण रहती है। मिनाम नदी छोटी है। यह स्याम की खाड़ी में मिलती है। इसके डेल्टे की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है। चीन की यह विशेषता है कि यहाँ पर नदियों और नहरों से संसार भर में सबसे अधिक मार्ग का काम लिया जाता है।

जापान एक छोटा-सा सँकरा देश है। इसी के कारण न तो यहाँ नदियाँ अपने मैदान ही बना सकती हैं और
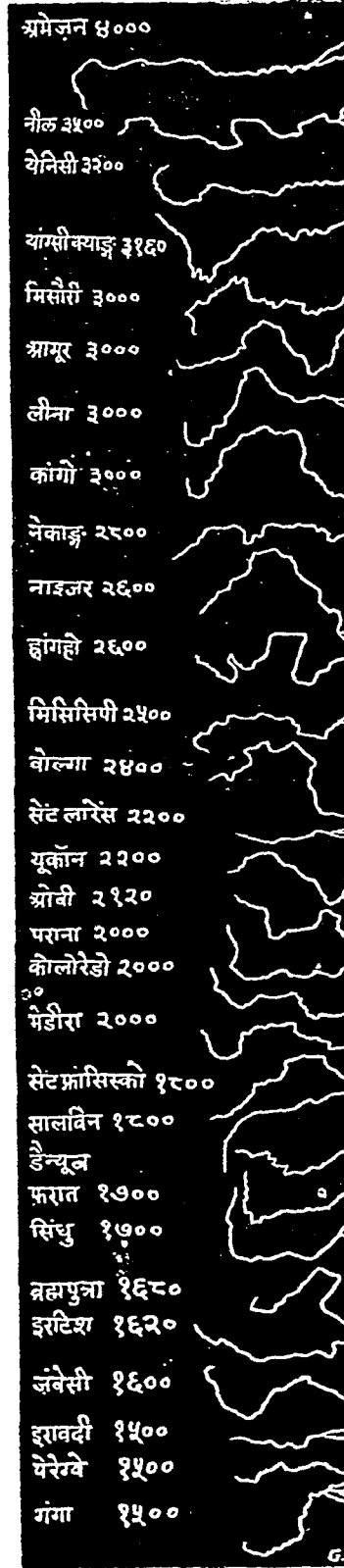
संसार की कुछ बड़ी नदियाँ

[illegible] मीलों में लंबाई दी गई है।

न समुद्र के तट पर ही चौड़े मैदान बन सके हैं। यहाँ पर समतल भूमि का बहुत अभाव है। दक्षिण-पूर्वीय भाग में बहुत-सी छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जो अपने साथ बहुत-सी मिट्टी लाकर समुद्र-तट पर डेल्टे बनाती हैं।

इण्डोचीन प्रदेश में बहनेवाली इरावदी और सालवीन नदियाँ मुख्य हैं। इस प्रदेश में भी मैदानों का अभाव है। लगभग सभी प्रांत पहाड़ी हैं। नदियों के डेल्टों की भूमि ही खेती के योग्य है। केवल इरावदी नदी में ही नावें ऊपर तक जा सकती हैं। शेष सब नदियाँ भँवरों के कारण काम में नहीं आ सकतीं।

अफ्रीका की नदियाँ

अफ्रीका महाद्वीप के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सारा-का-सारा भूखण्ड एक ऊँचा पठार है, जिसकी बनावट अपने दक्षिणी भारत के पठार से मिलती-जुलती है। इसमें नीची भूमि का लगभग अभाव ही है। यहाँ की नदियाँ भी अपनी घाटियों में नीचे मैदान नहीं बना पातीं। समुद्र-तट के मैदान भी बहुत ही पतले-पतले हैं, जिनके ऊपर अचानक ही पठार की ऊँचाई आरम्भ हो जाती है, जिससे उत्तरीय भाग को छोड़कर, जहाँ पर नील नदी के डेल्टे के कारण नीची भूमि अधिक है, कहीं भी कोई अच्छा बन्दरगाह नहीं पाया जाता।

नील नदी अफ्रीका की सबसे महत्वपूर्ण और उपयोगी नदी है। इस नदी की लम्बाई ३,५०० मील है। लम्बाई के अनुसार यह संसार की नदियों में दूसरा स्थान लेती है। विक्टोरिया झील से निकलकर यह नदी लगभग १,००० मील तक एक बड़े मैदान में से बहुत ही धीरे-धीरे बहती है, जिससे इसमें सिवार घास बहुत उगती है और

फलस्वरूप उसमें नावों के चलाने में भी कठिनाई पड़ती है। नदी के इस भाग में पानी भी अधिक नहीं रहता और कहीं-कहीं तो झीलें और दलदले बन जाती हैं।

खारतूम नामक स्थान से आगे नदी की धारा तेज हो जाती है। इस भाग में अबीसीनिया की ओर से आकर कई नदियाँ गरमी में बहुत-सा जल इसमें डालती हैं, जिसके कारण नील नदी में मई और अक्तूबर के महीनों के बीच में अधिक बाढ़ आ जाती है। ताना झील से आनेवाली मुख्य नदियाँ नीली नील और काली नील या अतवारा हैं।

नील नदी की ऊपरी घाटी का अधिकांश भाग सूदान में है। इस भाग में नीली नील और श्वेत नील के बीच का दोआबा, जिसे जजीरा कहते हैं, अधिक महत्वपूर्ण भाग है। कांगो नदी अफ्रीका की दूसरी प्रसिद्ध नदी है। इस नदी की घाटी भी उपयोगी है। इस नदी में नावें चलाने की भी सुविधा है।

दक्षिणी अफ्रीका में जंबेसी और लिमपोपो नामक प्रमुख नदियाँ हैं। इन नदियों के मुखों के निकट समुद्रतट पर काफी चौड़े मैदान बन गए हैं। ये मैदान अपने उत्तर-स्थित पूर्वीय अफ्रीका के मैदानों से अधिक चौड़े हैं। पश्चिम की ओर अन्य भागों की भाँति यह पठार भी भीतर ही की ओर धीरे-धीरे नीचा होकर कलाहारी का मरुप्रान्त बन जाता है। यह भाग लगभग वैसा ही नीचा है, जैसा कांगो नदी का बेसिन। केवल जलवर्षा के प्रचुर मात्रा में न होने के कारण यहाँ की कोई भी नदी समुद्र तक नहीं पहुँचती। दक्षिण की ओर यह पठार जीने की भाँति नीचे को उतर आया है, जिससे दक्षिण की ओर से देखने पर वह ऊँचा पहाड़-सा दिखाई देता है, किन्तु उत्तर की ओर से आने पर उसका ढाल बहुत ही थोड़ा मालूम पड़ता है। ऊँचे उत्तरीय भाग को वेल्ड कहते हैं। इससे नीचे के पठार के भाग को बड़ा कारू और उससे नीचे की घाटी को छोटा कारू कहते हैं। इसके बाद समुद्रतट का मैदान मिलता है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर दक्षिण-पूर्व की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। पश्चिमी समुद्रतट का मैदान बहुत ही कम चौड़ा है।

उत्तरी अमेरिका के मैदान और नदियाँ

अफ्रीका को छोड़कर अब हम नई दुनियाँ की ओर चलते हैं। नई दुनियाँ की बनावट यूरेशिया से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उत्तरीय अमेरिका में अपेलेशियन और रॉकी नामक पहाड़ों के मध्य में एक बहुत बड़ा मैदान है, जिसका ढाल दोनों पहाड़ों के मध्य की ओर होता है।

इसी विस्तृत मैदान में मिसिसिपी नदी बहती है। रॉकी पहाड़ के पड़ोस में यह मैदान बहुत ही ऊँचा है, किन्तु वहाँ से पूर्व की ओर जाने पर इसके ढाल में विशेषतया उत्तरीय भाग से चढ़ाव-उतार आरम्भ हो जाता है। इन सभी मैदानों का ढाल इतना थोड़ा है कि देखने में ये बिलकुल ही समतल-से लगते हैं। ये मध्य के मैदान आगे जाकर दक्षिणीय समुद्र-तट और पूर्वीय समुद्र-तट के मैदानों से मिल गए हैं। समुद्र-तट के मैदानों की चौड़ाई ज्यादा है। ये मैदान नदियों के द्वारा बहाकर लाई गई मिट्टी से बने हैं।

उत्तरीय समुद्र-तट पर 'कनाडा के ढाल' के उत्तर में भूमि का अधिकांश नीचे को धँस गया है। इसी के कारण समुद्र के किनारे-किनारे नीची भूमि पाई जाती है। पश्चिमी समुद्र-तट पर मैदान का अभाव-सा है।

रॉकी पर्वत और बड़ी झीलों के बीच में प्रसिद्ध प्रेरी का मैदान है। इस मैदान में पहाड़ बिलकुल ही नहीं पाये जाते। इसकी भूमि उपजाऊ काली मिट्टी से बनी है। इस मिट्टी का रंग सड़ी-गली घास फूस की अधिकता के ही कारण काला हो गया है। प्रेरी के मैदान में किसी समय एक विशाल मीठे पानी का जलाशय था, जिसके अवशेष अंग अब बड़ी झीलों के रूप में रह गए हैं। मैदान की भूमि इसी विशाल जलखण्ड की तली रही होगी।

कनाडा के दक्षिण में पहुँचने पर हमको संयुक्त राज्य का दक्षिणीय और पूर्वीय मैदान मिलता है। हडसन नदी को पारकर दक्षिण की ओर जाने पर यह मैदान अधिक चौड़ा होता जाता है और पूर्वीय पहाड़ी भाग के बीच से आरम्भ होकर अटलांटिक महासागर के तट तक फैल जाता है। फ्लोरिडा का प्रायद्वीप भी इसी मैदान में सम्मिलित है। यह मैदान काफी उपजाऊ है।

उत्तरीय अमेरिका के संयुक्त राज्य के मध्य में अपेलेशियन और रॉकी पहाड़ों के बीच में बहुत विस्तृत मैदान है। इसका पश्चिमी भाग काफी ऊँचाई पर है। यह ऊँचाई मिसौरी नदी के निकट से प्रारम्भ हो जाती है और धीरे-धीरे रॉकी पहाड़ तक चली जाती है।

पैसिफिक तट पर कोलम्बिया नदी की घाटी में नीची भूमि पायी जाती है, परन्तु इसकी चौड़ाई ५० मील से अधिक नहीं है।

उत्तरी अमेरिका में अनेकों बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। मिसिसिपी और मिसौरी की लम्बाई विस्तार संसार में सबसे अधिक है। कुछ नदियाँ पैसिफिक महासागर में

गिरती हैं और कुछ अटलांटिक महासागर में। पैसिफिक में गिरनेवाली नदियों की अपेक्षा अटलांटिक में गिरनेवाली नदियाँ अधिक महत्व की हैं। नकशा देखने से ही इसका कारण समझ में आ जाता है। पैसिफिक महासागर में जानेवाली नदियों को पश्चिमी पहाड़ी ढालों से बहकर समुद्र-तट की सँकड़ी समतल भूमि को पारकर समुद्र में जाना होता है। ऊँचे पहाड़ी ढालों पर बहने के कारण इनमें नावें चलाना असम्भव-सा है। इनमें से कुछ नदियाँ पठारों को काटकर सँकड़ी घाटियों और गहरे खड्डों में बहती हैं। फ्रेजर नदी वैंकोवर द्वीप के पीछे समुद्र में मिलती है। इस नदी को एक ऐसे गहरे और सँकड़े खड्ड से होकर बहना पड़ता है, जिसमें कभी सूर्य का प्रकाश पहुँचता ही नहीं। इसी नदी की घाटी से होकर कैनेडियन पैसिफिक रेलवे वैंकोवर तक पहुँचती है।

कोलम्बिया नदी और उसकी सहायक स्नेक नदी भी अत्यन्त संकीर्ण घाटियों में होकर बहती हुई समुद्र-तट तक पहुँचती हैं। कोलोरेडो नदी, जो कैलिफोर्निया की खाड़ी में मिलती है, बड़े-बड़े विशाल खड्डों में से होकर बहती है। इसके मार्ग का एक खड्ड तो दो सौ मील से भी अधिक लम्बा है और उक्त खड्ड की दीवालों की चट्टानें कहीं-कहीं एक मील से भी अधिक ऊँची टटार खड़ी हैं!

उत्तर में यूकॉन नाम की बहुत लम्बी नदी है। परन्तु उत्तरी अक्षांशों में होने के कारण उसमें साल के अधिकांश दिनों में बर्फ जमी रहती है।

अटलाण्टिक महासागर की ओर बहनेवाली नदियों में से बहुत कम अधिक लम्बी हैं। हडसन, डेलावर, सास्केच्वान और पोटोमक प्रसिद्ध और अधिक उपयोगी नदियाँ हैं। इनकी घाटियों में से होकर पूर्वीय पठार से मध्य के मैदानों को बड़ा सरल मार्ग मिल जाता है। इन्हीं घाटियों में रेलों और सड़कों के मार्ग बनाए गए हैं।

मध्य भाग के मैदानों को इससे भी अधिक लम्बी नदियाँ सींचती हैं। मैकेंजी नदी उत्तर की ओर आर्कटिक महासागर में जा मिलती है। इसमें अनेकों झीलों से जल बह-बहकर आता है। परन्तु यूकॉन की भाँति मैकेंजी का भी अधिक उपयोग नहीं होता। उत्तर में विनिपेग झील में आकर कई नदियाँ मिलती हैं। इनमें से रेड नामक नदी बहुत उपजाऊ घाटी में होकर बहती है। नेलसन नामक नदी विनिपेग झील से निकलकर हडसन की खाड़ी में गिरती है। परन्तु यह नदी भी वर्ष के अधिकांश दिनों में बर्फ से ढकी रहती है।

सेंट लारेंस नदी बहुत महत्व की है। इस नदी में सुपीरियर, मिचिगन, ह्यूरन, ऐरी और ओन्टेरियो आदि झीलों का जल बहकर आता है। इन झीलों के रास्ते बहुत व्यापार होता है और उनके तटों पर कई अच्छे बन्दरगाह बन गए हैं। ऐरी झील से निकलकर सेंट लारेंस नदी जब ओन्टेरियो झील की ओर जाती है, तब इसे नियागरा के नाम से पुकारा जाता है। इस मार्ग में थोड़ी दूर बढ़ने पर नदी की धारा में भँवर पैदा हो जाते हैं, जिनसे नावों का चलना असम्भव हो जाता है। इन्हीं भँवरों के नीचे एक स्थान पर नदी की धारा एकदम १६० फीट नीचे उतर जाती है। यहीं पर सुप्रसिद्ध नियागरा का झरना बना है, जिसे देखने सहस्रों यात्री आते हैं।

झीलों से आगे बढ़ने पर इस नदी की धारा चौड़ी हो जाती है। ६०० मील बहने के उपरान्त अंत में यह महासागर में मिल जाती है। इस नदी के मार्ग से बड़े-बड़े स्टीमर झीलों तक पहुँचते हैं। व्यापार के लिए यह संसार भर में सबसे अधिक उपयोगी नदी है।

मध्यवर्ती मैदान का दक्षिणी भाग मिसिसिपी नदी की उपत्यका है। दाहिनी ओर से इसकी शाखाएँ पश्चिमी पहाड़ों का जल बहा लाती हैं और बाईं ओर से पूर्वी उच्च भूमि का। यह सुपीरियर झील के समीप एक छोटी झील से निकलकर मैदान के बीच से होकर दक्षिण की ओर बहती है और अन्त में मेक्सिको की खाड़ी में मिल जाती है। मध्य में सेण्ट लुई के समीप इसमें इससे भी लंबी मिसौरी नदी मिलती है। मिसौरी नदी पश्चिमी पहाड़ों से निकलकर आती है और ३,००० मील की यात्रा के पश्चात् मिसिसिपी से मिल जाती है। आगे चलकर मिसीसिपी बाईं ओर से आनेवाली ओहियो नदी का जल ग्रहण करती है। समुद्र में मिलने से पूर्व २०० मील पहले इसकी कई धाराएँ हो जाती हैं, जो गंगा नदी की भाँति बड़ा-सा डेल्टा बनाती हैं।

वेस्ट इन्डियन द्वीप अधिकतर नीचे मैदानोंवाले हैं। इनकी मिट्टी बहुत उपजाऊ है और उनमें खेती करने की बहुत सुविधा है।

दक्षिणी अमेरिका के मैदान और नदियाँ

दक्षिणी अमेरिका में अमेजन नदी का मैदान है। इस मैदान में गरमी और वर्षा की अधिकता के कारण, बहुत घने वन पाये जाते हैं। वनों से ढके हुए इस मैदान को सेल्वा कहते हैं। वनों की सघनता के ही कारण इस मैदान में मार्ग के साधन केवल अमेजन और उसकी सहायक नदियाँ भी हैं। ये नदियाँ इतनी बड़ी हैं कि इनमें कई सहस्र मील

तक छोटे-छोटे जलयान बड़ी सरलता से चलाये जाते हैं। घने वनों, अधिक वर्षा और गरमी तथा रोग की अधिकता के कारण इन मैदानों की पर्याप्त उन्नति नहीं हो सकी है।

'प्लेट नदी की घाटी' दूसरा महत्वपूर्ण नीचा भाग है और यही दक्षिणी अमेरिका का सबसे समुन्नत क्षेत्र है। प्लेट नदी के लम्बे मुहाने में ही पराना और पराग्वे नामक नदियाँ मिलती हैं। इन नदियों की घाटियों में उपजाऊ भूमि अधिक है। इन मैदानों में घास अधिक होती है। इनको 'पंपा' कहते हैं। प्लेट नदी का सबसे महत्वपूर्ण भाग आर्जेण्टाइन देश है।

पराना और पराग्वे नामक नदियों की घाटियों के ऊपरी भाग अधिक महत्व के हैं और समतल भूमि के रूप में हैं। ओरीनोको की घाटी के मैदान भी उल्लेखनीय हैं। दक्षिणी अमेरिका में समुद्र-तटवर्ती मैदानों का अभाव ही है।

ऑस्ट्रेलिया के मैदान और नदियाँ

स्थल का अन्तिम विशाल खण्ड ऑस्ट्रेलिया है। इस भूखण्ड के विषय में हम पहले ही जान चुके हैं कि यह सारा का सारा महाद्वीप एक पठार है, जिसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पठार का ढाल अधिकतर भागों में भीतर की ही ओर है, जिसके कारण बहुत ही कम नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। पूर्वीय पहाड़ों से पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है, जिसके दक्षिणी भाग में ऑस्ट्रेलिया की प्रधान नदी 'मरे' अपनी सहायक नदियों डार्लिंग तथा मरमबजी के साथ बहती हैं। मरे नदी की घाटी तथा उससे मिला हुआ दक्षिणीय समुद्र-तट ही ऑस्ट्रेलिया के सबसे अधिक उन्नति-प्राप्त भाग हैं। इसी भाग में ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या का अधिकांश बसा है। मरे नदी का महत्व मार्ग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है, क्योंकि इस नदी के मुख के निकट एक 'बालू की भीत' है, जिसके कारण समुद्र के जहाज इस नदी में नहीं आ सकते। साथ ही इस नदी में केवल वर्षा ऋतु ही में लगातार जलधारा बहती है। शेष ऋतुओं में तो स्थान-स्थान पर इसका जल सूख जाता है, जिसके कारण इसमें नावों का आना-जाना असम्भव हो जाता है। न्यूजीलैण्ड में मैदानों का एक प्रकार से अभाव ही है।

ध्रुव-प्रदेशों में उत्तरी ध्रुव का ग्रीनलैण्ड का टापू नितान्त पहाड़ी देश है। दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश के विषय में भी जहाँ तक ज्ञात हुआ है, यही मालूम होता है कि वहाँ पर भी समस्त भूमि पहाड़ी ही है। वह एक विस्तृत पठार है।

मैदानों का महत्व

इस प्रकार हमने धरातल के भूखण्डों का निरीक्षण समाप्त कर लिया। हमने देखा कि कहीं पर ऊँची, तो कहीं पर नीची भूमि है। नदियों के प्रवाह-मार्गों द्वारा हम यह भी जान गए कि ऊँची और समतल भूमि का ढाल कहाँ पर किस ओर को है। मनुष्य के लिए धरातल के मैदानों का महत्व सबसे अधिक रहा है। आर्थिक और सामाजिक, दोनों ही दृष्टि से मनुष्य की उन्नति उन्हीं देशों और भू-खण्डों में हुई है, जहाँ पर मैदानों की अधिकता है। विस्तृत मैदानों ही में मनुष्यों की जन-संख्या घनी पाई जाती है। मैदानों को उत्पन्न करने का श्रेय नदियों को ही है। कहीं-कहीं मैदान समुद्र-तट पर भी सागर-जल की प्रतिक्रिया से बने हैं, परन्तु ऐसे मैदानों का विस्तार अधिक नहीं है। मैदानों की बड़ी-बड़ी जलधाराएँ जल-मार्गों के लिए भी उपयोग में लाई जाती हैं।

स्थलखण्ड के सबसे अधिक लम्बे-चौड़े मैदान योरप, एशिया और उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं। इनमें रूस, चीन, भारत और मसोपटामिया के मैदान बहुत महत्व के हैं। अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया दोनों पठारखण्ड हैं। यहाँ या तो मैदानों का सर्वथा अभाव है, अथवा नदियों की घाटियों में ही अति संकीर्ण मैदान पाये जाते हैं। अफ्रीका में नील नदी की घाटी का मैदान बहुत ही महत्व का है। इसी के कारण मिस्र देश समृद्ध है।

संसार में नदियों की उपत्यकाएँ अधिकांश में समभाग समतल मैदान के रूप में हैं। अधिकांश मैदान नदियों में प्रचुर जल होने के कारण ही महत्व के हैं। मैदानों के नाम इसीलिए नदियों के नाम से संयुक्त कर दिए गए हैं। गंगा
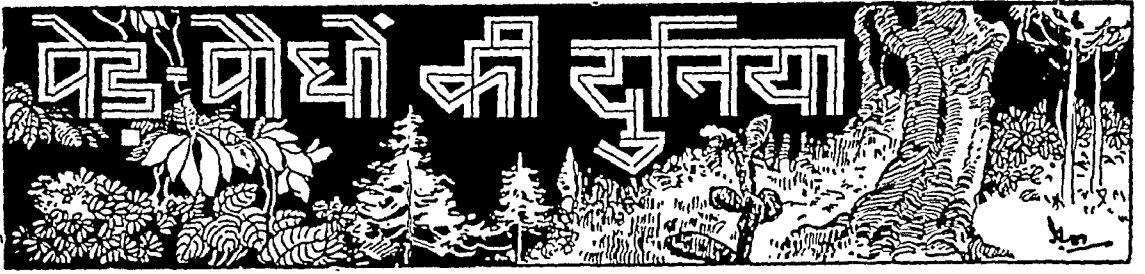
भोजन की खोज में—जड़ों की कहानी

इस स्तंभ के अंतर्गत पिछले एक प्रकरण में पौधे के अंग-विधान का विवेचन करते समय हम उसके एक अति महत्वपूर्ण अंग 'जड़' की संक्षेप में कुछ चर्चा कर चुके हैं, जिसका कि कार्य पौधे को जमीन में रोपना और उसके लिए खाद्य पदार्थों का संग्रह करना है। आइए, अब पौधे के विविध अंगों का विस्तारपूर्वक विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ करते समय पहले उसके उक्त आधाररूपी अंग 'जड़' को ही लें और देखें कि पौधे की जीवन-कहानी में उसका कितना महत्वपूर्ण स्थान है।

पृथ्वी पर जितने भी जीव है, सभी को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि किसी का भी काम बिना आहार के नहीं चलता। इसकी चिंता सबको लगी रहती है। आहार से ही जीवों को सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसीसे उनके अंग बनते और बढ़ते हैं। यह आहार वे भाँति-भाँति से प्राप्त करते हैं और उन सब के शरीर में विशिष्ट अंग होते हैं।

पौधे भी सजीव हैं। इनको भी आहार की जरूरत होती है और अन्य जीवों की भाँति इन्हें भी इसके लिए प्रयत्न करना होता है। इसी अभिप्राय से इनकी पत्तियाँ वायु में प्रकाश की ओर झुकी रहती हैं; इसी की खोज में इनकी जड़ें पृथ्वी के अंदर दूर तक फैली रहती हैं (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)। इस परिच्छेद में हम आपका ध्यान पौधे की जड़ों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।
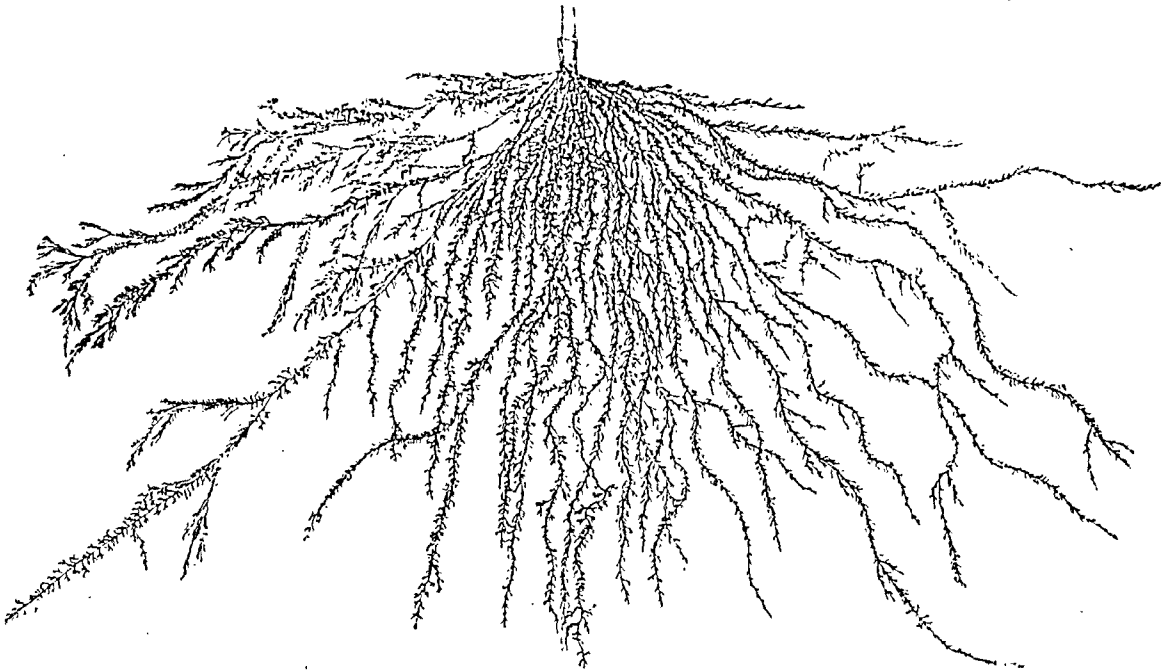
पृथ्वी के अन्दर पसरी हुई गेहूँ के पौधे की जड़ें

यः केवल एक मानचित्र मात्र है। जड़ों के फैलाव के ढंग पर गौर कीजिए। इसका एकमात्र तात्पर्य जमीन में के खाद्य द्रव्यों की प्राप्ति है।

यदि आप किसी पौधे की जड़ों को पृथ्वी के अंदर फैले हुए देखें, तो आपको आश्चर्य हुए विना न रहेगा। धरती के अंदर दूर-दूर तक वे ऐसी धँसती चली जाती हैं, मानों किसी वस्तु की तलाश में हों। मिट्टी के कणों से वे ऐसी लिपटी रहती हैं, मानों इनसे वे किसी वस्तु को खींच रही हों। बात भी ऐसी ही है। पौधे की जड़ें मिट्टी से खाद्य रसों का संग्रह करती हैं। इसी की खोज में वे मिट्टी के कण-कण से लिपटी रहती हैं।

बीज बोने पर सबसे पहले उनमें से पौधे का अंकुर निकलता है। इसीसे पौधे की मुख्य जड़ उत्पन्न होती है, जो पृथ्वी के अन्दर प्रवेश करती है। मुख्य जड़ों से गौण मूल और शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी गौण मूल तने और शाखों से भी उत्पन्न होती हैं। घास और गेहूँ-जैसे पौधों में ऐसी जड़ें प्रारम्भिक तने के सिरे से ही उत्पन्न होती हैं और इसलिए इन पौधों में केवल झखड़ा जड़ें होती हैं। किसी-किसी पौधे में ऐसी जड़ें गाँठों से फूटती हैं। प्याज-जैसे कंदों में ये कंद के निचले चपटे भाग से निकलती हैं। जो जड़ें मुख्य जड़ और उसकी शाखों को छोड़ किसी अन्य अंग से निकलती हैं, उन्हें 'अनियमित' जड़ें कहते हैं। प्राय: ऐसी जड़ें शाखों से ही फूटती हैं; परन्तु कभी-कभी वे पत्तियों से भी निकलती हैं (दे० इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र)। ऐसी पत्तियों द्वारा ही नये पौधे उत्पन्न होते हैं।

अजूबा की पत्ती

यदि यह जमीन पर कुछ समय तक रक्खी जाय और उसे खाद्य पदार्थ मिलते रहें, तो इससे कई जगहों पर अनियमित जड़ें निकल आती हैं और फिर वहीं पर नये पौधे उग आते हैं।
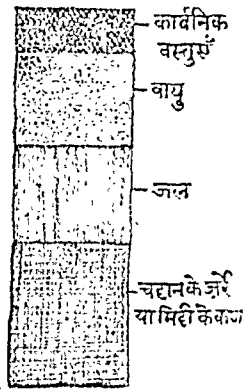
१०० वर्ग फीट साधारण भूमि में भिन्न-भिन्न पदार्थों की मात्रा।

मूल रोम और उसके चारों ओर की वस्तुएँ।

जड़ों के कर्त्तव्य और उनकी पूर्त्ति के साधन

जड़ों के दो मुख्य कर्तव्य हैं—रोपण और शोषण। इन क्रियाओं को समझने के लिए हमको जड़ों के चारों ओर की वस्तुओं की जांच करनी चाहिए।

१. मिट्टी—जड़ें पौधे का जमीन के अन्दर रहनेवाला अंग है। वे मिट्टी से घिरी रहती [illegible] स्थान की मिट्टी समान नहीं होती। ऊसर, खेत, पहाड़ आदि अलग-अलग स्थानों पर ध्यान देने पर पता लग जायगा कि स्थान-स्थान की मिट्टी के भौतिक और रासायनिक गुणों में बड़ा अन्तर होता है। मिट्टी के इन गुणों का पौधे की जीवनी पर बड़ा असर पड़ता है, अत: उनका ज्ञान महत्व रखता है।

पौधे को भूमि से तीन मुख्य लाभ हैं। सबसे पहले वह पौधे के आधार का काम देती है; दूसरे इससे पौधे को जल मिलता है, और तीसरे उससे खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं। यही वस्तुएँ पौधों के जीवन का अवलम्ब हैं।

स्थान-स्थान की मिट्टी के गुणों में अन्तर होने पर भी उसमें चार मुख्य वस्तुएँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी स्थानों में होती हैं। विशेषकर इन्हीं का प्रभाव पौधों पर पड़ता है। ये वस्तुएँ चट्टान के ज़र्रे या मिट्टी के कण, जल, वायु और पृथ्वी के कीटाणु तथा अन्य जीव हैं। साधारण उपजाऊ भूमि में इनकी मात्रा इसी पृष्ठ के निचले बाएँ चित्र के अनुसार होती है।

न केवल जुदा-जुदा स्थानों ही की मिट्टी में विभिन्नता होती है, वरन् प्रत्येक स्थान की मिट्टी भी ऊपर नीचे एक समान नहीं होती। मकान की बुनियाद या कुआँ खुदते समय आपने देखा होगा कि सबसे ऊपर की मिट्टी और नीचे की मिट्टी के गुणों में बड़ा अन्तर होता है। सबसे ऊपर प्रायः उपजाऊ भूमि होती है, जिसे 'ह्यूमस' कहते हैं। इसमें मिट्टी के कण बहुत छोटे होते हैं। इस पर्त में कार्बनिक वस्तुएँ और अनेक कीटाणु भी होते हैं। इन दोनों का पौधे के जीवन और उपज पर बड़ा असर पड़ता है। ह्यूमस के नीचे की तह में मिट्टी के कण कुछ बड़े होते हैं। सबसे नीचे कंकड़ या पत्थर की तह या भूमि का पथरीला भाग होता है।

मिट्टी का अधिकांश भाग चट्टानों की तोड़-फोड़ से ही बनता है। चट्टानों के टुकड़े घिस-घिसकर छोटे हो जाते हैं, और अन्त में इसी संघर्ष से महीन-से-महीन मिट्टी बन जाती है। चट्टानों के टुकड़े और मिट्टी ही के सहारे पौधे जमीन में लगे रहते हैं। इन्हीं से पौधों को खुराक भी मिलती है। मिट्टी के कणों के बीच-बीच में स्थान होते हैं, जिनमें जल और वायु भारी रहती है। ये दोनों ही वस्तुएँ पौधों के लिए आवश्यक हैं।

२. जल—बिना जल के कृषि नहीं हो सकती। बिना खेती मनुष्य तथा दूसरे जीवों का जीना असम्भव है। यथार्थ में जल पर न केवल पौधों की जीवनी का ही दारोमदार है, वरन् इसी पर मनुष्य के कला-कौशल, सभ्यता आदि सभी निर्भर हैं। पौधे के अंगों में जल की बहुत बड़ी मात्रा होती है। फल, फूल, पत्ती तथा अन्य कोमल और मांसल अंगों का अधिकांश भाग पानी ही होता है। पानी के बिना खाद्यपदार्थ भी नहीं बन सकते। कोशिकाओं और तन्तुओं का फूलना भी इसी के अधीन है। द्रविक होने के कारण पौधे की अनेक भौतिक और रासायनिक क्रियाओं का दारोमदार भी इसी वस्तु पर है। जल और पौधे का यथार्थ सम्बन्ध समझने के लिए चार बातों पर विचार करना जरूरी है। प्रथम, पौधे के तन्तुओं में जल की मात्रा; दूसरे, यह कि पौधों को किस मात्रा में जल की आवश्यकता है; तीसरे, पौधे के वे अंग, जिनके द्वारा जल-शोषण होता है; और चौथे, वे भौतिक क्रियाएँ, जिनमें जल का शोषण होता है।

जड़ें आहार जुटाने के साथ-साथ वृक्ष को खड़ा भी रखती हैं

वर्षाजल द्वारा मिट्टी धुल जाने के कारण इस वृक्ष की जड़ें बहुत-कुछ खुल गई हैं, जिससे उनकी रचना का हमें ज्ञान हो सकता है।

पौधे के तन्तुओं में जल की मात्रा तथा जीवन-क्रियाओं में उसकी आवश्यकता

जैसा हम पहले कह चुके हैं, पौधों में जल की बहुत बड़ी मात्रा होती है। आलू में लगभग ७५ फी सदी पानी होता है। गेहूँ में प्रायः प्रतिशत १४ भाग पानी होता है। इसी तरह किसी-किसी घास में ८० फी सदी वजन तक पानी होता है। यदि विचार किया जाय, तो पता लग जायगा कि पौधों को अपनी जीवन-क्रियाओं के लिए इस मात्रा से कहीं अधिक जल की आवश्यकता पड़ती होगी। जाँच से पता लगता है कि प्रत्येक सेर सूखा वजन* बनने के लिए लगभग ३ मन ३० सेर जल पौधे में से बाहर निकलना जरूरी है। इससे स्पष्ट है कि जिस मात्रा में पौधों में जल होता है, उससे कहीं अधिक जल की उनको जरूरत पड़ती है।

पृथ्वी में जल कहाँ से आता है?

भूमि के पानी का मुख्य साधन बरसाती पानी है। इसी पर पौधों की उपज निर्भर है। दुनिया के रेगिस्तानी भागों में इतनी कम वर्षा होती है कि वहाँ पर बहुत कम पौधे उग सकते हैं। लोगों का अनुमान है कि पृथ्वी के चौथाई भाग में इतनी कम वर्षा होती है कि वहाँ खेती नहीं

* किसी वस्तु का सूखा वजन निकालने के लिए उसे ७०-८० शतांश पर कई घंटे बराबर गरम करते हैं और जब वजन में कमी होना बन्द हो जाती है, तो जो वजन रह जाता है उसे 'सूखा वजन' कहते हैं।
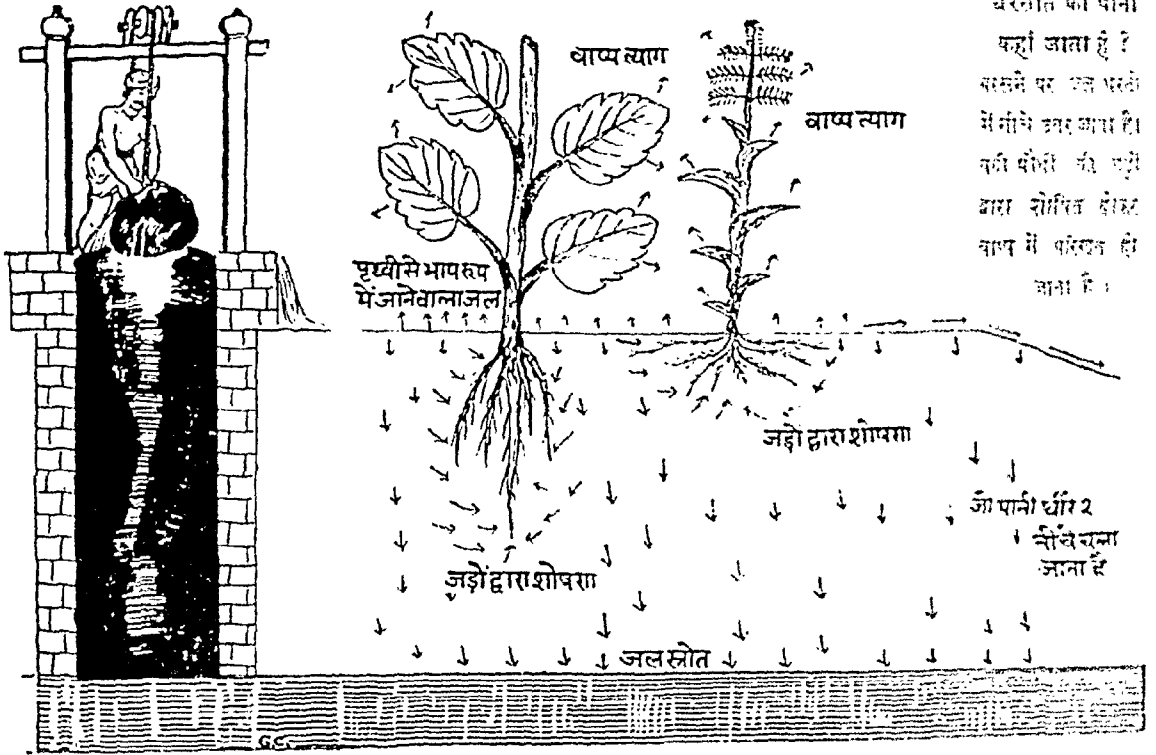
बरसात का पानी कहाँ जाता है? बरसने पर जल धरती में नीचे उतर जाता है। कुछ पौधों की जड़ों द्वारा शोषित होकर वाष्प में परिणत हो जाता है।

हो सकती। इसके विपरीत भूमध्यरेखा के निकटवर्ती जंगलों में वार्षिक जलपात चार सौ-पांच सौ इंच तक होता है। इन स्थानों में अनेक भांति के पेड़-पौधे, वेलि-लता आदि भूमि को ढके रहती हैं। उत्तम खेती के लिए लगभग ४० इंच वार्षिक जल की आवश्यकता रहती है और यदि यह जल प्रत्येक मौसम में समान रूप से गिरे, तो और भी अच्छा हो।

पृथ्वी पर गिरने के बाद वर्षा का जल क्या होता है?

मृत्तिका और क्लेदन जल

जमीन पर आते ही वर्षा का जल कई दिशाओं में बँट जाता है (इसी पृष्ठ का चित्र)। यदि जमीन पथरीली है और थोड़े समय में अधिक जल गिरे तो जल का अधिकांश भाग बिना पृथ्वी के अन्दर पहुँचे ही बहकर नदी-नालों में चला जाता है। ऐसे जल से पौधों को कोई लाभ नहीं होता, वरन् उलटे उनको हानि होने की सम्भावना है; क्योंकि बहुधा इसके द्वारा भूमि का उपजाऊ भाग बह जाता है। नदी नालों में जाने से जो जल बच रहता है, वह या तो धीरे-धीरे सोखकर जलस्रोत तक पहुँच जाता है या मिट्टी के कणों के बीच में फँसा रह जाता है। जो जल मिट्टी के कणों के बीच में फँसा रह जाता है, उसे 'मृत्तिका

अन्दर प्रसार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पौधों की जड़ें जमीन के अन्दर बड़ी-बड़ी दूर तक फैलती हैं । किसी वैज्ञानिक ने एक ३-४ इंच लम्बे-चौड़े सन्दूक में जौ के पौधों को उगाया । जब पौधा बढ़कर तैयार हुआ और उसने होशियारी से तमाम जड़ों को नापा तो पता लगा कि कुल जड़ें मिलकर लगभग १२८ फीट लम्बी थीं ! इससे स्पष्ट है कि स्वाभाविक अवस्था में जिस समय ऐसा पौधा खेत में उगता होगा, तो जड़ों का विस्तार और भी अधिक होता होगा। इस भाँति पौधों की जड़ें दूर-दूर फैली रहने से न केवल पौधों को शोषण में ही सुगमता रहती है, बल्कि उसको स्थायी रखने का काम भी कुशलता से होता है ।

पृथ्वी के अन्दर जड़ें ऐसी सुन्दरता से फैली रहती हैं कि यदि आप इन्हें देख सकें तो आपके विस्मय की सीमा न रहे । एक प्रकार की बौंड़ी 'आईपोमिया लेप्टोफिला' के जड़-क्रम के विषय में अमेरिका के धुरंधर विद्वान् वीवर की जाँच से पता लगा है कि उक्त पौधे की जड़ें लगभग ३४-३५ हाथ के व्यास के अन्दर फैली थीं और करीब-करीब ६-७ हाथ की गहराई तक नीचे पहुँची थी; लेकिन उसके जमीन के ऊपर के फैलाव का व्यास पाँच हाथ था और ऊँचान दो हाथ से भी कम थी । जड़ें कितनी गहराई से खाद्य रस और जल सोखती हैं, यह पौधे की जड़ों की लम्बान आदि पर निर्भर है। कितने ही बूटों में 'झखड़ा जड़ें' होती हैं । ऐसी जड़ें जमीन में अधिक गहराई तक नीचे नहीं जातीं । इनमें से बहुतेरों की जड़ें तो केवल इंच-दो-इंच ही नीचे पहुँचती हैं । ऐसे पौधों की जड़ें जमीन में कुछ नीचे पहुँचकर चारों ओर ऊपर-ही-ऊपर छितरी रहती हैं । ज्वार, मक्का, धान, गेहूँ, (देखो पृष्ठ चित्र ९९१) जैसे पौधों में झखड़ा जड़ें होती हैं । वृक्षों में 'मूसला जड़ें' होती हैं, जो जमीन के नीचे दूर तक चली जाती हैं । ऐसी जड़ें झखड़ा जड़ों से मोटी भी होती हैं । आम, जामुन, देवदार, सागौन जैसे पेड़ों की जड़ें बड़ी गहराई तक जमीन के नीचे जाती हैं और इसलिए वे अधिक गहराई के जल का उपभोग करती हैं । अनुसंधान से पता लगता है कि जई २ से ५ फीट तक की गहराई की भूमि से जल और खाद्य रसों को सोख सकती है; जौ लगभग साढ़े तीन फीट की गहराई से जल और आहार सोखता है और आलू लगभग ढाई फीट की गहराई से खाद्य रसों का संग्रह कर सकता है ।

जड़ का अगला भाग

मूलरोम की रचना

प्रत्येक जड़ के सिरे पर बढ़नेवाला भाग होता है । इसी की कोशिका-विभाजन से जड़ बढ़ती है। इस भाग की कोशिकाएँ अत्यन्त कोमल होती हैं। इनकी रक्षा के लिए जड़ के सिरे पर मूल टोपी होती है (इसी पृष्ठ का ऊपरी बायाँ चित्र)। मूल टोपी का सिरा नुकीला होता है, इसलिए यह जड़ की रक्षा के अलावा उसके पृथ्वी में प्रवेश करने में भी मदद करता है ।

सूचिका क्रिया

यदि हम पानी से भरे एक पात्र में पतले आकार की कुछ नलियाँ खड़ी कर दें, तो उन नलियों में पानी उसी तरह चढ़ जायगा, जैसे कि बत्ती द्वारा चिमनी में तेल चढ़ता है ।

मूल टोपी के ऊपर जड़ की ओर प्रत्येक जड़ में तीन भाग होते हैं । पहला वह, जहाँ की कोशिकाएँ विभाजित होती रहती हैं; दूसरा वह, जहाँ पर कोशिकाएँ बढ़कर अपनी स्वाभाविक अवस्था में पहुँच जाती हैं, और तीसरा वह, जहाँ कोशिकाओं द्वारा खाद्य रसों का शोषण होता है । जिस भाग द्वारा खाद्य रसों का शोषण होता है, उसको ध्यान से देखने पर अनेक [illegible] दिखाई देंगे (देखें वही चित्र) ।

के कोशिकारस का समाहरण बाहर के घोलों के समाहरण से बराबर अधिक बना रहता है और इस कारण बाहर से पानी बराबर इनमें जाता रहता है। बाहर के घुले नमक आदि भी इस प्रकार बराबर जड़ों के अन्दर जाते रहते हैं। यह गुण बड़े महत्व का है। क्योंकि इस प्रकार जल और उसमें घुली अन्य प्रवेशनीय वस्तुएँ पेड़ों में बराबर आती रहती हैं। जीवद्रव्य की झिल्ली खनिज पदार्थों और अन्य घुलनशील नमकों के लिए न्यूनाधिक प्रवेशनीय है और इस प्रकार मूलरोम अपने पड़ोस के घोलों से आवश्यक वस्तुओं का शोषण करते हैं (चित्र पृष्ठ ९९७)।

विश्लेषण से पता लगता है कि पौधों में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, गंधक, फास्फोरस, सोडियम, पोटैशियम, क्लोरीन, कैल्शियम, मैग्नीशियम, लोहा, मैंगनीज, अल्यूमीनियम, और सिलीकन तत्त्व होते हैं। कार्बन को छोड़कर शेष सब के सब तत्त्व जड़ों से ही पौधों में आते हैं। मिट्टी में इन तत्त्वों के घुलनशील नमक होते हैं, जिन्हें पौधे जड़ों द्वारा ग्रहण करते हैं।

सरसों के अंकुरित बीज

मूलरोम दिखाई दे रहे हैं। [फो०—श्री० बी० शर्मा।]

पौधे में जितने भी तत्त्व हैं, उनमें किसी की कम आवश्यकता होती है, किसी की अधिक। प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि जड़ों द्वारा प्राप्त तत्त्वों में नाइट्रोजन, कैल्शियम, मैग्नीशियम, लोहा, फास्फोरस, गंधक और पोटैशियम परम आवश्यक हैं। पौधों का आकार देखते हुए उनमें किसी-किसी तत्त्व की मात्रा बहुत ही कम रहती है। फिर भी जीवद्रव्य की क्रियाओं के लिए ये परम आवश्यक होते हैं और जिस भूमि में ये वस्तुएँ नहीं होतीं, वहाँ की उपज अच्छी नहीं होती।

जाँच से पता लगता है कि कोशिकाओं की प्रवेश-शक्ति सदा एक समान नहीं रहती। उनमें समय और अवस्था के अनुसार अनेक परिवर्तन भी होते रहते हैं। इस प्रकार वही कोशिका जिस वस्तु को एक समय शीघ्रता से ग्रहण करती है, उसी को अन्य समय धीरे-धीरे या बिलकुल नहीं ग्रहण करती। सम्भव है, कोशिका की यह अवस्था किसी बाहरी कारण या जीवद्रव्य के गुणों में परिवर्तन से होती है।

आप देख चुके हैं कि अभिसरण क्रिया द्वारा पौधे पृथ्वी से जल और उसमें घुले नमक खींचते हैं और यदि अवस्था अनुकूल रहे, यानी मिट्टी के घोलों का समाहरण यदि पतला रहे और कोशिकामूल की झिल्ली घोलों की वस्तुओं के लिए प्रवेशनीय हो तो मूलरोम इन वस्तुओं का बराबर शोषण करते रहेंगे। वास्तव में सदा ऐसी अवस्था ही बनी रहती है और पौधे जमीन से प्रयोजनीय वस्तुओं का बराबर शोषण करते रहते हैं। जिस प्रकार अभिसरण द्वारा बाहर से वस्तुएँ पौधों के अन्दर जाती हैं, उसी प्रकार निरसरण द्वारा अन्दर से बाहर भी जा सकती हैं, परन्तु यह तभी हो सकता है, जब मूलरोमों की वस्तुओं का समाहरण बाहर की अपेक्षा कम हो और कोशिका-मूल की झिल्ली के लिए प्रवेशनीय हो। परन्तु पौधों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड को छोड़ और कोई दूसरी वस्तु इस प्रकार बाहर नहीं जाती। आम तौर पर बाहर के घोलों का समाहरण मूलरोमों के कोशिकारस के समाहरण से कम होता है। इस भाँति मिट्टी से जल और अन्य वस्तुएँ उनमें बराबर आती रहेंगी और जब तक बाहर-भीतर का समाहरण एकसा नहीं हो जायगा, बहाव बराबर बना ही रहेगा। यदि कहीं मिट्टी के घोलों का समाहरण बढ़ जाय तो फिर उल्टे मिट्टी जड़ों से पानी खींचने लगे और पेड़ के लिए कठिन समस्या हो जाय। पेड़ की जड़ों में अनेक वस्तु होती हैं (पृष्ठ ९९९ का निचला चित्र)।

जैसे ही मूलरोमों में जल पहुँचता है, उनके कोशिका रस का समाहरण कम पड़ जाता है और इसलिए मूलरोमों का जल अभिसरण द्वारा खिचकर पड़ोस के वल्क की कोशिकाओं में, जिनमें कोशिकारस का समाहरण अधिक होता है, पहुँचता है। इस प्रकार यह जल और उसमें घुली वस्तुएँ बाहरी कोशिकाओं के अन्दर की कोशिकाओं और फिर उनसे काष्ठ-नलिकाओं में पहुँचती हैं। काष्ठ-नलिकाओं में इसका प्रवाह किस भाँति होता है, इसमें मतभेद है। वल्क की कोशिकाओं का (ऑसमेटिक प्रेशर) अधिक होता है और सम्भव है, इस कारण पानी निचुड़कर काष्ठतन्तुओं में पहुँच जाता हो। आम, जामुन, चीड़, देवदार, बरगद, सेमल जैसे अनेक वृक्षों में सैकड़ों फीट ऊँचे जल चढ़ता है। पेड़ के तने में होकर यह जल किस प्रकार ऊँची चोटी तक पहुँचता है, हम आगे चलकर विचार करेंगे।
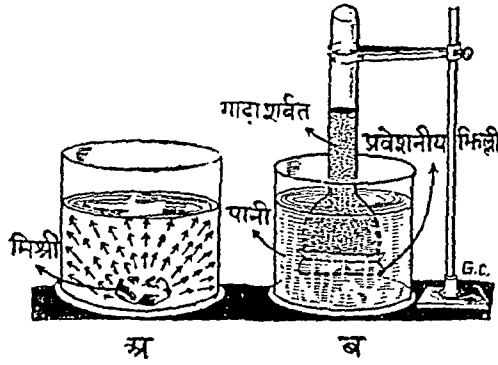
पानी में घुलनशील वस्तुएँ इसी प्रकार फैलती हैं

अभिसरण द्वारा पौधों में न केवल जल और खनिज पदार्थों का ही धरती से शोषण होता है, वरन् पौधे की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में प्रवाहन भी इसी के अधीन है (बाजू का चित्र)। इसी क्रिया पर रसों से भरकर कोशिकाओं का फूलना भी निर्भर है। यदि कोशिकारस का समाहरण गाढ़ा है, तो कोशिकाएँ जल को शीघ्रता से ग्रहण करेंगी और फूलकर बढ़ने लगेंगी। इस प्रकार दबाव पड़ोस की कोशिकाओं पर पड़ेगा। यदि सारी कोशिकाएँ इस प्रकार रस से भरकर फूल जायँ, तो सारा पौधा दृढ़ और सख्त हो जाएगा। अगर कोशिका के चारों ओर कठोर भित्तिका न होती, तो जीवद्रव्य की झिल्ली दबाव पड़ने के कारण अवश्य फट जाती। इस प्रकार प्रत्येक कोशिका फुटबाल के समान है, जिसमें वायु भरने से अन्दर की रबर की झिल्ली बढ़ना चाहती है; परन्तु बाहरी चमड़े के खोल के कारण ऐसा नहीं हो सकता। छोटे-छोटे फूले हुए गुब्बारों के समान कोशिकाएँ आपस में जुड़ी रहती हैं। पत्ती और पँखुड़ी-जैसे अंगों में, जिनमें कठोर ढाँचा नहीं होता, यही फूलने की क्रिया है, जिसके कारण यह अंग सख्त रहते हैं और इनकी शक्ल ठीक बनी रहती है।

जड़ के बाहर की ओर की कोशिकाएँ और मूलरोम

भूमि से जल और नमक आदि किस तरह जड़ों में प्रवेश करते हैं, यह दिग्दर्शित है।

३. वायु —जीवन के लिए जल की भाँति वायु भी परम आवश्यक है। पेड़ के प्रत्येक अंग को ऑक्सिजन मिलना चाहिए। जड़ों को भी इसकी आवश्यकता है और इसलिए मिट्टी में भी ऑक्सिजन पहुँचनी चाहिए। यदि मिट्टी में जल भर जाय, तो वायु निकल जायगी और यदि ऐसी दशा बहुत समय तक बनी रहे, तो पेड़ों को बड़ी हानि हो। यही कारण है कि नदियों में बाढ़ आने पर यद्यपि किनारे के पौधों का अधिकांश भाग पानी के बाहर ही क्यों न हों, फिर भी बहुत-से पौधे पीले पड़ जाते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि खेतिहर जमीन के सौ वर्ग फीट में लगभग २० से ३५ वर्ग फीट भाग वायु का रहता है।

मिट्टी के अन्दर की कार्बनिक वस्तुएँ

वैसे तो सभी प्रकार की भूमि में कार्बनिक वस्तुएँ होती हैं; परन्तु उपजाऊ भूमि में इनकी मात्रा अधिक रहती है।

शरीर की यह परम आवश्यक वस्तु—नाइट्रोजन—बैक्टीरिया के शरीर में एकत्र होती है और अंत में इनकी मृत्यु के बाद वही नमकों के रूप में पृथ्वी में मिल जाती है। इस भाँति इन जीवों की करामात से प्रकृति में नाइट्रोजन की मात्रा समान बनी रहती है।

भूमि के अन्दर की वस्तुओं की मात्रा सदा एक समान नहीं रहती। जल, वायु तथा दूसरी वस्तुओं का परिमाण सदैव घटता-बढ़ता रहता है। मिट्टी के कणों की भी दशा सदा एक समान नहीं रहती। भूमि का ताप भी न्यूनाधिक रहता है। इन सब बातों का भी पौधों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

अनोखी जड़ें

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, जड़ के दो मुख्य काम हैं—पौधे को रोपना और उसके लिए पृथ्वी के जल और खाद से खूराक इकट्ठा करना। इनके अतिरिक्त जड़ें कभी-कभी अन्य काम भी करती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों से कुछ भिन्न होती हैं; इसलिए इन्हें हम अनोखी या निराली जड़ें कह सकते हैं। कर्त्तव्य-भेद तथा रूपान्तर के अनुसार इनके कई भेद हैं। इन्हीं में से कुछ का हम यहाँ वर्णन करेंगे।

गोदाम का काम देने वाली जड़ें

अन्य जीवों की भाँति पौधों को भी खूराक की आवश्यकता रहती है। यह उन्हें वायु और पृथ्वी से बराबर मिलती रहती है और इस प्रकार जब तक अवस्था अनुकूल रहती है, पौधों में खाद्य पदार्थ बराबर बनते रहते हैं। इसीलिए निशास्ता, प्रोटीन, शक्कर अथवा दूसरी वस्तुएँ न्यूनाधिक मात्रा में बराबर जमा होती रहती हैं। इन उपार्जित वस्तुओं में से कुछ तो पौधों की बाढ़-वृद्धि आदि में खर्च हो जाती हैं। परन्तु फिर भी कुछ-न-कुछ बची रह ही जाती हैं। इन बचे पदार्थों के लिए गोदाम की जरूरत पड़ती है। अधिकतर पेड़-पौधों में तने ही गोदाम का काम देते हैं; परन्तु किसी-किसी पौधे में जड़ें इस काम को करती हैं। इस प्रकार की कितनी ही जड़ों से आप परिचित भी होंगे। गाजर, मूली, शल्जम, शकरकंद, जिन्हें हम तरकारियों में काम लाते हैं, इन्हीं में से हैं।

गोदाम का काम देनेवाली जड़ें साधारण जड़ों से मोटी होती हैं। इनमें जल और भाँति-भाँति के खाद्यरस संचित रहते हैं। चुकन्दर की जड़ में शक्कर जमा रहती है। इसी प्रकार किसी पौधे की जड़ में निशास्ता और किसी में कोई अन्य पदार्थ इकट्ठा रहता है।

शतावर

यह लहसुन और प्याज की जाति का पौधा है। इसकी जड़ें औषधियों के काम आती हैं। (फो०—श्री० वि० सा० शर्मा)

जड़ों में संचित वस्तुओं में से पानी सबसे अधिक उपयोगी है। रेगिस्तानी भागों में उगनेवाले पेड़-पौधों में प्रायः यही वस्तु संचित रहती है। इन स्थानों में उगनेवाली वनस्पतियों की वायुवर्त्ती शाखें और तने छोटे और मुलायम होते हैं; परन्तु जड़ें लम्बी और मोटी होती हैं। इन जड़ों का अधिकांश भाग पानी होता है।

तने के बनिस्बत जड़ों में खाद्य पदार्थों का संचित रहना पेड़-पौधों के लिए अधिकतर लाभकर प्रतीत होता है; क्योंकि जड़ें जमीन के अन्दर रहने के कारण, तने और शाखों की अपेक्षा, सरदी-गरमी तथा जानवरों के आक्रमण से अधिक सुरक्षित रहती हैं। मांसल जड़ें रेगिस्तानी भागों में अधिक पाई जाती हैं।

बनावट के अनुसार गोदाम का काम देनेवाली जड़ों के कई भेद हैं। गाजर में ये जड़ें गोपुच्छाकार, शल्जम में शल्जमाकार और मूली में मूलिकाकार होती हैं। इनके और भी अनेक भेद हैं। मांसल जड़ें भिन्न-भिन्न प्रकार की जड़ों के रूपान्तर से उत्पन्न होती हैं। गाजर और चुकन्दर में ऐसी जड़ें मुख्य जड़ का रूपान्तर हैं; डायसकोरिया बटाटाज (यह एक प्रकार का रतालू है) में ये गौण मूल हैं; शकरकन्द में ये अनियमित जड़ों से उत्पन्न होती हैं,

और शतावर की मोटी जड़ें (दे० पृ० १००१ का चित्र), जो आयुर्वेदीय तथा यूनानी दवाइयों के काम आती हैं, झखड़ा जड़ों में परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। मांसल जड़ों द्वारा प्रायः पौधों की उत्पत्ति का काम भी होता है।

वायवीक जड़ें

वैसे तो जड़ें पृथ्वी के अन्दर ही रहती हैं और साधारण पौधों में ये जमीन के नीचे ही फैली रहती हैं; परन्तु आपने ऐसे पेड़ भी देखे होंगे, जिनमें जमीन के ऊपर भी जड़ें होती हैं। इस प्रकार की वायु में फैली जड़ों को हम 'वायवीक जड़ें' कहते हैं। कर्त्तव्य तथा बनावट के अनुसार इनके कई भेद हैं।

वायु से जलशोषण करनेवाली वायवीक जड़ें

बरगद, पीपल तथा पकरिया जैसे वृक्षों की शाखों से लटकती बरोही वायवीक जड़ें हैं। इस समूह के पौधे प्रारम्भ में प्रायः दूसरे पेड़ों पर उगते हैं (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)। लेकिन फिर भी ये परोपजीवी नहीं होते। ये अपरिजात पौधे हैं। जिन पेड़ों पर ये उगते हैं, उनसे केवल इन्हें आधार ही मिलता है; जल और खाद्य पदार्थ इन्हें स्वयं प्राप्त करने पड़ते हैं। अपरिजात पौधों में अनेक प्रकार के पर्णाङ्ग, मॉस, लिवरवर्ट, तथा लाइकेन आदि हैं। पोथोस और कितने ही आरकिड (दे० पृ० १००३ का ऊपरी चित्र) इसी समूह के पौधे हैं। इस वृन्द के पौधों को विशेषकर जलाभाव का भय रहता है, इसलिए ये प्रायः ऐसे स्थानों पर ही उगते हैं, जहाँ जल की कमी नहीं रहती। कोई-कोई लिवरवर्ट और मॉस तथा लाइकेन तो सूख जाने पर भी बहुत समय तक सजीव बने रहते हैं। ऐसे पौधे उन स्थानों पर भी उगते हैं, जहाँ साल में कई महीने जल का अभाव रहता है। मंसूरी तथा नैनीताल जैसे स्थानों में आपने पेड़ों के तनों और शाखों पर अनेक प्रकार के मॉस और लिवरवर्ट देखे होंगे। वर्षा का अन्त होने पर ये सूख जाते हैं, परन्तु फिर भी सजीव रहते हैं और दूसरे साल मेह की बौछार पड़ते ही ये हरे हो जाते हैं। फूलवाले अपरिजात पौधे और अपरिजात पर्णाङ्ग विशेषकर भूमध्यरेखा के निकटवर्त्ती जंगलों तथा पर्वतों की चोटियों पर, जहाँ बरसात अधिक होती है, [illegible] हैं। हमारे [illegible] अपरिजात [illegible] सीलोन, [illegible] के [illegible] मालय पर्वत जि[illegible] सिकिम [illegible] से [illegible] वर्षा अ[illegible]
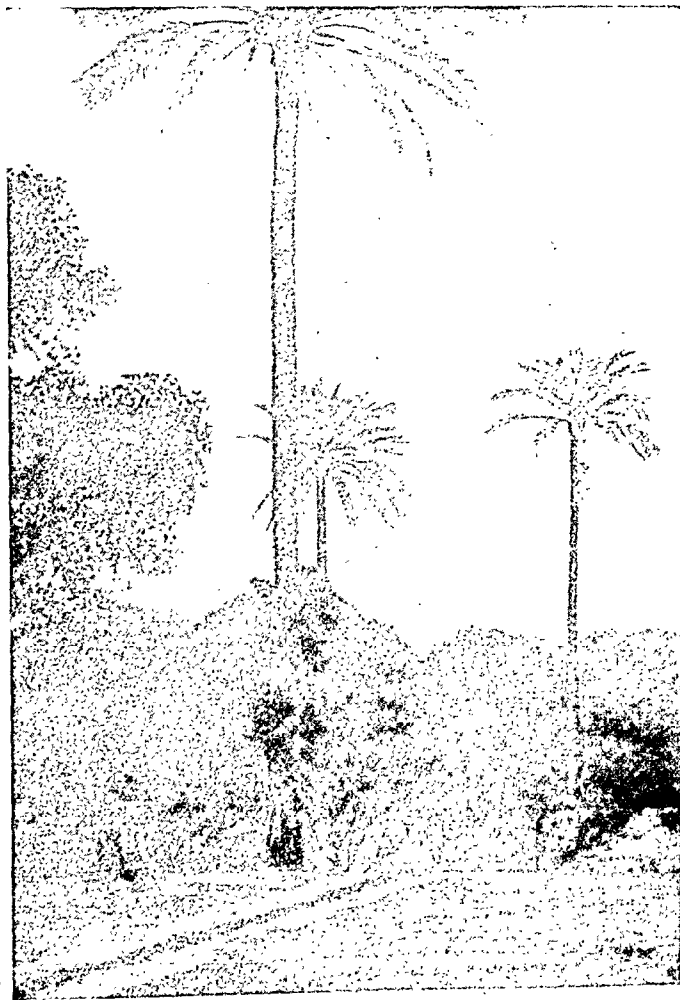
खजूर पर उगा हुआ पकरिये का वृक्ष

इसके बीज संभवतः चिड़ियों द्वारा यहाँ आए थे। अभी यह छोटा है और इसकी जड़ें पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाई हैं। पर समय बीत जाने पर इसकी बरोही भूमि तक पहुँच जाएँगी। तब आश्रयदाता खजूर के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी।

(फो०—श्री० वि० सा० शर्मा)

अपरिजात पौधों को जल की कठिनाई रहती है, इसलिए इनमें से बहुतों की वायवीक जड़ों में बाहर की ओर एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसे 'विलामेन' कहते हैं। इस तन्तु की कोशिकाभित्तियाँ पतली, परन्तु छल्लेदार, पेंचदार या गर्तमय होती हैं, जिसके कारण वे दृढ़ बनी रहती हैं। इन भित्तियों में छेद भी होते हैं। इस तन्तु की एक विशेष प्रधानता यह है कि वह पानी को बड़ी सुगमता से ग्रहण कर लेता है। विलामेन की कोशिकाएँ वायुमंडल की तरी से, चाहे वह भाप के रूप में हो, जल सोख लेती है। इसलिए जिन पौधों की जड़ों में विलामेन होता है, उन्हें जल प्राप्त करने में कठिनाई नहीं रहती।

किसी-किसी आरकिड (दे० इसी पृष्ठ का चित्र) और ऐरोफ़ाइट की वायवीक जड़ों में विलामेन के अन्दर के वल्क की कुछ कोशिकाओं में पर्णहरिम होता है। इसका महत्व हम आगे बतायेंगे। यद्यपि अपरिजात पौधे परोपजीवी वृत्ति के नहीं होते, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी इनसे उन पेड़ों को, जिन पर ये उगते है, बड़ी हानि

आरकिड

यह पहाड़ी देशों का, जहाँ वर्षा अधिक होती है, एक अपरिजात पौधा है। इस जाति के पौधों को जल की विशेष आवश्यकता रहती है। निचले गरम मैदानों के बगीचों में ये कठिनता से जीवित रहते हैं। इस जाति के पौधे प्रायः अन्य वृक्षों पर उगते हैं। (फोटो—श्री वि० ना० शर्मा)

बरगद की बरोही

किसी समय ये तने जैसी बरोहियाँ सूत जैसी जटाओं के रूप में उत्पन्न हुई थीं। आज वे बढ़कर पृथ्वी के अन्दर पहुँच गई हैं। मोटान में ये तनों के समान हैं। इनको मुख्य तनों से अलग पहचानना कठिन है। (फोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा छिठोले)

पहुँचती हैं। बरगद, पीपल अथवा इसी समूह के अन्य कई पेड़ों के फन्दे में जो वृक्ष आ जाता है, उसका छुटकारा होना कठिन है। इन वृक्षों के पके फलों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं। इसलिए जिन दिनों इनके फल पकते हैं, चिड़ियों के झुण्ड-के झुण्ड उन पर जाते हैं। इनके फलों को ले-लेकर वे दूसरे वृक्षों पर जाते हैं। इस प्रकार चिड़ियों के द्वारा इनके बीज दूसरे पेड़ों पर पहुँच जाते हैं। समय आने पर इन्हीं बीजों से पेड़ उगते हैं। क्रमशः इन नवीन पौधों की पत्तियाँ और शाखें ऊपर को बढ़ती हैं और जड़ें नीचे की ओर को चल पड़ती हैं! प्रारम्भ में ये जड़ें कोमल और पतली होती हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों वृक्ष पुराना होता है, उससे अनेक जड़ें फूट निकलती हैं, जो धीरे-धीरे आधार के चारों ओर लिपट जाती हैं (पृ० १००२ का चित्र)। जैसे-जैसे पत्तियों को ज्यादा प्रकाश मिलता है, पेड़ और भी तेजी से बढ़ने लगता है। अन्त में उसकी जड़ें ज़मीन तक जा पहुँचती हैं। अब वे साधारण जड़ों की भाँति पृथ्वी से जल और खाद्य रस खींचने लगती हैं और इस प्रकार पेड़ के लिए और भी मुसीबत हो जाता

हैं, जिससे वह तेजी से बढ़ने लगता है। वे वायवीक जड़ें, जो अब तक कोमल थीं, कड़ी होने लगती हैं और उनसे कितनी ही शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकलती हैं, जो चारों ओर फैलकर आश्रयदाता पेड़ को बुरी तरह से जकड़ लेती हैं। ज्यों-ज्यों आश्रयदाता वृक्ष पुराना हो अन्दर से गौण वृद्धि के कारण फैलना चाहता है, इन जंजीरों की तरह जकड़ी हुई बरोहियों के कारण उसका बढ़ना कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे फंदे और भी अधिक दृढ़ होते जाते हैं और यद्यपि उनमें जकड़ा वृक्ष अन्दर से जोर मारकर इन्हें तोड़कर अलग होना चाहता है, परन्तु इसमें वह सफल नहीं हो पाता है। अब धीरे-धीरे आश्रयदाता पेड़ कमजोर होने लगता है। उसकी पत्तियाँ और शाखाएँ मुरझाने लगती हैं और अन्त में इस संग्राम में पराजित हो उसे उस अपरिजात पेड़ को, जिसको उसने आज से कई वर्ष पूर्व आश्रय दे पाला था, स्थान देना पड़ता है। फिर भी हम अपरिजात पौधों को परोपजीवी नहीं कह सकते। वे केवल आश्रय के लिए ही दूसरे पेड़ों पर उगते हैं और यद्यपि आश्रयदाता पेड़ इन्हीं के कारण अक्सर सूखकर मर भी जाते हैं, फिर भी जिन पेड़ों पर इस जाति के वृक्ष उगते हैं, उनसे वे खाद्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते।

जैसा कि कहा चुका है, बरगद जैसे पेड़ों की बरोहियाँ जिस समय बढ़कर जमीन तक पहुँच जाती हैं, वे साधारण जड़ों का काम करने लगती हैं। साथ ही वे ज्यों-ज्यों पुरानी होती हैं, मोटी और मजबूत होती जाती हैं। वे तने की भाँति शाखों और पत्तियों के बोझ को धारण करने का भी काम देती हैं। इस प्रकार ऐसे पेड़ ज्यों-ज्यों पुराने होते हैं, इस प्रकार के अनेक तने उनमें उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत पुराने बरगद के पेड़ में मुख्य तने को इन तनों से पृथक् पहचानना कठिन होता है (दे० पृ० १००३ का चित्र)। हमारे देश में कलकत्ते के बोटैनिकल गारडन्स में एक पुराना बरगद का पेड़ है, जिसमें २५० से अधिक ऐसी बरोहियाँ हैं, जिनकी मोटाई २-३ गज तक है। पतली बरोहियों की संख्या ३,००० से अधिक है। इस प्रकार इस वृक्ष में सब मिलाकर ३,२५० से भी अधिक तने हैं। इसे हम वृक्ष नहीं, बल्कि अच्छा खासा बरगद का बगीचा कह सकते हैं। हजारों आदमी इसके साये में आराम कर सकते हैं। इसकी शाखों में अनगिनत पक्षियों के घोंसले हैं।

ज्वार के निचले भाग का चित्र

इसकी निचली गाँठों से अवलंब जड़ें जमीन में जा धँसती हैं। इससे पौधों को खड़ा रहने में सहारा मिलता है। (चित्र—श्री वि० सा० शर्मा द्वारा)

पत्तियों का काम करनेवाली जड़ें

साधारण पेड़-पौधों की पत्तियों में पर्णहरिम होता है, जिसके द्वारा वे हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस से कार्बन ग्रहण करती हैं। जैसा कि वायु से जल ग्रहण करनेवाली जड़ों का वर्णन करते समय कहा जा चुका है, कोई-कोई अपरिजात वर्ग के आरकिड तथा कुछ दूसरे अपरिजात पौधों की वायवीक जड़ों में पर्णहरिम होता है, जिसके सदव से वे वायु के कार्बन का उपभोग करते हैं। इन पौधों की जड़ें रोपण के अतिरिक्त जलशोषण और कार्बन-संश्लेषण का भी काम करती हैं। यथार्थ में ऐसी जड़ें इन दोनों ही क्रियाओं का बड़ी कुशलता से पालन करती हैं। जिस समय ऐसी जड़ों का दूसरे वृक्ष की छाल या डाल से लगाव होता है, उनसे अनेक नलिकाकार या अन्य भाँति की कोशिकाएँ बनती रहती हैं, जो इन्हें आधार से चिपटने का काम देती हैं और इसलिए ये जड़ें आधार को मजबूती से जकड़ लेती हैं। यह पकड़ इतनी मजबूत होती है कि अगर आप किसी वृक्ष की डाल पर लगे आरकिड को वहाँ से हटाकर कहीं और लगाना चाहें, तो जड़ों के साथ-साथ अक्सर पेड़ की छाल भी उखड़ आती है। इन वायवीक जड़ों में, जिस समय उनका वृक्ष की शाखों से लगाव नहीं रहता, ऐसी कोशिकाओं का बनना बंद हो जाता है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, इन जड़ों में सबसे बाहर की ओर एक रंगहीन कोशिकाओं का आवरण या विलामेन होता है, जो वायुमंडल की तरी और भाप से जलशोषण करता रहता है। विलामेन के अन्दर के पर्त में पर्णहरिम होता

हैं, जिसका हरापन, जिस समय तरी रहती है, दिखाई देता रहता है। विलामेन की कोशिकाओं में जलशोषण की प्रधानता किसी पौधे में कम और किसी में अधिक रहती है। एक जाति के आरकिड को, जिसे 'आनसिडियम स्फैसीलेटम' कहते हैं, अगर शुष्क वायुमंडल से तर वायुमंडल में ले जाया जाय, तो इसकी वायवीक जड़ें २४ घंटे के अन्दर अपने वजन का ८ फी सदी जल सोख लेती हैं। एक दूसरी जाति के आरकिड 'इपीडेंड्रन इलोंगेटम' की वायवीक जड़ें ऐसी दशा में अपने वजन का ११ फी सदी वजन जल सोख लेती हैं। जब वायुमंडल में तरी नहीं होती, तो विलामेन की कोशिकाएँ सूख जाती हैं और इस प्रकार वे अन्दर की कोशिकाओं को वाष्प-त्याग से बचाती हैं। इसलिए विलामेन से पौधों को बड़ा लाभ होता है। जिन पौधों में ऐसी वायवीक जड़ें होती हैं, जिनमें कि विलामेन और पर्णहरिम होता है, वे वायु से जल और कार्बन दोनों ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनमें स्टार्च-संश्लेषण होता रहता है। अनेक पौधों की वायवीक जड़ें उन्हें दौड़ने में मदद देती हैं। ऐसी जड़ों के सहारे ये पौधे दूसरे पेड़ों के तनों अथवा चट्टानों तथा दीवालों पर बड़ी कुशलता से चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार की जड़ें अनेक पौधों में होती हैं। 'टिकोमा स्प्लैन्डेन्स' (दे० इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र) और 'फाइकस स्टीपुलेटा' में ऐसी जड़ें होती हैं।

टिकोमा स्प्लैन्डेन्स

इस लता की जड़ें इसे दीवारों पर चढ़ने में मदद देती हैं।

अवलम्ब जड़ें

समुद्रतट के दलदलों की मिट्टी सदा गीली बनी रहती है, इसलिए ऐसे स्थानों पर उगनेवाले पेड़ों को धरती के अन्दर के अवलम्ब का सदा पूरा भरोसा नहीं रहता। इन पेड़ों में प्रायः वायवीक जड़ें बैसाखी की तरह सहारा दे उन्हें सँभाले रहती हैं। केवड़े में ऐसी ही जड़ें होती हैं। इसके तने के निचले भाग से निकली जड़ें उनके भार को रोके रहती हैं (दे० इसी पृष्ठ का निचला चित्र)।

ज्वार और गन्ने की भाँति के पौधों की साधारण जड़ें कमज़ोर होती हैं, इसलिए इन जड़ों के सहारे पौधे के बोझ का सँभालना कठिन रहता है। अतएव इन पौधों की निचली दो-तीन गाँठों से वायवीक जड़ें निकलकर चारों

केवड़ा

देखिए, इसकी वायवीक जड़ें किस प्रकार इसके छतरी जैसे ऊपर के भार को रोके रहती हैं। ये अवलम्ब जड़ें कहलाती हैं।

[फोटो—श्री वि० सा० शर्मा]

है, जिसका हरापन, जिस समय तरी रहती है, दिखाई देता रहता है। विलामेन की कोशिकाओं में जलशोषण की प्रधानता किसी पौधे में कम और किसी में अधिक रहती है। एक जाति के आरकिड को, जिसे 'आनसिडियम स्फैसीलेटम' कहते हैं, अगर शुष्क वायुमंडल से तर वायुमंडल में ले जाया जाय, तो इसकी वायवीक जड़ें २४ घंटे के अन्दर अपने वजन का ८ फी सदी जल सोख लेती हैं। एक दूसरी जाति के आरकिड 'इपीडेंड्रन इलोंगेटम' की वायवीक जड़ें ऐसी दशा में अपने वजन का ११ फी सदी वजन जल सोख लेती हैं। जब वायुमंडल में तरी नहीं होती, तो विलामेन की कोशिकाएँ सूख जाती हैं और इस प्रकार वे अन्दर की कोशिकाओं को वाष्प-त्याग से बचाती हैं। इसलिए विलामेन से पौधों को बड़ा लाभ होता है। जिन पौधों में ऐसी वायवीक जड़ें होती हैं, जिनमें कि विलामेन और पर्णहरिम होता है, वे वायु से जल और कार्बन दोनों ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनमें स्टार्च-संश्लेषण होता रहता है। अनेक पौधों की वायवीक जड़ें उन्हें दौड़ने में मदद देती हैं। ऐसी जड़ों के सहारे ये पौधे दूसरे पेड़ों के तनों अथवा चट्टानों तथा दीवालों पर बड़ी कुशलता से चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार की जड़ें अनेक पौधों में होती हैं। 'टिकोमा स्प्लैन्डेन्स' (दे० इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र) और 'फाइकस स्टीपुलेटा' में ऐसी जड़ें होती हैं।

टिकोमा स्प्लैन्डेन्स

इस लता की जड़ें इसे दीवारों पर चढ़ने में मदद देती हैं।

अवलम्ब जड़ें

समुद्रतट के दलदलों की मिट्टी सदा गीली बनी रहती है, इसलिए ऐसे स्थानों पर उगनेवाले पेड़ों को धरती के अन्दर के अवलम्ब का सदा पूरा भरोसा नहीं रहता। इन पेड़ों में प्रायः वायवीक जड़ें बैसाखी की तरह सहारा दे उन्हें सँभाले रहती हैं। केवड़े में ऐसी ही जड़ें होती हैं। इसके तने के निचले भाग से निकली जड़ें उनके भार को रोके रहती हैं (दे० इसी पृष्ठ का निचला चित्र)।

ज्वार और गन्ने की भाँति के पौधों की साधारण जड़ें कमजोर होती हैं, इसलिए इन जड़ों के सहारे पौधे के बोझ का सँभालना कठिन रहता है। अतएव इन पौधों की निचली दो-तीन गाँठों से वायवीक जड़ें निकलकर चारों

केवड़ा

देखिए, इसकी वायवीक जड़ें किस प्रकार इसके छतरी जैसे ऊपर के भार को रोके रहती हैं। ये अवलम्ब जड़ें कहलाती हैं।

[फोटो—श्री वि० सा० शर्मा]

पुश्तवान जड़ें

यह लंका के पैराडिनिया बोटैनिकल गार्डेन्स में विद्यमान एक वृक्ष के निचले भाग का चित्र है (फोटो—श्री गिरिलाल साह)।

ओर जमीन में धँस जाती हैं (दे० चित्र पृष्ठ १००४)। ये पौधे के भार को रोके रहती हैं और इस तरह वे आसानी से सीधे खड़े रहते हैं। जिस प्रकार मैदान में झंडा चारों ओर से रस्सियों के बाँध देने से खड़ा रहता है, उसी भाँति जिन पौधों में ये जड़कुलें होती हैं, वे भी आसानी से जमीन में स्थापित रहते हैं और वायु के झोंकों का उन पर प्रायः असर नहीं पड़ता। किन्हीं-किन्हीं ताड़ की जातिवाले पेड़ों में भी ऐसी जड़ें होती हैं।

पुश्तवान जड़ें

कुछ ऐसे वृक्ष भी होते हैं, जिनकी मुख्य जड़ें जमीन के नीचे अधिक दूर तक नहीं जातीं। इसलिए उनमें तने और शाखों के भार को रोकने के लिए वाहर से सहारा देने की आवश्यकता होती है। इन पेड़ों के निचले भाग तख्तों की भाँति वाहर उभरे रहते हैं, जिनसे वृक्ष को सहारा मिलता है। कभी-कभी ये 'पुश्तवान' बड़े लम्बे-चौड़े होते हैं। ऐसे एक ही तख्ते से अच्छी खासी मेज वन सकती है। ये जड़ें प्रायः जमीन के ऊपर इतनी ऊँची निकली रहती हैं कि इनके एक ओर खड़ा आदमी दूसरी तरफ के आदमी को आसानी से देख नहीं सकता। लंका के पैराडिनिया उद्यान में एक जाति के पेड़ हैं, जिनकी 'पुश्तवान' जड़ें कई गज के फेर में फैली हुई हैं (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)। सेमल और फाइकस इलैस्टिका में भी ऐसी जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ोंवाले पेड़ भूमध्य-रेखा के निकटवर्ती जंगलों में अधिक होते हैं।

साँस लेनेवाली जड़ें

वैसे तो प्रायः सभी पेड़ों की जड़ें किसी-न-किसी अंग तक साँस लेती हैं; परन्तु इस समय हम उन जड़ों पर विचार करेंगे, जो विशेपकर इसी काम के लिए साधारण जड़ों में परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं। साधारण भूमि में मिट्टी के कणों के बीच-बीच में स्थान होते हैं, जिनमें वायु भरी रहती है। इस वायु से जड़ों को ऑक्सिजन मिलती है। नदी के मुहानों और समुद्र-तट की कोई-कोई जगहों पर तथा दलदलों में अकसर जल भरा रहता है, जिसके कारण ऐसी भूमि में वायु नहीं रहती। जो पेड़ ऐसे स्थानों

में उगते हैं, उनकी जड़ों को साँस लेने में कठिनाई होती है। ऐसे पेड़ों में वायु प्राप्त करने के लिए एक विशेप प्रकार की जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों की वृत्ति के विपरीत पृथ्वी के अन्दर नीचे की ओर न जाकर उलटे धरती फोड़कर बाहर निकल आती हैं। इन जड़ों में एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसमें वायु भरी रहती है। वही वायु समय पर साँस लेने के काम आती है।

परोपजीवी जड़ें

अमरबेल, गँठवा और बाँदा जैसे अनेक पौधे हैं, जो अन्य पौधों से खाद्य रस प्राप्त करते हैं। इस समूह के पौधों में अपने पालक या प्रतिपालक से खाद्य रस ग्रहण करने के लिए विशेप प्रकार की जड़ें होती हैं, जिन्हें हम परोपजीवी जड़ें कहते हैं। ये जड़ें पालक पौधे से जा मिलती हैं। इन दोनों के प्रवाहन-तन्तु आपस में मिल जाते हैं और इस प्रकार परोपजीवी पौधे पालक पौधे से रस ग्रहण करते रहते हैं। अमरबेल में पर्णहरिम नहीं होता, इसलिए इसमें सारे खाद्य रस उसी पेड़ से आते हैं, जिस पर वह उगी होती है। बाँदा की जाति के पौधे, जिन्हें आपने आम, शीशम तथा अन्य पेड़ों पर लगे देखा होगा, प्रतिपालक से जल तथा खनिज लवण ही ग्रहण करते हैं और अपनी हरी पत्तियों द्वारा अन्य साधारण पौधों की भाँति, वे कार्बन वायु से ही प्राप्त करते हैं।

उत्तर प्रदेश में बाँदा आम की एक अति भयानक व्याधि है। अक्सर वह आम के पेड़ों पर बड़ा जोर पकड़ता है। बाँदा के बीजों में एक प्रकार का लसदार पदार्थ होता है, जिसके कारण वे शाखों पर आसानी से चिपक जाते हैं। ये बीज समय आने पर वहीं पर अंकुरित होते हैं। बाँदा की जड़ से एक प्रकार का रस निकलता है, जो प्रतिपालक पौधे के तन्तु को गला देता है और इस प्रकार इसकी जड़ें पालक के तन्तुओं के अन्दर प्रवेश करती हैं। धीरे-धीरे फैलकर बाँदा तमाम पेड़ में पहुँच जाता है और इससे पेड़ को बड़ी हानि पहुँचती है।

गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं) की जड़ें जमीन के अन्दर ही प्रतिपालक की जड़ों से मिली रहती हैं। बाहर से देखने में कुछ पता नहीं चलता। यह पौधा अक्सर बैंगन, तम्बाकू, सरसों, आलू, पिटूनिया और नागकेसर की जड़ों पर उगता है। धरती के बाहर मनोहर फूलों से लदी डाली को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह पौधा छिपे-छिपे पड़ोस के पौधे के साथ विश्वासघात कर उसका सर्वनाश करने में तत्पर है! गँठवा में पत्ते नहीं होते, इसलिए वह प्रतिपालक से ही सारे खाद्य रस प्रप्त करता है। बाँदा और अमरबेल की भाँति इसकी जड़ों से भी एक प्रकार का रस निकलता है, जिसके प्रभाव से प्रतिपालक पौधे

गँठवा और उसका प्रतिपालक सरसों
जड़ों को खोदकर देखने से पता लगता है कि छिपे-छिपे गँठवा की जड़ें अपने पड़ोसी की जड़ों से किस प्रकार जा मिली हैं। वे इन्हीं से खाद्य रस चूसती हैं।

आम की डाली पर लगा बाँदा
डाली पर की गाँठों के स्थान पर बाँदा की जड़ें आम की शाखा के अन्दर प्रवेश करती हैं।

में उगते हैं, उनकी जड़ों को साँस लेने में कठिनाई होती है। ऐसे पेड़ों में वायु प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार की जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों की वृत्ति के विपरीत पृथ्वी के अन्दर नीचे की ओर न जाकर उलटे धरती फोड़कर बाहर निकल आती हैं। इन जड़ों में एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसमें वायु भरी रहती है। यही वायु समय पर साँस लेने के काम आती है।

परोपजीवी जड़ें

अमरबेल, गँठवा और बाँदा जैसे अनेक पौधे हैं, जो अन्य पौधों से खाद्य रस प्राप्त करते हैं। इस समूह के पौधों में अपने पालक या प्रतिपालक से खाद्य रस ग्रहण करने के लिए विशेष प्रकार की जड़ें होती हैं, जिन्हें हम परोपजीवी जड़ें कहते हैं। ये जड़ें पालक पौधे से जा मिलती हैं। इन दोनों के प्रवाहन-तन्तु आपस में मिल जाते हैं और इस प्रकार परोपजीवी पौधे पालक पौधे से रस ग्रहण करते रहते हैं। अमरबेल में पर्णहरिम नहीं होता, इसलिए इसमें सारे खाद्य रस उसी पेड़ से आते हैं, जिस पर वह उगी होती है। बाँदा की जाति के पौधे, जिन्हें आपने आम, शीशम तथा अन्य पेड़ों पर लगे देखा होगा, प्रतिपालक से जल तथा खनिज लवण ही ग्रहण करते हैं और अपनी हरी पत्तियों द्वारा अन्य साधारण पौधों की भाँति, वे कार्बन वायु से ही प्राप्त करते हैं।

उत्तर प्रदेश में बाँदा आम की एक अति भयानक व्याधि है। अक्सर वह आम के पेड़ों पर बड़ा जोर पकड़ता है। बाँदा के बीजों में एक प्रकार का लसदार पदार्थ होता है, जिसके कारण वे शाखों पर आसानी से चिपक जाते हैं। ये बीज समय आने पर वहीं पर अंकुरित होते हैं। बाँदा की जड़ से एक प्रकार का रस निकलता है, जो प्रतिपालक पौधे के तन्तु को गला देता है और इस प्रकार इसकी जड़ें पालक के तन्तुओं के अन्दर प्रवेश करती हैं। धीरे-धीरे फैलकर बाँदा तमाम पेड़ में पहुँच जाता है और इससे पेड़ को बड़ी हानि पहुँचती है।

गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं) की जड़ें जमीन के अन्दर ही प्रतिपालक की जड़ों से मिली रहती हैं। बाहर से देखने में कुछ पता नहीं चलता। यह पौधा अक्सर बैंगन, तम्बाकू, सरसों, आलू, पिटूनिया और नागकेसर की जड़ों पर उगता है। धरती के बाहर मनोहर फूलों से लदी डाली को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह पौधा छिपे-छिपे पड़ोस के पौधे के साथ विश्वासघात कर उसका सर्वनाश करने में तत्पर है! गँठवा में पत्ते नहीं होते, इसलिए वह प्रतिपालक से ही सारे खाद्य रस प्रप्त करता है। बाँदा और अमरबेल की भाँति इसकी जड़ों से भी एक प्रकार का रस निकलता है, जिसके प्रभाव से प्रतिपालक पौधे

गँठवा और उसका प्रतिपालक सरसों
जड़ों को खोदकर देखने से पता लगता है कि छिपे-छिपे गँठवा की जड़ें अपने पड़ोसी की जड़ों से किस प्रकार जा मिली हैं। वे इन्हीं से खाद्य रस चूसती हैं।

आम की डाली पर लगा बाँदा
डाली पर की गाँठों के स्थान पर बाँदा की जड़ें आम की शाखा के अन्दर प्रवेश करती हैं।

के तन्तु गल जाते हैं और इसलिए गँठवा की जड़ें अन्दर प्रवेश कर खाद्य रस को चूस सकती हैं।

गँठवा की भाँति का एक और पौधा है, जिसे 'रैफ्लीजिया' कहते हैं। इस पौधे में सूत-जैसी जड़ों और फूल के अतिरिक्त और कोई भी अंग नहीं होता। पृथ्वी के बाहर केवल फूल ही दिखाई देता है। जड़ें अन्दर-अन्दर पालक के तन्तुओं में फैली रहती हैं। वहीं से वे खाद्य रस खींचती रहती हैं। 'रैफ्लीजिया आरनेल्डाई' का फूल संसार के फूलों में सबसे बड़ा होता है। इसकी गणना वनस्पति-संसार की अद्भुत वस्तुओं में है। फूल की प्रत्येक पंखुड़ी लंबान में एक फुट से अधिक होती है और कुल फूल का वजन ७-८ सेर के करीब होता है! (पृ० १४० पर इसका चित्र देखिए)

बिना जड़वाले साधारण (नलिका-युक्त) पौधे

साधारण पौधों में तालाबों में उत्पन्न होनेवाली एक प्रकार की काई (यह फूल-वाले पौधे में सबसे छोटी होती है) में जड़ नहीं होती। ब्लैडरवर्ट नामक कीटाशी पौधे में भी जड़ नहीं होती। यह पौधा हमारे पास-पड़ौस के तालाबों और पोखरों में होता है। इसमें जड़ों का काम रोम द्वारा होता है। एक प्रकार के जलपर्णांग सैलवीनिया में भी जड़ों का कर्त्तव्य विशेष प्रकार के रोमों द्वारा होता है। ये रोम पत्तियों के रूपान्तर से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जड़ों के अभाव में शोषण-क्रिया रोमवत् पत्तियों द्वारा होती है।

अमरबेल
अमरबेल की परोपजीवी जड़
प्रतिपालक

अमरबेल और उसका प्रतिपालक

अमरबेल से अनेक परोपजीवी जड़ें निकलकर उस पेड़ के अंग में, जिस पर वह फैली रहती है, जा घुसती हैं। प्रस्तुत मानचित्र में यही दिखाया गया है कि किस प्रकार गहराई तक इस परोपजीवी पौधे की जड़ें प्रतिपालक के अंग में घुसकर उसका शोषण करती हैं।

राइज्वाइड्स

अभी तक हमने नलिकायुक्त पौधों की जड़ों पर विचार किया है। नलिकारहित पौधों में यथार्थ में जड़ें नहीं होतीं, परन्तु फिर भी रोपण और शोषण दोनों क्रियाएँ इनमें भी होती हैं। इन पौधों में प्रायः जड़ों का काम रोमों द्वारा होता है। ये रोम बनावट में अत्यन्त सरल होते हैं।

शैवालादि जाति के पौधे प्रायः पानी के अन्दर ही रहते हैं, इसलिए इनमें शोषण करनेवाले विशेष अंग की आवश्यकता नहीं रहती। प्रायः यह क्रिया सारे पौधे द्वारा होती है। रोपण करने के लिए किसी-किसी म रोम (राइज्वाइड्स) और किसी-किसी में 'होल्डफास्ट' होते हैं। होल्डफास्ट एक विशेष प्रकार का जड़-जैसा अंग है, जो इन पौधों को चट्टानों से जकड़े रहता है। लिवरवर्ट में जड़ों का काम राइज्वाइड्स द्वारा होता है। ये एककोष्ठी होते हैं। सम्भवतः ये रोम इन पौधों में रोपण और शोषण दोनों ही का काम करते हैं। मॉसेज में राइज्वाइड्स बहुकोष्ठी होते हैं। फिर भी इनकी रचना अत्यन्त सरल होती है। इनकी मोटाई एक कोशिका से अधिक नहीं होती। इन पौधों में भी लिवरवर्ट्स की भाँति रोपण और शोषण दोनों क्रियाएँ राइज्वाइड्स द्वारा होती हैं। लाइकेन (इनमें छैलछबीला जैसे पौधे हैं) में भी जड़ के स्थान पर राइज्वाइड्स होते हैं, परन्तु ये विशेष कर रोपण का ही कार्य करते हैं। सम्भव है, किसी-किसी लाइकेन में राइज्वाइड्स शोषण का भी काम करते हों।

यदि हम बिल्कुल नीची कोटि से लेकर ऊँची कोटि तक के पौधों तक कुल मिलाकर विचार करें, तो देखेंगे कि पेड़-पौधों में क्रमशः श्रम-विभाजन की ओर विकास हुआ है। निम्न कोटि के शैवालादि में समस्त पौधा शोषण का काम करता है। किसी-किसी शैवाल में रोपण के लिए होल्डफास्ट या हैप्टीरा भी होता है। इनसे ऊँची श्रेणी के पौधों (जैसे कि ब्रायोफाइटा) में राइज्वाइड्स होते हैं, जो रोपण और शोषण का काम करते हैं। नलिकायुक्त पौधों में जड़ें रोपण का काम देती हैं और नवल जड़ें और उन पर विद्यमान रोम शोषण का काम करते हैं।

स्तनपोषी समुदाय के प्राणी

जंतु-जगत् की विविध कक्षाओं और उनके अंतर्गत पाई जानेवाली श्रेणी-उपश्रेणियों का संक्षेप में परिचय देते हुए पिछले एक प्रकरण में स्तनपोषी वर्ग के विशाल समूह के बारे में यह बताया जा चुका है कि प्राणि-विकास की दृष्टि से यही जीव-संसार का सबसे महत्वपूर्ण समूह है, कारण इसी में मनुष्य एवं हाथी, घोड़ा, वानर आदि अन्य समुन्नत प्राणी सम्मिलित हैं। आइए, अब इस समुदाय का विस्तारपूर्वक परिचय प्राप्त करें।

यह अद्भुत जगत् सहस्रों प्रकार के जीव-जन्तुओं की जीवन-लीला का क्षेत्र है। सब अपने-अपने ढंग के निराले प्राणी हैं। फिर भी उनमें से कई एक सह-कुटुंबी हैं। उदाहरणार्थ, एक ही परिवार में हाथी और भीमकाय ह्वेल तथा नन्हीं-सी चुहिया है। यहाँ हम आपको जन्तु-जगत् के इन्हीं जीवों में से कुछ का हाल बतलाएँगे, जिनमें से कई एक से आप सुपरिचित हैं। कौन-सा ऐसा व्यक्ति होगा, जो गाय, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, चीता, हिरन, खरगोश, छछूँदर, चूहा आदि, जीवों को न जानता हो? इस समूह के कितने ही जीव ऐसे भी हैं, जिनसे साधारण लोग परिचित नहीं हैं। ये सभी स्तनपोषी समुदाय के सदस्य हैं और इनकी कोई ४,००० उपजातियाँ इस पृथ्वी पर विद्यमान हैं। इतनी अधिक उपजातियों का वर्णन करना यहाँ नितान्त असम्भव है। अतः यहाँ कुछ चुनी हुई उपजातियों का ही उल्लेख हम करेंगे।
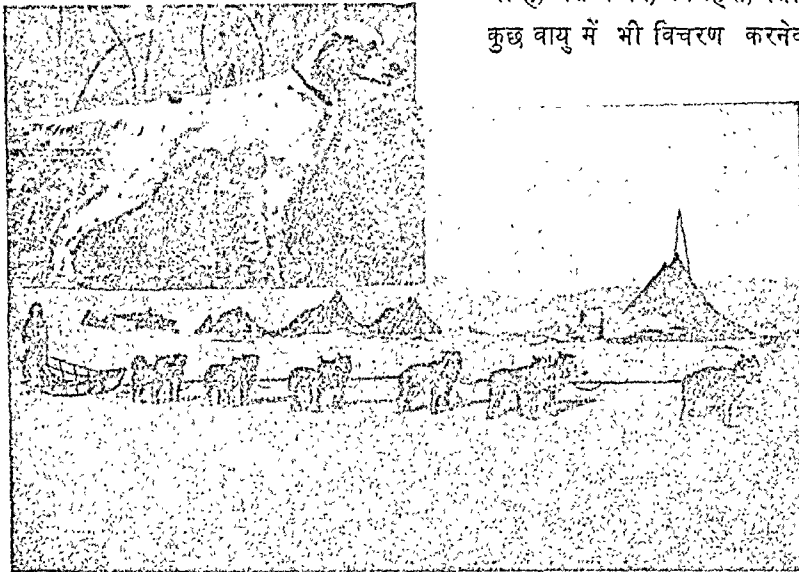
हमारे अधिकतर सहायक पशु स्तनपोषी समुदाय ही के सदस्य हैं

उदाहरणार्थ, कुत्ते ही को लीजिये—यह जानवर किस प्रकार मनुष्य के लिये सहायक है, चित्र के निचले भाग में प्रदर्शित एस्किमो लोगों के जीवन की इस झाँकी से प्रकट है!

नाना प्रकार के स्तनपोषी और उनकी विशेषताएँ

स्तनपोषियों में इतनी अधिक विचित्रता तथा विभिन्नता पाये जाने का मुख्य कारण यही है कि उनके रहन-सहन के ढंग बिलकुल निराले हैं। उनमें से अधिकतर स्थल पर ही रहते हैं, परन्तु कुछ वृक्षों पर जीवन बितानेवाले भी हैं, जैसे बन्दर, गिलहरी, स्लॉथ इत्यादि; तथा कुछ वायु में भी विचरण करनेवाले हैं, जैसे चमगादड़, जिनके उड़ने के लिए अंग होते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं, जो वृक्षों से धीरे-धीरे हवा में तैरती हुई सी उड़कर जमीन पर उतर आती हैं। बहुत से स्तनपोषी जानवर जलवासी भी हैं, जैसे ह्वेल, समुद्री गाय,
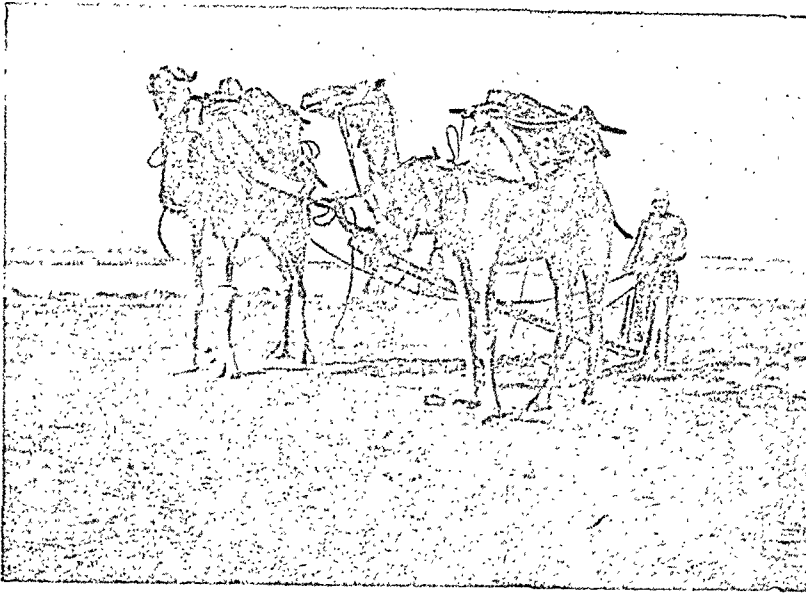
स्तनपोषी वर्ग के अनेक प्राणी मनुष्य की अमूल्य सेवा करते हैं
इसका कुछ अनुमान हल चलाते हुए ऊँटों की इस झाँकी द्वारा लगाया जा सकता है।

सूँस, दरियाई घोड़ा आदि। कुछ ऐसी उपजातियाँ भी हैं, जो चूहे और छछूँदर की तरह अपनी सारी जिन्दगी करीब-करीब धरती के भीतर ही बिता देती हैं, तथा कुछ पशु ऐसे भी हैं, जो अपने जीवन का कुछ समय बाहर तथा कुछ जमीन के भीतर भिटों में गुजारते हैं, जैसे भेड़िया, सेही और घास के मैदानों के कुत्ते सिनोमिस इत्यादि। जहाँ बहुतेरे स्तनपोषी ठंढे पहाड़ों और बर्फ पर रहने के आदी हो गए हैं, वहाँ कुछ को अत्यन्त गरम बालुकामय प्रदेशों में ही रहना अच्छा लगता है।

नाना प्रकार के ये सब स्तनधारी अपने शरीर के बालों द्वारा अन्य समूह के जीवों से सहज में ही पृथक् किए जा सकते हैं। इनके मुख्य लक्षण 'जन्तु जगत् की संक्षिप्त झाँकी' शीर्षक प्रकरण में हम आपको पहले ही बतला चुके हैं। यहाँ हम केवल इतनी ही याद दिला देना चाहते हैं कि इनकी अन्य एक विशेषता यह है कि इन सबमें मादाओं के स्तन होते हैं, जिनके द्वारा दूध पिलाकर वे अपने बच्चों का पालन करती हैं और तीसरी विशेषता यह भी है कि इनमें से एक कक्षा के जीवों के अतिरिक्त सभी के प्रसव द्वारा बच्चे पैदा होते हैं, अण्डे द्वारा नहीं।

किसी-किसी के शरीर पर सेही और एकिडना की भाँति बालों की जगह मोटे-मोटे काँटे होते हैं। किसी के शरीर पर कड़े छिलके की तहें या सिक्के जैसे मोटे पर्त मढ़े रहते हैं—उदाहरणार्थ, साल या पैंगोलिन तथा आर्मेडिल्लो के ऊपर। ये कड़े काँटे और पर्त भी उन्हीं पदार्थों के बने होते हैं, जिनसे कि बाल बनते हैं। शत्रुओं से सुरक्षित रहने तथा उनसे युद्ध करने के लिए इनमें नाना प्रकार के साधन देखने में आते हैं। दाँत, नख, सींग और खुर आदि ही इनके वे विविध शस्त्र हैं, जो समय पर इनके काम आते हैं। गैंडे के शृंग और गाय-बैल आदि के सींग के ऊपर चढ़े रहनेवाले खोल खुर और नख की तरह चर्म की ऊपरी तह से ही बनते हैं। बहुत से जानवरों के सींग हड्डियों के भी बने होते हैं। मवेशियों के सींग में भी बीच का भाग हड्डी का ही होता है। हिरन की तरह के कुछ जीवों के सींग हर साल गिर जाते हैं और उनकी जगह पुनः नए बन जाते हैं; परंतु भेड़, बकरी और गाय में साधारणतया एक ही जोड़ा सींग जीवन भर बना रहता है। बहुत-सी उपजातियों में सींग केवल नरों के ही होते हैं, मादा के नहीं।

भोजन और दाँत का सम्बन्ध

स्तनधारियों के दाँत उनकी अति महत्वपूर्ण सम्पत्तियों में से हैं, जो भिन्न-भिन्न उपजातियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। इससे पता चलता है कि वे किस प्रकार का भोजन करते हैं। इनमें अधिकांश जीवों में दाँत होते हैं। केवल कुछ ही ऐसे हैं, जिनके दाँत बिलकुल ही नहीं होते। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें युवावस्था में दाँत नहीं पाये जाते, जैसे बिना बालवाली ह्वेल और अंडे देनेवाले एकछिद्री स्तनपोषी तथा लम्बी चोंच के चींटी खानेवाले जानवर। आम तौर से चार प्रकार के दाँत हर एक जबड़े में होते हैं:—(१) सामने की ओर छेनी जैसे तेज कुतरनेवाले 'कृन्तक दाँत', (२) उनके इधर-उधर एक-एक नोकीले 'रदनक दाँत' या कीलें; (३) कीलों के पीछे गालों के अगले चबानेवाले दाँत, जिन्हें 'अग्र-चर्वणक' या दूध-डाढ़ें भी कहते हैं; (४) सबसे पीछे असली डाढ़ें या चबानेवाले दाँत। अधिकांश स्तनधारियों में बचपन में निकलनेवाले दाँत—जो 'दूध के दाँत' कहलाते हैं—गिर जाते हैं और उनकी जगह स्थाई मजबूत दाँत निकल आते हैं।
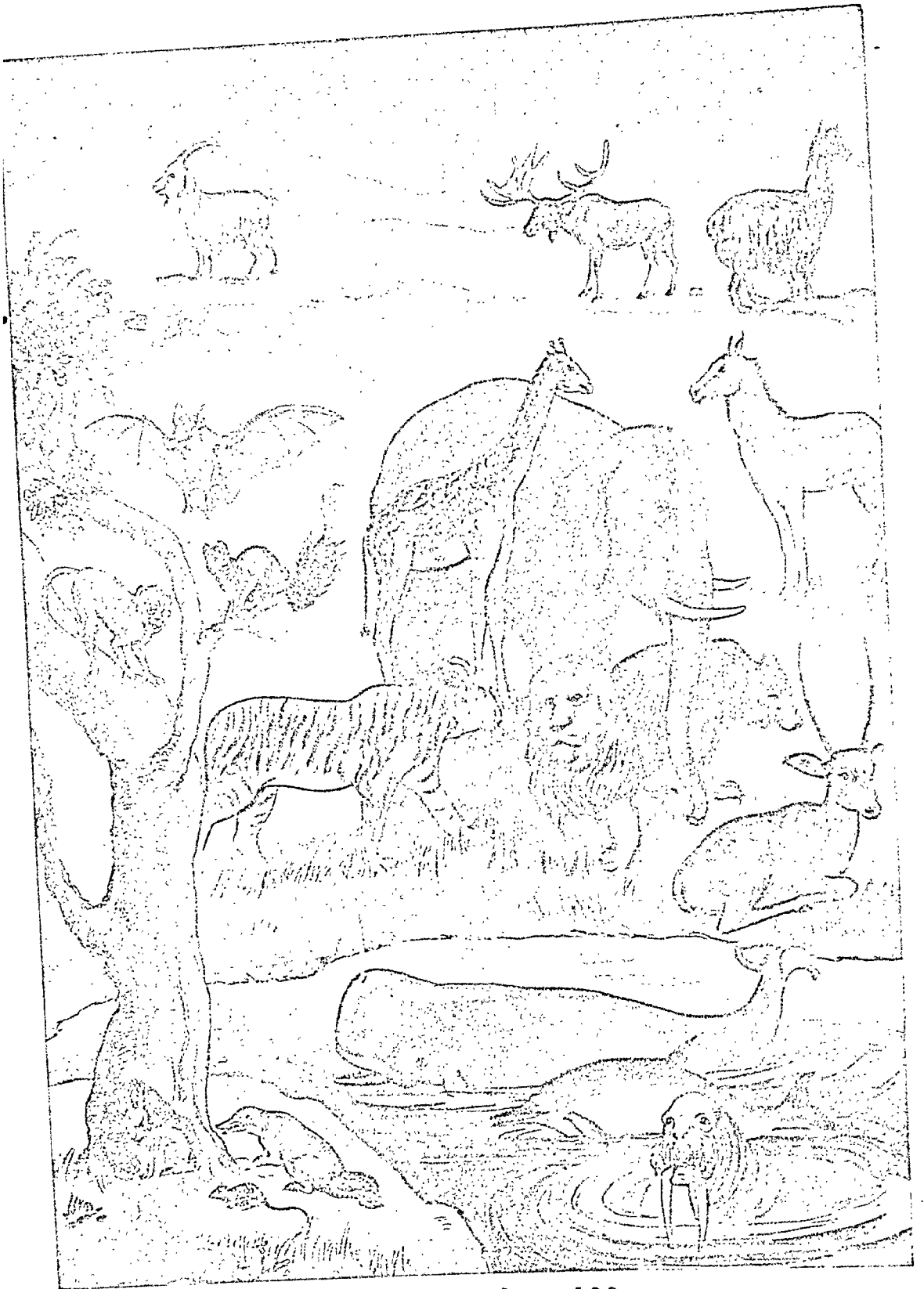
स्तनपोषी समुदाय के मुख्य प्रतिनिधि

इनमें ठंडे पहाड़ों पर रहनेवाले, मैदानों में विचरनेवाले, खुरदार और बिना खुरवाले, शाकाहारी या मांसाहारी, वृक्षों पर रहनेवाले एवं पानी में या धरती के भीतर बिलों में रहनेवाले सभी प्रकार के जीव सम्मिलित हैं।

एक विचित्र स्तनपोषी

'एकिडना' नामक यह कँटीला चींटीखोर ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा उनके निकट के द्वीपों में पाया जाता है। उसकी पीठ पर पीले काँटे होते हैं, जिनके छोर काले होते हैं। इन कड़े काँटों को देखकर उसके शत्रु हिम्मत हार जाते हैं। खटका होने पर यह लिपटकर गेंद-सा गोल हो जाता है और उस समय जान नहीं पड़ता कि यह कोई कँटीला पौधा है या एक जीव है। नीचे के चित्र में लिपटकर गेंद-सा बन जाने पर की उसकी झाँकी दिग्दर्शित है।

दाँतों की शक्ल-सूरत और जन्तु की भोजन-संबंधी आदतों में क्या सम्बन्ध है, यह बात इन दृष्टांतों से भली भाँति आप समझ सकेंगे कि कुत्तों जैसे मांसाहारी जानवरों में जहाँ रदनक दाँत या कीलें बड़ी-बड़ी होती हैं, जिससे कि ये शिकार को पकड़कर चीर डालें, वहाँ उनके कुतरनेवाले दाँत छोटे और करीब-करीब बेकार-से होते हैं और डाढ़ों में भी काटने या कुचलने के लिए पैने किनारे होते हैं। उधर गाय-बैल आदि घास खानेवालों के सामने के दाँत चौड़े होते हैं, जिससे वे सहज में पौधों को काट या कुतर सकें। उनमें कीलें तो होती ही नहीं, साथ ही चबाने के लिए डाढ़ें चौड़ी होती हैं। इसके प्रतिकूल खरगोश की तरह के कुतरनेवाले प्राणियों के क्रन्तक दन्त जीवन भर बढ़ते ही रहते हैं, और लगातार कुतरने से वे घिसते चले जाते हैं, जिससे उनकी तीक्ष्ण धार और लम्बाई निरन्तर काम के योग्य बनी रहती है। इसी तरह छछूँदर जैसे कीड़े-मकोड़े खानेवाले प्राणी जहाँ अपने निचले क्रन्तक दाँतों से कीड़ों को पकड़ते और अगली तथा पिछली डाढ़ों के नोकीले भागों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, वहाँ सर्व-भक्षक जन्तुओं के दाँत ऐसे होते हैं कि वे मांस और साग-पात दोनों ही को अच्छी तरह खा और चबा सकते हैं।
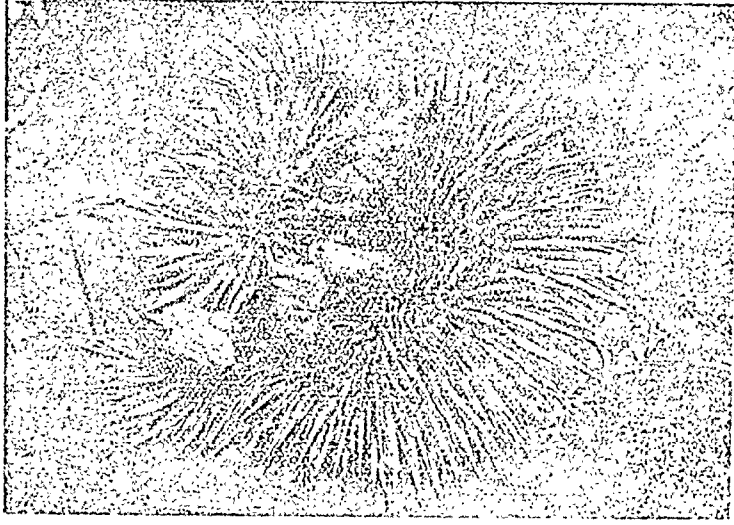
स्तनपोषी समुदाय के विभिन्न वर्ग

रचना और भोजन के अनुसार वैज्ञानिकों ने स्तनपोषियों को कई कक्षाओं में बाँटा है। आगे दी हुई सूची से आपको इन समूहों का सरसरी तौर पर ज्ञान हो सकता है:—

(१) 'अंडे देनेवाले एकछिद्री जन्तु', जिनमें ऑस्ट्रेलिया-निवासी बतखचोंचा या प्लेटीपस तथा कँटीला चींटीखोर एकिडना आदि सम्मिलित हैं।

(२) 'थैलीवाले स्तनपोषी या मार्सूपियल्स', जो अपने बच्चों को जन्म के बाद कुछ दिनों तक पेट के ऊपर एक थैली में रखकर उनका पालन करते हैं। ये भी विशेषकर ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में ही मिलते हैं। इस वर्ग के उदाहरण कँगारू, ओपोसुम, वलावी आदि हैं।

(३) 'क्रन्तक दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स', जिनके दाँतों पर ऊपरी चमकदार ऐनेमलवाला पर्त नहीं होता। इनमें से अधिकतर बड़े अजीब शक्ल के जीव हैं, जैसे—भारतीय साल, आर्मेडिलो, स्लॉथ आदि।

(४) 'कीड़े-मकोड़े खानेवाले कीटाणु-भक्षक अथवा इन्सेक्टीवोर्स', जो सभी छोटे होते हैं और धरती में बिल खोदकर रहते हैं। इनमें झाऊ-चूहा, छछूँदर और श्रू आदि प्रसिद्ध हैं।

(५) 'कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स', जिनमें कुतरनेवाले दाँत सदा बढ़ते ही रहते हैं। इनकी अनेक उपजातियाँ

हैं, जिनमें गिलहरी, सेही, खरगोश, चूहे, बीवर, आदि से हम सब सुपरिचित हैं।

(६) 'उड़नेवाले स्तनपोषी' जिनमें चमगादड़ कक्षा के अतिरिक्त और कोई वर्ग नहीं है, जिसे वास्तव में उड़नेवाला कहा जा सके।

(७) 'खुरवाले या अंगुलेट्स', जो अधिकतर बड़े डील के होते हैं और जिनमें नख के बजाय खुर मिलते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनके पैरों की उँगलियों की संख्या विषम होती है, जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, गैंडा और तापीर; तथा कुछ ऐसे हैं, जिनकी उँगलियाँ सम होती हैं, जैसे ऊँट, जिराफ, हिप्पोपोटैमस, सुअर, हिरन, भेड़, बकरी आदि।

(८) 'मांसाहारी या कार्नीवोर्स', जो अपने तीक्ष्ण दाँतों और सुदृढ़ चंगुलों के द्वारा अन्य पशुओं को फाड़कर खा जाते हैं—जैसे शेर, चीता, लोमड़ी, कुत्ता, बिल्ली, भालू, सील, वालरस इत्यादि।

(९) 'जल-निवासी विशाल स्तनपोषी', जैसे समुद्री गाय तथा ह्वेल आदि, जो गहरे समुद्रों में ही निवास करते हैं तथा जिनमें से कुछ संसार के सबसे बड़े प्राणी हैं।

(१०) अन्त में, सबसे उच्च श्रेणी के 'प्रधानभागीय' आते हैं, जिनके हाथ-पैरों में नख होते हैं और जो अपने अँगूठे को मोड़कर उँगलियों से मिला सकते हैं। उनकी सबसे मुख्य विशेषता उनका बड़ा मस्तिष्क है। इन्हीं में दुनिया के सारे वानर, वनमानुष, और वास्तविक मानव भी सम्मिलित हैं। इनकी रोचक कहानी हम आपको अन्य एक विभाग में विस्तारपूर्वक सुना ही चुके हैं।

ऊपर बतलाए गए विभिन्न प्रकार के जानवरों में से बहुतेरे ऐसे हैं, जो मनुष्य के लिए महान् उपयोगी भी हैं। इसीलिए इनको मनुष्य ने पालतू भी बना लिया है। गाय, भैंस, कुत्ता, घोड़ा, ऊँट, हाथी, बारहसिंघा, सुअर, भेड़, बकरी इत्यादि इसी प्रकार के पशु हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो अब तक पूर्ण रीति से घरेलू नहीं बन पाए हैं, किन्तु आशा है कि धीरे-धीरे कुछ समय में वे भी पालतू बन जायँगे। जो पशु मनुष्य के लिए सबसे जरूरी हैं, उनमें से कुछ हमारी बस्तियों के आस-पास ही इकट्ठा रहते हैं। वे किसानों के हर रोज के साथी हैं और सदा उनकी सेवा में रत रहते हैं। वे अपनी स्वच्छन्दता की बलि चढ़ा चुके हैं और फलतः उनका जीवन भी मानव-जीवन के समान ही बहुत-कुछ कृत्रिम और सभ्य बन गया है। कई तो ऐसे हैं, जो जंगली दशा में अब मिलते ही नहीं।

ये अनोखे कुदक्कड़ भी स्तनपोषी समुदाय के ही सदस्य हैं

ऑस्ट्रेलिया के ये सुप्रसिद्ध प्राणी कँगारू अपनी मजबूत दुम के सहारे कूद-कूदकर चलते हैं। वे और जानवरों की तरह दौड़ तो नहीं सकते; परन्तु २५-३० फीट तक लम्बी छलाँग मारना और ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ कूद जाना उनके लिए एक मामूली-सी बात है।

स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—

(१) भोजन-सामग्री देकर	(२) वस्त्र के लिए सामग्री देकर
(अ) मांस	(अ) ऊन और बाल
(आ) दूध	(आ) खाल और समूर

(३) सहायता देकर	(४) अन्य उपयोगी वस्तुएँ देकर
(अ) शिकार में	(अ) हड्डी, हाथीदाँत, सींग
(आ) एक जगह से दूसरी जगह बोझा अथवा सवारी ढोने में	(आ) सरेस
	(इ) तेल, चर्बी, सींग आदि पदार्थ

सच तो यह है कि इन पालतू घरेलू जानवरों ने मनुष्य की उन्नति में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। यदि प्राचीन मनुष्य कुत्ते के समान वफादार तथा घोड़ा, बैल, गाय, और बकरी की तरह लाभदायक जन्तुओं को पालने तथा अपने अधीन रखने में सफल न हुआ होता, तो आज हमारा जीवन कदापि इतना सुगम और सरल न होता। हम सभी जानते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में हमारे पूर्वज नितान्त जंगली थे। वे यहाँ से वहाँ भटका करते थे। अपने भोजन और वस्त्र के लिए उन्हें अपनी शिकार-संबंधी कुशलता का ही सहारा लेना पड़ता था। समय बीतने पर जब उन्होंने आवारागर्दी की वह जिन्दगी छोड़ी और इकट्ठा होकर छोटी-छोटी बस्तियों में रहना शुरू किया, तो कभी-कभी वे जानवरों के नन्हें-नन्हें बच्चों को पकड़कर अपने दिल-बहलाव के लिए अवश्य अपने साथ रखते रहे होंगे। यही पालतू बच्चे धीरे-धीरे जब बड़े हुए होंगे, तो उनके भी अनेक बच्चे हुए होंगे और इसी तरह घरेलू जानवरों की पहली नस्लें तैयार हुई होंगी। क्रमशः मनोरंजन के लिए पाले गए इन जानवरों से मनुष्य ने शीघ्र ही नाना प्रकार के लाभ उठाना सीख लिया। शिकार के न मिलने पर अब उसे किसी दिन भूखा रहने की भी जरूरत न रह गई, क्योंकि पाले हुए बैल, बकरी या भेड़ को ही काटकर अब वह अपनी हाँडी गरम कर लेता था। पकड़कर रक्खी हुई गाय से उसे इच्छानुसार दूध भी मिलने लगा था और पहनने के वस्त्र आदि बनाने के लिए भेड़ों से ऊन तथा बकरों से बाल आदि भी प्राप्त होने लगे थे। इस प्रकार मनुष्य और पशुओं का पारस्परिक सम्बन्ध लगातार घनिष्ट होता चला गया। इसी क्रम से बहुत-से लाभदायक जानवरों को मनुष्य ने पालतू बना लिया। इसमें सन्देह नहीं कि पशुओं में मनुष्य का सबसे पहला मित्र कुत्ता ही था। अब भी कुत्ता और बिल्ली ही दुनिया भर में सबसे प्रसिद्ध घरेलू जानवर हैं। बिल्ली तो केवल हमारे मनोरंजन का ही एक साधन है, यद्यपि वह चूहों को कम करने में भी सहायक होती है; किन्तु कुत्ता मनुष्य का एकमात्र विश्वसनीय मित्र तथा उसकी सम्पत्ति का पहरुआ ही नहीं, वरन् भाँति-भाँति से उसके जीवन का सहायक और साथी है। उसकी बहुत-सी चतुराइयाँ आपने सरकसों में देखी होंगी। कहीं-कहीं कुत्तों से गाड़ी तक खींचने का काम लिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो पुलिस उनसे अपराधी को पकड़वाने का कार्य भी कराती है। भाँति-भाँति के शिकारों को घेरना तथा मरने पर उन्हें उठाकर अपने मालिक के पास ले आना तो उनके लिए एक मामूली-सी बात है।

इससे यह न समझना चाहिए कि अधिकतर पशु हमारे लिए गुणकारी ही हैं। बहुतेरे ऐसे भंयकर जीव भी अभी पृथ्वी पर हैं, जो हमारे प्राणों के घातक हैं। अवसर प्राप्त होने पर वे हम पर आक्रमण करने से कभी नहीं चूकते। यह अवश्य है कि अब दुनिया की आबादी बढ़ जाने तथा जंगलों के नष्ट हो जाने से मनुष्य के इन शत्रुओं की संख्या बहुत कम हो गई है। अनेक पशु यद्यपि हैं तो हानिकारक, फिर भी उन्हें मनुष्य ने केवल शिकार के शौक में इतनी अधिक संख्या में नष्ट कर डाला है कि कई एक का तो इस
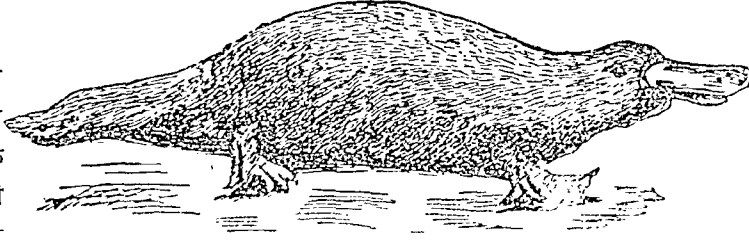
बतखचोंचा या प्लेटीपस

ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाला २० इंच लम्बा यह अजीब प्राचीन जन्तु बतखचोंचा या प्लेटीपस कहा जाता है। बतख के समान अपनी चौड़ी चोंच से नदी की मिट्टी को कुरेदकर वह उसमें से कीड़े-मकोड़े और सीपी, घोंघा इत्यादि को खाया करता है। अपने रहने के लिए वह नदी के किनारे बिल बना लेता है, जिसके भीतर वह अपनी खोज में आनेवाले दुश्मनों को धोखा देने के लिए झूठी सुरंगें भी बना लेता है।

जगतीतल से नाम-निशान ही मिट गया है और कई केवल नाममात्र के लिए ही बचे रह गए हैं। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका का बिसन, कनाडा का बीवर और भारतवर्ष के नीलगाय आदि अब बहुत थोड़ी-सी संख्या में शेष रह गए हैं। अगर इनके मारने के लिए कानूनी रोक-टोक न कर दी गई होती, तो ये सब भी अपना अस्तित्व न जाने कब के खो बैठते। इस विशाल स्तनपोषी समुदाय की जिन विभिन्न कक्षाओं का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं, उन्हीं के कुछ चुने हुए उदाहरणों का विस्तारपूर्वक परिचय अब हम आपके सन्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

अंडे देनेवाले विचित्र स्तनपोषी

सबसे प्राचीन और निम्न श्रेणी के स्तनपोषी जीव ऑस्ट्रेलिया तथा उनके निकटवर्ती द्वीपों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाये जाते। ऑस्ट्रेलिया ही ऐसा देश है कि जहाँ दुनिया में सबसे प्राचीन और निराले जन्तु बचे-खुचे रह गए हैं। सारी दुनिया से अलग-से इन द्वीपों में ये उस पुरातन काल के स्मारकचिन्ह के रूप में बचे रह गए हैं, जब पृथ्वी पर उरंगम-समुदाय के प्राणियों से पशु-पक्षियों का विकास हो रहा था। ये विकास के मार्ग पर थोड़ी ही दूर चलकर रह गए। कुछ लक्षण तो उन्होंने स्तनधारी जीवों के प्राप्त कर लिये, किन्तु उरंगम और पक्षियों के भी कुछ गुण उनमें अभी तक दिखलाई पड़ते हैं। इन एकछिद्री जीवों की रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। स्थान की कमी के कारण यहाँ हम इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते, केवल इतना कह देना यथेष्ट है कि ये प्राणी चिड़ियों और उरंगमों की तरह अंडे देते हैं। लेकिन जब अंडों से इनके बच्चे निकल आते हैं, तो वे माता के दुग्ध-पान पर भी कुछ समय तक निर्वाह करते हैं। दूध के लिए इसी कक्षा के अन्य जीवों के समान इनमें स्तन नहीं होते, वरन् माताओं के पेट की खाल पर सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिनसे दूध निकला करता है। इनके मुँह की रचना चिड़ियों की चोंच के समान होती है। इनकी एक खूबी यह है कि मल और मूत्र को बाहर निकालने के लिए इनके शरीर में एक ही मार्ग रहता है, इसीलिए ये एकछिद्री कहलाते हैं। युवावस्था में ये दन्तविहीन होते हैं और इनके नरों की पिछली टाँगों में अंकुश होते हैं। इन अंडा देनेवाले स्तनधारियों के दो वर्ग मिलते हैं—एक बतखचोंचा या प्लेटीपस और दूसरा काँटेवाला चींटीखोर या एकिडना।

भूरा कँगारू

देखिए, किस प्रकार बच्चा अपनी माता के शरीर में निर्मित थैली में से मुँह निकाले हुए आराम से बैठा है। यह जानवर अपनी दुम से तीसरी टाँग का काम लेता है। दुम सहित यह ६॥ फीट लम्बा होता है। इसका वजन लगभग १०० सेर होता है। लेकिन इसका बच्चा जन्म के समय केवल १ इंच का होता है।

बतखचोंचा या प्लेटीपस

पूर्वी ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया में नदियों, झीलों और तालाबों के किनारे कुछ ऐसे बिल पाए जाते हैं, जिनमें से कोई-कोई ५० फीट तक लंबे होते हैं। इन बिलों के छोर पर एक फुट चौड़ी एक छोटी-सी कोठरी होती है, जिसमें कुछ घास बिछी रहती है और उसी में दो-तीन तक अंडे पड़े रहते हैं। इस बिलनुमा घर के अधिकतर दो दरवाजे होते हैं—एक जमीन के ऊपर बना रहता है और घास-पत्तों से ढका रहता है एवं दूसरा पानी के भीतर होता है।

इस अनोखे घर का निवासी स्तनपोषी समुदाय का एक विचित्र सदस्य है, जिसे 'डकबिल या बतखचोंचा' कहते हैं। यह जीव अँधेरे में निकलकर पानी के जानवरों को बतख की तरह पकड़कर खाता है। इसका शरीर करीब १४ इंच लम्बा तथा दुम ५ इंच लम्बी होती है। चोंच की चौड़ाई २ इंच और लम्बाई २॥ इंच होती है। पैर की उँगलियों के बीच में तैरने के लिए झिल्ली होती है और सिरे पर खोदने के लिए मजबूत और तीक्ष्ण चंगुल रहते हैं। बच्चे जब अंडे से निकलते हैं, तो माता उनको अपनी दुम से पेट पर चिपकाकर दूध पिलाती है। बाल्यावस्था में ही उनके छोटे-छोटे दाँत होते हैं, जो जवान होने से पहले ही गिर जाते हैं। यह विचित्र प्राणी पक्षी, उरंगम और स्तनपोषी तीनों समुदायों से सम्बन्ध रखनेवाला जान पड़ता है।
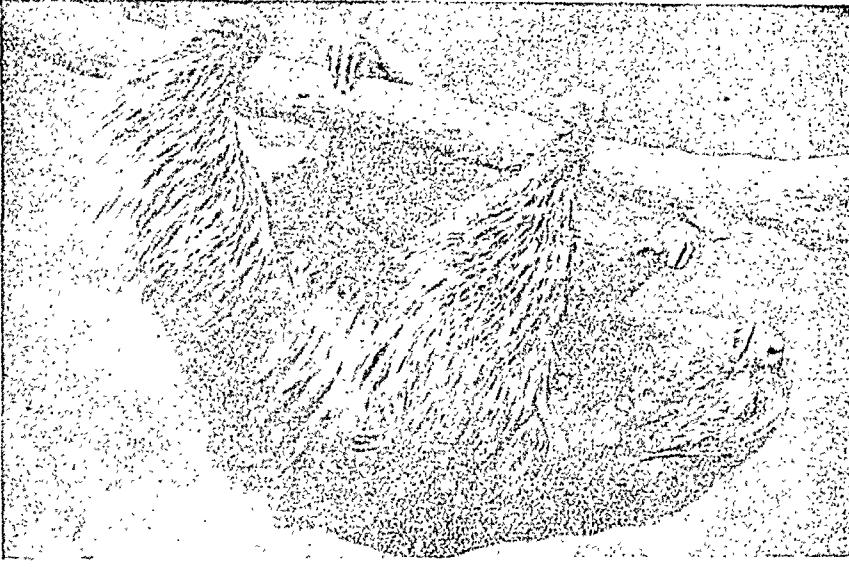
आजीवन उल्टे लटकनेवाले इस अनोखे स्तनपोषी स्लॉथ की दुनिया ही उल्टी है

उत्तरी तथा मध्य अमेरिका का यह उल्टा लटकनेवाला अद्भुत प्राणी अपना सिर नीचा किए टाँगों को डाल पर लपेटकर सोता रहता है। इसके अगले पैर में दो और पिछले में तीन उँगलियाँ होती हैं। इसके बालों का घुमाव ऐसा होता है कि वर्षा का जल इसके शरीर पर नहीं ठहरने पाता।

काँटेवाला चींटीखोर एकिडना

एकिडना या चींटीखोर विशेषकर चींटियों से ही अपना पेट पालता है, परंतु वह अन्य छोटे-छोटे कीटाणु भी खा लेता है। उसकी लम्बी जीभ पर एक चिपचिपा लस होता है, इसलिए जहाँ उसने जीभ निकाली नहीं कि सैकड़ों चींटियाँ उस पर लिपटी चली आती हैं। सेही की भाँति वह भी शत्रु के सामने गेंद-सा गोल बनकर अपने काँटों को खड़ा कर लता है, जिससे शत्रु डरकर उसे छोड़ देता है। उसका शरीर चौड़ा और चपटा होता है। काँटों के अतिरिक्त उसकी पीठ पर बीच-बीच में बाल भी होते हैं, किन्तु नीचे की ओर अर्थात् पेट पर केवल बाल ही होते हैं। उसकी दुम भी बड़ी नहीं होती तथा डकबिल के समान उसके बाहरी कान भी नहीं होते। टाँगें छोटी-छोटी और तेज तथा मजबूत नाखूनवाली होती हैं। उसमें खोदने की अद्वितीय शक्ति होती है। कड़ी-से-कड़ी भूमि को भी वह देखते ही देखते बालू की तरह खोद डालता है और उसमें घुस जाता है। उसे खोदते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह गीले दलदल में घुसा चला जा रहा हो। यह जीव भी अंडे ही देता है। पर इन अंडों को वह अपनी थैली में—जो कि उसके शरीर पर होती है—रख लेता है। वहीं उसका बच्चा निकलता है। वह कई सप्ताह तक उक्त थैली में बन्द रहता है। तब इसके उपरान्त माता उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख देती है। थोड़े ही समय में वह स्वावलम्बी हो जाता है। इसकी अनोखी उँगलियाँ ही इसकी सबसे विचित्र निधि हैं। पिछली टाँगों की उँगलियाँ चलते समय बाहर की ओर उल्टी और अगले पैर की सामने को मुड़ी रहती हैं। आँस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाली जाति के पैर में पाँच उँगलियाँ होती हैं, किन्तु न्यूगिनी में मिलनेवाली एक उपजाति में केवल तीन और दूसरी में पाँच उँगलियाँ रहती हैं। एक जानवर ऐसा भी मिला है, जिसमें अगले पैरों में पाँच-पाँच तथा पिछले में चार-चार उँगलियाँ हुआ करती हैं। उँगलियों के इस अंतर के ही कारण एक लेखक ने "वह जानवर जिसकी उँगलियों की संख्या निश्चित नहीं है" कहकर इसे संबोधित किया है।

थैलीवाले स्तनपोषी अथवा मार्सूपियल्स

थैलीवाले जन्तुओं का स्थान इतना निम्न कोटि का तो नहीं है कि वे अंडे देते हों, फिर भी उनके बच्चे अपूर्ण अवस्था में माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। वे बहुत ही छोटे और निस्सहाय होते हैं। भेड़ जितने बड़े कँगारू का बच्चा जन्म के समय केवल १ इंच का रहता है! बड़े-से-बड़े कँगारू का भी बच्चा गर्भ में केवल चार-पाँच सप्ताह रहता है और उसके बाद सात-आठ मास तक अपनी माता के पेट की थैली में ही उसका लालन-पालन होता है।

अतः उक्त थैली ही इनकी मुख्य विशेषता है। इस थैली को सहारा देने के लिए कूल्हे की हड्डी से दो लम्बी-लम्बी पतली हड्डियाँ आगे को 'V' की शक्ल में निकली रहती हैं। ये हड्डियाँ नरों के शरीर में भी होती हैं। इस कक्षा के कुछ प्राणी थैलीविहीन भी होते हैं। इसी थैली के अन्दर मादाओं में स्तन होते हैं। माताएँ पैदा होते ही बच्चों को थैली के अन्दर रख लेती हैं। वहीं वे बहुत समय तक अपने

चूसनेवाले होंठ इन स्तनों से लगाये चिपटे रहते हैं। जब तक वच्चों के अंगों की पूरी वृद्धि नहीं हो जाती, वे स्तनों को मुँह में दवाये पड़े रहते हैं। जन्म के समय वे स्तनों से दूध स्वयं तो नहीं खींच सकते, परंतु प्रकृति ने ऐसा प्रवन्ध कर दिया है कि स्तन वच्चे के मुँह में सहज ही घुसकर फूल जाते हैं और मुँह से नहीं निकलते। इतना ही नहीं, उनमें से दूध अपने आप वच्चों के मुँह में टपकने लगता है। आठवें महीने में वच्चे थैली के बाहर सिर निकालकर वाह्य जगत् का दृश्य देखने लगते हैं। तत्पश्चात् थैली के वाहर कूदकर वे माँ के आस-पास खेलते-खाते हुए फिरने लगते हैं। परंतु जरा-सा भी खटका होते ही चट उछलकर फिर माँ की थैली में घुस जाते हैं।

मार्सूपियल्स के कई वंश आॅस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा निकटवर्त्ती द्वीपों में पाये जाते हैं। एक वंश अमेरिका अथवा नई दुनिया में मिलता है। इनकी साठ के लगभग उपजातियाँ हैं, जो १ से ५ फीट तक लम्वे कद की होती हैं। उनकी शक्लें भी तरह-तरह की होती हैं। ये सव शाकाहारी ही होते हैं। लोग इनका मांस खाते हैं, और चमड़े का प्रयोग विविध रीतियों से करते हैं। आॅस्ट्रेलिया के थैलीवाले जीवों में सर्व-विख्यात कँगारू नामक मार्सूपियल है। यह लखनऊ, कलकत्ता आदि की जन्तुशालाओं में देखा जा सकता है।

कँगारू

कँगारू को देखते ही उसके विचित्र और वेडौल शरीर की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है। प्रकृति ने उसके साथ एक निराला ही उपहास किया है। उसको उछलने में कुशल वनाने के लिए अगले और पिछले शरीर में वहुत अन्तर रक्खा है। आगे का धड़ करीव वड़े कुत्ते के डौल का होता है और पिछला धड़ खच्चर के समान भारी होता है। इसकी मोटी-सी, लम्वी और भारी दुम पीछे पड़ी रहती है और वैठने में तीसरी टाँग का काम देती है। यदि आप उसको वैठा हुआ देखें तो यही कहेंगे कि यह तिपाई पर वैठा है। अगली टाँगें कमजोर और छोटी होती हैं, जो अगले शरीर को जमीन पर चरते या चलते समय साधे रहती हैं। आॅस्ट्रेलिया और टस्मानिया का वड़ा और भूरा कँगारू ५ फीट ऊँचा और वजन में २॥ मन के लगभग तक भारी होता है। उसकी दुम की लम्बाई ४ फीट से भी अधिक होती है।

साधारणतः वह धीरे-धीरे चलता है। यदि उसे जल्दी होती है तो दौड़ने के वजाय वह अजीव तरह से अपनी दुम के सहारे उछलता-कूदता, छलाँगें मारता हुआ निकल जाता है। ९ या १० फीट ऊँची झाड़ियाँ वह आसानी से फाँद जाता है। ५ फीट की छलाँग मारना तो उसके वाँए हाथ का खेल है। पीछा किये जाने पर २५-३० फीट धरती पार कर जाना उसके लिए कोई वड़ी वात नहीं। इस प्रकार छलाँगें भरते हुए, राह में पड़नेवाले गिरे हुए पेड़ और ऊँची-ऊँची झाड़ियों को पार करने में उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता।
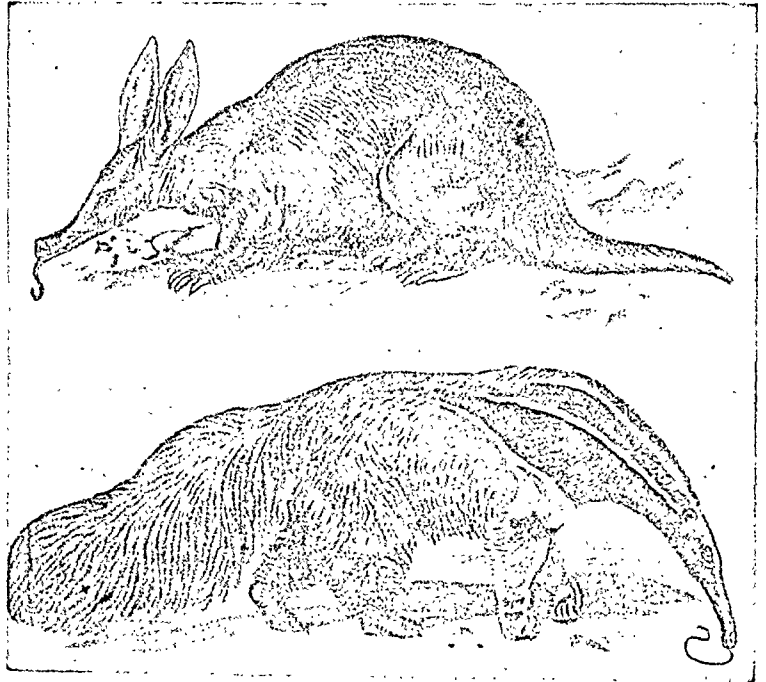
दो प्रकार के विचित्र रूपधारी दन्तविहीन प्राणी

(ऊपर) वड़ा चींटाहारी (मिरमैकोफैगा) और (नीचे) चींटी खानेवाला भालू (आर्डवार्क)। मिरमैकोफैगा में धरती को खोदकर दीमक निकालने के लिए आगे के पैर की वीच की उँगली में अन्य नखों की अपेक्षा आगे को निकला हुआ एक वड़ा नख होता है। आर्डवार्क भी अपना निर्वाह दीमक और चींटियों के ही द्वारा करता है।

स्वभाव में कँगारू भेड़-बकरी की तरह डरपोक होता है। जान पड़ता है कि खरगोश की तरह वह भी ठीक अपने सामने की चीज को नहीं देख पाता। उसकी देखने, सूँघने और सुनने की शक्तियाँ तीक्ष्ण होती हैं।

ओपौसुम

उत्तरी अमेरिका में जो थैलीवाला प्राणी मिलता है, वह औपौसुम कहलाता है। वर्जीनिया का औपौसुम ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ज्यादातर वृक्षों ही पर रहता है और अपनी दुम से भी डालों को पकड़ सकता है। कद में वह घरेलू बिल्ली के ही बराबर होता है। उसकी दुम की लम्बाई फुट भर होती है। उसके बाल नर्म और लम्बे होते हैं तथा कपड़ा बुनने के काम में आते हैं। कुछ लोग इसका मांस भी खाते हैं। इसकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि इसके भी बच्चे ऐसी अपूर्ण अवस्था में पैदा होते हैं कि रेंगकर अपनी माता की थैली में घुस जाते हैं। एक बार में इसके पाँच से चौदह तक बच्चे पैदा होते हैं और मादाएँ साल में दो या तीन बार बच्चा देती हैं। दूसरी बात यह है कि जब इसको पकड़े जाने का भय या अन्य किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका होती है तो यह ऐसा चुपचाप पड़ जाता है मानों मर गया हो। इसका शत्रु या पकड़नेवाला, उसकी यह आदत न जानने पर, उसको मरा मानकर उसकी तरफ से अपना ध्यान हटा लेता है। इस प्रकार मरने का बहाना किये पड़ा हुआ औपौसुम अवसर पाते ही चट से मानों जी जाता है और खतरे से दूर भाग जाता है। औपौसुम दिन में अधिकतर छिपा रहता है और सूर्यास्त के पश्चात बाहर निकलकर रात भर इधर-उधर कीड़े-मकोड़े तथा अन्य भोजन-सामग्री की खोज में घूमता फिरता है।

भारतीय साल या पैंगोलिन

जो कभी-कभी रात में वन के पथिकों को दिखलाई पड़ जाता है। उसके शरीर के ऊपर के कड़े सिन्नों की पंक्तियाँ कैसी सुन्दर प्रतीत होती हैं! ये ही उसकी रक्षा के प्रमुख साधन हैं। आक्रमण होने पर वह लिपटकर गोल हो जाता है और सिन्नों की नोकें ऊपर को खड़ी हो जाती हैं।

औपौसुम की दुम उसके लिए बड़ी ही उपयोगी वस्तु है। छोटे बच्चे अपनी पकड़नेवाली दुम से एक बहुत ही अच्छा काम लेते हैं। वे अपनी माँ की पीठ पर लद जाते हैं तथा अपनी छोटी दुमों को माँ की दुम के चारों ओर लपेट लेते हैं। माता अपनी दुम को पीठ के ऊपर मोड़ लेती है, जिससे कि बच्चे मजबूती से उसे यथा-स्थान पकड़े रहें। माँ जो बोझ अपने साथ लादे फिरती है, उसे जानकर हमको अचम्भा होता है! छोटी-सी बिल्ली के बराबर का औपौसुम कभी-कभी चूहे के बरा-

रवाले १०-१२ बच्चे अपनी पीठ पर चिपटाये रहता है। पहाड़ों पर रहनेवाले कौला नामक मार्सूपियल और वायुयान के समान उड़नेवाले फैलेन्जर मार्सूपियल भी जन्तु-जगत के निराले उदाहरण हैं।

कृन्तक दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स

ये प्राणी भी नीची कोटि के स्तनपोषी हैं, लेकिन उपरोक्त दोनों कक्षाओं के जन्तुओं से ये विल्कुल ही भिन्न हैं। इनके बच्चे और सब स्तनधारियों की तरह अपनी माताओं के गर्भ में जरायु (नार) द्वारा जुड़े रहते हैं। इनको दन्तविहीन या विना दाँतवाले इसलिये कहते हैं कि इनके जबड़ों के सामने के दाँत नहीं होते। प्राय: इनके जबड़ों में डाढ़ें होती हैं। चींटाहारी और पैंगोलिन ही ऐसे प्राणी हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का कोई भी दाँत नहीं होता। इनके सिर और मस्तिष्क छोटे होते हैं—कुछ स्लॉथ और चींटाहारी की तरह वालों से ढके होते हैं। आर्मेडिल्लो की तरह के कुछ प्राणियों के शरीर पर कड़ी जोड़दार हड्डियों की ढाल मढ़ी होती हैं। पैंगोलिन या साल के शरीर कड़े सिन्नों की प्लेटों से सुरक्षित रहते हैं। इन पाँचों वंश के प्राणी या तो स्थलचर होते हैं अथवा वृक्ष-वासी। स्लॉथ, चींटाहारी और आर्मेडिल्लो सव ही नई दुनिया के रहनेवाले हैं। सिन्नेवाले चींटाहारी एशिया और अफ्रीका में मिलते हैं और आर्डवार्क केवल अफ्रीका में ही पाये जाते हैं। स्लॉथ को छोड़कर इस वर्ग के शेष सब जीव मांसाहारी या कीटाहारी ही हैं। चींटाहारी, पैंगोलिन और आर्डवार्क अधिकतर दीमक पर ही निर्भर रहते हैं।

स्लॉथ

दक्षिणी और मध्य अमेरिका के जंगलों में वहुतेरे अजीव जानवर वसे हुए हैं, किन्तु उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जो शक्ल-सूरत तथा स्वभाव में स्लॉथ से अधिक अनूठा हो। ये आलसी जीव वृक्षों पर ही अपना सारा जीवन व्यतीत करते हैं। डालों पर उल्टे लटकते हुए वे एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं। दिन में तो ये वृक्ष की घनी पत्तियों की ओट में छिपे रहते हैं और रात होने पर यही पत्तियाँ उनका आहार वन जाती हैं। जमीन पर वे पानी पीने के लिए भी नहीं उतरते। रसीले फल-फूल और पत्तियों से ही उनकी तृष्णा शान्त हो जाती है। यदि कोई उन्हें पेड़ पर से उतारकर जमीन पर डाल दे तो वे हाथ-पाँव फैलाकर चित लेट जाते हैं और उनके लिए उठना असम्भव हो जाता है। उनकी वह दशा देखकर वड़ी ही हँसी आती है! उल्टे लटकने के अतिरिक्त इनमें और भी अनोखे गुण हैं। उनके लम्वे, मोटे,
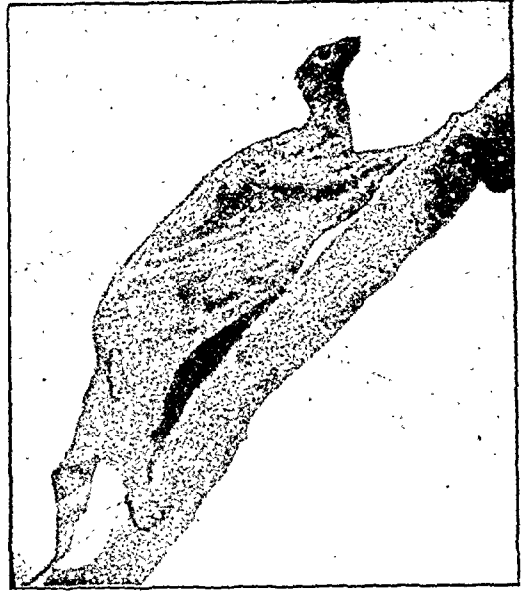
कोवीगो या उड़नेवाला अर्द्ध-वानर

जो टेनासरिम, मलाया प्रायद्वीप, श्याम तथा निकटवर्ती द्वीपों में पाया जाता है। इसके नीचेवाले सामने के दाँत समस्त जन्तु-जगत् में विल्कुल निराले हैं, मानों वे दाँत नहीं वल्कि नन्हीं-नन्हीं कंघियाँ हैं। ये अपने हाथ-पैरों को फैलाये हुए हवा में सरकते हुए एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक ७० गज दूर तक चले जाते हैं।

घने वालों में हरी-सी चमक होती है, जिससे वे पत्तियों में छिप जाते हैं और उनके शत्रु उन्हें जल्दी देख नहीं पाते। उनके वाल अन्य स्तनपोषियों से भिन्न रीति से शरीर पर इस तरह सधे रहते हैं कि जब वे पेड़ पर उल्टे लटके रहें तो वर्षा का पानी जल्दी से नीचे वह जाय। इतना ही नहीं, इन वालों में हजारों नन्हीं-नन्हीं हरे रंग की वनस्पतियाँ उग आती हैं और ये ही इनके वालों की हरी चमक का कारण होती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि यह एक ऐसा जानवर है, जो अपने शरीर पर वगीचा लगाये रहता है!

स्थानाभाव के कारण न हम यहाँ इसके साथी आर्मेडिल्लो का ही परिचय आपको करा सकेंगे और न अफ्रीका-निवासी आर्डवार्क की ही रोचक कहानी सुना सकेंगे, जिसका चित्र पृ० १०१७ पर दिया गया है।

साल

साल या पैंगोलिन वंश के जन्तु भी आर्मेडिल्लो के भाई-वन्धु हैं और भारतवर्ष के अलावा जावा, वोर्नियो, फिलिप्पाइन्स तथा पास-पड़ोस के द्वीपों, दक्षिणी चीन और

अफ्रीका में भी पाये जाते हैं। इनके सारे शरीर और दुम के ऊपर दुर्भेद्य कड़ी प्लेटें या सिन्ने एक पर एक खपरैल के समान लगी रहती हैं। ये प्लेटें इतनी कड़ी होती हैं कि कहा जाता है कि ये पिस्तौल की गोली भी सह लेती हैं। आक्रमण होने पर पैंगोलिन या साल अपने मुँह और दुम को धड़ के नीचे टाँगों के बीच लपेटकर गोल गेंद-सा बन जाता है और उसकी प्लेटों के तीक्ष्ण छोर ऊपर को उठ जाते हैं। फिर किसी शत्रु का इतना साहस हो सकता है कि उस पर मुँह मारे !

भारतवर्ष के पर्वतीय प्रदेशों में साल सब जगह मिलते हैं, किन्तु अधिक संख्या में नहीं। उत्तरी भारत में उसे 'सिल्लू', दक्षिणी भागों में 'साल' और 'बनरोहू' और बंगाल में 'काठपोह' कहा जाता है। साल केवल रात्रि में ही बाहर निकलता है तथा विशेषकर अपनी लम्बी और चिपचिपी जबान से दीमक और चींटी पकड़कर खाता है। दिन भर वह अपने बिल या भिटे में छिपा रहता है। भिटे में ८-१० फीट की गहराई पर कोई ६ फीट परिधि की कोठरी होती है, जिसमें एक जोड़ा रहता है। कहा जाता है कि बिल में घुस जाने पर वह द्वार को मिट्टी से बन्द कर लेता है। इनकी मादाएँ जाड़े में केवल एक या दो बच्चे देती हैं।

उत्तरी अमेरिका का सबसे छोटा स्तनधारी--श्रू

यह २-२।। इंच का ही होता है। इतना छोटा तथा देखने में भोला और संकोची होते हुए भी यह बड़ा सख्त लड़ाकू होता है और अपने से कई गुनी बड़ी चुहियों से निर्भयता-पूर्वक भिड़ जाता है। यदि कहीं दो श्रू एक ही पिंजड़े में बंद हो जायँ तो उनमें घमासान युद्ध होता है और बहुधा वे एक दूसरे को मारकर खा जाते हैं। इसीलिए अंग्रेजी भाषा के शब्द 'श्रू' के अर्थ झगड़ालू स्त्री के हैं। यह छोटे जीव नई दुनिया और पुरानी दुनिया दोनों ही में बहुतायत से मिलते हैं, लेकिन हम उनसे सब स्तनधारियों की अपेक्षा कम परिचित हैं। अक्सर लोग उनको चुहिया ही समझ लेते हैं।

लंका तथा भारत के साल दुम को लेकर ३।। फीट के लगभग लम्बे होते हैं, किन्तु मलाया का पैंगोलिन भारत के मुकाबिले में पतली और लम्बी दुमवाला होता है। इनकी आँखें और बाहरी कान बिलकुल छोटे होते हैं। टाँगें छोटी, पर नाखून अत्यन्त मजबूत और खोदने योग्य होते हैं, जिसकी सहायता से वह अपना भिटा बड़ी ही सुविधापूर्वक खोद लेता है। साल भी आर्मेडिल्लो की तरह अगले पैरों के नखों को मोड़कर नीचे दबाकर चलता है।

अब हम स्तनधारियों की अन्य कक्षाओं के कतिपय चुने हुए मनोरंजक जीवों से आपका परिचय कराएँगे, जो अपने ढंग के असाधारण और विचित्र नमूने हैं।

कीटाणु-भक्षक

स्तनधारियों की बहुत सी उपजातियाँ कीटाणु-भक्षक हैं, किन्तु एक समूह में इस प्रकार के प्राणी इतनी अधिक संख्या में मौजूद हैं कि उनके लिए एक अलग कक्षा नियुक्त हो गई है, जिसका नाम 'कीटाणु-भक्षक' या 'इन्सेक्टीवोरा' रक्खा गया है। इनमें छछूँदर, झाऊचूहे और वृक्ष-वासी छछूँदर भारतवर्ष में पाये जाते हैं और अन्य सब दूसरे देशों में मिलते हैं। ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में इनका एक भी प्रतिनिधि नहीं है। इस उपजाति के अधिकतर जन्तु छोटे, लम्बे मुँहवाले तथा नर्म बालवाले होते हैं। कुछ में शरीर पर काँटे भी होते हैं। इनमें गन्धदायक गुत्थियाँ होती हैं।

उड़नेवाला कीटाणु-भक्षक कोबीगो

कीटाणु-भक्षकों में सबसे अनूठा प्राणी कोबीगो नाम का एक पशु है, जो मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, टेनासरिम और फिलिप्पाइन्स आदि में मिलता है। इसकी खाल शरीर के दोनों तरफ सिर से अगली टाँगों तक अगली टाँगों से पिछली टाँगों तक और पिछली टाँगों से दुम तक फैली रहती है। जब वह अपनी टाँगों और दुम को फैलाता है तो उसकी खाल छाते की तरह शरीर को हवा में साध

लेती है और वह इसी प्रकार फैलाई हुई झिल्ली के सहारे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक बहता हुआ चला जाता है।

छछूँदर और झाऊचूहा

उड़नेवाली झिल्ली के अतिरिक्त उसमें और अन्य कीटाणु-भक्षकों में एक भेद और है। वह यह है कि यह कीड़े-मकोड़े नहीं खाता, बल्कि पत्तों से अपनी गुजर करता है। इसी कारण इसके दाँत भी अन्य जीवों से भिन्न होते हैं।

छछूँदर और उसकी दुर्गन्ध से तो सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं। वह रात में नालियों के रास्ते घरों में घुस आती है और 'चिट्-चिट्' करती हुई कोने-कोने में फिरा करती है। एक बार जहाँ से वह निकल जाती है, अपनी निराली दुर्गन्ध वहाँ छोड़ जाती है। कहावत है कि अपनी बदबू के ही कारण उसको साँप और बिल्ली भी छोड़ देते हैं। धोखे से यदि यह कभी उनके मुँह में चली जाती है, तो वे इसे फौरन् ही बाहर उगल देते हैं!

जिस तेजी से छछूँदर अपना बिल खोद सकती है, इसका सम्भवतः आपको अनुमान न होगा। यदि आपने उसे कभी बिल खोदते नहीं देखा है तो शायद आपको विश्वास न होगा कि वह १० सैकंड में अपना बिल खोदकर आपकी निगाह से गायब हो सकती है! तीन मिनट में १ फीट के हिसाब से वह बिल या सुरंग खोदती है! कहा जाता है एक छछूँदर ने २५ घंटे में ६८ फीट लम्बी सुरंग खोद ली थी और दूसरी ने एक ही रात में १०० गज लम्बी सुरंग तैयार कर ली थी! ऐसी फुर्तीली होने के लिए उसमें शक्ति कहाँ से आती है? वही छोटे-मोटे कीड़े, जिन्हें वह बहुत बड़ी मात्रा में खा जाती है, उसे इतना बल देते हैं! अन्दाज लगाया गया है कि यदि पा सके तो वह बोझ में अपने से दुगने कीड़े को दिन भर में समाप्त कर देती है! हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने में छछूँदर हमारे लिए बहुत लाभदायक जीव है।

हिरनामूसा

जो मध्य एशिया, लंका, दक्षिणी-पूर्वी योरप और अफ्रीका में भी मिलता है! इसका शरीर ६-७ इंच लम्बा और दुम ८ इंच के करीब होती है। कँगारू की तरह यह भी पिछले पैरों पर बैठ जाता है और दुम के सहारे उछलकर ऐसे वेग से छलाँगें मारता है, मानों उड़ा जा रहा हो। कहते हैं कि वह तीव्रगामी घोड़े की गति से भाग सकता है। अँधेरा होने पर वह अपने बिल से निकलकर भोजन की खोज में कूदता-फिरता है।

झाऊचूहे की दो उप-जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं। एक दक्षिण में नीलगिरि पर्वत पर मिलती है, दूसरी उत्तर प्रदेश, पंजाब और सिन्ध में रहती है। दोनों एक ही जाति––एरीनेसियस––में शामिल हैं। झाऊचूहे योरप, चीन और एशिया के अन्य भागों में भी मिलते हैं। वे कद में ८-९ इंच के होते हैं। उनकी टाँगें और आँखें छोटी-छोटी होती हैं। शरद् ऋतु में वे मोटे हो जाते हैं और शीतकाल के आगमन पर वे सूखे पत्तों के घोसलों में छिपकर समाधि लगा लेते हैं। जाड़ा वे इसी प्रकार सोते हुए बिता देते हैं। कीटाणु-भक्षक समूह में होते हुए भी अवसर पाकर बिना खोलवाले घोंघे, केंचुए, मेढक, सर्प और चुहियों को भी यह जीव अपने आहार में सम्मिलित कर लेता है।

चूहों के पकड़ने में वह बिल्ली से भी अधिक दक्ष होता है। जिस घर में वह पहुँच जाता है उसमें चूहों का नाम भी नहीं रह जाता। उसमें एक बड़ा गुण सर्पनाशक होने का भी है। साँप के विष से उसको कोई हानि नहीं होती। वह साँप को सहज में वशीभूत कर लेता है और उसे चबा डालता है। झाऊचूहा रक्षा के लिए अपने काँटों का ही आश्रय लेता है। उसकी पीठ पर कुछ ऐसे पुट्ठे होते हैं, जिनके द्वारा वह काँटों को खड़ाकर लेता है और गोल होकर शरीर के सारे कोमल अंगों को पेट के नीचे छिपा लेता है। उत्तरी भारत के झाऊचूहे के काँटों का रँग काला और सफेद होता है। उसके नीचे मोटे-मोटे बाल भी होते हैं। उसकी दुम छोटी, घ्राणेन्द्रिय तीव्र, और दृष्टि निर्बल होती है। उसके मुँह में कील दन्त भी नहीं होते।

कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स

कुतरनेवाले स्तनपोषी सारे भूखंड पर फैले हुए हैं। उनकी जनसंख्या और उपजातियों की तादाद सबसे बढ़ी-चढ़ी है। उनमें से ज्यादातर कद में छोटे और जमीन पर रहनेवाले हैं। लेकिन गिलहरी के अतिरिक्त कुछ ऐसे चूहे

और चुहियाँ भी हैं, जो पेड़ों पर रहते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं, जो लटकती हुई ढीली खाल की सहायता से एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक हवा में उड़ जाती हैं। कुछ प्राणी पानी में भी रहनेवाले हैं, जैसे बीवर तथा जल-वासी चूहे। इनकी सबसे अच्छी पहचान इनके दाँत हैं। सामने के दाँत बड़े और छेनी की तरह चौड़े रहते हैं। कीलें होती ही नहीं, उनका स्थान खाली रहता है। डाढ़ें चबाने योग्य होती हैं। उनके दाँत कठोर वस्तुओं को कुतर-कुतरकर काटने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इसी लक्षण के कारण उनकी कक्षा का नाम कुतरनेवाले प्राणी अथवा 'रोडेन्शिया' रक्खा गया है। इनके कृन्तक दन्तों के सदा बढ़ते रहने और घिसने के विषय में हम आपको पहले ही बतला आए हैं। इस श्रेणी के जानवर अपना निर्वाह फल, फूल, अनाज, बीज, जड़ और वृक्षों की छाल पर करते हैं, किन्तु इनमें से कुछ सर्वभक्षी भी हैं।

कुछ कुतरनेवाले जीव ऐसे हैं, जिनमें ऊपर के जबड़े में दो ही कृन्तक दन्त होते हैं, जैसे चूहे-चुहियाँ, गिलहरी, सेही इत्यादि। कुछ ऐसे हैं, जिनके ऊपरी जबड़े में चार कृन्तक होते हैं, जैसे खरगोश, खरका और पाइका। चूहा-चुहिया, खरगोश, गिलहरी, सेही इत्यादि जीवों से अधिकतर भारतवासी भली-भाँति परिचित हैं, इसलिए यहाँ हम केवल दो-चार ऐसे जन्तुओं का हाल लिखेंगे, जिनको साधारण लोग न जानते हों। किन्तु इससे पहले आपका ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं कि ये छोटे-छोटे पशु हमें कितना नुकसान पहुँचाते हैं।

बरमा की छोटी उड़नेवाली गिलहरी

देखिए, यह उड़ने के लिए बिल्कुल तैयार है। उसके फैले हुए हाथ-पैर और चौड़ी उठी हुई दुम पर ध्यान दीजिए। यह चिड़ियों की तरह तो नहीं उड़ पाती, लेकिन हवा में तैरती हुई-सी लम्बे-लम्बे फासलों को बड़ी ही सरलता से पार करके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती है।

कुतरनेवाले जन्तुओं में चूहे सबसे अधिक हानिकारक हैं

नाना प्रकार के चूहे—भूरे, काले, घरेलू, खेत के या जंगल के—सभी हमारे काम की वस्तुओं को खाते और नष्ट करते रहते हैं। सब खेती करनेवाले जानते हैं कि चूहे और सेही आलू, शकरकंद आदि खोदकर खा जाते हैं। सेही फल और नाज के पौधे तक काटकर गिरा देते हैं और गिलहरी फलों को कुतर डालती है। परन्तु आप यह जानकर स्तम्भित रह जायँगे कि अकेला भूरा चूहा ही हमें कितना नुकसान पहुँचाता है! भारतीय घरेलू भूरा चूहा बहु-सन्तानी जीव है। तीन मास की आयु से ही इसकी मादा बच्चे देने लगती है और प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन बार उसके बच्चे पैदा होते हैं। प्रत्येक बार वह १०-१२ बच्चों को जन्म देती है। इससे यदि आप हिसाब करें तो एक जोड़े की सन्तानों की संख्या तीन वर्ष में २ करोड़ से भी अधिक हो जायगी! यदि एक चूहा प्रतिवर्ष एक सेर अनाज खा डाले तो इन २ करोड़ चूहों के लिए ५ लाख मन अनाज चाहिए। इतने अनाज का मूल्य २॥ सेर प्रति रुपया के हिसाब से कितना हुआ?

क्या आप स्वप्न में भी कल्पना कर सकते थे कि ये नन्हें-से जीव हमारे कैसे भारी शत्रु हैं? ये हमारे साथ कैसा अत्याचार किया करते हैं! ये अपने छोटे कद, फुर्तीले शरीर और भूमि के भीतर रहने के कारण बचे रहते हैं और हम चाहे कितना ही उपाय करें, फिर भी उनकी आबादी अधिक कम नहीं कर पाते।

पर कुतरनेवाले जीव सदा हानि ही नहीं पहुँचाते हैं, उनसे मनुष्यों को कुछ फायदा भी होता है। प्राचीन मनुष्य तो उनमें से सभी को खाते रहे हैं और अमेरिका के प्राचीन निवासी—रेड इंडियन—तो अब भी ऐसा ही करते हैं। गिलहरी और खरगोश उन लोगों में बराबर खाये जाते हैं। सेही के काँटों के वे आभूषण बनाते हैं। कस्तूरी चूहे और बीवर के नर्म बाल आजकल भी बहुत से कामों में आते हैं और इनका व्यापार होता है। हमारे देश में भी कुछ लोगों द्वारा जंगली चूहा, खरगोश और सेही खाये जाते हैं।

कुतरनेवाले जीवों का दूसरा समूह—गिलहरियाँ

गिलहरियों में से बहुत-सी ऐसी हैं, जो अपना अधिक समय वृक्षों पर ही काटती हैं। कुछ पहाड़ी चट्टानों पर भी रहना पसंद करती हैं, जैसे चिपमुँका। कुछ ऐसी भी हैं, जो भूमि पर ही बिलों में रहती हैं और कुछ उड़नेवाली

गिलहरियाँ भी हैं, जो कभी-कभी एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक हवा में उड़कर पहुँच जाती हैं। गिलहरियों की चंचलता और फुर्ती प्रसिद्ध है। थोड़ी देर भी वे एक ठिकाने पर विश्राम करते नहीं देखी जातीं। 'चिट्-चिट्', 'चुक-चुक' करती हुई वे कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी इस डाल पर, कभी उस डाल पर कूदती-फुदकती नजर आती हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर वे कैसे अचूक निशाने से कूद जाती हैं! इसमें उन्हें कभी भी धोखा नहीं होता। वे कभी-कभी चिड़ियों के अंडे भी लूटकर खा जाती हैं। कड़े-से-कड़े फलों के छिलके पल-भर में अपने तेज दाँतों से वे कुतर डालती हैं। अगले पंजों में पकड़कर भोजन कुतरती हुई वे कैसी सुन्दर लगती हैं! अपने बच्चों के रहने के लिए वे छोटी-छोटी टहनियों और पत्तियों के घोंसले बनाती हैं।

उड़नेवाली गिलहरियाँ

भारतवर्ष में धारीदार गिलहरी, जंगली गिलहरी और कलाट गिलहरी के अलावा उड़नेवाली भूरी गिलहरियाँ भी मिलती हैं। उत्तरी भारत में एक जाति की उड़नेवाली गिलहरी मिलती है और दक्षिण भारत में दूसरी ही एक जाति की गिलहरी होती है। द्वितीय वर्ग की उड़नेवाली गिलहरियाँ लंका से जापान तक के सभी देशों तथा द्वीपों में मिलती हैं। ये सब १८-२० इंच लम्बी हुआ करती हैं, परन्तु कुछ छोटे कद की भी उड़नेवाली गिलहरियाँ हैं। इसमें से एक स्कैन्डीनेविया और रूस से लेकर जापान तक फैली हुई है। किन्तु सबसे छोटी उड़नेवाली गिलहरी, जो बोर्नियो में मिलती है, केवल चूहे के बराबर होती है। ये अजीब गिलहरियाँ जंगलों में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के घने भागों में निवास करती हैं।

सेही

कुतरनेवाले जीवों में सेही कदाचित् सबसे विचित्र और निराला जीव है। मूर्ख और आलसी होने पर भी इसको आक्रमण का भय बिल्कुल नहीं होता; क्योंकि इसकी सारी पीठ और दुम पर लम्बे, कड़े और फँसनेवाले काँटे होते हैं। खटका या आहट होने पर ये काँटे बिल्कुल सीधे खड़े हो जाते हैं। शत्रु के बिल्कुल समीप आ जाने पर सेही अपनी दुम को ऐसा झटका देता है कि काँटे शत्रु के मुँह पर चुभ जाते हैं। काँटे अपने आँकड़ों के कारण शत्रु के माँस में ऐसे गड़ जाते हैं कि उन्हें निकालना बड़ा ही दुष्कर कार्य हो जाता है। सेही जब बाहर निकलता है तो उसके काँटे खड़खड़ाते जाते हैं, मानों वह अपने आस-पास के जीवों को अपनी भयंकर उपस्थिति की सूचना देता जा रहा हो।

सन्ध्या के समय और रात्रि में वे खेल-कूद करने को बाहर निकलती हैं। दिन में वे वृक्ष की किसी खोह या अपने घोंसले में पड़ी सोया करती हैं। भूमि पर वे बहुत कम आतीं हैं। जब आतीं हैं तो उछल-उछलकर चल पाती हैं। एक पेड़ से वे जब दूसरे पेड़ पर जाना चाहती हैं तो पेड़ की सबसे ऊँची डाल पर चढ़कर हवा में कूद पड़ती हैं और तैरती हुई दूसरे पेड़ की किसी शाखा पर जा बैठती हैं। श्री० जौर्डन ने अपनी किताब में दक्षिण भारत की उड़नेवाली गिलहरी के बारे में लिखा है:—

'मैंने अनेकों बार उन्हें उड़ते देखा है। एक बार एक गिलहरी एक पेड़ से दूसरे पर उड़ी और उसने ६० गज से भी अधिक दूरी पार कर ली! दूसरे पेड़ के पास पहुँचते-पहुँचते वह भूमि से कुछ ही ऊँची रह गई थी, इसलिए उसे उड़ान के अन्त में एक नीचे की शाखा पर पहुँचने के लिए ऊपर को उठना पड़ा। इस प्रकार गिलहरियों को ऊपर उठते हुए मैंने और कई बार देखा है।"

सुन्दर स्वप्निल आँखोंवाले इन वनवासी अनाथ जीवों के शरीर में उड़ने के लिए दोनों बाजू में कलाई से टखने तक लटकती हुई एक खाल होती है, जो आगे की ओर कलाई से निकले हुए एक छड़ या काँटे से चिपकी रहती है। जब गिलहरी हवा में उतरना चाहती है तो अपनी टाँगों को फैला लेती है, ताकि यह लटकनेवाली खाल छाते की तरह फैल जाय और उसके शरीर को हवा में साधे रहे। बदन को साधने की इस क्रिया में अपनी चौड़ी चपटी दुम से भी वह काफी सहायता लेती है।

जन्तु-जगत् का महान् इन्जीनियर--बीवर

बीवर एक अनोखा जन्तु है। यह बुद्धि और सहयोग से बड़े कठिन कार्य करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यह अपना घर पानी के भीतर लकड़ी और पेड़ काटकर बनाता है। नदी या तालाब के पानी को बाँधकर यह पानी की सतह को ऊँची भी कर लेता है।

बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि उसके घर का व्यास २० फीट या उससे भी अधिक हो जाता है और वह बाहर से देखने में गुम्बद के समान दिखलाई पड़ता है। अपने छेनी जैसे दाँतों से वृक्षों की लकड़ियों और टहनियों को मनमानी लम्बाई में काटकर बीवर उन्हें घर बनाने के काम लाता है। उन्हें वह एक दूसरे के ऊपर ऐसा फँसाकर लगाता और मिट्टी से बाँध देता है कि गुम्बद के ऊपर से वर्षा का एक बूँद भी पानी अन्दर नहीं जा पाता। उसका घर तो पानी की सतह के ऊपर रहता है, किन्तु बाहर जाने के लिए उसमें से एक द्वार इस तरीके से वह बनाता है कि वह सदा जल के भीतर डूबा रहे। इसी मार्ग से आवश्यकता पड़ने पर वह जल में शरण लेता है और भोजन-सामग्री को घर में पहुँचाता है। पानी के भीतरवाले इस मार्ग की उपयुक्तता के लिए आवश्यक है कि उसके द्वार के सामने बराबर जल भरा रहे तथा जाड़े में जब बर्फ जमे तब भी जल इतना गहरा बना रहे कि बर्फ की तह द्वार तक पहुँचकर उसे बन्द न कर सके। साथ ही गरमी में जल इतना कम न हो जाय कि द्वार खुल जाय।

कुतरनेवालों में सबसे चतुर जंतु--बीवर

बीवर मनुष्य के अतिरिक्त स्तनधारियों में सबसे प्रसिद्ध सहवासप्रिय जन्तु गिना जाता है। एक ही घर में कई बीवर मिलकर रहते हैं और एक ही स्थान में उनके बहुत से घर हुआ करते हैं। इस तरह उनके दल-के-दल बस्तियों में निवास करते हैं। बीवर के जीवन की सभी मनोरंजक बातों का हाल लिखा जाय तो एक किताब बन जाय। उसकी शरीर-रचना, स्वभाव, परिश्रमशीलता, सहयोग, सहकारिता, सभी ध्यान देने योग्य बातें हैं।

बीवर की एक जाति उत्तरी अमेरिका और दूसरी योरप में मिलती है। दोनों महाद्वीपों में अब इनकी संख्या बहुत कम हो गई है, क्योंकि कुछ समय पहले बीवर के समूर और खाल की बड़ी माँग थी। बीवर की खाल टोपी बनाने के काम में अधिकता से आती थी। इसका कुछ अन्दाज हमें इस बात से हो सकता है कि लगभग १७० वर्ष पूर्व कनाडा के क्यूबेक नगर से १ लाख से अधिक खालें बाहर भेजी जाती थीं! आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य के हाथ से ऐसा विध्वंस होने पर भी बीवर-जाति पृथ्वी पर कायम रही! इसका एक मुख्य कारण यही समझ में आता है कि वे छिपकर रहते हैं। अब तो कनाडा और संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने यह नियम बना दिया है कि उन्हें कोई न मारे। बीवर सदा अपना घर नदी के तट पर ही बनाता है और प्रति वर्ष वह अपने गृह को

बीवर की चतुराई इस बात से प्रकट होती है कि वह अपना घर बनाने के लिए ऐसी जगह ढूँढ़ता है, जहाँ उक्त सभी बातें सुलभ हों। किन्तु यदि उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिलता तो वह पानी को रोके रखने के लिए पहले से बाँध बना लेता है! बाँध तैयार हो जाने पर जब जल गहरा भर जाता है, तब वह अपनी गृह-निर्माण क्रिया आरम्भ करता है। मि० मौर्गन ने अमेरिका के बीवर के विषय में लिखा है कि बीवर के घर बनाने में सबसे मुख्य, बड़ा और मेहनत का काम बाँध बाँधना है, जिसमें असीम परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है। बाँध के बनाने में बीवर ऐसी चतुराई से काम लेता है, मानों वह

बीवर द्वारा निर्मित बाँध का दृश्य
किस प्रकार यह घर के चारों ओर पानी की सतह को ऊँची बनाए रखता है, इसका मनोरंजक विवरण इसी पृष्ठ के मैटर में देखिए।

इंजीनियरी की अच्छी-से-अच्छी रीतियों से परिचित हो। वह नदी के प्रवाह की ओर बाँध का किनारा ढालू रखता है और दूसरी ओर का सीधा। पानी के जोर को तोड़ने के लिए इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं। इससे भी अधिक जल-विज्ञान का ज्ञान इस बात से विदित होता है कि साधारण नदियों में तो बीवर बाँध को सीधी रेखा में बनाता है, किन्तु जब बाँध बहुत लम्बा या ऐसी जगह बनाना पड़े, जहाँ ढाल के कारण जल का बहाव तेज हो तो बाँध में ऊपर की ओर वह थोड़ी-सी गोलाई दे देता है, जिससे बाँध दृढ़ बना रहता है और जल का जोर टूट जाता है! कभी-कभी बाँधों के पीछे काफी बड़े तालाब और झीलें बन जाती हैं, जिनमें वे अपने गाँव बसाते हैं। वहीं तैरकर वे अपना भोजन भी सुगमता-पूर्वक खोज लेते हैं। बाँध बनाने के लिए किनारे पर के एक फुट से भी अधिक व्यास के पेड़ों को बीवर पिछली टांगों पर खड़े होकर अपने तीक्ष्ण दाँतों से चारों ओर कुतर-कुतरकर गिरा डालता है। कहा जाता है कि बीवर इन पेड़ों को इस प्रकार कुतरते हैं कि वे जल ही में या जिस ओर चाहें उसी ओर गिरें! दो-तीन रातों ही के परिश्रम से एक जोड़ा बीवर छोटा-मोटा पेड़ गिरा डालता है। वृक्ष के गिर जाने पर वे उसके छोटे-छोटे टुकड़े काट लेते हैं।

यदि वृक्ष किनारे से दूर होते हैं तो बीवर और भी चमत्कार दिखाते हैं। वे दूर-दूर तक लम्बी नहरें खोद डालते हैं और काटी हुई टहनियों को घसीटकर किनारे पर लाकर जल में गिरा देते हैं। उन्हें बहाकर वे उस स्थान तक पहुँचाते हैं, जहाँ बाँध का निर्माण करना निश्चित किया रहता है! निश्चित स्थान पर पहुँचकर सैकड़ों बीवरों को इन लकड़ियों को चुनने, दबाने, खड़ा करने या एक दूसरे में फँसाने में बड़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। बिना किसी निर्देश के दल का प्रत्येक जन्तु कैसे अपना-अपना कर्त्तव्य निभाता है, यह हम नहीं समझ पाते! पशु-बुद्धि के अनेकों आश्चर्य-जनक कर्त्तव्यों में से एक यह भी है।

असली उड़नेवाले स्तनपोषी—चमगादड़

स्तनपोषी समुदाय में चमगादड़ ही ऐसे प्राणी हैं, जो पक्षियों के सदृश वास्तव में उड़ सकते हैं। प्रकृति ने उन्हें उड़ने के अवयव भी प्रदान किए हैं। पर वे पक्षी नहीं हैं, क्योंकि उनके मुँह में दाँत होते हैं, और उनमें बच्चों का पालन करने के लिए मादाओं के दो स्तन होते हैं। इनके उड़ने के अंगों में भी चिड़ियों की तरह पर नहीं होते। उड़ने के लिए इनके अगले अंग की चार उँगलियाँ छाते की तीलियों की तरह लम्बी हो गई हैं और शरीर के बगल से लेकर उनके छोर तक दोनों ओर वे पतली खाल या झिल्ली से मढ़ी रहती हैं। हाथों के अँगूठे छोटे होते हैं और उन पर झिल्ली नहीं होती। छोर पर पकड़ने के लिए नख होता है। टाँगों की उँगलियों में भी मजबूत नाखून होते हैं, जिनके सहारे वे उल्टे लटक जाते हैं। लटकते समय या बैठने पर उड़ने-वाली झिल्ली छाते की तरह बन्द होकर उनके शरीर के चारों ओर लिपट जाती है। चमगादड़ यथासम्भव भूमि पर नहीं उतरता, क्योंकि जमीन पर बैठ जाने पर न तो वह ठीक से चल सकता है और न आसानी से उड़ ही सकता है।

स्तनपोषी समुदाय के 'अंगुलेटा' (खुरवाले) वर्ग का एक अनूठा सदस्य---'हिप्पोपोटेमस'
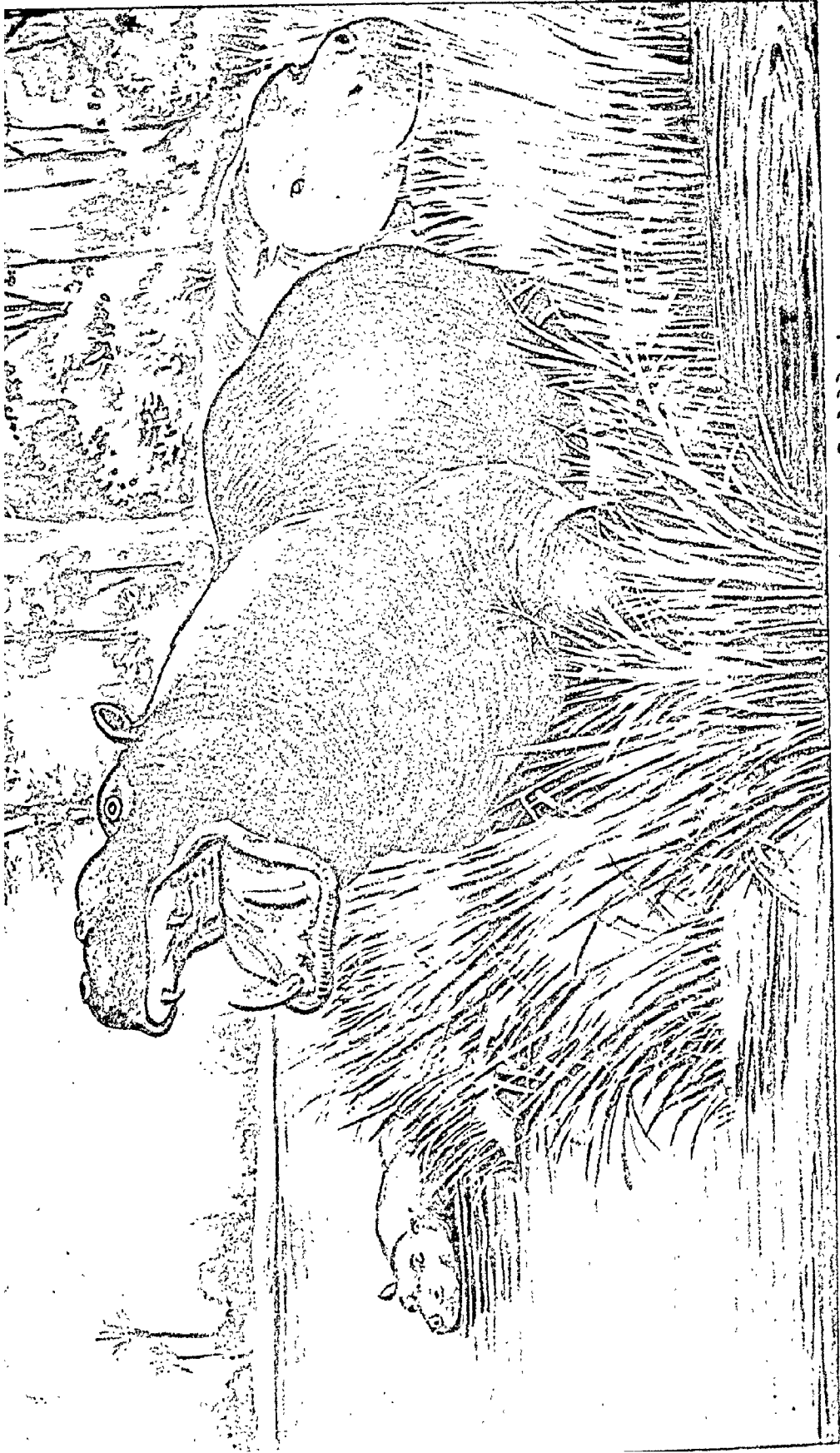
अनोखे मुंह और विशाल आकारवाला यह भयंकर पशु विशेषकर नील नदी के दलदलों को अपना आवासस्थान बनाये हुए है।

सभी जानते हैं कि वह अँधेरे में ही निकलता है। जब अन्य सभी पशु और पक्षी विश्राम करते हैं, तब इसके जागरण का समय होता है। दिन भर वह अपना मुँह छिपाये किसी अँधेरी गुफा या जनशून्य गृह की छत से या किसी पेड़ के खोखले में अथवा घने वृक्षों की डालियों में उल्टा लटके रहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी आँखें इतनी निर्बल होती हैं कि सूर्य के प्रकाश में खुल ही नहीं सकतीं। चमगादड़ों की दो जातियाँ हैं—एक कीटभोजी, दूसरी फलाहारी। कीटभोजी साधारणतः छोटे होते हैं और पृथ्वी के प्रायः सभी भागों में पाये जाते हैं। उनकी लगभग ६०० उपजातियों का अब तक पता चला है। इनके कान बड़े होते हैं और कुछ जातियों में नथुनों के चारों ओर पत्ती के आकार की-सी झिल्ली लगी रहती है। यही झिल्ली उनकी घ्राण-शक्ति को विशेष रूप से तीक्ष्ण बनाती है। फलाहारी चमगादड़ बड़े होते हैं और पुरानी दुनिया के गरम भागों में ही निवास करते हैं। इनका थूथन लोमड़ी के समान लम्बा होता है और इनके परों का फैलाव ५ फीट तक पहुँच जाता है। इनके कान बहुत छोटे होते हैं और दुम भी बहुत छोटी-सी होती है, या होती ही नहीं। वे झुंड में रहते हैं और दिन भर पेड़ों में ही उल्टे लटके रहते हैं।

ये अधिकतर एक ही वंश में सम्मिलित किए जाते हैं और इन्हें लोग अक्सर 'उड़नेवाली लोमड़ी' भी कहते हैं। भारत,
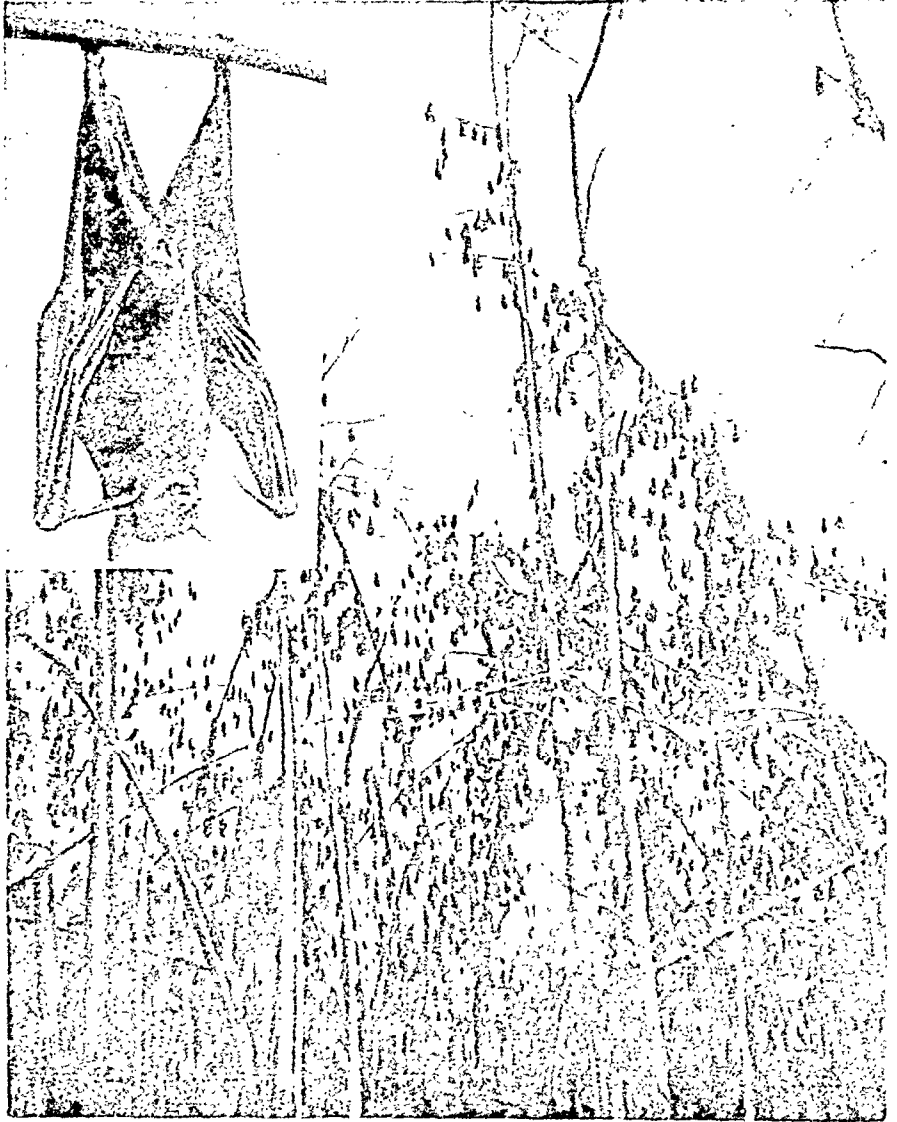
क्या आप पहचान सकते हैं कि इस पेड़ में यह कौन-सा फल फला हुआ है?

यह दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया के फलाहारी चमगादड़ या उड़नेवाली लोमड़ियों के एक डेरे का चित्र है, जिसमें सैकड़ों चमगादड़ फल की तरह लटकते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं! इस चित्र में केवल थोड़े ही से पेड़ नजर आ रहे हैं। पूरा डेरा तो लगभग २५ एकड़ तक फैला हुआ है। कितने चमगादड़ इस एक जगह पर विश्राम करते होंगे, इसका अनुमान आप स्वयं कर लीजिए! सन्ध्या-समय जब ये जगते हैं और भोजन की खोज में उड़ते हैं तो इनके झुंड के झुंड आसमान पर छा जाते हैं और इनके उड़ने की आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती है।

उत्तरी ध्रुव प्रदेश का रेनडियर नामक बारहसिंघा

रेनडियर एस्किमो को मांस, दूध और खाल तो देता ही है, साथ ही वह घोड़े की तरह उनका बोझा ढोने का भी काम करता है। भारत में गाय, बैल और घोड़ा मिलकर जो काम करते हैं, वे सब काम रेनडियर अकेला ही कर देता है। इसका क्षेत्र केवल उत्तरी ध्रुवप्रदेशों तक ही सीमित है और उस वीरान प्रदेश में केवल जमी हुई काई को ही खाकर यह अपनी गुजर कर लेता है।

बरमा और लंका में टीरोपस जाति का जो चमगादड़ पाया जाता है, उसे उत्तरी भारत में बादुन और दक्षिणी भारत में गदल कहते हैं।

शाकाहारी खुरवाले स्तनपोषी--अंगुलेटा

इन स्तनपोषियों का मुख्य लक्षण यह है कि इनकी उँगलियाँ खुर से मढ़ी हुई या खुर-जैसे नखों से सुरक्षित रहती हैं। इनमें पेड़ पर चढ़नेवाले हाइरेक्स के सिवाय शेष सब स्थलवासी हैं और एक जगह से भागकर या चक्कर लगाकर दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। खुरवाले सभी जीव शाकाहारी होते हैं। पहले हाइरेक्स और हाथी इस खुरवाली श्रेणी से अलग गिने जाते थे, किन्तु अब वे भी इसी कक्षा में सम्मिलित कर लिए गए हैं। इस कक्षा के जीव इन चार उपकक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं:—

(१) सम उँगलियोंवाले--इनमें गाय-बैल-भैंस आदि ढोर, भेड़-बकरी, हिरन, चिकारा, नीलगाय, शैमोआ, लामा, ऊँट, जिराफ, सुअर और दरियाई घोड़ा आदि शामिल हैं।

(२) विषम उँगलियोंवाले—जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, तापीर और गैंडा।

(३) हाइरेक्स या डस्सी--जो सिर्फ अफ्रीका में ही पाये जाते हैं। ये अपने कद तथा शक्ल में कुतरनेवाले जीवों से मिलते हैं, किन्तु उनके दाँत और मस्तिष्क विषम उँगलियोंवाले जीवों से मिलते हैं। ये जीव हाथी और गैंडे के बीच के समझे जाते हैं। स्थानाभाव के कारण इनका इससे अधिक हाल हम यहाँ देने में असमर्थ हैं।

(४) सूँडवाले हाथी—ये अपने वर्ग के एक ही बचे हुए प्राणी हैं।

सारे जन्तु-जगत् में हमारे लिए सबसे लाभदायक खुरवाले पालतू पशु ही हैं। हमारी कड़ी मेहनत में ये हिस्सा बटाते हैं और इनसे ही हमें भोजन और दस्तकारी की सामग्री प्राप्त होती है। जब से मनुष्य ने आधुनिक रीति से खेती करना सीखा, तभी से उसने बैल, भैंसा, घोड़े और खच्चरों से अपने हल चलवाए, उन्हें गाड़ी में भी जोता और उनसे बोझा भी ढुलवाया। इस वर्ग के जीवों का मांस और मांस से बनी हुई वस्तुएँ सर्वोत्तम मानी गईं। ये अन्य जानवरों से दूध, दही, मक्खन, घी और पनीर भी बहुत ज्यादा देते हैं। इनकी मजबूत खालों से उम्दा चमड़ा मिलता है। साथ ही ये अपनी मेहनत मनुष्य का काम हलका बना देते हैं।

भोजन-सामग्री देनेवाले जीव--दूध और उसकी बनी हुई चीजें दुनिया के सभी भागों में मानव-आहार का प्रधान अंग मानी जाती हैं। गौ-भैंस तो दूध देनेवाले पशुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं ही, साथ ही बकरी, लामा, ऊँट और बारहसिंघे

(रेनडियर) का दूध भी अन्य देशों में यथेष्ट परिमाण में काम में लाया जाता है। मनुष्य के भोजन में केवल दूध ही ऐसी चीज है, जो अकेले ही उसके जीवन को कायम रख सकती है। हम उसका सेवन प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही कर सकते हैं। प्रकृति का प्रबन्ध तो ऐसा अच्छा है कि पृथ्वी के प्रत्येक भाग में कोई-न-कोई दूध देनेवाला जानवर जरूर मिलता है। पहाड़ों पर बसनेवालों को भेड़ और बकरी, मैदान में रहनेवालों को गाय, रेगिस्तान के लोगों को ऊँट और अत्यन्त ठंडे बर्फीले प्रदेशों के निवासियों को रेनडियर से दूध मिल सकता है।

दूध-दही के लिए तो गाय-भैंस आदि पशुओं को लोग पालते ही हैं, किन्तु कदाचित् आपको इस बात का अनुमान न होगा कि मांस के लिए भी जानवर कितनी बड़ी संख्या में पाले जाते हैं। सम उँगलियोंवाले पशुओं से दुनिया के गोश्त की माँग का सबसे बड़ा हिस्सा पूरा होता है। भेड़-बकरी के अलावा मांस देनेवाले मुख्य जानवर गाय और सुअर ही हैं। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में हिसाब लगाया गया है कि हर साल २० करोड़ से अधिक मवेशी, १ करोड़ ५० लाख से अधिक भेड़ और बकरियाँ, तथा ८ करोड़ से भी अधिक सुअर वहाँ मारे जाते हैं! संसार में सबसे अधिक मवेशी हिन्दुस्तान, संयुक्त राज्य (अमेरिका) अर्जेन्टाइन, रूस और ब्राजील में पाये जाते हैं। वे देश, जहाँ भेड़ें अधिक मिलती हैं, संयुक्त राज्य (अमेरिका) ब्राजील, जर्मनी और आस्ट्रेलिया हैं। सुअर पालनेवाले देशों में आॅस्ट्रेलिया, रूस, संयुक्त-राज्य (अमेरिका), अर्जेन्टाइन और दक्षिणी अफ्रीका का स्थान सबसे आगे है। इनके अलावा और भी कई खुरवाले पशु भिन्न-भिन्न देशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका में ऊँट के छोटे भाई लामा और अलपाका का गोश्त भी खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों के निवासी रेनडियर का ही मांस खा लेते हैं। रेनडियर पहले अलास्का में नहीं पाया जाता था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) की सरकार ने एस्किमो लोगों के फायदे के लिए सन् १८७९ में साइबीरिया से ५०० रेनडियर ले जाकर वहाँ छुड़वा दिये थे। उनकी संख्या वहाँ अब १ लाख से भी अधिक हो गई है, और अब वे उस देश के लिए ही नहीं बल्कि और देशों के लिए भी मांस भेजते हैं। योरप और आॅस्ट्रेलिया में खरगोश भी अब मांस देनेवालों पशुओं में से एक मुख्य जीव है।

खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर—जानवरों की

(ऊपर दाहिनी ओर)—आॅस्ट्रेलिया की जगत्-विख्यात मेरीनो नामक भेड़, (नीचे) उसका झुंड
यह पशु अपने उत्तम ऊन के कारण बहुत कीमती समझी जाती है।

उत्तरी ध्रुव प्रदेश का रेनडियर नामक बारहसिंघा

रेनडियर एस्किमो को मांस, दूध और खाल तो देता ही है, साथ ही वह घोड़े की तरह उनका बोझा ढोने का भी काम करता है। भारत में गाय, बैल और घोड़ा मिलकर जो काम करते हैं, वे सब काम रेनडियर अकेला ही कर देता है। इसका क्षेत्र केवल उत्तरी ध्रुवप्रदेशों तक ही सीमित है और उस वीरान प्रदेश में केवल जमी हुई काई को ही खाकर यह अपनी गुजर कर लेता है।

बरमा और लंका में टीरोपस जाति का जो चमगादड़ पाया जाता है, उसे उत्तरी भारत में बादुन और दक्षिणी भारत में गदल कहते हैं।

शाकाहारी खुरवाले स्तनपोषी--अंगुलेटा

इन स्तनपोषियों का मुख्य लक्षण यह है कि इनकी उँगलियाँ खुर से मढ़ी हुई या खुर-जैसे नखों से सुरक्षित रहती हैं। इनमें पेड़ पर चढ़नेवाले हाइरेक्स के सिवाय शेष सब स्थलवासी हैं और एक जगह से भागकर या चक्कर लगाकर दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। खुरवाले सभी जीव शाकाहारी होते हैं। पहले हाइरेक्स और हाथी इस खुरवाली श्रेणी से अलग गिने जाते थे, किन्तु अब वे भी इसी कक्षा में सम्मिलित कर लिए गए हैं। इस कक्षा के जीव इन चार उपकक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं:—

(१) सम उँगलियोंवाले—इनमें गाय-बैल-भैंस आदि ढोर, भेड़-बकरी, हिरन, चिकारा, नीलगाय, शैमोआ, लामा, ऊँट, जिराफ, सुअर और दरियाई घोड़ा आदि शामिल हैं।

(२) विषम उँगलियोंवाले—जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, तापीर और गैंडा।

(३) हाइरेक्स या डस्सी—जो सिर्फ अफ्रीका में ही पाये जाते हैं। ये अपने कद तथा शकल में कुतरनेवाले जीवों से मिलते हैं, किन्तु उनके दाँत और मस्तिष्क विषम उँगलियोंवाले जीवों से मिलते हैं। ये जीव हाथी और गैंडे के बीच के समझे जाते हैं। स्थानाभाव के कारण इनका इससे अधिक हाल हम यहाँ देने में असमर्थ हैं।

(४) सूँडवाले हाथी—ये अपने वर्ग के एक ही बचे हुए प्राणी हैं।

सारे जन्तु-जगत् में हमारे लिए सबसे लाभदायक खुरवाले पालतू पशु ही हैं। हमारी कड़ी मेहनत में ये हिस्सा बटाते हैं और इनसे ही हमें भोजन और दस्तकारी की सामग्री प्राप्त होती है। जब से मनुष्य ने आधुनिक रीति से खेती करना सीखा, तभी से उसने बैल, भैंसा, घोड़े और खच्चरों से अपने हल चलवाए, उन्हें गाड़ी में भी जोता और उनसे बोझा भी ढुलवाया। इस वर्ग के जीवों का मांस और मांस से बनी हुई वस्तुएँ सर्वोत्तम मानी गईं। ये अन्य जानवरों से दूध, दही, मक्खन, घी और पनीर भी बहुत ज्यादा देते हैं। इनकी मजबूत खालों से उम्दा चमड़ा मिलता है। साथ ही ये अपनी मेहनत मनुष्य का काम हलका बना देते हैं।

भोजन-सामग्री देनेवाले जीव—दूध और उससे बनी हुई चीजें दुनिया के सभी भागों में मानव-आहार का प्रधान अंग मानी जाती हैं। गौ-भैंस तो दूध देनेवाले पशुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं ही, साथ ही बकरी, लामा, ऊँट और बारहसिंघे

(रेनडियर) का दूध भी अन्य देशों में यथेष्ट परिमाण में काम में लाया जाता है। मनुष्य के भोजन में केवल दूध ही ऐसी चीज है, जो अकेले ही उसके जीवन को कायम रख सकती है। हम उसका सेवन प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही कर सकते हैं। प्रकृति का प्रबन्ध तो ऐसा अच्छा है कि पृथ्वी के प्रत्येक भाग में कोई-न-कोई दूध देनेवाला जानवर जरूर मिलता है। पहाड़ों पर बसनेवालों को भेड़ और बकरी, मैदान में रहनेवालों को गाय, रेगिस्तान के लोगों को ऊँट और अत्यन्त ठंडे बर्फीले प्रदेशों के निवासियों को रेनडियर से दूध मिल सकता है।

दूध-दही के लिए तो गाय-भैंस आदि पशुओं को लोग पालते ही हैं, किन्तु कदाचित् आपको इस बात का अनुमान न होगा कि मांस के लिए भी जानवर कितनी बड़ी संख्या में पाले जाते हैं। सम उँगलियोंवाले पशुओं से दुनिया के गोश्त की माँग का सबसे बड़ा हिस्सा पूरा होता है। भेड़-बकरी के अलावा मांस देनेवाले मुख्य जानवर गाय और सुअर ही हैं। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में हिसाब लगाया गया है कि हर साल २० करोड़ से अधिक मवेशी, १ करोड़ ५० लाख से अधिक भेड़ और बकरियाँ, तथा ८ करोड़ से भी अधिक सुअर वहाँ मारे जाते हैं! संसार में सबसे अधिक मवेशी हिन्दुस्तान, संयुक्त राज्य (अमेरिका) अर्जेन्टाइन, रूस और ब्राजील में पाये जाते हैं। वे देश, जहाँ भेड़ें अधिक मिलती हैं, संयुक्त राज्य (अमेरिका) ब्राजील, जर्मनी और ऑस्ट्रेलिया हैं। सुअर पालनेवाले देशों में ऑस्ट्रेलिया, रूस, संयुक्त-राज्य (अमेरिका), अर्जेन्टाइन और दक्षिणी अफ्रीका का स्थान सबसे आगे है। इनके अलावा और भी कई खुरवाले पशु भिन्न-भिन्न देशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका में ऊँट के छोटे भाई लामा और अलपाका का गोश्त भी खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों के निवासी रेनडियर का ही मांस खा लेते हैं। रेनडियर पहले अलास्का में नहीं पाया जाता था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) की सरकार ने एस्किमो लोगों के फायदे के लिए सन् १८७९ में साइबीरिया से ५०० रेनडियर ले जाकर वहाँ छुड़वा दिये थे। उनकी संख्या वहाँ अब १ लाख से भी अधिक हो गई है, और अब वे उस देश के लिए ही नहीं बल्कि और देशों के लिए भी मांस भेजते हैं। योरप और ऑस्ट्रेलिया में खरगोश भी अब मांस देनेवाले पशुओं में से एक मुख्य जीव है।

खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर—जानवरों की

(ऊपर दाहिनी ओर)—ऑस्ट्रेलिया की जगत्-विख्यात मेरीनो नामक भेड़, (नीचे) उसका झुंड
यह पशु अपने उत्तम ऊन के कारण बहुत कीमती समझी जाती है।

खालों का प्रयोग मनुष्य बहुत दिनों से करता आया है। अपना शरीर ढँकने के लिए भी सबसे पहले मनुष्य ने खाल को ही पहना था। आजकल खालें विशेष रूप से जो जानवर मांस के लिए मारे जाते हैं, उन्हीं से प्राप्त होती हैं। इनके अलावा उन जंगली या घरेलू जानवरों की खालों का भी प्रयोग किया जाता है, जो खाये नहीं जाते। कमाने और साफ किये जाने के बाद खालों से वस्त्र, जूते, जीन, साज, पेटियाँ, किताबों की जिल्द, सूटकेस तथा अन्य सैकड़ों चीजें बनाई जाती हैं।

जानवरों के बालों से भी हमारे कई काम निकलते हैं! मोटे बाल पलँग और कुर्सियों के गद्दों और गद्दियों में भरे जाते हैं। उन्हें जमाकर नमदे बनाये जाते हैं और बड़े-बड़े कीमती कालीन भी उन्हीं से तैयार किए जाते हैं। नर्म बाल से (जिसे ऊन कहते हैं) कपड़े बनते हैं। ऊनी कपड़े मजबूत तो होते ही हैं, इसके अलावा वे हमें सर्दी और पानी से भी बचाते हैं। भेड़ की ऊन सर्वोत्तम तथा सबसे उपयोगी है। इसके अलावा बकरा, अलपाका और ऊँट से भी ऊन मिलती है। काश्मीर और अंगोरा के बकरे ऊन के लिए बहुत कीमती समझे जाते हैं। काश्मीरी दुशाले और पश्मीने इन्हीं के नर्म ऊन से बनते हैं।

मांस, खाल और बाल के अलावा उपर्युक्त पशुओं की हड्डी, सींग, खुर और दाँतों से भी हमारी कई काम की वस्तुएँ तैयार होती हैं। हड्डियाँ खेतों को अधिक उपजाऊ बनाने के काम आती हैं। सींग और खुर से सरेस, ग्लू और जिलेटिन बनती हैं। सींग से खिलौने, कलम, छड़ी, डिबिया आदि और भी बहुत-सी चीजें बनाई जाती हैं। हमारे देश में कटक की सींग की बनी वस्तुएँ मशहूर हैं। भेड़ की आँतों से उम्दा किस्म की ताँत तैयार की जाती है, जो टेनिस के बल्लों में लगाई जाती है।

बोझा ढोनेवाले पशु—इनमें सबसे पहला स्थान घोड़ों का है, जो सूखी जमीन पर तेज भागने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। अब जंगली घोड़े बहुत कम पाये जाते हैं। कहा जाता है कि पहले-पहल एशिया में ही घोड़े पालतू बनाये गये थे। उनकी अब ५० से भी अधिक नस्लें मिलती हैं।

गधे एशिया और अफ्रीका में ही मिलते हैं और ज्यादातर वे खुश्क जगहों या रेगिस्तानों में ही प्रसन्न रहते हैं। घोड़ों की अपेक्षा वे अधिक सहनशील होते हैं तथा घोड़े से बहुत कम खूराक ही निर्वाह कर लेते हैं। धोबी के लिए गधा कितने महत्व की वस्तु है, यह सभी जानते हैं!

खच्चर एक दोगला जानवर है, जो घोड़े और गधे के मेल का फल है! वह घोड़े के बराबर तेज तो नहीं होता, परन्तु अपने पैरों का बड़ा पक्का होता है। इसलिए पहाड़ों पर चढ़ने के लिए वह अधिक काम का है।

हाथी से राजा-महाराजाओं की सवारी और शोभा के अतिरिक्त भारी चीजों को ढोने का काम भी कराया जाता है। उसकी महान् शक्ति और सूँड़ दोनों उसकी मुख्य पूँजियाँ हैं, जिनकी सहायता से वह हमारे लिए वनों में पेड़ उखाड़ता है और भारी-भारी लट्ठे एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है। हाथी का विशेष हाल आगे दिया जायगा।

ऊँट एशिया और अफ्रीका के रेगिस्तानों में घोड़े का ही प्रयोजन सिद्ध करता है। प्रकृति ने उसे बालुकामय प्रदेशों के बिल्कुल उपयुक्त बनाया है। उसके पैर ढीले, चौड़े और गुदगुदे होने के कारण नर्म बालू में गहरे नहीं धँसते। उसके नथुनों पर लटकनेवाला मांस आँधी या तूफान
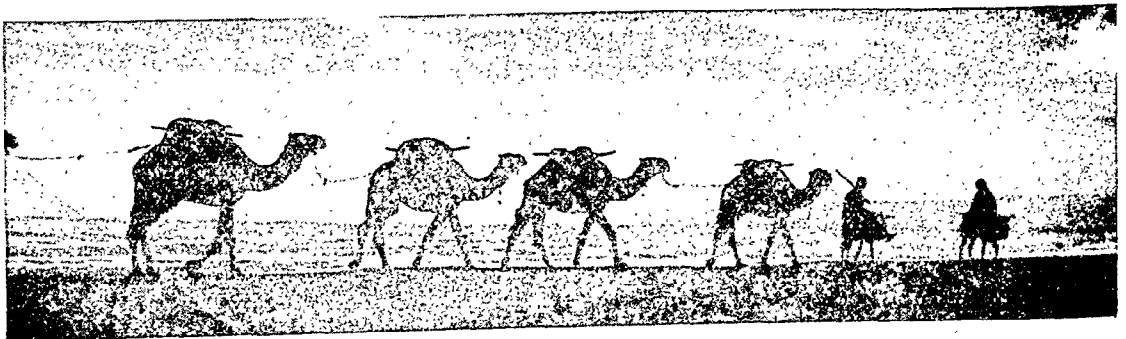
२ [illegible] के जहाजों' का एक बेड़ा

प्रकृति ने इस जानवर को ऐसा बनाया है कि [illegible] रेगिस्तान के [illegible] अनुकूल पाया जाता है। प्रस्तुत चित्र में मरुभूमि की मंजिल तय कर [illegible] लदे हुए ऊँ[illegible] दिखाई दे रहा है।
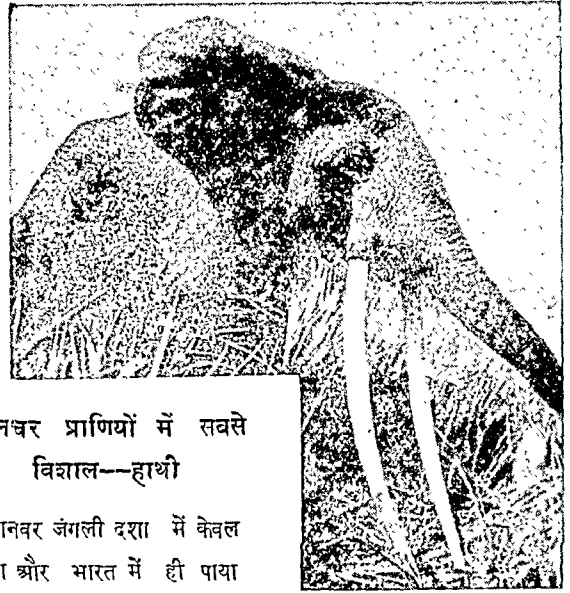
स्थलचर प्राणियों में सबसे विशाल——हाथी

यह जानवर जंगली दशा में केवल अफ्रीका और भारत में ही पाया जाता है। अफ्रीका और भारत के हाथी की शक्ल में काफी अंतर होता है। प्रस्तुत चित्र में दाहिनी ओर अफ्रीका का हाथी दिखाया गया है और बाईं ओर भारतीय हाथी। दोनों के कान, माथा आदि की तुलना करके आप उनका अन्तर देख सकते हैं।

से उड़नेवाली बालू को नाक में नहीं घुसने देता। उसके आमाशय में पानी जमा रखने के लिए कई कोठरियाँ होती हैं, जिनमें वह कई दिनों के लिए पानी भर लेता है। इन कोठरियों के मुँह संकोचनीय पेशियों से बन्द रहते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें से पेट में पानी जाता रहता है। इसी लिए ऊँट बिना पानी पिए हुए लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने में अपना सानी नहीं रखता। 'रेगिस्तानी जहाज' सचमुच ही में उसका उपयुक्त नाम है। ऊँट की दो किस्में होती हैं——एक दो कूबड़वाली और दूसरी एक कूबड़वाली।

इनके अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका के एंडीज नामक पहाड़ों पर लामा, अलपाका, विकुना इत्यादि; लैपलैंड, फिनलैंड, नार्वे, साइबीरिया आदि ध्रुवक्षेत्रों में रेनडियर, तिब्बत के ऊँचे पठारों में याक; तथा हिन्दुस्तान में भैंसा और बैल बोझा ढोने व गाड़ी खींचने के लिए पाले जाते हैं। रेनडियर नर्म बर्फ पर काफी तेज चाल से चल सकता है और कड़ी-से-कड़ी ठंड भी वह सह लेता है। बैल दलदलों और कच्चे रास्तों में——जहाँ घोड़े अटक जाते हैं—अपने फैलनेवाले खुरों के कारण बड़ी आसानी से चले जाते हैं। भैंसे उनसे भी अधिक दलदली जगह के लिए उपयोगी हैं। चावल के खेतों में कार्य करना उन्हें विशेष रूप से रुचिकर है।

जन्तु-जगत् के वर्त्तमान महाकाय जीव

प्राणियों के विविध वर्गों में पाए जानेवाले असाधारणतया बड़े डील-डौल के कतिपय जीवधारियों का परिचय।

जानवरों को हम प्राय: उनके आकार के अनुसार ही कम-ज्यादा महत्व देते हैं। सबसे बड़े प्राणी प्राय: पृष्ठवंशियों में ही मिलते हैं। परन्तु अपृष्ठवंशियों में भी कुछ अत्यधिक बड़े जीव हैं। क्या आपने किसी ऐसे घोंघा-वंशज के विषय में सुना है, जिसका भार लगभग ८० मन हो, या ऐसे किसी घोंघे को आप जानते हैं, जो गौरैया के अंडे के बराबर अंडा देता हो? अथवा अपने शरीर की आँतों में रहनेवाले किसी ऐसे कृमि से भी आप परिचित हैं, जिसकी लम्बाई ७० फीट हो? साधारणतया शरीर की दृष्टि से अपृष्ठवंशियों से पृष्ठवंशी बड़े होते हैं। छोटे से छोटा पृष्ठवंशी भी सबसे छोटे कृमि या कीट से कई सौ गुना भारी होता है! किन्तु कुछ सागरवासी नीची श्रेणी के अपृष्ठवंशी जीव भेड़ के बराबर ऊँचे भी पाए गए हैं! जानवरों के विभिन्न समूहों में डील-डौल की लघुता में

जंतु-जगत् के वर्त्तमान महाकाय प्राणियों में से मुख्य-मुख्य के आकारों की तुलना

सबसे बड़ा उड़नेवाला पक्षी 'अलबेट्रास'

सबसे ऊँचा जानवर 'जिराफ'

सबसे बड़ी छिपकिली 'कोमोडो ड्रेगन'
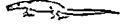
सबसे बड़ा स्थलचर 'हाथी'
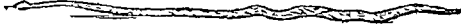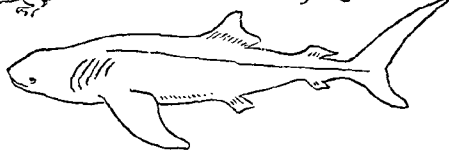
सबसे बड़ा कद्दू-दाना कृमि

आदमी

सबसे लम्बा सर्प

सबसे बड़ा पक्षी 'शुतुरमुर्ग'

सबसे बड़ा उरंगम 'मगर'
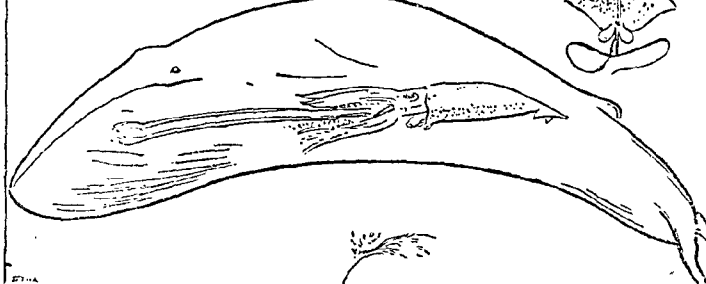
सबसे बड़ा अपृष्ठवंशी 'जापानी मकड़ी केकड़ा'

सबसे बड़ी मछली 'शार्क'

सबसे बड़ी जेली मछली

सबसे बड़ी सिकची मछली

जंतु-जगत् का सबसे बड़ा वर्त्तमान प्राणी 'ह्वेल'

(ह्वेल के शरीर की पृष्ठभूमि में) सबसे बड़ा मृदुलांगी समुद्री जीव 'स्क्विड'
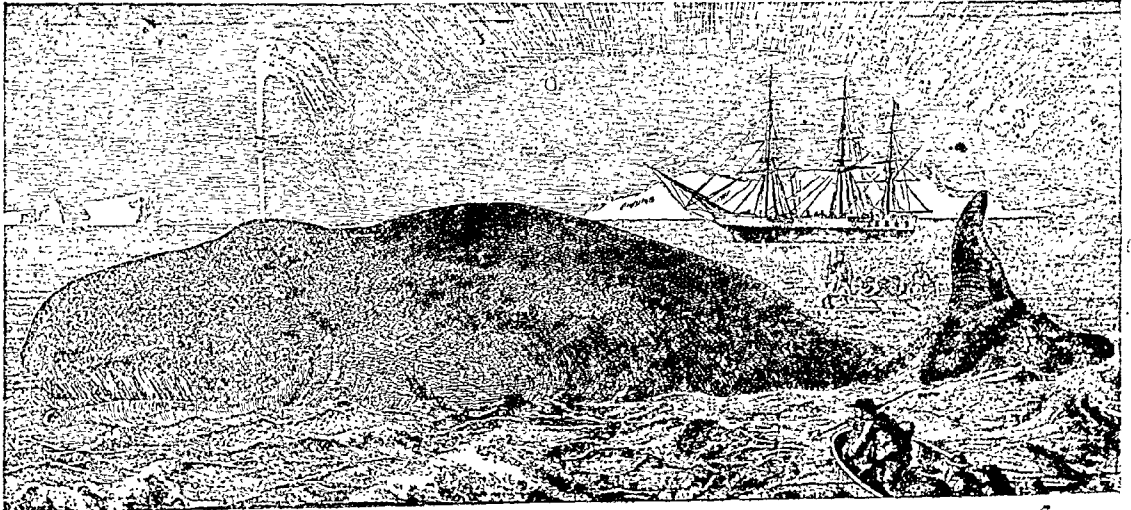
सबसे बड़ा 'पॉलिप'

जन्तु-जगत् का वर्त्तमान सबसे बड़ा प्राणी—ह्वेल

यह भीमकाय जानवर जलचर होता है, स्थलवासी नहीं ! तथापि यह हमारी ही तरह स्तनपोषी वर्ग का प्राणी है। संस्कृत में इसे 'तिमिंगल' कहते हैं। इसकी लम्बाई साधारणतया ८५ से १०० फीट तक होती है!
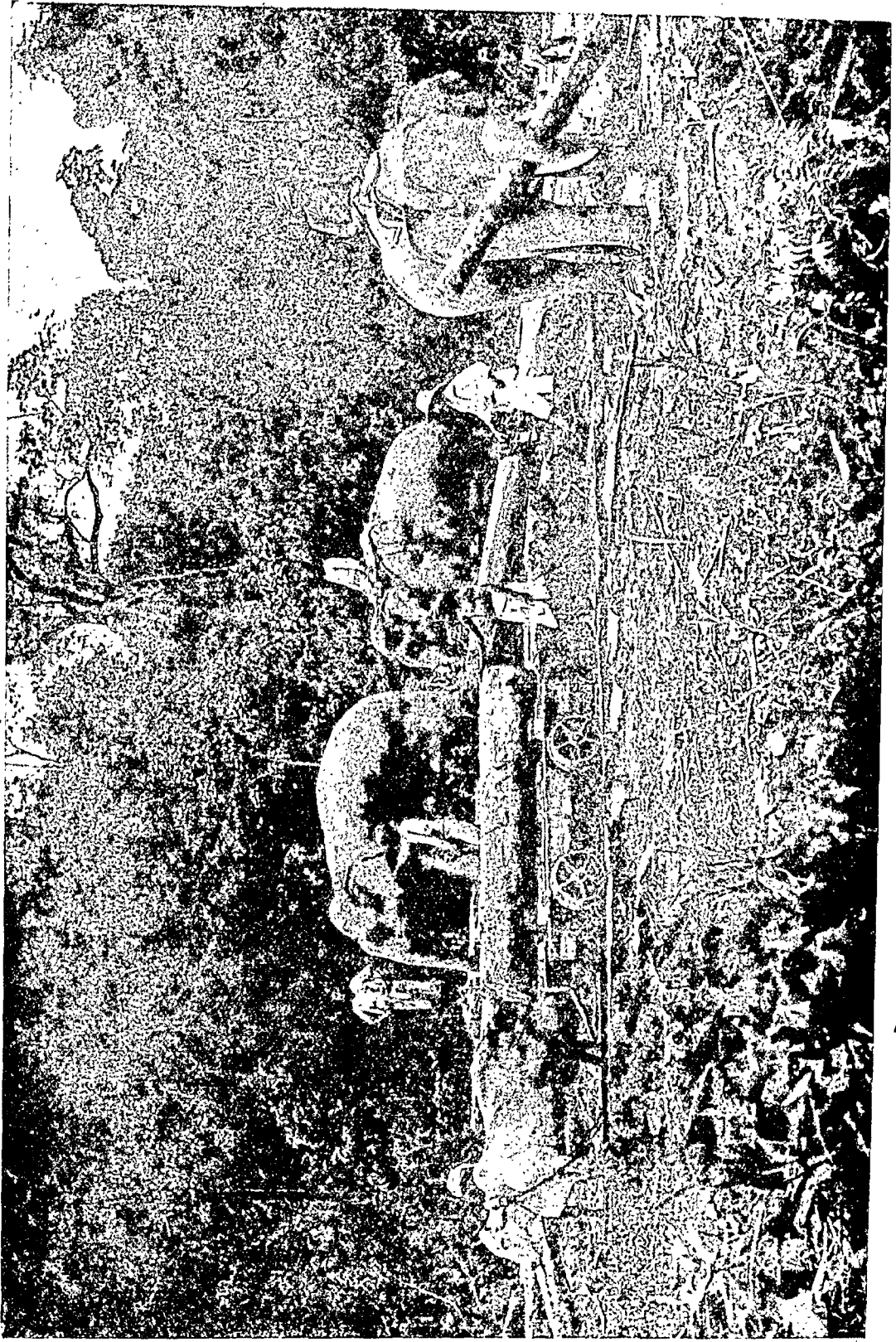
सबसे बड़ा स्थलचर स्तनपोषी प्राणी हाथी, जो मनुष्य द्वारा पालतू बना लिया गया है

देखिए, अपने मालिक मनुष्य के लिए ये प्राणी लकड़ियों के भारी लट्ठे उठाकर कितना परिश्रम कर रहे हैं ! हाथी अपने अतुलित बल के कारण बहुत-से भारी-भारी काम कर दिखाता है ।

ने उसे ऊँट, हिरन और बैल तीनों के अंगों के एक अनोखे सम्मिश्रण का उदाहरण करके रचा है। कदाचित् आपने उस बुढ़िया की कहानी सुनी हो, जिसने एक जंतुशाला में पहले-पहल जिराफ़ को देखकर कहा था, "क्या यह असली जानवर है? मुझे तो विश्वास नहीं होता!" सम्भव है कि आप भी पहले-पहल इस विचित्र जीव को देखकर यही विचार करेंगे, क्योंकि वास्तव में वह ऐसा ही है। उसकी लम्बी-पतली टाँगों, अत्यन्त लम्बी गर्दन, हास्यजनक छोटे-छोटे सींग और बड़ी-बड़ी भूरी आँखों को ध्यान से देखिए। दौड़ते समय तो वह और भी अजीब दिखाई देता है। उस समय वह अपनी पिछली टाँगों को सामनेवाली टाँगों के आगे डालता है और अपनी लम्बी गर्दन को नीचे-ऊपर करके एक अजीब मसखरे ढंग से हिलाता जाता है।

जिराफ़ इतना ऊँचा होता है कि यदि एक दूसरे पर दो हाथी भी खड़े हो जायँ, तब भी वह उनके ऊपर गर्दन ऊँची कर सकता है। उसकी ऊँचाई १८ या २० फ़ीट होती है और हाथी के समान वह भी झुंडों में रहा करता है। जिराफ़ अफ्रीका के मध्य भागों में ही पाया जाता है। उसकी लम्बी गर्दन और चित्तीदार नारंगी रंग उसको वहाँ के बबूल के जंगलों में रहने में विशेष सहायता देते हैं। उसे इन वृक्षों की पत्तियाँ बहुत प्रिय हैं, परन्तु वे भूमि से काफ़ी ऊँचाई पर होती हैं। कहा जाता है कि जिराफ़ युगों से अपनी गर्दन उन पत्तियों तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहा, इसीलिए धीरे-धीरे उसकी गर्दन लम्बी होती गई, यहाँ तक कि उसने अपना वर्तमान रूप धारण कर लिया।

जिराफ़ के मनोहर रंग की उपयोगिता का वर्णन एक प्रसिद्ध शिकारी गॉर्डन कौमिंग ने बहुत अच्छा किया है। हम उसके कुछ शब्द यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—"मुझे जान पड़ता है कि सृष्टि को सुशोभित करने के लिए जो नाना प्रकार के जीव रचे गए हैं, उनमें और उनके निवास-स्थानों के वृक्षों में कुछ अद्भुत समानता है। उदाहरण-स्वरूप जिराफ़ ही को ले लीजिए। वह अफ्रीका के बड़े पुराने जंगलों में रहता है, जहाँ बहुत-से हरे और सूखे वृक्ष होते हैं। मैं प्रायः वहाँ पहुँचकर धोखा खा जाता था। मैंने अपने जंगली नीग्रो साथियों की भी परीक्षा की, परन्तु वे भी भ्रम में पड़कर दूर से जिराफ़ को कभी पेड़ का तना समझते थे और कभी वृक्षों के तनों को जिराफ़ बतलाते थे!" इससे स्पष्ट है कि उसके शरीर का हल्का नारंगी रंग और उस पर पड़े हुए धूमिल धब्बे वृक्षों की छाया में उसे अदृश्य बना देते हैं और शत्रुओं से उसकी रक्षा करने में सहायक होते हैं।

स्थल का सबसे विशाल जन्तु—हाथी

जिस प्रकार जिराफ़ स्थल के जीवों में सबसे ऊँचा होने का गर्व कर सकता है, वैसे ही हाथी को धरती के प्राणियों में सबसे विशाल होने का गौरव प्राप्त है। सभी लोग जानते हैं कि उसके एक विचित्र सूँड़ होती है, जिससे वह एक हाथ का काम लेता है। वह उससे वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर नीचे नहीं गिरता, बल्कि उसे ऊँची उठाकर उससे ही अपने चारे को लेकर मुँह में रख लेता है। प्यास लगने पर उसी में पानी भरकर वह मुँह में उँडेल लेता है। उससे वह वहाँ भारी-भारी

जानवरों का सम्राट्—सिंह
जो वज़न में छः मन का होने पर भी बिजली की तरह तड़पकर हाथियों तक पर आक्रमण करता है।

शहतीरों तक को उठाकर इधर-उधर रख देता है, वहाँ पैसे-जैसी नन्हीं-सी वस्तु को भी उठाकर अपने महावत को पकड़ा देता है !

आजकल हाथी केवल अफ्रीका और दक्षिणी एशिया में ही पाए जाते हैं। हम भारतवासी हाथी को देखकर सहज ही बतला सकते हैं कि वह देशी है अथवा विदेशी। अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी की अपेक्षा बड़ा और बलवान् होता है और उसके कान बहुत बड़े होते हैं। जब वह उन्हें पीछे को मोड़ लेता है तो उसके कन्धे बिलकुल ढक जाते हैं। सूँड़ पर गौर करने से भी दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अफ्रीका के हाथी की सूँड़ के छोर पर नीचे और ऊपर दो उँगलियाँ-सी निकली रहती हैं। एशियाई हाथी में उसकी ऊपरी छोर पर केवल एक ही उँगली-सी होती है। इसके अतिरिक्त अफ्रीकावाले हाथी की पिछली टाँगों में तीन-तीन उँगलियाँ-सी होती हैं और एशियावालों में चार-चार। अफ्रीका का सबसे ऊँचा हाथी ११ फीट ८॥ इंच तक ऊँचा नापा गया है और एशिया के हाथियों में अब तक जो सबसे ऊँचा मिला है, वह १० फीट ६ इंच ही ऊँचा था। हाथियों का शिकार उनके बहुमूल्य दाँत के लिए किया जाता है। नर और मादा दोनों ही में दाँत होते हैं, किन्तु मादाओं में वे छोटे ही रह जाते हैं और मुँह के बाहर निकले नहीं दिखलाई पड़ते। हाथी का एक दाँत ११-११॥ फीट तक लम्बा पाया गया है, जिसका कि भार २ मन से कुछ ही कम था। हाथी-दाँत से बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे चूड़ियाँ, बिलियर्ड की गेंदें, शतरंज के मोहरे, खिलौने इत्यादि बनाये जाते हैं।

अमेरिका का यह भालू, जो 'ग्रिजली बेअर' कहलाता है, एक भयंकर जीव होता है। यह एक अजीब ढंग से मछलियों का शिकार करता है।

दरियाई घोड़ा और गैंडा

हाथी के बाद सबसे भारी स्थलचर जानवर दरियाई घोड़ा या हिप्पोपोटेमस है, जो अपनी छोटी-सी दुमसहित १६ फीट लम्बा होता है। हिप्पो चर्बी और मांस का ऐसा भंडार होता है कि उसके पेट के घेरे का नाप लगभग उसकी लम्बाई के ही बराबर होता है। पूर्ण जवान हिप्पो ऊँचाई में तो लगभग ५ फीट का ही होता है, परन्तु उसका बोझ लगभग ११२ मन होता है। स्थल के प्राणियों में सबसे बड़ा मुँह हिप्पो को ही प्राप्त हुआ है। उसमें दो भयानक फाड़नेवाले दाँत होते हैं। मुँह खोलने पर उसकी आकृति बड़ी डरावनी होती है।

हिप्पो दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका के अतिरिक्त दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता। इस विशाल जन्तु को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसको पृथ्वी पर चलने-फिरने में अवश्य ही कठिनाई होती होगी। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह स्थल पर मनुष्य के बराबर ही दौड़ सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह अपना समय अधिकतर पानी में ही व्यतीत करता है।

गैंडा भी हाथी और हिप्पो के समान एक भारी-भरकम पशु है। इसकी दो उपजातियाँ भारतवर्ष में भी मिलती हैं। गैंडे की नाक पर एक या दो विचित्र सींग होते हैं। इस सींग का स्थान जैसा अनोखा है, वैसी ही उसकी रचना भी अद्भुत है। अन्य पशुओं के सींग के समान उसमें हड्डी नहीं होती। वह एक बहुत मोटे और लम्बे बाल की नाईं खाल से उगता है। एशिया में मिलनेवाले गैंडों में एक सींगवाला भारतीय गैंडा सबसे बड़ा होता है। उसकी ऊँचाई कंधे तक ६ फीट होती है। जनरल किनलोक ने एक बार एक ऐसा गैंडा मारा था, जिसकी लम्बाई दुम को छोड़कर ८ फीट १ इंच थी। अफ्रीका का गैंडा भारतीय गैंडे से बड़ा और भारी होता है। उसके शरीर का बोझ ८० मन से भी अधिक होता है। उसकी दो जातियाँ मिलती हैं; एक काली और दूसरी श्वेत। श्वेत जाति का गैंडा कभी-कभी १२ फीट लम्बा और ६ फीट ऊँचा तक देखने में आया है।

जंगल का राजा—सिंह

उपर्युक्त बड़े डील और मोटी खालवाले सब जीव शाकाहारी हैं। अब आइए, मांसाहारियों में सबसे विशाल पशु जंगल के सरदार शेर बबर या सिंह का आपको परिचय दें, जिसको जन्तुओं का राजा भी कहते हैं। शेर बबर अब गुजरात को छोड़कर सिर्फ अफ्रीका में ही पाया जाता है, किन्तु कुछ समय पहले यह अरब, पूर्वी योरप और मध्य एशिया में भी मिलता था। वह ७ फीट या इससे

भी अधिक लम्बा होता है और उसकी दुम लगभग गज भर लम्बी होती है। उसका भार ६ मन के लगभग होता है। बवर शेर की गर्दन अत्यन्त भयप्रद होती है। रात के सन्नाटे में जब वह घने वन में गरजता है तो छोटे-बड़े सभी जीव भय से काँप उठते हैं। बलवान से बलवान बैलों और भैंसों के ऊपर छलाँग मारकर वह जा कूदता है और उनकी गरदन में अपने तीक्ष्ण दाँत घुसेड़ देता है, जिससे विवश होकर वे तत्काल ही धराशायी हो जाते हैं। सृष्टि का कोई भी जीव उसके शारीरिक बल की समता नहीं कर सकता। उसकी शान्त और गंभीर आकृति, राजसी चाल एवं अतुलनीय बल और पौरुष जानवरों की दुनिया में उसके उच्च पद के प्रमाण हैं। बाघ या टाइगर भी ऊँचाई में शेर के बराबर ही होता है। उसकी लम्बाई ९ या १० फीट होती है और शरीर का भार ५-६ मन से कम नहीं होता। उसकी अगली टाँगों का घेरा २ फीट के लगभग होता है और गर्दन वृक्ष के तने के समान मोटी होती है। ऐसा विशाल जन्तु तड़पकर जब गाय, बैल, हिरन आदि पर आक्रमण करता है तो उसके धक्के से ही वे मूर्छित हो जाते हैं। बाघ सिंह की भाँति अपने पंजों से थप्पड़ नहीं मारता। वह दोनों पंजों से शिकार को जकड़ लेता है और तब अपने दाँतों से उसे चीर-फाड़ डालता है।

एक ओर तो ऐसे-ऐसे दीर्घकाय स्तनधारी हैं और दूसरी ओर बहुत से छोटे और हल्के शरीरवाले स्तनधारी भी इस पृथ्वी पर विराजमान हैं, जैसे कि चूहा और छछूँदर। इनमें से कोई-कोई को तो ४-६ इंच से अधिक बड़ा शरीर प्राप्त नहीं होता। एक ही वर्ग में कोई जीव मनों भारी है तो कोई कठिनता से २-३ छटाँक का ही है। ऐसा क्यों है ? यह प्रकृति का एक रहस्य है, जिसको जानना मानव की शक्ति से परे है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पशुओं के शरीर में कुछ ऐसी नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ हैं, जिनके प्रभाव से उनके शरीर की वृद्धि और बड़ाई-छोटाई निश्चित होती है।

सबसे बड़ा पक्षी—शुतुरमुर्ग

पक्षियों में सबसे बड़ा शरीर उन जीवों का है, जिन्होंने अपने को वायुमंडल की सैर से वंचित रक्खा है, अर्थात् जो उड़ नहीं सकते। इनका विस्तृत वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

इन्हीं में से सबसे बड़ा अफ्रीका के मैदानों में मिलनेवाला शुतुरमुर्ग है, जो घोड़े से भी तेज दौड़ सकता है और अपनी

गैंडा

जो हाथी और हिप्पोपोटेमस के बाद स्थलचर जीवों में सबसे बड़ा प्राणी होता है। इसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता इसके नाक पर उगनेवाला वह अनोखा सींग है, जिसे आप चित्र में देख सकते हैं। इसकी भी हाथी की तरह भारतीय और अफ्रीकन ये दो जातियाँ पाई जाती हैं।

मजबूत टाँगों और पैने नखों से चौपायों की-सी कड़ी ठोकर मार सकता है। दौड़ते समय वह एक छलाँग में २५ फीट तक की दूरी पार कर डालता है! वह ऊँचाई में कभी-कभी ८ फीट तक पहुँचता है और उसका बोझ ३॥ मन से भी अधिक होता है। उसका अंडा लगभग १॥ सेर भारी होता है!

उड़नेवाले पक्षियों में सबसे बड़ा और जबरदस्त प्राणी सुनहला उकाब है, जो शिकारी पक्षियों का राजा माना जाता है। यह उत्तरी गोलार्द्ध में ही मिलता है। इसके परों का फैलाव ६ फीट और चोंच से दुम तक की लंबाई ३ फीट होती है। अपनी वीरता और उच्च पद के कारण बहुत-से प्राचीन और अर्वाचीन राज्यों के झंडों पर उसे स्थान मिला है।

इन बड़ी चिड़ियों के मुकाबले में दूसरी ओर अनेकों अत्यन्त नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ भी मिलती हैं, जिनमें सबसे छोटी जाति की चिड़ियाँ अमेरिका में पाई जाती हैं। उन्हें भिनभिनानेवाली चिड़ियाँ या शक्करखोर कहते हैं। इनमें से कोई-कोई लम्बाई में ३ इंच से भी छोटी होती हैं, परंतु चमकदार और चटकीले रंगों की सुन्दरता में वे संसार के सब पक्षियों से बढ़कर हैं।

उड़नेवाली चिड़ियाँ वायु के गति-संबंधी कारणों से एक निश्चित परिमाण से अधिक बड़े शरीरवाली नहीं होतीं। वही चिड़ियाँ डील-डौल में बड़ी हो सकी हैं, जिन्होंने कि अपने पंखों और उड़ने की शक्ति का त्याग कर दिया है। इसीलिए पंखोंवाले फरिश्तों का होना वास्तव में जीव-विज्ञान की दृष्टि से असम्भव है। पंखों को फड़फड़ानेवाली प्रेरक शक्ति के लिए औसत शरीर के फरिश्ते के लिए भी इतनी बड़ी छाती की हड्डी और मांस-पेशियों की आवश्यकता होगी कि वे उसके सीने से ४ फीट आगे को निकली रहेंगी!

सबसे बड़ा सर्प—अजगर

उरंगमों में भी अजगर-जैसे भारी सर्प, बड़े-बड़े कछुए और ऐसे बड़े-बड़े गोह आदि पाए जाते हैं, जिन्हें देखकर आप आश्चर्य में पड़ जायँगे। अजगरों में कोई-कोई ३० फीट या इससे भी अधिक लम्बे और एक स्वस्थ मनुष्य की जाँघ से भी अधिक मोटे होते हैं। इनके विषय में यात्रियों द्वारा बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हुई हैं। रोमनों के जमाने में कहा जाता था कि एक दैत्याकार सर्प ने किसी हाथी को गला घोंटकर मार डाला था! अजगर कितने बड़े जानवर खा लेता है, इस विषय में भी लोगों ने बहुत-सी बातें हाँकी हैं। उनके द्वारा पूरे कद के बैल निगल लिये जाने की बात सरासर झूठ है। हाँ, बड़ी-बड़ी जन्तुशालाओं में कभी-कभी अजगरों को सुअर के बच्चे तथा छोटी बकरियाँ खाने को दी जाती हैं। एक समय एक भारतीय अजगर ४ फीट लम्बा तेंदुआ खाते देखा गया था। डाक्टर वार्नेट ने लिखा है कि उन्होंने स्वयं बोआ जाति के ११ फीट के एक अजगर को एक जवान हिरन को, जिसके सींग न निकले थे, खाकर अचेत पड़े हुए देखा था। ऐसे बड़े जीवों को निगलकर अजगर उन्हें एक सप्ताह या दस दिन में हज्म कर डालता है। इन साँपों की एक विशेषता यह है कि वे बिना खाए भी बहुत दिनों तक जीवित रह सकते हैं। प्रसिद्ध ही है कि 'अजगर करे न चाकरी!'
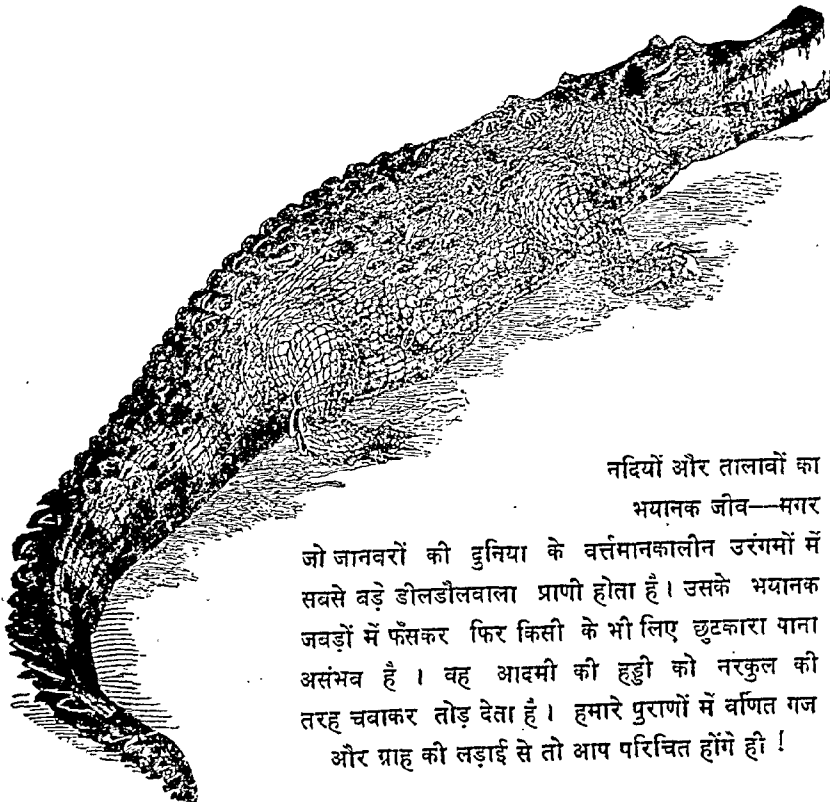
नदियों और तालावों का भयानक जीव—मगर

जो जानवरों की दुनिया के वर्तमानकालीन उरंगमों में सबसे बड़े डीलडौलवाला प्राणी होता है। उसके भयानक जवड़ों में फँसकर फिर किसी के भी लिए छुटकारा पाना असंभव है। वह आदमी की हड्डी को नरकुल की तरह चबाकर तोड़ देता है। हमारे पुराणों में वर्णित गज और ग्राह की लड़ाई से तो आप परिचित होंगे ही!

मगर और घड़ियाल

मगर और घड़ियाल वर्त्तमान उरंगमों में सबसे वड़े हैं। ये वड़ी-वड़ी नदियों में निवास करते हैं और मनुष्य के घोर शत्रु होते हैं। प्रायः नदी में नहानेवालों को अपनी बाँह या टाँग उनको अर्पण करना पड़ती है। पानी पीते हुए चौपायों को ये कभी-कभी टाँग पकड़कर घसीट ले जाते हैं और उस समय तक पानी में दवाये रहते हैं जब तक कि वे मर न जाएँ। उनके जवड़ों की पकड़ ऐसी कड़ी होती है कि जो वस्तु उनके मुँह में आ जाती है, उसका छूटना असम्भव है। ये साधारण मनुष्य को सुगमता से निगल सकते हैं। अफ्रीका और भारतवर्ष में नदियों पर पानी भरने जानेवाली स्त्रियों का प्रायः मगर द्वारा घातक अन्त हो जाना कोई असाधारण घटना नहीं है। मगर की सबसे वड़ी जाति हिन्दमहासागर में—वंगाल की खाड़ी से लेकर ऑस्ट्रेलिया के तट तक—पाई जाती है। इसकी लम्बाई ३३ फीट तक पाई गई है। अमेरिका का सबसे वड़ा मगर अमेजन नदी में पाया जाता है, किन्तु वह २० फीट से अधिक वड़ा नहीं होता। नील नदी में मिलनेवाले अफ्रीका के मगर १५ फीट लंबे होते हैं और भारतीय मगर प्रायः १२ फीट के।

छिपकलियों का राजा

छिपकलियों की भी एक वहुत वड़ी जाति डच पूर्वीय द्वीपसमूह के कोमोडो नामक द्वीप में पाई जाती है, जो ८ या ९ फीट लम्वी होती है। प्राचीन काल की वड़ी-वड़ी छिपकलियों और गोहों के ये वचे-खुचे नमूने ही अव रह गये हैं। इनकी संख्या वहुत कम है, इसलिए इनकी वड़ी रक्षा की जाती है। जहाँ तक हमें मालूम है, इनके केवल चार ही प्रतिनिधि अभी तक पकड़ कर जन्तुशालाओं में लाए गए हैं।

मेढ़क और मछलियों में भी अत्यन्त नन्हें से लेकर वहुत वड़े-वड़े जीव पाए जाते हैं। मेढकों में सबसे वड़ा अफ्रीका महाद्वीप के कैमेरून नामक वनों में पाया जाता है। वह छोटे कुत्ते के वरावर होता है! उसके वाद अमेरिका के 'वुल' मेढ़क का नम्वर आता है, जो खाया भी जाता है। संयुक्त राज्य (अमेरिका) में वेचने के लिए इनको पाला भी जाता है!

संसार की सवसे वड़ी मछलियाँ

सागरों में प्रायः ऐसी वड़ी-वड़ी मछलियाँ पाई जाती हैं, जिनका विश्वास करना सहज नहीं है। सवसे वड़ी जाति

संसार का सवसे वड़ा सर्प—अजगर

यह भयंकर प्राणी ३० फीट तक लंवा और एक तगड़े मनुष्य की जाँघ से ज्यादा मोटा पाया जाता है। यह हिरन जैसे वड़े जीवों को भी समूचा ही निगल जाता है। देखिए, प्रस्तुत चित्र में किस प्रकार पेड़ से लिपटकर उसने एक पशु को जकड़ रक्खा है।

की मछलियाँ शार्क और रे के नाम से प्रसिद्ध हैं। शार्कों में सबसे बड़ी ह्वेल शार्क है, जो ७५ फीट तक लम्बी पाई गई है और १२५ मन या उससे भी अधिक भारी होती है। जरा सोचिए तो सही कि उसके ७,००० दाँत उसको कैसा भयंकर जीव बना देते होंगे! इससे छोटी एक शार्क नर-संहारक होती है और मनुष्य के अतिरिक्त बड़े-बड़े समुद्री जानवरों पर भी आक्रमण करती है। वह ४० फीट से भी अधिक लम्बी होती है और देखने में भी बड़ी डरावनी लगती है। 'रे' या सिकची नामक मछली अपने डैनों सहित १५ फीट चौड़ी होती है और वजन में ५५ मन तक पाई गई है।

पक्षियों की दुनिया का सबसे बड़ा जानवर—शुतरमुर्ग
यद्यपि यह एक पक्षी है, परन्तु उड़ने में यह बिलकुल असमर्थ है। इसके विपरीत यह दौड़ता इतनी तेजी से है कि सरपट दौड़नेवाले घोड़े को भी मात कर सकता है। यह पक्षी अफ्रीका के मैदानों में पाया जाता है और वहाँ पाला भी जाता है।

ये बड़ी मछलियाँ दिन में समुद्र-तल में बालू में आधी गड़ी हुई पड़ी रहती हैं, किन्तु रात होने पर बालू झाड़कर वे इधर-उधर समुद्री चमगादड़ों की तरह तैरने लगती हैं।

बड़े अपृष्ठवंशी

अपृष्ठवंशियों के संसार में भी बड़े और छोटे दोनों ही प्रकार के जीव पाये जाते हैं, किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, पृष्ठवंशियों के समान बड़े जीव इनमें नहीं होते। इनमें सबसे बड़े डीलवाले जीवधारी मृदुलांगी समुदाय के कुछ जन्तु घोंघा, सीप, शंख इत्यादि हैं, जिनसे आप आगे चलकर विशेष परिचित होंगे। सबसे बड़े मृदुलांगी समुद्र में रहते हैं और वे तैरते भी खूब हैं। इनकी एक जाति, जो "स्क्विड" नाम से प्रसिद्ध है, एटलान्टिक महासागर में मिलती है। इसकी भुजाओं की लम्बाई ३० फीट तक पाई गई है। इसकी भुजाओं में बहुत से चूषक बने रहते हैं, जिनसे ये अपने शत्रु या शिकार को पकड़ लेते हैं। इन्हीं की एक जाति अष्टपाद है, जो कभी-कभी बहुत ही विशालकाय होते हैं। आँस्ट्रेलिया का बड़ा अष्टपाद बहुत ही भयंकर होता है। उसकी भुजाओं का फैलाव ४० फीट तक होता है और उन-पर पैसे से लेकर बड़े रकाबी जितने बड़े कोई २,५०० चूषक होते हैं। ये जीव सहज में ही समुद्री पनडुब्बों के प्राण ले सकते हैं और उनके बल और निष्ठुरता के विषय में बहुत-सी भयानक कहानियाँ लिखी गई हैं। सिंगापुर के बन्दरगाह में एक पनडुब्बा एक बड़े स्क्विड के उन दिनों वहाँ रहने के कारण जल में नहीं उतरता था।

मृदुलांगियों के बाद सबसे भारी अपृष्ठवंशी सीलैन्ट्रट वर्ग में पाये जाते हैं। इनमें समुद्री एनीमोन और मूँगा उत्पन्न करनेवाले जन्तु भी शरीक हैं। उत्तरी महासागर में पाए जानेवाले जेली-मत्स्य—जो वास्तव में मछली नहीं होते—इसी समूह के नर्म गुदगुदे जीव हैं, जिनका अधिकांश शरीर पानी से भरा रहता है। इनका बोझ १३-१४ मन तक होता है।

इनके पश्चात् खंडपदीय (जोड़दार पैरवाले) जीवों की बारी आती है, जिनमें कीड़े, मकोड़े, कीट, झींगे केकड़े इत्यादि शरीक हैं। इस वर्ग में नन्हें-नन्हें केकड़े से लेकर जापान के विशालकाय मकड़ी-केकड़े तक (जो लगभग २५-३० सेर भारी होते हैं) पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी समूहों में अत्यंत

बड़े और अत्यन्त छोटे जीव देखने में आते हैं। प्राणियों की आँतों के अन्दर रहनेवाला सबसे बड़ा कद्दूदाना कृमि ७० फ़ीट से भी लम्बा होता है, परन्तु उसका शरीर फीते की तरह चपटा और पतला होने के कारण उसका बोझ अधिक नहीं होता। बरमा और दक्षिणी भारत में गज भर लम्बे और मनुष्य की बाँह जैसे मोटे केंचुए पाए जाते हैं। स्थान की कमी के कारण इन सबका वर्णन न करके इस विषय के एक और पहलू की ओर अब हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

पतिंगे बड़े क्यों नहीं होते ?

जोड़दार टाँगोंवाले जीवों की खाल कड़ी होती है, इसीलिए उन्हें बढ़ने के लिए अपनी केंचुली बदलनी पड़ती है। यह बात वल्कवाले जीव तथा कीटों में विशेष रूप से लागू होती है। इसलिए जब तक परदार कीटों और पतिंगों के पर नहीं निकलते, तभी तक वे बढ़ सकते हैं, क्योंकि परों के बहुत पतले होने के कारण उनकी केंचुली नहीं बदली जा
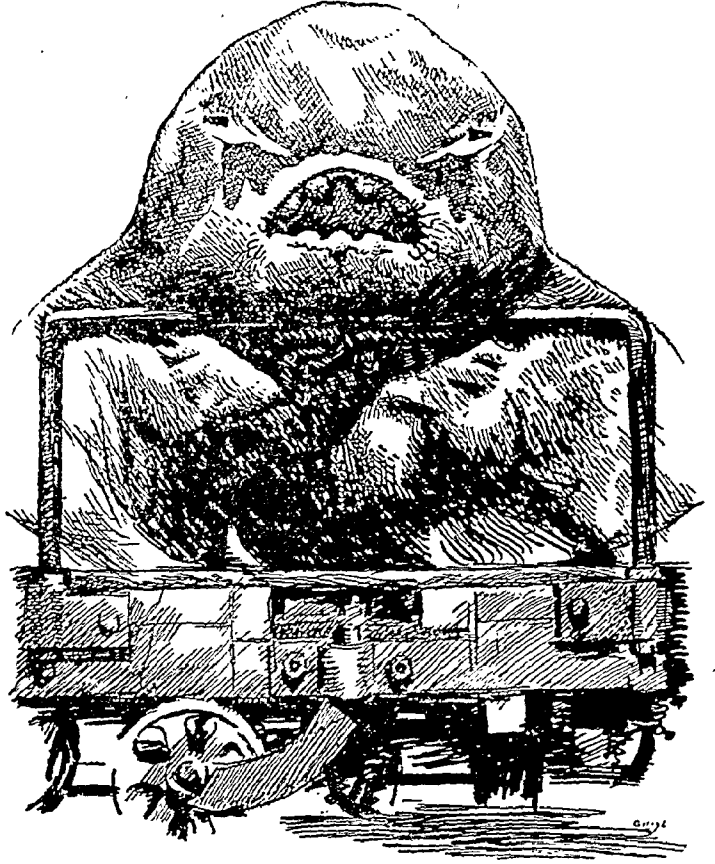
दैत्याकार 'रे' या सिकची मछली

यह भीमकाय मछली अपने इस प्रकार के भयभीत करनेवाले स्वरूप के कारण अंग्रेजी में 'डेविल फिश' (Devil Fish) के नाम से पुकारी जाती है। अपने डैनों सहित यह मछली १५ फीट चौड़ी होती है। प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित गाड़ी पर लदे हुए नमूने का वजन ५५ मन के लगभग था, इसीलिए इसे उठाकर ले जाने के लिए एक बड़ी-सी गाड़ी की जरूरत पड़ी थी! किन्तु इतने बड़े आकार की होने पर भी यह मनुष्य के लिए खतरनाक नहीं है, क्योंकि इसके मुँह में शार्क जैसे दाँत नहीं होते।

दुनिया की सबसे बड़ी छिपकली

बड़ी गोह या छिपकली जैसे जिस जीव की तस्वीर बाईं ओर दी गई है, वह पूर्वीय द्वीपसमूह के कोमोडो द्वीप में पाया जाता है। इसीलिए इसे 'कोमोडो ड्रेगन' कहते हैं। इसकी लंबाई ८ या ९ फीट होती है और देखने में इतना भयानक होने पर भी यह मनुष्य के लिए खतरनाक नहीं होता। अब इस जीव के कुछ ही नमूने बचे रह गए हैं।

सकती। परवाले जीवों के अधिक नहीं बढ़ सकने का यह एक प्रमुख कारण है। इनके अधिक बड़े शरीर न प्राप्त कर सकने का दूसरा कारण यह भी है कि साँस लेने के लिए इन जीवों के फेंफड़े नहीं होते, वरन् वायु इनके सारे अंगों में सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा जाती है। साँस लेने का यह प्रबंध बड़े शरीरों के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस रीति से वायु को सारे शरीर में फैलने में बहुत देर लगती है। रक्त द्वारा शरीर में श्वासोच्छ्वास की क्रिया बहुत जल्दी हो जाती है, परन्तु कीटों में ऐसा नहीं होता।

प्रकृति ने बहुत-कुछ सोच-विचार करके ही कीटों की ऐसी रचना की है, अन्यथा जीवन के संग्राम में कोई और प्राणी उन पर विजय न पा सकता। जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि जन्तु-जगत् में मनुष्य के सबसे हानिकारक शत्रु न तो उसे खा लेनेवाले शेर और चीते हैं, न उसे जल में घसीट ले जानेवाले मगर और घड़ियाल इत्यादि ही, वरन् यही छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े हैं, जो परिश्रम से उपजाई गई कृषि को नष्ट करके उसे लाखों रुपयों का नुकसान पहुँचाते हैं। अनाज को काटकर गोदामों में भर देने पर भी ये हानि करने से नहीं चूकते। बहुत से प्राण-घातक रोग, जिनके कारण लाखों मनुष्य प्रति वर्ष मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं, विभिन्न प्रकार के कीटों द्वारा ही फैलते हैं। जरा सोचिए कि यदि ये छः टाँगवाले फुर्तीले मानव-शत्रु आकार में कहीं चूहे या बिल्ली के बराबर बढ़ जाते तो न केवल पृष्ठवंशियों के लिए ही, बल्कि क्या छोटे और क्या बड़े सभी जानवरों के लिए विकास की सीढ़ी पर आगे बढ़ना कितना असम्भव हो जाता और मानव-जाति उस परिस्थिति में इस वर्तमान उच्च पद पर पहुँच सकती या नहीं, यह कौन कह सकता है!
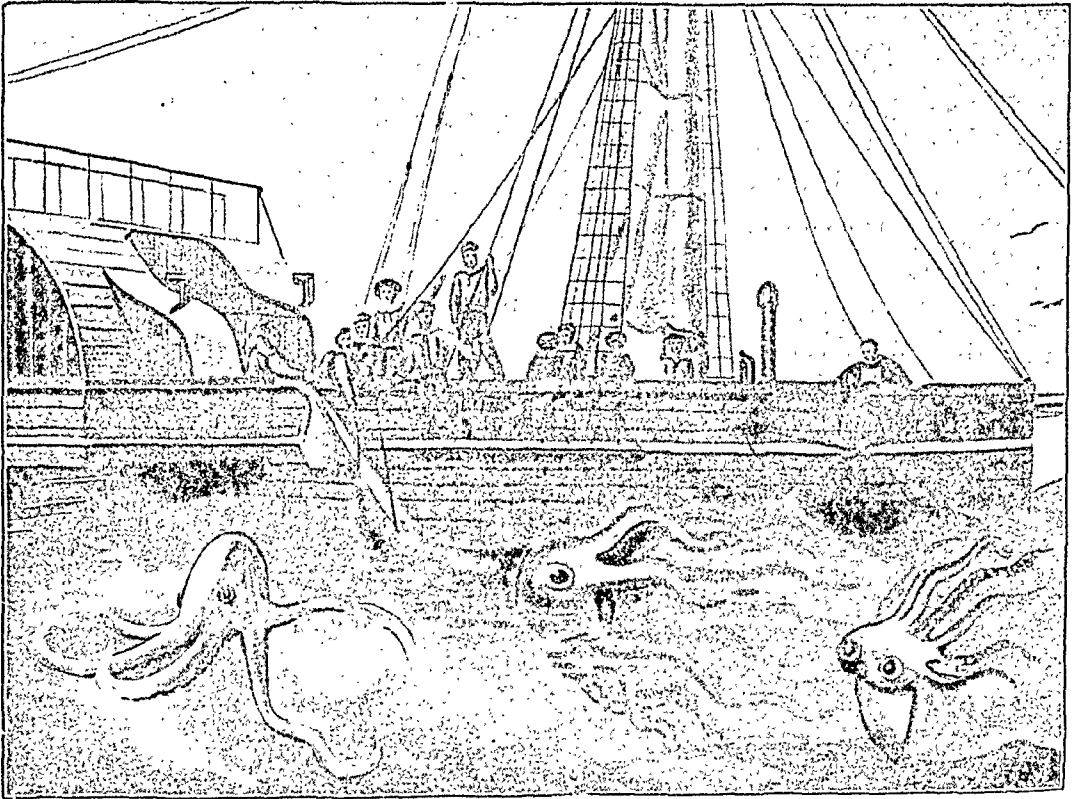
अपृष्ठवंशियों के वर्ग का एक दैत्याकार प्राणी—'स्क्विड'

यह जीव मृदुलांगी समुदाय के प्राणियों में सबसे बड़ा होता है। इसकी सूँड़ जैसी अत्यन्त भयानक भुजाओं की लंबाई ३० फीट तक पाई गई है। इन भुजाओं में बहुत-से चूषक बने रहते हैं, जिनके द्वारा यह अपने शत्रु या शिकार को पकड़कर असहाय बना देता है। जैसा कि प्रस्तुत चित्र में आप देख सकते हैं, यह एक जलजीव है। यह बहुत तेजी के साथ तैर सकता है, परन्तु इसके संबंध म एक विचित्र बात यह है कि यह तैरते समय आगे की ओर बढ़ने के बजाय पीछे हटते हुए उल्टा तैरता है! चित्र की पृष्ठभूमि में इनका शिकार करनेवालों का एक जहाज दिखाई दे रहा है।
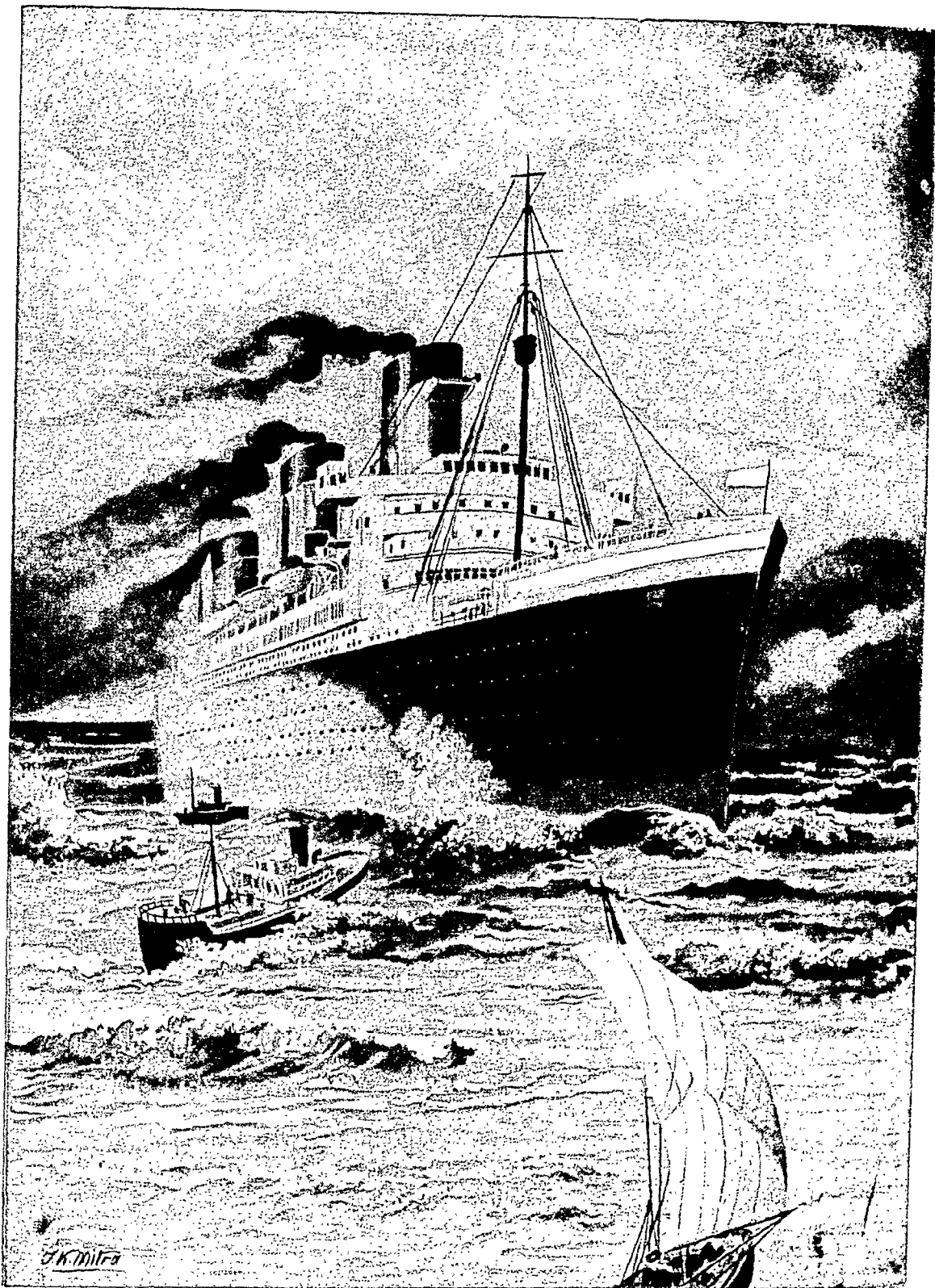
मनुष्य
की कहानी

वरुणदेवता पर मनुष्य की विजय का प्रतीक :: एक विशालकाय आधुनिक जलपोत

हजारों वर्ष पूर्व पहलेपहल एक भौंडा आदिम लट्ठे का वेड़ा पानी पर उतारनेवाला मनुष्य किस प्रकार क्रमशः हजारों टन वजन के ऐसे जहाजों की स्थिति तक पहुँचा, इसकी कहानी पृ० १०९२-११०४ पर पढ़िए।

शरीर की खिड़कियाँ अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ—(१)

सर्वोत्तम ज्ञानेन्द्रिय—आँख और दृष्टि

शरीर में कुछ अंग ऐसे हैं, जिनके द्वारा वह बाह्य जगत् से सम्बन्धित हो जाता है। यदि ये अंग न हों तो शरीर बाहरी दुनिया से बिल्कुल ही पृथक् हो जाय। यह सम्भव है कि अँधेरे से अँधेरे कारागार का बन्दी भी कभी कुछ शब्द सुन ले, प्रकाश की दो-एक किरणें देख ले या कोई भूलती-भटकती हुई सुगन्ध उसके पास जा पहुँचे, किन्तु एक स्वतन्त्र मनुष्य के यदि आँखें न हों तो वह अपने सामने की भी चीज को नहीं देख सकता, कान न हों तो जोर-से-जोर की आवाज भी नहीं सुन सकता और यदि नाक न हो तो चाहे कैसी ही मधुर और भीनी सुगन्ध का भी वह कदापि अनुभव नहीं कर सकता। वास्तव में आँख, नाक, कान आदि ही वे खिड़कियाँ हैं, जिनसे शरीर के बाहर की वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है। इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों की रचना तथा उनसे सम्बन्धित अन्य बातों की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

हमारी चेतना-उत्पादक इन्द्रियों की संख्या परिमित है। सारे शरीर को ढकनेवाली ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा—का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य इन्द्रियाँ हैं, वे स्थायी हैं अर्थात् उनके स्थान निश्चित हैं। आप पढ़ चुके हैं कि खाल में स्पर्श के अलावा गरमी, ठंडक, दबाव और पीड़ा के भी सांवेदनिक कण हैं। सभी प्रकार के सांवेदनिक कण विशेष कोशिकाओं से बने होते हैं। इनमें सांवेदनिक स्नायु-तार के रेशे समाप्त होते हैं। इनके उत्तेजित होने से ही मस्तिष्क में संवेदना का अनुभव होता है। इसी तरह आँख, कान, नाक और जीभ में भी अलग-अलग चेतना-उत्पादक कोशिकाएँ होती हैं। शरीर में पाँच मुख्य ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्रथम खाल, जिसका सम्बन्ध स्पर्श आदि से है; द्वितीय आँख, जिससे हम देखते हैं; तृतीय कान, जिनके द्वारा हम सुन सकते हैं; चौथी नासिका, जिससे हम सूँघ सकते हैं, और पाँचवीं जीभ, जिससे हम चीजों का स्वाद लेते हैं। इनके अलावा और भी कई साधारण चेतनाएँ होती हैं। भूख, थकान, कमजोरी, घबराहट आदि का अनुभव हमें शरीर में फैले हुए वातनाड़ी-जाल की सहायता से होता है। यह जरूर है कि ऐसे अनुभव किसी खास भीतरी अवयव में ही होते हैं।

सांवेदनिक स्नायुओं के उत्तेजित होने से मस्तिष्क में जो अनुभव होता है, उसे संवेदना या चेतना कहते हैं। जो विशेष अंग इस उत्तेजना से प्रभावित होकर उसे एक स्नायु-सम्बन्धी प्रेरणा में बदल देते हैं, वे अंग ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाते हैं।

ऊपर के कथनानुसार ऐसी कुल इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित हैं। इनमें से आँख या दृष्टि की इन्द्रिय बहुत-सी बातों में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य और श्रेष्ठ है। हमारे हृदय में और किसी को देखकर कभी भी इतनी जल्दी दया-भाव उत्पन्न नहीं होता और न इतने जल्द कुछ दान देने की ही इच्छा होती है, जितना कि एक अन्धे मनुष्य को देखने पर होता है। दृष्टि का न होना या चला जाना, जीवन के लिए सबसे भयंकर कष्टों या आपत्तियों में गिना जाता है। फिर भी अत्यन्त खेद का विषय है कि बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो आँख की बहुमूल्यता को समझते और उसकी उचित रीति से रक्षा करते हैं।

आँख की रचना

यह तो सर्वविदित है कि आँखें खोपड़ी के गड्ढों में बड़ी खूबी के साथ सुरक्षित हैं। बाहर की ओर से उनको साफ रखने और ढँकने के लिए दो पलक होते हैं।

पलक

पलक में इस प्रकार की मांस-पेशियां होती हैं कि जिनसे वे खुलते और बन्द होते हैं, इधर-उधर घूम-फिर भी सकते हैं और ऊपर-नीचे उठ भी सकते हैं। पलकों के किनारों पर बाल या बरौनी होती है, जो आंख के अन्दर गर्द-धूल, कूड़ा-कर्कट आदि को जाने से रोकती है। बरौनी के बाल मोटे या जल्दी बढ़नेवाले होते हैं। जब एक बाल गिर जाता है या उखड़ जाता है तो उसकी जगह दूसरा जल्दी से निकल आता है। पलकों के किनारों पर भीतर की ओर गुत्थियों की एक पंक्ति होती है, जो बाहरी किनारे पर खुलती है। जब इनमें से कोई गुत्थी बन्द हो जाती है और उनमें बननेवाला द्रव्य बाहर नहीं निकल पाता तो वह फूल जाती है। इसी तरह बिलनी या गुहेरी बन जाती है। पलक की भीतरी तह एक पतली चिकनी-सी झिल्ली है, जो खून की महीन नसों और नाड़ियों से भरी रहती है। इसको **नेत्राच्छादिनी झिल्ली** कहते हैं। यह झिल्ली बाहर की ओर पलक की खाल से मिली रहती है और पलक के भीतरी किनारे पर से होती हुई आंख के गोले के ऊपर चली जाती है। यही झिल्ली है, जो आंख आ जाने पर सूज जाती है। उस समय इसमें भरी हुई खून की रगें फूल जाती हैं, जिससे आँखें लाल दिखाई देने लगती हैं।

अश्रु-गुत्थियाँ और आँसू

नेत्राच्छादिनी झिल्ली के लिए भीगा रहना आवश्यक है। यह झिल्ली कुछ तो अपने ही मल से और कुछ उस खारे पानी से भीगी रहती है, जो आंसुओं की गुत्थियों से निकलता है। अश्रु-गुत्थियां, अक्ष-घेरों के ऊपरी ओर, नेत्र-गोलकों के बाहर चर्बीदार तत्त्वों में होती हैं। इन गुत्थियों में रक्त से एक स्वच्छ खारी जल बनता है, जो सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा ऊपरी पलक के भीतरी किनारे पर आ निकलता है और आँख के गोले पर बहकर उसे साफ रखता है। यह जल पलक के भीतरी कोने में नाक की तरफ इकट्ठा हो जाता है। इस जगह ऊपर और नीचे के दोनों पलकों में एक सूराख रहता है, जिससे यह पानी भीतर-ही-भीतर अश्रु-प्रणाली द्वारा नाक में जा पहुँचता है। साधारणतः यह पानी इतना ही बनता है कि पलकों और आँख के गोलों को तर रक्खे और उन्हें धूल-गर्द से साफ रक्खे। इसलिए जब आँखों का कोई काम किया जाय, तब पलक जल्दी-जल्दी मारते रहना चाहिए, जिससे कि पानी गुत्थियों से निकलकर आँख भर में फैलता रहे और उन्हें गीला रक्खे। जब कभी आँसू अधिक बनते हैं, या जब आँख में सूजन आने से अश्रु-नलिकाएँ बन्द हो जाती हैं, तब नाक में न जाकर आँसू गालों पर टपकने लगते हैं।

अश्रु-गुत्थियों में पानी का बनना नाड़ी-संस्थान के अधीन है। जब कोई धूलिकण या तिनका आँख में पड़ जाता है तो उसकी करकन से सांवेदनिक स्नायु प्रभावित हो जाते हैं और उसकी संवेदना मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। वहाँ से नाड़ी द्वारा गुत्थी के लिए हुक्म आता है और वह तेजी से जल बनाने लगती है। इस क्रिया से धूलिकण या तिनका पानी में बहकर निकल जाता है। जब हृदय को कोई भारी दुःख होता है या अत्यन्त हर्ष होता है, तब भी वही नाड़ीकेन्द्र उत्तेजित हो जाता है और आँसू तेजी से बहने लगते हैं। यही हमारे रोने का कारण है। गहरा रंज या अधिक खुशी होने पर भी कुछ लोगों की आँखों में पानी नहीं आता, बल्कि इसके विपरीत उनकी आँखें उस समय और भी सूख जाती हैं; क्योंकि उन पर उल्टा प्रभाव पड़ता है और नाड़ी-प्रभाव गुत्थी के कार्य को रोक देता है। यह बात भी वैसी ही है, जैसे कि डर में किसी का तो चेहरा एकदम लाल हो जाता है और किसी का पीला पड़ जाता है। अचानक विपत्ति आने पर या कोई शोक-समाचार सुनने पर कोई व्यक्ति तो फूट-फूट कर रोने लगता है और कोई बिलकुल चुप हो जाता है।

अक्ष या नेत्र-गोलक के भिन्न-भिन्न भाग

अक्ष एक प्रकार का गोल कैमरा या कोष्ठ है, जिसका व्यास लगभग १ इंच होता है। किन्तु नेत्र-गोलक गेंद के समान बिलकुल गोल नहीं होता। अगला भाग कुछ उभरा हुआ होता है, जैसा कि पृष्ठ १०४७ का चित्र देखने से साफ पता चलता है। इस उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर शेष सब गोला खोपड़ी के अन्दर अक्ष-घेरे में घुसा हुआ रहता है। अक्ष-घेरे के चारों ओर खोपड़ी की हड्डी उभरी रहने के कारण आँख हर तरह की चोटों से बची रहती है। सामने की ओर पलक, बरौनी और भौंहें उसकी रक्षा करती हैं। माथे के पसीने को भौंहें आंखों में नहीं जाने देतीं, बल्कि बाहर की ओर गिरा देती हैं। बिजली की तेज चमक या और कोई ऐसा ही खटका होने से पलक बन्द हो जाते हैं और आँखों को कोई हानि नहीं पहुँचने पाती। अक्ष की दीवार में तीन तहें होती हैं। सबसे बाहरी पर्त कड़ी, चीमड़ और रेशेदार होती है, जो गोलाई को स्थिर रखती है और भीतरी भागों की रक्षा करती है। यही तह है, जो आँख में सामने सफेद नजर आती है। सामने के उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर बाकी जगह में वह पारदर्शक नहीं होती। इस
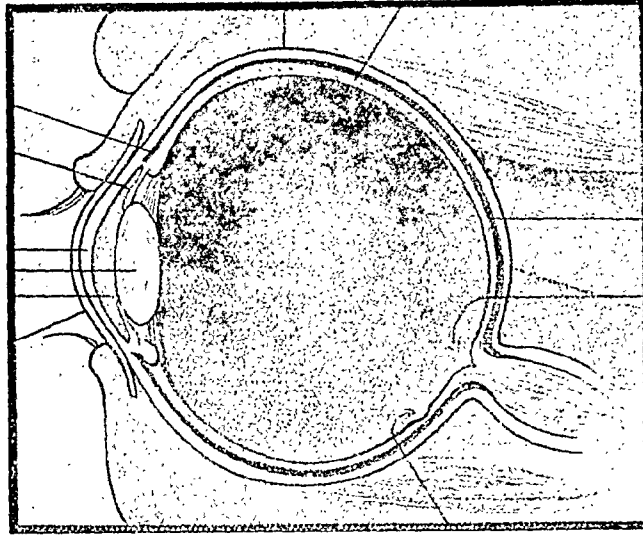
आँख या नेत्र-गोलकरूपी यह कैमरा---जिसके द्वारा हम देखते हैं---अपने मुख्य भागों को दिखलाने के लिए बीच से काट दिया गया है। प्रकाश की किरणें कनिका में से होकर नेत्र-गोलक अथवा अक्ष के अन्दर प्रवेश करती हैं। वे अग्रकोष्ठ, ताल और पीछे के कोष्ठ में भरे हुए स्वच्छ द्रव्य को पार करके इन सब भागों के झुकाव और पदार्थ से मुड़कर पीछेवाले अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत होती हैं। वहाँ से नाड़ी-सूत्रों द्वारा उसकी उत्तेजना जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हमको दृष्टि का बोध होता है। वास्तव में, आँख नहीं देखती वरन् मस्तिष्क ही देखता है। वह तो बाह्य पदार्थों की प्रतिमूर्ति को मस्तिष्क तक पहुँचाने का साधन-मात्र है।
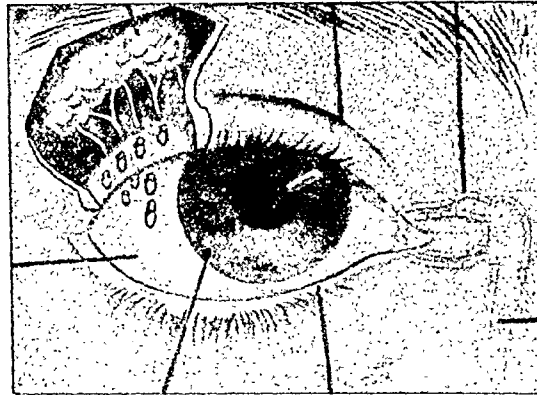
आँसू कैसे बनते हैं और रोते समय हम सिसकते क्यों हैं और नाक क्यों सिकोड़ते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत चित्र से मिल जाता है। अश्रु-गुत्थी से आँसू बनकर ऊपरी पलक के पीछे नेत्र-गोलक पर बहने लगते हैं और आँख को धोते और साफ करते हुए नेत्र के भीतरी कोने में इकट्ठे हो जाते हैं। वहाँ पर एक सूराख होता है, जिसमें होकर वे अश्रु-प्रणाली के मार्ग से नाक में जा पहुँचते हैं। इस पानी का उद्देश्य आँख को साफ और तर रखना है।

बाहरी तह को हम **'श्वेत पटल'** और उसके सामनेवाली पारदर्शक खिड़की को **'कनिका'** के नाम से पुकारते हैं। ऊपर हम बतला चुके हैं कि श्वेत पटल का सामनेवाला भाग और कनिका नेत्राच्छादिनी झिल्ली से ढके रहते हैं; किन्तु यह झिल्ली कनिका के ऊपर बहुत ही पतली और पारदर्शक होती है। कनिका के लिए बिल्कुल पारदर्शक और रंग-विहीन होना जरूरी है, इसलिए कनिका में रक्त-नलिकाएँ बिल्कुल ही नहीं होतीं।

श्वेत पटल के अन्दर उससे चिपटी हुई दूसरी काली भूरी झिल्ली होती है। इसमें खून की पतली-पतली नलिकाओं का घना जाल बिछा होता है और बीच-बीच में रंग देनेवाली कोशिकाएँ रहती हैं, जिनकी वजह से यह तह काली नजर आती है। इस पटल का काम आँख की कोठरी को अन्धकारमय बनाए रखना है, जिससे कि अन्दर आनेवाले प्रकाश द्वारा उसमें चमक पैदा न हो। सामने की ओर यह तह जो **'मध्य पटल'** कहलाती है, लगभग उस जगह समाप्त हो जाती है, जहाँ श्वेत पटल कनिका से मिलता है। इसके छोर पर उभरी हुई मांसपेशियाँ होती हैं, जिन्हें **रोम-पेशी** (Ciliary Muscle) कहा जाता है। ये पेशियाँ श्वेत पटल और कनिका के मिलने के स्थान से निकलकर पीछे की ओर जाती हैं और मध्य पटल के सामनेवाले छोर से मिली रहती हैं। कनिका की गोल खिड़की के पीछे एक घटने-बढ़नेवाला घेरेदार पर्दा है, जो आँख में सामने नजर आता है। इसका रंग भिन्न-भिन्न जातियों में अलग-अलग होता है—किसी में काला, किसी में नीला और किसी में भूरा। यह पर्दा मध्य पटल का ही एक भाग है और **'उपतारा'** कहलाता है। इसके बीचोबीच एक गोल छेद होता है, जो 'पुतली' या 'तारा' के नाम से पुकारा जाता है। देखने में यह शून्य काला स्थान-सा मालूम होता है। उपतारे का बाहरी किनारा नेत्र-गोलक में उस जगह मजबूती से जुड़ा रहता है, जहाँ श्वेत पटल और कनिका मिलते हैं। दूसरा किनारा पर्दे की भाँति कनिका से कुछ पीछे आँख के गोले के भीतर लटकता रहता है। उपतारे में दो प्रकार की रेशेदार माँस-पेशियाँ होती हैं। एक वे जो पुतली के चारों ओर गोलाई में रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली छोटी हो जाती है। दूसरी वे जो बीच से निकलकर पहिए के आरे की तरह बाहर को फैली रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली फैल जाती है। उपतारा के तन्तुओं में रंग की कोशिकाएँ होती हैं और उसका पीछे का भाग मध्य पटल की भाँति प्रकाशहीन होता है।
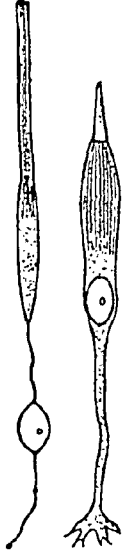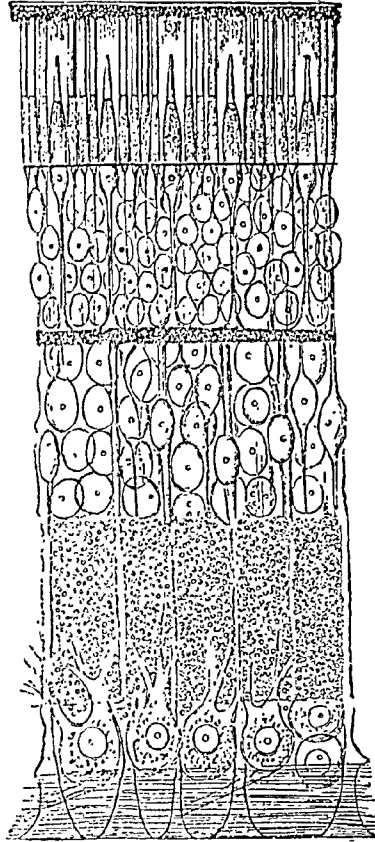
अन्तरीय पटल की मोटाई से काटा गया महीन पर्त्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखने से ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। बगल में पूरी छड़-कोशिकाएँ और सूची-कोशिकाएँ भी हैं। सबसे ऊपर की ओर रंग के दानों से भरी कोशिकाएँ दिखलाई पड़ती हैं। ये मध्य पटल से सटी रहती हैं। इनके नीचे छड़ों और सूचियों की तह है। सबसे नीचे नाड़ी-कोशिकाएँ और उनके केन्द्रों का पर्त है जो ताल की ओर रहता है। अन्तरीय पटल पर जो प्रतिबिम्ब बनता है वह $\frac{1}{8}$ सेकेंड तक बना रहता है।

उपतारा से आँख या अक्ष का भीतरी स्थान दो भागों में विभक्त हो जाता है और उसके पीछे रोम-पेशियों से लगा हुआ एक पारदर्शक गोल **'ताल'** (lens) होता है। यह ताल आतशी शीशे की तरह दोनों ओर उभरा हुआ होता है और तन्दुरुस्ती की हालत में नितान्त स्वच्छ और पूर्ण पारदर्शक रहता है। मोतियाबिन्द के रोग में यह ताल धुँधला हो जाता है, जिससे दृष्टि क्षीण हो जाती है। ऑपरेशन करके ताल को निकाल देते हैं और उसकी जगह एक मोटा चश्मा लगा देते हैं, जो ताल का

काम देता है। यह ताल आँख की भीतरी दीवाल से एक कड़ी और चीमड़ पट्टी द्वारा बँधा रहता है, जिससे वह अपनी जगह से हिल-डुल न सके। ताल लचीला होता है और उसकी यह पट्टी उसे अपनी जगह पर स्थिर ही नहीं रखती, बल्कि उसका आकार भी बदल सकती है। रोम-पेशियाँ ताल-पट्टी से लगी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो मध्य पटल आगे की ओर बढ़ जाता है और ताल का बाहरी उभार अधिक हो जाता है। उपतारा और ताल के सामनेवाले भीतरी भाग को अगला कोष्ठ कहते हैं और उसके पीछेवाला बड़ा भाग पिछला कोष्ठ कहलाता है। अगले कोष्ठ में स्वच्छ और निर्मल पानी की तरह कुछ खारी पदार्थ भरा रहता है, जिसे हम **'जलीय रस'** कहते हैं। पीछे के कोष्ठ में एक गाढ़ा लसीला स्वच्छ अर्द्ध-तरल द्रव्य भरा होता है, जो रंग-विहीन और पारदर्शक होता है। इसको **'स्वच्छ द्रव्य'** कहते हैं। यह ताल को पीछे से साधे रहता है। जलीय रस, ताल और स्वच्छ जल मिलकर आँख के भीतर एक ऐसा माध्यम बनाते हैं, जिससे बाहर से घुसनेवाले प्रकाश की किरणें तिरछी होकर आँख के भीतरी पर्दे पर केन्द्रीभूत होती हैं। ऐसा होने के ही कारण हम अच्छी तरह देख सकते हैं।

नेत्र-गोलक का सबसे भीतरी या तीसरा पर्त **'अन्तरीय पटल या दृष्टि-पटल'** (Retina) कहलाता है। ताल को छोड़कर यह पटल सारे पिछले कोष्ठ में फैला हुआ है (दे० १०४७ का चित्र)। यह पर्त एक बहुत पतली, नर्म और सफेद झिल्ली है, जो मध्य पटल के साथ हल्के से लगी रहती है। यदि भेड़ या बकरी की ताजी आँख लेकर उसमें से स्वच्छ द्रव्य दबाकर निकाल दिया जाय, तो अन्तरीय पटल काले मध्य पटल से सहज में ही बिलकुल अलग हो जाता है। किन्तु एक जगह पर, जहाँ दृष्टि-स्नायु आँख के गोले में प्रवेश करता है, वह अलग नहीं हो पाता। दृष्टि-स्नायु मस्तिष्क से आकर पीछे की तरफ से आँख के गोले की दीवाल को पार करता हुआ अपने रेशों को अन्तरीय पटल में फैला देता है। इन नाड़ी-सूत्रों ही के कारण अन्तरीय पटल फोटोग्राफी की प्लेट की भाँति प्रकाश से सचेत होता है।

रंग कैसे दिखलाई पड़ते हैं ?

यद्यपि अन्तरीय पटल अत्यन्त नाजुक वस्तु है, परन्तु उसकी बनावट बड़ी ही पेचीदा है। इंच का १/८० वाँ भाग मोटा होने पर भी उसमें १० से भी अधिक पर्त होते हैं। अन्तरीय पटल की मोटाई से कटे हुए एक टुकड़े की एक झाँकी पिछले पृष्ठ के चित्र में दिखायी गयी है, जैसी कि वह सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में दिखलाई पड़ती है। मध्य पटल की सबसे निकटवाली तह में गहरे रंग से भरी हुई षट्कोण सेलें होती हैं। इनके कारण प्रकाश इधर-उधर फैल नहीं पाता। इसके पश्चात् विशेष सेलों की एक तह होती है, जिसमें दो प्रकार की अपूर्व सेलें होती हैं जो पिछले पृष्ठ के चित्र में बनी हैं। यह छड़ और सूचियों की तह विशेष उल्लेखनीय है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही जीवित सेलें हैं। उनके केन्द्र अन्तरीय पटल की भीतरी सतह पर दबे रहते हैं। दृष्टि-स्नायु के फैले हुए छोरों और बहुत-से नाड़ी-सूत्रों से उनका घना मेल रहता है; मानो वे हमारे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र से कोषीय जंजीर के द्वारा मिले हों। प्रत्येक छड़ के बाहरी हिस्से में छोटी-छोटी टिकियों का एक ढेर होता है, जिसमें दृष्टि-सम्बन्धी बैंजनी रंग के दाने-से भरे रहते हैं। फोटोग्राफी के प्लेट पर लगे हुए मसाले की झिल्ली (Film) की तरह ये टिकियाँ प्रकाश के लिए अत्यन्त चैतन्य होती हैं, विशेषकर नीली और बैंजनी किरणों के लिए। रोशनी पड़ने पर इन छड़ों के रंगदार दाने तेजी से बदलकर पहले पीले और बाद में सफेद हो जाते हैं। रोशनी की तेजी का ज्ञान भी हमको इन्हीं छड़ों द्वारा होता है। कहा जाता है कि इन छड़ों के ही द्वारा हम धीमी रोशनी में भी देख पाते हैं। लेकिन इनसे हमको रंगों की पहचान नहीं हो पाती। रंगों का ज्ञान हमको सूचियों से होता है। जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, सूचियों की शक्ल भिन्न-भिन्न होती है और उनका बाहरी सिरा करीब-करीब रंग-विहीन होता है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही के सहयोग से हम चीजों को देखते हैं और उनके रंगों को पहचानते हैं।

छड़ सूचियों की अपेक्षा प्रकाश के लिए अधिक चैतन्य होते हैं। मामूली रोशनी में दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना सूचियों से ही चैतन्य होती है। छड़ें तो साधारण प्रकाश से भी थकी हुई बेकार-सी पड़ी रहती हैं, क्योंकि ऊपर के कथनानुसार उनका बैंजनी रंग धुलकर सफेद हो जाता है। लेकिन कुछ मिनट ही आँख को तेज रोशनी से बचाये रहने पर छड़ों में फिर अपनी उत्तेजना वापस आ जाती है। यही कारण है कि जब हम धूप से किसी हल्के प्रकाशवाले कमरे में या बिजली की तेज रोशनी द्वारा प्रकाशित कमरे से निकलकर बाहर धीमी रोशनी में आते हैं तो पहले-पहल बहुत ही कम या कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उतनी धीमी रोशनी में सूचियाँ देख नहीं पातीं और छड़ें थककर बेकार हो जाती हैं। कुछ मिनटों के ही बाद छड़ें अपनी चेतना को पुनः प्राप्त कर लेती हैं और हमको चीजों की शक्लें दिख-

लाई पड़ने लगती हैं, और छाया तथा प्रकाश में अन्तर मालूम होने लगता है। किन्तु हम रंग नहीं देख पाते, क्योंकि छड़ें हमको केवल भूरे रंग की ही संवेदना दे पाती हैं और सो भी थोड़ी दूर से। ये बातें अत्यन्त रोचक हैं।

रंगों के अन्धे कौन हैं ?

शायद आप यह जानते हों कि प्रकाश या सफेद रोशनी इन्द्रधनुष के सात रंगों के सम्मिश्रण से बनती है। जहाँ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, सब रंग बँटकर केवल मुख्य तीन ही—लाल, हरे और बैंजनी—रह जाते हैं। इसलिए माना जाता है कि अन्तरीय पटल में तीन प्रकार की सूचियाँ हैं। कुछ लाल रंग से प्रभावित होती हैं, कुछ हरे से और कुछ बैंजनी से। इन तीन रंगों में से कोई दो या तीन के उत्तेजित हो जाने से ही अन्य रंग बन जाते हैं। हरित और बैंजनी-वर्ण-ग्रहणकारी छड़ें यदि एक साथ उत्तेजित हो जाती हैं तो नीले रंग का बोध होता है। कुछ लोगों का मत है कि तीन के बजाय चार मूल रंग हैं, अर्थात् लाल, हरा, पीला और नीला। दो ही प्रकार की रंग ग्रहण करनेवाली छड़ें होती हैं। एक वे जो लाल और हरे दोनों विरोधी रंगों से सचेतन होती हैं, और दूसरी वे जो पीले और नीले से सचेतन होती हैं। दोनों में से चाहे कोई-सा भी सिद्धान्त ठीक हो, यह तो निश्चय है कि रंगों के पहचानने की योग्यता अन्तरीय पटल में विशेष वर्ण-ग्रहणकारी छड़ों की उपस्थिति पर ही निर्भर है। यदि किसी की आँख में वर्ण-ग्रहणकारियों का एक सेट न हो तो उस रंग के दिखाई देने की सम्भावना न रहेगी। यह बात केवल थोड़े-से ही लोगों में पाई जाती है, किन्तु स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होती है और यह खराबी पैतृक होती है। इसी को हम रंगों का अंधापन कहते हैं। कुछ लोगों को रंगों की पहचान बिल्कुल ही नहीं होती। वे रंग के विषय में पूरे अंधे कहे जाते हैं। रंग के पूर्ण अंधे होने की खराबी बहुत ही कम लोगों में पाई जाती है। एक १२ वर्ष के लड़के का हाल सन् १९३६ में स्कॉटलैंड के दो डाक्टरों ने 'लैन्सेट' अखबार में छापा था। उसको रंगीन किरण-चित्र (Spectrum) में कोई भी रंग नहीं जान पड़ता था, प्रत्युत रोशनी में सिर्फ चढ़ाव-उतार ही मालूम होता था। यद्यपि उसको रंग का कुछ भी अन्दाज नहीं था, किन्तु उसको छाया की बड़ी तेज पहचान थी। वह रंगों की पहचान उनकी हल्की और तेज चमक से कर लेता था। गहरे लाल रंग उसको भूरे नजर आते थे और बहुत गहरे लाल रंग का काले से धोखा हो जाता था। बहुत हल्के हरे और पीले रंगों को वह सफेद ही कहता था।

कोई मनुष्य किसी-किसी रंग के ही लिए अंधे होते हैं, अधिकतर लाल और नीले के लिए। जो लोग लाल रंग के लिए अंधे होते हैं, उन्हें लाल चीजें भूरी-सी दिखाई पड़ती हैं। इस खराबी का कोई इलाज नहीं है। कभी-कभी सूचियों के रहते हुए भी यह बीमारी अन्य दोषों के कारण भी हो जाती है।

इस चित्र को देखकर अपनी आँख के अन्ध विन्दु का पता लगाइए। बाईं आँख को बन्द करके दाहिनी से + चिन्ह को टकटकी लगाकर देखिए। तस्वीर आँख से १० इंच या १ फुट दूर रहे। तस्वीर को और पास लाइए या और दूर रखिए। ऐसा करने से एक जगह ऐसी आएगी, जब आपको गोला बिल्कुल ही न दिखाई देगा, क्योंकि उस स्थान पर गोले की प्रतिमूर्ति आपके अन्ध विन्दु पर पड़ती है।

आँख के दो विचित्र स्थान—एक जहाँ से सबसे साफ दिखाई पड़ता है और दूसरा जहाँ से बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता

छड़ों की संख्या सूचियों की संख्या से कहीं अधिक होती है, लेकिन अन्तरीय पटल के बीच में पीछे की ओर एक जगह (दृष्टि-स्नायु के प्रवेश-स्थान से १/१० इंच हटकर) ऐसी है, जहाँ छड़ें करीब-करीब बिलकुल ही नहीं होतीं और सूचियाँ बहुत पास-पास और अधिक संख्या में होती हैं। इस अंडाकार स्थान में अन्तरीय पटल की अन्य सब तहें बहुत महीन होती हैं। अतः इस स्थान पर दृष्टि सबसे ज्यादा तेज होती है। इस जगह को 'पीला विन्दु' कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद वह पीला पड़ जाता है। यह पीला विन्दु मनुष्य, कपि, और बन्दरों में ही पाया जाता है। हम किसी चीज को बिलकुल साफ-साफ तभी देख पाते हैं, जब उसका प्रतिबिम्ब इसी विन्दु पर केन्द्रीभूत होता है। इसका परिणाम यह होता है कि और सब जानवर—गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि—उसी सफाई से नहीं देख सकते होंगे, जैसी कि मानव-जाति और उसकी निकट सम्बन्धी वानर-जाति। अन्तरीय पटल

में एक स्थान और उल्लेखनीय है। यह स्थान पीत विन्दु के विलकुल विपरीत है, क्योंकि यहाँ प्रकाश का तनिक भी प्रभाव नहीं होता। हो भी तो कैसे ! क्योंकि यहाँ पर दोनों में से किसी तरह की भी चैतन्य-कोशिकाएँ नहीं होतीं। इस स्थान को **'अन्ध विन्दु'** या धब्बा कहा जाता है और पृ० १०४७ के चित्र के अनुसार वह उस जगह होता है जहाँ पर दृष्टि-स्नायु, नेत्र गोलक में प्रवेश करता है। इस जगह अन्तरीय पटल के तत्त्व नदारद होते हैं।

साधारण अवस्था में एक आँख का अन्ध बिन्दु दूसरी आँख के देखनेवाले भाग से ढक जाता है, इसलिए उसका हमें पता नहीं चलता। लेकिन पिछले पृष्ठ के चित्र में दी हुई परीक्षा से आप स्वयं ही पता लगा सकते हैं कि आपकी आँख में भी एक अन्ध विन्दु है। कहीं लिखा है कि इंगलैंड के वादशाह चार्ल्स द्वितीय को यह परीक्षा इतनी भा गई थी कि वह दरवारियों को सामने वैठाकर इस रीति से उनके सिर उड़ाकर अपना जी बहलाया करता था !
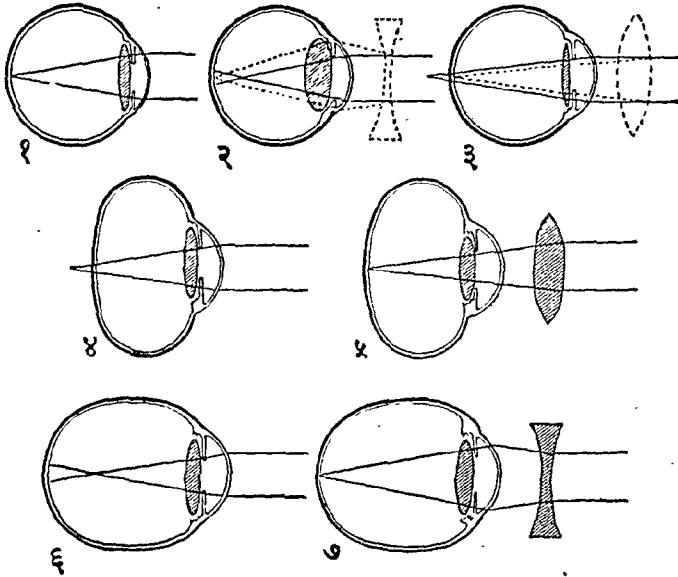
चश्मे द्वारा दृष्टि-दोष कैसे दूर होता है ?

(१) साधारण स्वस्थ आँख जिसमें दूर की वस्तु की परछाँहीं ठीक दृष्टि-पटल पर पड़ती है। (२) आँख का ताल अधिक उन्नतोदर है जिससे परछाँहीं दृष्टि-पटल के आगे पड़ जाती है। नतोदर ताल का चश्मा उसे पुनः ठीक कर देता है। (३) ताल बहुत चपटा और (४) नेत्र-गोलक बहुत छोटा है। (६) नेत्रगोलक बहुत लम्बा है। (५) और (७) से विदित होता है कि ये दोष कैसे चश्मे के ताल द्वारा ठीक होते हैं।

आँख कैसे काम करती है ?

आँख की रचना का जो हाल हम ऊपर लिख आए हैं उससे साफ पता चलता है कि बहुत-कुछ वह तस्वीर खींचनेवाले कैमरे के सामन है। जिस प्रकार कैमरे का प्रधान कार्य प्रकाश की किरणों को पीछे लगाई हुई प्लेट पर इस प्रकार केन्द्रीभूत करना है कि तस्वीर की छाया साफ उस पर उतर आए, उसी तरह आँख का मुख्य कार्य यह है कि बाहर की वस्तुओं की छाया अन्तरीय पटल पर इस प्रकार फेंके कि उसकी सचेतन तह उन वस्तुओं की छाया से प्लेट के सदृश प्रभावित हो जाय। इतना ही नहीं, जिस प्रकार प्लेट पर तस्वीर उल्टी आती है, उसी तरह अन्तरीय पटल पर ताल द्वारा पड़नेवाली छाया भी उलटी होती है। **फिर भी हम चीजों को सीधा ही देखते हैं ! कैसे** ? प्लेट से जब तस्वीर कागज पर उतारी जाती है तो वह सीधी होती है, उल्टी नहीं। इसी तरह जब अन्तरीय पटल पर पड़ा हुआ प्रभाव नाड़ीसूत्रों द्वारा हमारे मस्तिष्क के पर्दे पर पहुँचता है तो छाया फिर सीधी हो जाती है और हम वस्तुओं को सीधा-का-सीधा ही देखते हैं। वास्तव में देखनेवाली चीज आँख नहीं, बल्कि मस्तिष्क है। आँख तो बाहर की चीजों के चित्र को मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र तक पहुँचाने का एक साधन मात्र है। जिस तरह कैमरे के अन्दर ज्योति केवल ताल में ही होकर जा सकती है वैसे ही नेत्र-गोलक भी ठोस दीवालवाली एक कोठरी है जिसमें रोशनी का प्रवेश सिर्फ सामने की पारदर्शक कनिका से ही हो सकता है। कैमरे की तरह अक्ष में भी एक काली तह (मध्य पटल) होती है जिससे रोशनी का परावर्त्तन न हो सके। कैमरे के डायाफ्राम की जगह आँख में रोशनी को घटाने और बढ़ाने के लिए उपतारा होता है। अँधेरे कमरे में रोशनी में उपतारा खुलकर चौड़ा हो जाता है, जिससे कि अधिक-से-अधिक रोशनी भीतर घुस जाय। जब रोशनी बहुत तेज होती है तो यह पर्दा बन्द हो जाता है और छेद नन्हा-सा रह जाता है। इस तरह उपतारा के छोटे और बड़े होने से प्रकाश उचित मात्रा में ही अन्दर जाने पाता है। कैमरे में एक धौंकनी होती है, जिससे फोटो खींचनेवाला ताल को आगे या पीछे हटा सकता है और तस्वीर की प्रतिमूर्ति को फिर ठीक प्लेट पर गिरा लेता है। आँख के कैमरे में यह बात नहीं है।

उसमें तो ताल और अन्तरीय पटल दोनों ही स्थायी हैं। इसलिए नजदीक और दूर की वस्तुओं का प्रतिविम्ब ठीक अन्तरीय पटल पर डालने के लिए आँख की यन्त्र-रचना कैमरे से भी पेचीदा है। ताल के काम में सहायता देने के लिए आँख में कनिका, जलीय रस और स्वच्छ द्रव्य हैं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, आँख के ताल की शक्ल बदली जा सकती है। जब हम किसी दूर की चीज पर निगाह डालते हैं तो जो रोशनी की किरणें हमारी आँख के समानान्तर पड़ती हैं वे कनिका, जलीय रस, ताल तथा स्वच्छ द्रव्य की सहायता से तिरछी होकर अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं और हम उस चीज को देख लेते हैं। अगर चीज आँख के निकट आ जाय और ताल जैसा-का-तैसा ही बना रहे तो छाया उसी स्थान पर नहीं पड़ेगी बल्कि नेत्र-गोलक की दीवाल के पीछे पहुँच जायगी और हमें साफ दिखाई नहीं पड़ेगा। छाया को अन्तरीय पटल पर ही डालने के लिए इन तीन में से एक बात का होना आवश्यक है—या तो पटल पीछे हट जाय, या ताल आगे बढ़े, या कोई ऐसी तरकीब हो जिससे ताल के केन्द्रीभूत करने की शक्ति बढ़ जाय और किरणें अधिक टेढ़ी होकर ठीक पर्दे पर आ पड़ें। पहली दो बातें तो आँख में हो ही नहीं सकतीं, किन्तु ताल का उभार बढ़ सकता है, जैसा ऊपर हम बतला चुके हैं। इस तरह उसके उभार को घटा और बढ़ाकर **हम दूर और पास की चीज ठीक ठीक देख सकते हैं।**

दिखाई पड़नेवाली वस्तुएँ आँखों से भिन्न-भिन्न दूरी पर रहती हैं। हम सदा दृष्टि बदलते रहते हैं। कभी पास की चीज कभी दूर की, कभी और भी दूर की और फिर फौरन पास की चीज पर हम निगाह डालते हैं तथा ताल और अन्तरीय पटल के बीच की दूरी एक-सी रहते हुए भी निकट और दूर की वस्तुओं को एक-सा देखते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न दूरी की चीजों को देखने के लिए आँख के ताल को अपनी मोटाई बदलनी पड़ती है। इस शक्ति को 'संयोजक शक्ति' कहते हैं।
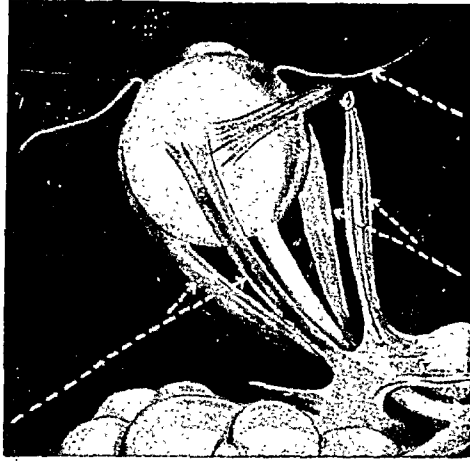
नेत्र-गोलक को घुमाने-फिरानेवाली मांस-पेशियाँ आँख को ऊपर, नीचे, इधर, उधर मोड़ने के लिए चार सीधी मांस-पेशियाँ होती हैं, जो गोले के बाहरी ओर से खोपड़ी की हड्डी में लगी रहती हैं। दो तिरछी मांस-पेशियाँ होती हैं जिनसे आँख इधर-उधर घूमती है। कटावदार रेखाएँ ही पेशियाँ हैं।

साधारणतः मनुष्य की आँख दूर की चीज देखने के लिए केन्द्रीभूत की हुई है। अतः दूर की वस्तुओं को देखने के लिए उसको संयोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती, लेकिन जब २० फीट से कम दूर की वस्तुओं को देखना पड़ता है तो हमें रोम-पेशियों को सिकोड़कर ताल का उन्नतोदरत्व बढ़ाना पड़ता है। रोम-पेशियों के सिकुड़ने से मध्य पटल आगे की ओर खिचता है और उससे लगे हुए ताल का बन्धन ढीला पड़ जाता है, जिसके कारण ताल आगे की ओर और भी उभर आता है। जितने ही पास की चीज देखी जाती है उतना ही रोम-पेशियों को सिकुड़ना पड़ता है और ताल का पीछेवाला बन्धन ढीला पड़ता है, जिससे वह आवश्यकतानुसार आगे को उभर आए। यही कारण है कि बहुत नजदीक से लिखने और पढ़ने में आँखों पर बहुत जोर पड़ता है, जिससे वे कमजोर हो जाती हैं। इतना ही नहीं, आँख का प्रयोग लगातार नजदीक की ही चीजों पर करने से तथा रोम-पेशियों के लगावों पर बराबर खिचाव पड़ने से सारे नेत्र-गोलक का आकार परिवर्तित हो जाता है। उसकी लम्बाई पीछे से आगे को बढ़ जाती है और आँख नजदीक की ही वस्तुओं को देखने के अधिक योग्य हो जाती है। तब हमें दूर की चीजों को देखने के लिए चश्मा लगाना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति ने हमारी आँखें कमरों में ही बन्द रहने और सदा किताबें पढ़ते रहने के लिए नहीं बनाई हैं, बल्कि खुले मैदानों में रहने तथा दूर की चीजों—आसमान, चाँद, सितारों—को ही देखने के योग्य वे बनाई गई हैं। नजदीक की चीजें देखने में आँखों पर जोर पड़ता है और दूर की चीजें देखने से उन्हें आराम मिलता है।

दृष्टि-दोष

साधारण आँख में दूर की चीजों की छाया ठीक अन्तरीय पटल पर पड़ती है, लेकिन नेत्र-गोलक, ताल और कनिका ऐसी शक्ल और डील के हो सकते हैं कि परछाँही ठीक अन्तरीय पटल पर न पड़े। इस तरह की तीन

खराबियाँ आँख में पाई जाती हैं। कुछ लोगों की आँख का गोला आवश्यकता से अधिक लम्बा या ताल अधिक उन्नतोदर होता है। उस दशा में केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों के ढीली पड़ने पर दूर की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब अन्तरीय पटल अथवा दृष्टि-पटल से आगे पड़ जाता है। अतः ऐसे आदमियों को दूर की चीजें धुँधली नजर आती हैं। आँख में इसका कोई इलाज नहीं है, किन्तु ऐसे लोग नजदीक की चीजों को केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों को सिकोड़कर अच्छी तरह देख सकते हैं। यह रोग **निकट-दृष्टि-दोष** कहलाता है। आँख के सामने एक उचित नतोदर ताल का चश्मा लगाने से आगे पड़नेवाली छाया फिर पीछे हटकर अन्तरीय पटल पर पहुँच जाती है तथा दूर की ठीक चीज दिखाई देने लगती है (देखिए १०५१ पृष्ठ के चित्र में नं० २।)

कुछ लोगों की आँख की गोलाई बहुत छोटी होती है और पुट्ठे ढीले रहते हैं। प्रकाश की किरणें केन्द्रीभूत होने के पूर्व ही दृष्टि-पटल पर टकरा जाती हैं, इसलिए प्रतिमूर्ति साफ नहीं दिखाई पड़ती। केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों के संकोच से प्रतिबिम्ब हटाकर दृष्टि-पटल पर डाला जा सकता है। ऐसे लोगों को दूर की चीज को देखने में तो अधिक कठिनाई नहीं है, लेकिन नजदीक की चीजों को देखने के लिए उनकी पेशियों को साधारण लोगों के मुकाबले में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। रोग की वृद्धि होने पर नजदीक की चीजों को वे साफ नहीं देख पाते। थोड़ी देर पढ़ने, लिखने या सीने से ही आँख में थकावट आ जाती है और वे दुखने भी लगती हैं। वे प्रायः लाल हो जाती हैं और उनसे पानी बहने लगता है। यह **दूर-दृष्टि दोष** के नाम से प्रसिद्ध है और अधिकतर जन्म ही से होता है। इसका पता सहज में नहीं चलता, किन्तु काम करते और पढ़ते समय आँख का जल्दी थक जाना, माथे और भौंहों पर झुर्रियाँ पड़ना ही इसके कुछ लक्षण हैं। यह दोष भी उन्नतोदर ताल के चश्मे द्वारा बहुत कुछ ठीक हो जाता है (दे० १०५१ पृष्ठ के चित्र में नं ४)।

४०-४५ वर्ष की अवस्था होने पर आँखें धीरे-धीरे दूर-दृष्टि या समीप-दृष्टिवाली हो जाती हैं। जो लोग युवावस्था में निकट-दृष्टीय होते हैं और चश्मा लगाते रहते हैं, ४०-४५ वर्ष की अवस्था के होने पर उनकी आँख दूर-दृष्टीय होने लगती है और इस प्रकार उनकी आँख अपनी साधारण अवस्था पर आ जाती है और चश्मा छूट जाता है। लड़कों और जवानों में दूर-दृष्टि का रोग अधिक होता है और वृद्धों में समीप-दृष्टि का।

कुछ लोगों की आँख में कनिका या अन्य केन्द्रीभूत करनेवाले माध्यमों के घुमाव की गड़बड़ी से छाया के भिन्न-भिन्न भाग एक साथ केन्द्रीभूत नहीं होते। ऐसी अवस्था में आँख को छाये के भिन्न-भिन्न भागों को केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु उसका ऐसा होना असम्भव होता है। इसलिए इस क्रिया से आँख पर बहुत जोर पड़ता है। जिन लोगों की एक या दोनों आँखों में यह दोष होता है, उनको चारखानेदार कागज या कपड़ा, रेखागणित के चित्र, लकीरदार नमूने आदि देखने में बड़ा कष्ट होता है। यह रोग **दृष्टि-वैषम्य** कहलाता है तथा पेचीदा ताल के द्वारा ही ठीक हो सकता है।
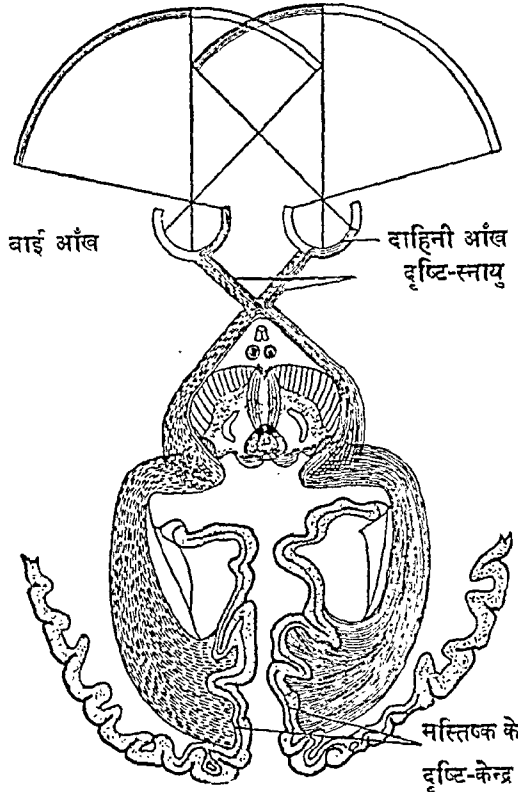
आँख और मस्तिष्क सम्बन्धी दृष्टि-मार्ग
इससे पता चलता है कि दोनों आँखों की निगाह एक सी कैसे हो जाती है।

कभी-कभी उन आदमियों में, जो वर्फ के मैदानों में या वर्फीले पहाड़ों पर बिना आँखों पर पर्दा डाले या अँधेरा चश्मा लगाये काम करते रहते हैं, अन्तरीय पटल तेज चमक पड़ते-पड़ते भुथरा हो जाता है। इसकी वजह से उन्हें वर्फ पर दिखलाई नहीं पड़ता। यही **'वर्फ का अंधापन'** कहा जाता है। इसी प्रकार उष्ण कटिबन्ध के

मल्लाहों को, जिन्हें जहाजों की छत पर चंद्रमा की पूर्ण ज्योति में सोना पड़ता है, कभी-कभी **'चाँदनी का अन्धापन'** हो जाता है। कहा जाता है कि 'रतौंधी' में भी किसी अत्यन्त तेज खुजली या खँरोचन की वजह से दृष्टि-पटल की सचेतनता में अंतर आ जाता है। आँख पर बहुत समय तक लगातार तेज रोशनी का पड़ना तथा नाड़ी-संस्थान का निर्बल हो जाना भी उसके कारण हैं।

दो आँखें होते हुए भी चीज एक ही क्यों दिखाई देती है?

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो दोनों ही आँखों से देखते हैं, लेकिन फिर भी वस्तु एक ही दिखाई देती है। यह प्रश्न उठता है कि दोनों आँखों में जो दो अलग-अलग प्रतिविम्ब बनते हैं वे मस्तिष्क में जाकर एक ही कैसे हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रत्येक अक्ष वाहर से ६ मांस-पेशियों द्वारा वश में रखा जाता है। इनमें से चार सीधी और दो तिरछी होती हैं। सीधी पेशियों में से एक ऊपर, एक नीचे और एक-एक दोनों ओर बगल में होती हैं। इनके संकोच से आँख का गोलक ऊपर, नीचे भीतर और बाहर की ओर घूमता है। तिरछी पेशियाँ (दे० पृ० १०५२ का चित्र) मुड़ी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो नेत्र-गोलक इधर-उधर उनकी ओर तिरछा घूम जाता है। ये पेशियाँ एक दूसरे के साथ मिलकर और कभी अलग-अलग नेत्र-गोलकों को प्रत्येक दशा में घूमने में सहायता देती हैं। उन्हीं के कारण आँख सुविधापूर्वक घूम जाती है। अतः जब हम कोई चीज देखते हैं तो दोनों आँखों की दृष्टि एक ही सीध में पड़ती है और उसकी प्रतिमूर्ति दोनों आँखों के अन्तरीय पटल पर एक समान बनती है। दोनों आँखों की पेशियाँ एक साथ—कायदे के अनुसार—काम करती हैं, जिससे दोनों के दृष्टि-पटलों में एक ही तरह संगति-भाग पर ही परछाहीं पड़ती है और वस्तु साफ
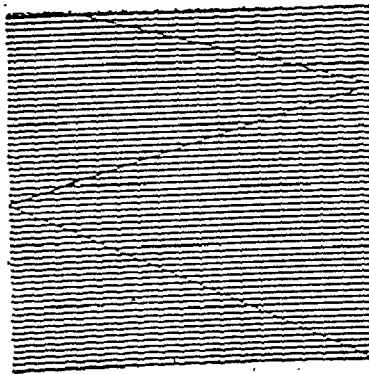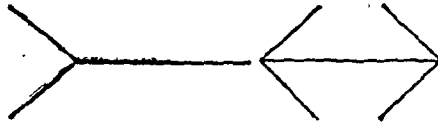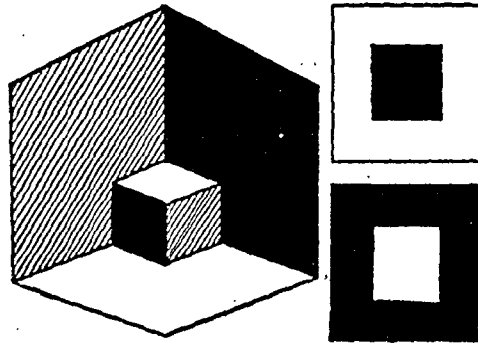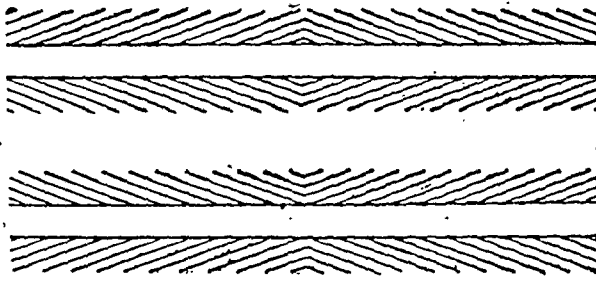
इन चित्रों को देखिए कि आपके नेत्र और दृष्टि-केन्द्र आपको किस प्रकार धोखा देते हैं। सबसे ऊपर की दोनों रेखाएँ समानान्तर हैं, किन्तु क्या आपको एक में दोनों रेखाओं के बीच का अन्तर बीच में कम और किनारों की ओर अधिक नहीं जान पड़ता और दूसरी में इसका उल्टा? बीच के षटकोण को घुमा-फिराकर देखने से नई-नई बातें दिखती हैं। कभी ठोस चीज का एक कोना कटा हुआ प्रतीत होता है, कभी लगता है कि दो पर्दों के बीच में एक छोटा चौकोर टुकड़ा रक्खा हुआ है, कभी जान पड़ता है कि बड़े चौकोर टुकड़े के कोने में एक छोटा टुकड़ा लगा हुआ है। दाहिनी ओर बीच में काले और सफेद समचतुर्भुज बराबर होते हुए भी छोटे-बड़े लगते हैं। उसके नीचे दोनों सीधी रेखाएँ बराबर हैं, लेकिन बाईं बड़ी और दाहिनी छोटी दिखलाई दे रही हैं। सबसे नीचे समानान्तर रेखाओं को काटनेवाली तिरछी रेखा को क्या आप लहरदार के बजाय सीधी मानेंगे?

साफ तथा एक ही दिखलाई पड़ती है। अपनी आँख को एक उँगली से एक ओर को दबाकर किसी चीज को देखिए। वह चीज या सभी वस्तुएँ, जिन पर आपकी दृष्टि जायगी, दोहरी दिखलाई देंगी। उँगली हटा लेने पर फिर एक की एक ही नजर आने लगेगी। कुछ लोगों की दोनों आँखों की पेशियों की लम्बाई, स्थान और बल में इतना अन्तर आ जाता है कि वे दोनों आँखों को एक साथ किसी चीज पर नहीं डाल सकते। आँख में भेंड़ापन इसी कारण से होता है। कुछ लोगों में एक आँख जन्म से ही हटी रहती है और उन्हें चीजें दोहरी दिखलाई देती हैं। कभी-कभी आँख-सम्बन्धी किसी पेशी को लकवा मार जाने से भी यह बात हो जाती है।

आँखों की दृष्टि समान बनाए रखने के हेतु दृष्टि-स्नायु के नाड़ी-सूत्रों का अद्भुत प्रबंध

दूसरी रीति जो हमें दोनों आँखों की दृष्टि एक ही करने में सहायता करती है, दृष्टि-स्नायु के नाड़ी-सूत्रों का एक अनूठा प्रबन्ध है। आँखों से मस्तिष्क के रास्ते में दोनों दृष्टि-स्नायु एक जगह एक-दूसरे से मिल जाते हैं और इस जगह दाहिनी आँख के कुछ सूत्र पार करके मस्तिष्क के बायीं ओर और बायीं आँख के दाहिनी ओर चले जाते हैं। ऐसा प्रबन्ध रहता है कि प्रत्येक आँख के दाहिने आधे सूत्र मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र के दाहिने आधे भाग में जाते हैं और बायें आधे सूत्र दृष्टि-केन्द्र की बाईं ओर। इसलिए मस्तिष्क के दोनों बगल दो भाग में प्रतिबिम्ब पड़ता है और चूँकि प्रतिबिम्ब बिल्कुल एक-सा होते हैं, इसलिए दृष्टि में कोई भी गड़बड़ी नहीं होने पाती।

दो आँखों से देखे जाने के कारण ही किसी वस्तु का आकार-प्रकार और उसके ठोस होने का ठीक अनुमान हमको होता है। दोनों आँखों पर पड़नेवाली छाया बिलकुल एक-सी ही नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक आँख वस्तु को किसी कदर भिन्न दृष्टिकोण से देखती है। इन दोनों परछाईयों की—जो नाममात्र के लिए एक-दूसरे से विभिन्नता रखती हैं—हमको साथ-साथ चेतना होती है। परिणाम यह होता है कि हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे पदार्थ की ऊँचाई-नीचाई और ठोसपन का बोध होता है।

दृष्टि-भ्रम

चीजों की दूरी, आकार-प्रकार, ऊँचाई-नीचाई का अन्दाज करने की शक्ति मनुष्य में धीरे-धीरे अनुभव से ही आती है। निस्सन्देह हमको इन सब बातों का अन्दाज लगाना सीखने से ही आता है। यथोचित प्रयत्न करने पर भी इन विषयों पर हम कभी-कभी बिलकुल पक्का निश्चय नहीं कर पाते। हमें अक्सर ही आँख का धोखा हो जाता है। पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में देखिए कि आपकी आँख आपको किस प्रकार धोखा देती है! उक्त चित्र में सबसे ऊपर अंकित रेखाएँ समानान्तर हैं, किन्तु क्या आपको वे रेखाएँ असमानान्तर नहीं जान पड़तीं? यह क्यों? क्या यह हमारा दृष्टि-भ्रम ही नहीं है? इसी प्रकार के और भी विभिन्न प्रकार के दृष्टि-भ्रम हमें नित्य प्रति होते रहते हैं।

वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिभ्रम हमारी आँखों की किसी प्रकार की खराबी को सूचित नहीं करता, बल्कि उस विडम्बना के ही कारण ऐसा होता है जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी वस्तु को देखने से हमें हो सकती है। एक जन्म से अन्धे, मोतियाबिन्दु के रोगी के विषय में लिखा है कि जब एक डाक्टर ने चीरा लगाकर उसकी दृष्टि ठीक कर दी तो उसको ऐसा प्रतीत होता था कि जो चीज वह देख रहा है वह उसकी आँखों से छू जाती है। धीरे-धीरे उसकी अन्य ज्ञानेन्द्रियों ने उसके इस भ्रम को दूर कर दिया। जब उसने अपना हाथ बढ़ाया तो विदित हुआ कि वह पदार्थ उससे दूर है और उसको उस तक पहुँचने के लिए वहाँ तक चलना पड़ेगा, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार उसने अपनी अन्य ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य रीतियों से चीजों की दूरी का आँख से अन्दाज लगाना धीरे-धीरे सीख लिया।

आँखों का महत्त्व और उनको स्वस्थ रखने की आवश्यकता

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि नेत्रों की सुकुमार रचना का ख्याल रखते हुए तथा यह जानते हुए कि दृष्टि में तनिक-सी भी त्रुटि आ जाने पर हमारे कार्यों में कैसी बाधा पड़ती है, जनता इस अमूल्य अवयव की रक्षा के विषय में कैसी लापरवाह है! सभी को अपनी आँखों को चोट से बचाने, उन पर जोर न पड़ने देने और उनको बीमारियों से बचाने का सदा ध्यान रखना चाहिए। बाल्यावस्था से ही आँखों की सफाई और उनका उचित उपयोग का ध्यान रहना चाहिए।

आँखों का रोशनी के साथ विशेष संबंध है। तीव्र प्रकाश आँखों के लिए हानिकर होता है। अतः तेज रोशनी से आँखों को बचाना निहायत जरूरी है। बच्चों की आँखों पर तेज रोशनी न पड़नी चाहिए और उन्हें देर तक आग या चमक-

दार चीजें भी न देखने देना चाहिए। पढ़नेवाले बच्चों के लिए यह आवश्यक है कि वे बहुत तेज या मंद रोशनी में न पढ़ें। उनके लिए लेटकर तथा चलती हुई सवारी में भी पढ़ना हानिकारक है। सीने-पिरोने या पढ़ने में बराबर पलक मारते रहना चाहिए, जिससे आँख को आराम मिलता रहे। पढ़ने या सीने की चीज आँखों से डेढ़ फुट दूर रखना चाहिए और रोशनी का प्रवन्ध ऐसा हो कि वह ऊपर बाईं ओर से आकर कागज या कपड़े पर पड़े।

हमारे शरीर की खिड़कियाँ अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ—(२)

श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय

ज्ञानेन्द्रियों में से सबसे महत्वपूर्ण दृष्टि-इन्द्रिय का हाल आप पढ़ चुके हैं, अब हम यहाँ सुनने, सूँघने और स्वाद लेनेवाली अन्य तीन इन्द्रियों का वर्णन करेंगे।

१. श्रवणेन्द्रिय या कान तथा उसकी रचना

दस में से नौ आदमी ऐसे होंगे, जिनका ध्यान 'कान' शब्द को सुनकर सिर के दोनों ओर निकले हुए सीप की शक्लवाले भाग की ओर जाता है, किन्तु वास्तव में असली कान तो भीतर खोपड़ी की हड्डियों में भली भाँति सुरक्षित हैं। यह बाहरी हिस्सा तो, जिसको हम सधारणतया 'कान' कहते हैं, केवल ध्वनि-लहरों को एकत्रित करके अन्दर भेजने का ही एक साधन मात्र है। नेत्रों की भाँति कान में भी कुछ आवश्यक तथा कुछ सहायक अंग होते हैं। श्रवणेन्द्रिय का मुख्य भाग इतना भीतर है कि ध्वनि सीधी उस तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए बाहरी आवाजों को एकत्रित करने और उनको इस भीतरी पेचीदे भाग तक पहुँचाने के लिए अन्य सहायक अंगों के सहयोग की आयश्यकता होती है। इसलिए कान में एक वह भाग है जो ध्वनि-लहरों को भीतर पहुँचाता है तथा दूसरा वह जो उन लहरों को स्नायविक प्रेरणा में बदलकर मस्तिष्क तक पहुँचता है। पिछले भाग को 'भीतरी कान' और अगले को 'बाहरी कान' कहा जाता है! किन्तु इन दोनों के बीच में छोटा-सा एक भाग और होता है जो 'माध्यमिक कान' कहलाता है। इस तरह साधारणतया कान का विभाजन तीन भागों में किया जाता है:—(१) **बाह्य कान**, (२) **मध्य कान**, (३) **आन्तरिक कान**।

(१) **बाह्य कान**—बाहरी कान का वह भाग, जो सिर के दोनों ओर निकला हुआ है, मनुष्य के अतिरिक्त और भी स्तनधारियों में पाया जाता है। यह किसी में छोटा, किसी में बड़ा, किसी में ऊपर को खड़ा हुआ, किसी में नीचे को लटकता हुआ रहता है। छछूँदर-जैसे कुछ बिलवासियों में तथा सूँस की तरह के कुछ जल-जन्तुओं में कान का यह भाग होता ही नहीं है। इसकी टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल बिलकुल ही अर्थहीन नहीं है। यह ऐसा बना है कि उस पर पड़नेवाली आवाज की लहरें मुड़कर ठीक भीतरी राह की ओर चली जाँय। इस बाहरी भाग को 'कान की तुरही' भी कहते हैं। इसके बीच में से जो रास्ता भीतर को जाता दिखाई देता है वह टेढ़ा-मेढ़ा तथा लगभग १। इंच लम्बा होता है। इस नली या रास्ते में बाहरी ओर महीन-महीन बाल होते हैं जो कान के अन्दर धूल-गर्द और कीड़े-मकोड़ों के जाने में बाधा डालते हैं। किन्तु नली के भीतरी भाग में बालों के अतिरिक्त खाल में स्वेद-गुत्थियों की-सी बहुत-सी गुत्थियाँ होती हैं, जिनमें से मोम की तरह का पीला द्रव्य निकलता रहता है। इस द्रव्य के कारण नली नम और साफ रहती है और यही कान का मैल कहलाता है। जब कान में सर्दी लग जाने से या किसी अन्य कारणवश यह पीला द्रव्य अधिक बनने लगता है और इतनी मात्रा में इकट्ठा हो जाता है कि जिससे रास्ते में रुकावट हो जाती है और हम ऊँचा सुनने लगते हैं। बहरेपन का एक आम कारण यह भी है।

इस नली का भीतरी छोर एक पतली-सी झिल्ली से बन्द रहता है, जिसके उस पार मध्य कान की छोटी कोठरी होती है। इस तनी हुई झिल्ली पर जब हवा की लहरें आकर टकराती हैं तो वे लहराने लगती हैं। कान में मैल ज्यादा जमा हो जाने या नहाते समय कान में पानी चले जाने से इस झिल्ली तक लहर का पहुँचना दुर्लभ हो जाता है और तब हमको ठीक से सुनाई नहीं पड़ता। यह तनी हुई झिल्ली ही हमारे कान का नगाड़ा है, जो हवा की

(बाईं ओर)

घ्राणेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय की यंत्र-रचना

देखिए, किस प्रकार पुष्प की सुगन्ध नाक में होकर गन्ध-बोधक कोषों को प्रभावित करके मस्तिष्क तक पहुँचती है। नीचे की ओर दो गन्ध-कोष और एक सहायक कोष दिखलाए गए हैं। जीभ पर चार प्रकार के स्वादों—मीठे, खट्टे, नमकीन और कड़वे के स्थान अलग-अलग होते हैं। ये स्थान इस चित्र में भली-भाँति स्पष्ट हैं। एक ओर को एक स्वादकली के कोष भी बने हुए हैं। १. फूल के गन्धकण नाक में घुसकर २. घ्राण-नाड़ी के छोरों को उत्तेजित करते हैं ३. जिसका ज्ञान सूत्रों द्वारा मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्र को होता है; ४. मिठाई पहचानने के दाने; ५. नमक और खटाई पहचानने के दाने; ६. कड़वाहट बतलानेवाले दाने; ७. स्वाद-नाड़ी जीभ पर उभरे हुए दानों के स्वाद-कोषों से स्वाद का ज्ञान मस्तिष्क के स्वाद-केन्द्र तक पहुँचाती है; ८. स्वाद-केन्द्र।

भीतरी और बाहरी सांवेदनिक कोशिकाएँ

नाड़ी-सूत्र

छड़ों की मेहराब

(अ) (ब)

बीच से कटा हुआ कौक्लिया और 'कौर्टी के अंग' की कोशिकाएँ
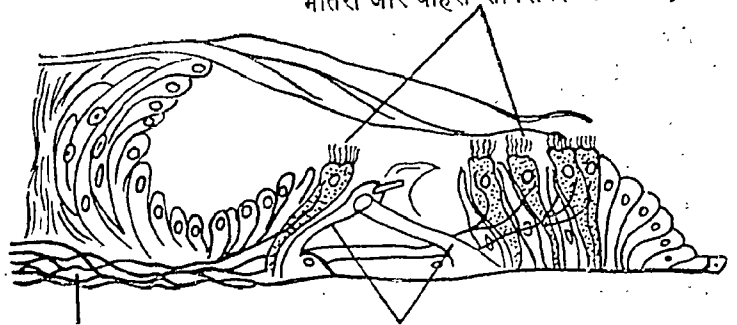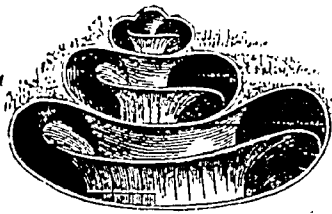
(अ) कौक्लिया के बीच का हड्डीदार स्तम्भ और उसके चारों ओर गोल घुमाऊ जीने की तरह कोठरियाँ। (ब) कुछ ऐसे सांवेदनिक कोष जो ऊपर से कौर्टी की मेहराबों को ढके रहते हैं। (दे० पृ० १०५६ का मैटर)

लहरें पड़ने से बज उठता है और थरथराकर लहरों का प्रभाव मध्य और आन्तरिक कान के भागों पर डालता है। इसी झिल्ली को 'कान का पर्दा' या 'कर्णपटह' कहते हैं।

(२) **मध्य कान**—कान के पर्दे के पीछे मध्य कान की छोटी-सी कोठरी है, जो कनपुटी की हड्डी के भीतर ही रहती है। इस कोठरी की ऊँचाई लगभग ½ इंच होती है और चौड़ाई एक से दो सूत तक। इसकी भीतरी दीवाल में दो छिद्र होते हैं—एक अंडाकार और दूसरा गोलाकार। इनके बाद अन्तरीय कर्ण का प्रारम्भ होता है। गोल छेद के ऊपर एक कड़ी झिल्ली मढ़ी रहती है और अंडाकार छिद्र में एक हड्डी लगी रहती है। इनको और बाहरी पर्दे को छोड़कर शेष दीवालें और छत तथा फर्श सभी कनपुटी की हड्डियों से बनते हैं। कोठरी भर में हड्डियों के ऊपर एक पतली श्लैष्मिक झिल्ली चढ़ी रहती है, जैसी नाक, मुँह और हलक में भी होती है। कर्णपटह से लेकर भीतरी दीवाल तक फैली हुई मध्य कान में छोटी-छोटी तीन हड्डियों की जंजीर होती है, जिसके सहारे पर्दे पर टकरानेवाली आवाज की लहरें भीतरी कान तक पहुँचती हैं। इनमें से पहली को, जो कर्णपटह के जालदार रेशों से अच्छी तरह गुथी रहती है, 'मुद्गर' कहते हैं; क्योंकि उसकी शक्ल हथौड़ी से मिलती-जुलती होती है। बीच की हड्डी 'निहाई' और सबसे भीतरी 'रकाब' कहलाती है। मुद्गर का लम्बा डंडा कर्ण-पटह की भीतरी तह से लगा रहता है। उसका ऊपर का नोकदार भाग मध्य कान की कोठरी के हड्डीदार भाग से चिपटा रहता है और उसका गोल सिर निहाई के एक छोटे-से गड्ढे में लगा रहता है। उसी में वह घूम-फिर भी लेता है। निहाई की नोक रकाब के ऊपरी हिस्से से लगी रहती है, किन्तु उसका मुख्य भाग अथवा पायदानवाली तख्ती मध्य कान के अंडाकार छेद में झिल्ली द्वारा फँसी रहती है। ये तीनों हड्डियाँ आपस में बन्धनों द्वारा बँधी होती हैं और उनके बीच में हिलने-घूमनेवाले जोड़ होते हैं। यही हड्डियाँ बाहरी कान के पर्दे को भीतरी कान से मिलाती हैं।

मध्य कान की कोठरी हवा से भरी होती है। सामने-वाली दीवाल में कंठ-कर्ण-नली का मुँह होता है, जिससे उसका सम्बन्ध कंठ से हो जाता है। इसी राह से हवा कंठ से होकर मध्य कान में पहुँचती है और कान के पर्दे के दोनों तरफ अपना दबाव भी बराबर रखती है। कंठ-कर्ण-नली आम तौर से बन्द रहती है, लेकिन जब हम कोई चीज निग-लते हैं तो वह खुल जाती है। यदि आप नथुनों को जोर से बन्द कर लें और निगलने की क्रिया करने लगें तो दोनों कानों के पर्दों पर एक अजीब तरह का दबाव-सा जान पड़ेगा। कान भरे-भरे लगने लगेंगे और आपको साफ सुनाई भी न पड़ेगा। नथुने खोलने पर और फिर निगलने पर कान का दबाव और भारीपन गायब हो जाता है। इसका कारण यह है कि निगलने की क्रिया से कंठ में हवा का दबाव बढ़ जाता है, लेकिन नथुने बन्द रहने की वजह से यह हवा नाक से बाहर नहीं जा पाती और कंठ-कर्ण-प्रणाली में से झपटती हुई मध्य कान में जा पहुँचती है और पर्दे को फुला देती है, जिससे हमें भारीपन और दबाव मालूम पड़ने लगता है। ज्योंही हम निगल चुकते हैं, कंठ-कर्ण-प्रणाली पुनः बन्द हो जाती है और हवा कान में बन्द हो जाती है। जब हम फिर निगलते हैं और नथुने बन्द नहीं होते तो प्रणाली खुल जाती है और कारागार में बन्द की हुई हवा मुक्त हो जाती है। मध्य कान से एक और तंग और छोटी नली उसकी पिछली दीवाल में होकर एक और टेढ़ी-मेढ़ी कोठरी में जाती है, जो कान के पीछे की उभरी हुई हड्डी में होती है। इस कोठरी में तथा इसके आस-पास के हड्डी-कोषों में भी हवा भरी होती है।

(३) **आन्तरिक कान**—आन्तरिक कान में भी तीन भाग होते हैं। 'कौक्लिया' या सुननेवाला भाग सामने की ओर होता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जो शरीर को साधे रहने में सहयोग देती हैं, उसके पीछे स्थित रहती हैं और इन दोनों भागों के बीच में और पीछे थैले की तरह की 'कर्णकुटी' होती है। पहले दोनों भागों को मिलाकर भीतरी कान की घुम-घुमैया या 'झिल्लीकृत भँवर' कहते हैं। ये सब भाग खोपड़ी की हड्डियों के अन्दर सुरक्षित हैं। इन भागों की पेचीदा रचना को समझने के लिए लेख के साथ दिये हुए चित्रों को ध्यान से देखिए। दाहिने आन्तरिक कान का चित्र पृ० १०५९ पर दिया हुआ है। इसके बीच में जो अंडाकार खिड़की-सी दिखलाई पड़ती है उसी में मध्य कान की रकाबवाली हड्डी और झिल्ली लगी रहती है। यही खिड़की या छेद कर्णकुटी की छोटी-सी, लगभग ⅙ इंच की, कोठरी में चला जाता है। कर्णकुटी के सामने अगले भाग से घड़ी की कमानी की तरह २½ चक्र लगाते हुए कौक्लिया नजर आ रही है। कौक्लिया का घुमाव और रचना बहुत कुछ घोंघे के छिलके की तरह ही है। देखिए, कर्णकुटी के पिछले भाग से तीन अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ लगी हुई हैं। प्रत्येक नली के सिरे थोड़े-बहुत फूले हुए हैं। इनमें से एक नली आगे की ओर ऊपर सीध बाँधे रहती है, दूसरी पीछे की ओर, और तीसरी बाहर की ओर

आकाश के समानान्तर स्थित रहती हैं। इनकी बनावट की यही सुन्दरता है कि वे एक दूसरे के ऊपर लम्बवत् (perpendicular) खड़ी रहती हैं। अगली और पिछली नलियों का एक सिरा परस्पर एक दूसरे से जुड़ा रहता है। इसलिए तीनों नलिकाओं और कर्णकुटी के बीच में पाँच सूराख होते हैं। ऊपर बताए हुए छिद्रों को छोड़कर कर्णकुटी की दीवाल में नन्हें-नन्हें और भी छेद होते हैं, जिनसे श्रवण-स्नायु की शाखायें भीतर घुसती हैं। ये सब भाग अन्दर ही अन्दर एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनमें एक प्रकार का सफ़ेद दूध का-सा तरल द्रव्य भरा

नलिका का कुछ ज्ञान पृ० १०५७ के चित्र के देखने से हो सकता है। उसकी रचना का विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहाँ इतना बतला देना काफ़ी है कि इस पेचदार नली के भीतर एक बड़ी विचित्र रचना है जो 'कौर्टी साहब का अंग' (Corte's Organ) कहलाती है। उसमें अधिकतर सूत्रों की ही कतार रहती है। प्रत्येक सूत्र के दो भाग होते हैं, जो एक दूसरे पर मेहराब की तरह सधे रहते हैं। पर्दे की झिल्ली की सारी लम्बाई पर ये मेहराबें सटी हुई लगी रहती हैं। अनुमान किया गया है कि मनुष्य के कान में ऐसी मेहराबें
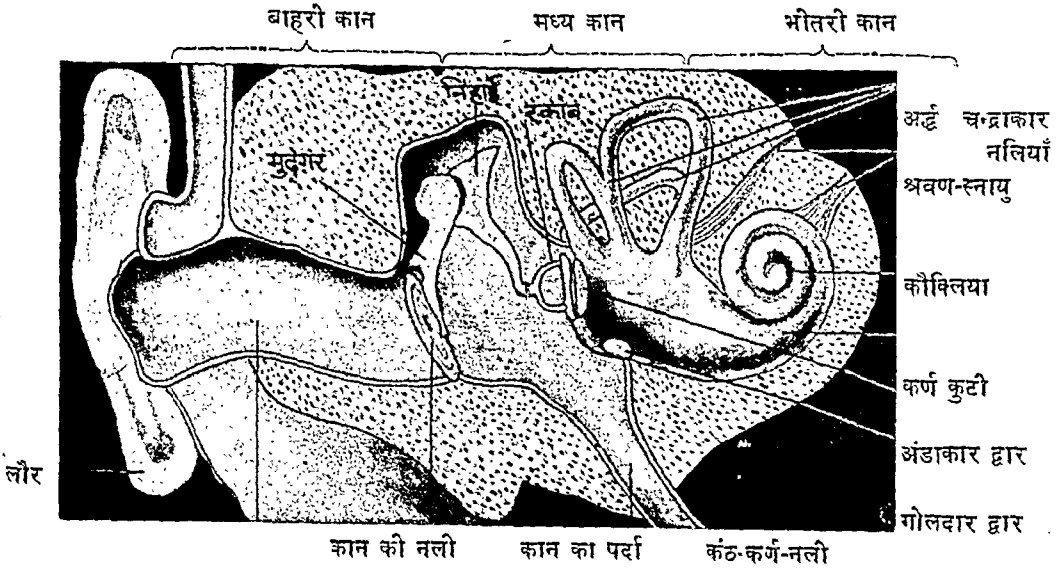
कान के तीन भाग और उनके चारों ओर के अंग

बाहरी कान और उसके बीच के सूराख में कहीं हड्डी है और चबनी। बाहरी और मध्य कान के बीच में एक झिल्ली का पर्दा होता है। मध्य कान की संकीर्ण कोठरी में छोटी-छोटी तीन हड्डियों की जंजीरें होती हैं जो एक ओर इस पर्दे से लगी रहती हैं और दूसरी ओर भीतरी कान की घूमघुमैया को घेरनेवाली हड्डी की खिड़की से जुड़ी रहती है। मध्य कान को कंठ से सम्बन्धित करनेवाली कंठ-कर्ण-नली भी चित्र में दिखलाई पड़ रही है।

रहता है, जिससे आन्तरिक लसीका (Endolymph) कहते हैं। इस रस में खटिक कार्बोनेट के नन्हें-नन्हें कण मौजूद रहते हैं। कर्णकुटी तथा झिल्ली की नलिकाओं के भीतर पर्त के कोषों से अन्दर की ओर महीन-महीन बाल-से निकले रहते हैं। धारणा की जाती है कि अन्दर आनेवाली श्रवण-स्नायु के नन्हें छोर इन बालों में लगे रहते हैं।

कौक्लिया की झिल्लीकृत नली आन्तरिक कान का सर्व-प्रमुख अंग है; क्योंकि उसी में वह यन्त्र पाया जाता है जो आवाज के पहचानने या समझने का मुख्य साधन है। कौक्लिया की पेचीदा हड्डी और उसमें बन्द झिल्लीकृत

३,००० से भी अधिक होती हैं। इन मेहराबों के ऊपर गावदुम आच्छादक कोषों की तह रहती है जिस पर जगह-जगह कड़े बालों के गुच्छे निकले रहते हैं। कहा जाता है कि ये बालवाले कोष ही असली सुननेवाली चीज हैं। वह श्रवण-नाड़ी-सूत्र, जो कौक्लिया के बीच की हड्डी के स्तम्भ से निकलकर 'कौर्टी के अंग' में पहुँचते हैं, इन कोषों से सम्बन्धित रहते हैं। इससे साफ़ जान पड़ता है कि जो लहराव या कम्पन इन श्रवण-बालों तक पहुँचेंगे, उनका प्रभाव उनसे लगे हुए नाड़ियों के छोरों पर पड़ेगा, जिससे नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचकर आवाज का बोध होगा।

झिल्लीकृत भँवर और कर्ण की हड्डीवाली दीवालों के बीच में कुछ खाली स्थान रह जाता है। इसमें भी एक तरल पदार्थ भरा रहता है, जिसके कारण बाहरी चोटों का असर जल्दी झिल्लीकृत भँवर पर नहीं पड़ता।

कान के दो कार्य

साधारणतया कान से हम केवल सुनने का ही सम्बन्ध समझते हैं, किन्तु वह आवाज का बोध कराने के अतिरिक्त एक और भी काम करता है। अर्द्ध-चक्राकार नलियाँ, जिनका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं, शरीर को समतुल्य रखने में सहयोगी होती हैं। इसलिए कान के दो मुख्य कर्त्तव्य हैं, एक आवाज की लहरों को बाहर से भीतर पहुँचाना, उनका अनुभव करना, उनका विश्लेषण करना और उन्हें समझना—ये सब बातें सुनने में शामिल हैं; दूसरे, हमारी चाल या गति को वश में रखना और शरीर को साधे रहना, जो समतुल्यता के लिए है।

आवाज क्या है?

कदाचित् आप सब यह तो जानते ही होंगे कि ध्वनि एक प्रकार की गति है और सभी ध्वनि-उत्पादक वस्तुओं का लक्षण उनका कम्पित होना है। सितार, बेला और सारंगी की तरह के तारवाले वाद्यों में हम यह बात सहज में ही देख सकते हैं। बजाते समय उनमें तार हिला करते हैं, किन्तु हवा से बजनेवाले बाजों में लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है। बाँसुरी, बिगुल और तुरही में कम्पित होनेवाली वस्तु वह हवा है जो उसके भीतर बन्द रहती है। जब हम तालाब में एक कंकड़ फेंकते हैं तो जिस जगह वह गिरता है, उस जगह से चारों तरफ को पानी की लहरें फैलती हुई बिलकुल साफ दिखाई पड़ती हैं। ठीक इसी तरह आवाज निकालनेवाली वस्तु के चारों ओर की हवा उसके लहराव से कम्पायमान होने लगती है और हवा की ये लहरें एक सिलसिले में ध्वनिदायक वस्तु से दूर को फैलती चली जाती हैं। इसलिए कहा जाता है कि शब्द या ध्वनि कम्पित होनेवाली वस्तु से निकलनेवाली वायु-लहरों का सिलसिला है। कम्पन जितना ही तेज होता है, आवाज भी उतनी ही ऊँची होती है, अर्थात् ध्वनि का ऊँचा या नीचापन कम्पन की गति पर ही निर्भर है।

हवा में ध्वनि-लहरें जिस चीज से लगती हैं उसको भी कम्पित कर देती हैं। जिन चीजों के स्वर आवाज निकालनेवाली वस्तु से मिले रहते हैं, हवा की लहरों द्वारा बड़ी आसानी से वे कम्पित होने लगती हैं। जिस स्वर से सितार या बेले का तार मिला हो, वही स्वर हारमोनियम या पियोनो पर बजाने से सितार या बेले का वही तार भी बजने लगता है। ध्वनि-लहरों की गति १,०९९ फीट प्रति सेकंड होती है, जब हवा का ताप ०° सेंटीग्रेड हो। ज्यों-ज्यों गरमी बढ़ती जाती है, वैसे ही उसकी गति भी तेज होती जाती है।

कर्णपटह का भीतरी दृश्य

यह बाहरी कान की नलिका के छेद पर तना रहता है। इसमें मध्य से बाहर की ओर फैलते हुए गोल मांस-पेशियों के रेशे होते हैं। इनसे कर्णपटह का तनाव और दृढ़ता कायम रहती है। इसमें बहुत-सी रक्त-नलियाँ और नाड़ियाँ होती हैं। चोट या किसी रोग के कारण यदि यह पर्दा फट जाय तो कान बहरा हो जाय।

हम कैसे सुनते हैं?

चारों ओर से आनेवाली आवाज की लहरें जब बाहरी कान से टकराती हैं तो वह उन्हें अपनी टेढ़ी-मेढ़ी सतह के द्वारा एकत्रित करके कान की नली की तह से कर्णपटह तक भेज देता है। इसी कारण कर्णपटह कम्पित होने लगता है। मनुष्य के कर्णपटह में १६ से लेकर ५०,००० तक कम्पन होने की योग्यता पाई जाती है। इसलिए इससे कम या ऊँचे लहराव पैदा करनेवाली वायु-लहरों का प्रभाव उस पर ठीक नहीं पड़ता और यही कारण है कि अत्यन्त धीमी और बहुत जोर की आवाज हमको साफ सुनाई नहीं देती। किन्तु ऊँची और नीची आवाजों को सुनने की शक्ति सब आदमियों में एक-सी ही नहीं होती। मनुष्य आमतौर से अपना कान हिला नहीं सकता; किन्तु और जानवर कान को खड़ा कर सकते हैं और आवाज की ओर घुमा सकते हैं। इसलिए जिसके कान जितने ही बड़े और हिलने-डोलनेवाले होते हैं—जैसे खरगोश और हिरन के—उतना ही उनको हवा की लहरों को पकड़ने और एकत्र करके भीतर की ओर भेजने में सुभीता होता है। इसलिए वे धीमी आवाज को सुनने तथा आवाज की दिशा पहचानने में हमसे कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं।

ज्योंही कान का पर्दा हिलने लगता है, उससे सटी हुई मध्य कान की तीन हड्डियोंवाली जंजीर भी उसी के साथ-

साथ हिलने लगती है और दूसरी ओर मध्य और भीतरी कान के बीच में लगे हुए अंडाकार खिड़कीवाले पर्दे को हिला देती है। इससे आन्तरिक कान में भरे हुए तरल पदार्थ में वही कम्पन उत्पन्न हो जाती है और उसके दवाव में जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन होने लगता है, जिसके कारण कौर्टी के अंगवाले श्रवण-बालों में गहरा उकसाव होने लगता है। इस उकसाव की चेतना कौक्लिया में जानेवाली नाड़ी के छोरों से जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हम सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण-केन्द्र तक पहुँचनेवाले सन्देश के फैलाव, (Volume) मन्दता और तीव्रता के अनुसार मस्तिष्क तरह-तरह की आवाजों में भेद करता है। इसी के बल पर हम गाने-वजाने, हँसने, रोने व शोर-गुल की आवाजों को पहचानते हैं।

यह तो हम पहले ही बतला आए हैं कि आन्तरिक कान के सहस्रों ध्वनि-ग्रहणकारी सब बिलकुल एक-से नहीं हैं। कोई भी एक ग्रहणकारी केवल एक ही चढ़ाव-उतारPitch की कम्पनाओं से उत्तेजित हो सकता है, जिस प्रकार कि बेतार के खबर पानेवाले खम्भे उसी लहर-लम्बाई की लहरों को ग्रहण कर सकते हैं जिसके लिए वे बने हुए हैं। यह हम ठीक-ठीक अब भी नहीं कह सकते कि ग्रहणकारी विविध प्रकार की आवाजों का अनुभव कैसे करते हैं, किन्तु उनका परिणाम यह होता है कि यदि कई प्रकार की आवाजें एक साथ ही लगाई जायँ तो भी हम उन्हें एक दूसरे से साफ-साफ अलग करके पहचान लेते हैं।

गाने-बजाने में "कान का सिखाना या साधना", "कान का अच्छा या बुरा होना" इत्यादि वाक्य बहुधा काम में लाये जाते हैं। इनकी सच्चाई श्रवणेन्द्रियों के काम करने के ढंग पर ही अवलम्बित है। सीखा हुआ गाने-बजानेवाला मिश्रित रागों के अलग-अलग स्वरों को पहचान लेता है, लेकिन किसी-किसी को, जिसने कभी उस ओर ध्यान नहीं दिया, दो रागों में भेद करना भी नहीं आता। उसे राग के ठीक या गलत होने का भी पता नहीं चलता। वह तो केवल यही जानता है कि आवाज उसे अच्छी लग रही है या बुरी। कान के श्रवण-बाल सचमुच आवाज को साधारण तत्त्वों में बाँट देते हैं। मस्तिष्क फिर उन्हें मिला लेता है। इसलिए हमको उनके बँटाव की नहीं बल्कि मिलाव पर ध्यान देने की आदत हो जाती है। अच्छी शिक्षा से प्रत्येक मनुष्य को आवाज के विश्लेषण की थोड़ी-बहुत पहचान हो सकती है और सुने हुए रागों के कुछ तत्त्वों की पहचान भी उसे आ सकती है। इसलिए लोगों का यह कहना कि हमारे कान गाना-बजाना सीखने के लायक नहीं हैं वैसी ही बात है जैसा कि किसी सूझते आदमी का न पढ़ने के लिए यह बहाना करना कि उसके आँख ही नहीं है। कानों का अच्छा या बुरा होना तो अभ्यास की ही बात है। यह अवश्य है कि थोड़ा-बहुत फर्क स्वाभाविक रुझान के कारण होता है।

आवाज की दिशा पहचानना

आवाज की दिशा किसी हद तक सभी पहचान लेते हैं, किन्तु अक्सर हमें धोखा भी हो जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि सुननेवाले के दाहिनी ओर कोई आवाज हो तो वह दाहिने कान में अधिक जोर से सुनाई पड़ेगी और प्रत्येक ध्वनि-लहर दाहिने कान में बायें कान की अपेक्षा एक सेकेंड के कुछ अंश जल्दी पहुँचेगी। आवाज की दिशा पहचानने की असल में यदि कोई पहचान हममें है तो वह कानों में सुनाई देनेवाली आवाज की तेजी और समय के फर्क पर ही निर्भर है। आवाज की दिशा पहचानने में मनुष्य की शक्ति अधिक तीक्ष्ण नहीं है। वह अक्सर ही धोखा खा जाता है। घर में मामूली आवाजों के सुनते रहने से हम उनसे इतने परिचित हो जाते हैं कि जान जाते हैं कि वह किस की है और किधर से आ रही है; किन्तु जब कोई अपरिचित या असाधारण आवाज हमें सुनाई देती है तो हम चकरा जाते हैं और यह नहीं पता लगा पाते कि वह कहाँ से आई।

कान का दूसरा कर्त्तव्य—समतुल्यता

कान की वे तीनों अर्द्धचक्राकार नलियाँ, जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं, सुनने से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। वे हमारे शरीर को समतुल्य रखने के ही अंग हैं। ये नलियाँ तरल पदार्थ से भरी रहती हैं। उनके धरातल भिन्न-भिन्न होते हैं और वे धरातल की सतह नापने के यंत्र (Spirit level) की तरह काम करती हैं। शरीर के इधर-उधर झुकने या सिर के मोड़ने पर इन नलियों का तरल पदार्थ और उसमें विद्यमान कण भी हिल जाते हैं। इसका असर नलियों में जानेवाले श्रवण-स्नायु के छोरों पर पड़ता है। वहाँ उन्हें जो उत्तेजना मिलती है वे उसे मस्तिष्क में पहुँचा देती हैं। मस्तिष्क इस उत्तेजना का प्रयोग करके हमसे ऐसी हरकतें कराता है कि हमारी गड़बड़ाई हुई समतुल्यता फिर स्थिर हो जाय। यह बात सच है कि कौक्लिया से मुख्य नाड़ी-मार्ग बृहत् मस्तिष्क को जाता है, लेकिन अर्द्धचक्राकार नलियों का मुख्य नाड़ी-सम्बन्ध लघु मस्तिष्क से होता है। यह मस्तिष्क का वह भाग है, जो विशेषकर

समतुल्यता से सम्बन्धित हैं। कान-सम्बन्धी समतुल्यता की समझ मनुष्य में अधिक बढ़ी-चढ़ी नहीं है, इसलिए हम शरीर को साधने और ठीक गतियाँ करने के लिए इस इन्द्रिय पर ही अवलम्बित नहीं हैं। इस बात में दृष्टि, पेशियाँ, जोड़, कंडरा तथा अन्य रीतियों से भी उसको सहायता मिलती है। चिड़ियों में समतुल्यता की इन्द्रिय हमसे कहीं उत्तम है। अब मनुष्य भी वायुयानों में उड़ने लगे हैं, इसलिए इन नलियों की विशेषता उनमें पहले से बढ़ गई है। जब उड़ाके कुहरे से घिर जाते हैं तो उसे बहुत-कुछ इसी इन्द्रिय पर भरोसा करना पड़ता है। अतः उड़नेवालों में यह शक्ति तीक्ष्ण होना लाभप्रद है।

२. घ्राणेन्द्रिय—नासिका

यह तो आपको मालूम ही है कि सूँघने का सम्बन्ध नाक से है, किन्तु नाक ९० प्रति सैकड़ा तो साँस लेने का काम करती है और उसका केवल १० प्रति सैकड़ा ही काम सूँघने का है। लेकिन यही $\frac{१}{१०}$वाँ कार्य ही यह पहचानने में हमें मदद देता है कि हवा शुद्ध है अथवा अशुद्ध। नासिका का सूँघनेवाला भाग उसकी जड़ में भीतरी ओर पाया जाता है। शेष नाक, नथुने से लेकर गले के पिछले छेद तक, हवा का मार्ग ही है। नाक के निचले भाग से सूँघने की क्रिया से कोई मतलब नहीं। साधारणतः साँस द्वारा जो हवा नथुनों में घुसती है वह पिछले गले के प्रत्येक सूराख में होती हुई श्वासोच्छ्वास-नली में चली जाती है। खोपड़ी की तरफवाले ऊपरी भाग में हवा स्थिर रहती है और साँस द्वारा भीतर जाने या बाहर आनेवाली हवा मामूली तौर से उसे गड़बड़ाती नहीं। साँस लेते समय हमको किसी प्रकार की महक न मिलने का यही कारण है। महक का पता लगाना चाहने पर हम नाक को जोर से सिकोड़कर हवा ऊपर की ओर सूँघते हैं जिससे गन्धयुक्त वायु ऊपर के घ्राण-भाग तक पहुँचती है और हमको सुगन्ध का ज्ञान होता है।

खोपड़ी का वर्णन करते हुए हम पहले ही बतला चुके हैं कि नथुनों के गड्ढों में पीछे से निकली हुई, कागज के मुट्ठे-जैसी लपेटी हुई महीन हड्डी होती है। गन्ध का पता लगानेवाली कोशिकाएँ दोनों गड्ढों के बीच के पर्दे और इस पलटी हुई हड्डी को मढ़नेवाली श्लैष्मिक झिल्ली पर रहती हैं। इस झिल्ली में खून की अनेकों पतली-पतली नलियाँ और मस्तिष्क की पहली नाड़ी—गन्धनाड़ी—के स्नायु-तार बहुतायत से रहते हैं। सूँघनेवाली लम्बी तथा पतली कोशिकाओं के बाहरी छोरों पर महीन-महीन रोयें निकले रहते हैं और उनके भीतरी छोर नाड़ी-सूत्रों से सम्बन्धित रहते हैं। जब सुगन्ध के कण वायु द्वारा नाक के इस पिछले भाग में पहुँचकर इन सांवेदनिक कोशिकाओं को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करते हैं तभी घ्राण-नाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्रों में पहुँच हमें गन्ध का बोध कराता है। इस सचेत गहरे पीले रंगवाली श्लैष्मिक झिल्ली से हम केवल इत्र, गुलाब-केवड़ा आदि की ही सुगन्ध को नहीं सूँघते हैं, वरन् रसोई में बननेवाले उन स्वादिष्ट भोजनों का पता भी, जिनका नाम सुनकर हमारे मुँह में पानी भर आता है, हम दूर से ही बिना चखे केवल उनकी खुशबू से लगा लेते हैं। नाक के ऊपर, पीछे मिलनेवाली नाजुक गन्ध-ग्रहणकारी कोशिकाएँ तभी उत्तेजित होती हैं जब कोई सुगन्धित वस्तु, वायव्य या चूर्ण के रूप में इन कोशिकाओं तक पहुँचकर श्लैष्मिक झिल्ली से निकलनेवाले तरल पदार्थ में घुल जाती है।

हमारी सूँघने की शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण है। वैलेन्टीन के अनुसार हम मुश्क के एक ग्रेन का तीन करोड़वाँ अंश भी अच्छी तरह सूँघ सकते हैं। इतना होने पर भी मनुष्य की सूँघने की शक्ति बहुत-से छोटे-छोटे जानवरों से भी कम है। कुत्ता आदमी को पहचानने में केवल देखकर ही सन्तुष्ट नहीं होता—जब तक वह पास जाकर उसको सूँघ न ले, उसको पूर्ण विश्वास नहीं होता। यह सिद्ध कर दिया गया है कि कुछ तितलियों तथा उनके सम्बन्धी पतिंगों (Moths) में नर बहुत दूर—करीब आधी मील—से सूँघकर मादाओं का पता लगा लेते हैं। चींटी को अपनी तीक्ष्ण घ्राण-शक्ति के ही कारण दूर से ही मिठाई का पता लग जाता है। अपने तथा दूसरे बिलों की चींटियों को वे उनकी गन्ध से ही पहचानती हैं। अनेकों जीवधारियों के लिए सूँघना अत्यन्त उपयोगी है। वह उन्हें शत्रु से रक्षा करने, भोजन को खोजने, अपने भाई बन्धुओं को पहचानने और जोड़े का पता लगाने में सहायता देता है। कभी-कभी घर के मार्ग का भी सूँघकर ही पता लगा लेते हैं।

किसी चीज को यदि हम कुछ देर सूँघते रहते हैं तो फिर उसकी खुशबू धीमी क्यों होने लगती है या गायब-सी क्यों हो जाती है? इसका कारण यह है कि गन्ध-ग्रहणकारी थोड़ी ही देर में थक जाते हैं। किसी तेज सुगन्धमय वातावरण में कुछ देर रहने के बाद हम स्वच्छ वायु में आएँ और फिर सुगन्धयुक्त वायु में वापस जायँ तो हमको इस बात का पता चल जायगा कि हमारी यह शक्ति कैसे थक जाती है और फिर कैसे ठीक हो जाती है। तेज जुकाम हो जाने

दिनों में खुशबू का पता हमें नहीं चलता। क्यों? नों की श्लैष्मिक झिल्ली सर्दी के कारण सूज जाती है र हवा को नाक के ऊपरी भाग तक पहुँचने से रोक ी है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि झिल्ली के ा जाने से नाड़ी-सूत्रों के छोर तथा ग्रहणकारियों के वेदनिक रोयें गहरे दब जाते हैं। इसलिए गन्ध का ा पर प्रभाव ही नहीं पड़ पाता। बहुत-सी खुशबुओं को ा पहचानते तो हैं लेकिन आवाज या रंग की तरह उसमें कोई निश्चित पैमाना नहीं है। हमको खुशबुओं की याद में अक्सर धोखा हो जाने का शायद यही कारण है।

३. स्वादेन्द्रिय—जीभ

यदि आप शीशे में अपनी जीभ देखें तो उस पर बहुत से छोटे-छोटे दाने बिछे हुए नजर आयेंगे। इनमें से जीभ से पिछले हिस्से में V आकार की एक कतार में काफी बड़े-बड़े दाने होते हैं। ये दाने जीभ के ऊपर की श्लैष्मिक झिल्ली में ही होते हैं, नीचे की सतह में नहीं होते। इसीलिए जीभ की ऊपरी सतह खुरखुरी और नीचे की चिकनी होती है। इन उभरे हुए दानों ही से हमको स्वाद का पता चलता है। इसलिए हम उनको स्वाद-अंकुर या स्वाद-कलियाँ कहते हैं। प्रत्येक कली कोशिकाओं का एक समूह है, जो आकार में प्याज की छोटी गाँठ-सा होता है। इसमें सहारा देनेवाले तथा रक्षा करनेवाली कोशिकाओं के थैलों में घिरे हुए १० से १६ तक स्वाद-कोशिकाएँ होती हैं। इन स्वाद-कोशकाओं के चारों ओर स्नायु-तार लिपटे रहते हैं और इन्हीं के द्वारा स्वाद की खबर मस्तिक तक पहुँचती है। जिह्वा को छोड़कर कुछ स्वाद-कलियाँ तालू, होंठ और गालों में भी होती हैं। वास्तव में स्वाद चार प्रकार के ही होते हैं—मीठा, खट्टा, नमकीन और कड़वा। अन्य स्वाद इन्हीं चारों के मिलने से बनते हैं। एक स्वाद-कली सब तरह के स्वाद नहीं ले सकती। कोई सिर्फ मीठी चीजों को
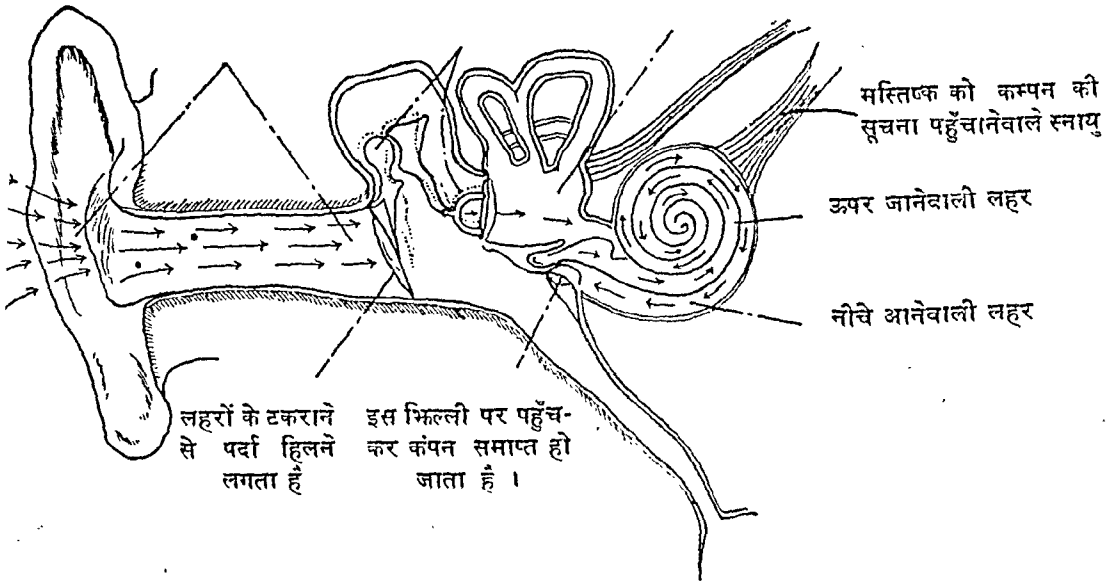
हम कैसे सुनते हैं?

ध्वनि-लहरें कान के भीतर घुसकर कर्णपटह को हिलाती हैं। इसके हिलने से मध्य कान की हड्डियोंवाली जंजीर भी कम्पित होने लगती है। यही कम्पन अंडाकार झिल्ली से होकर कौक्लिया में भरे हुए तरल पदार्थ में भी पहुँच जाता है। अन्त में यह नाड़ी-सूत्रों के छोरों को भी उत्तेजित कर देता है। जब यह उत्तेजना नाड़ी-सूत्रों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचती है, तभी हम सुनते हैं।

चखती हैं कोई खट्टी, कोई नमकीन तो कोई कड़वी। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि स्वादों की पहचान सारी जीभ पर एक सी ही नहीं है। किसी जगह एक स्वाद की कोशिकाएँ अधिक हैं तो किसी जगह दूसरे और कहीं-कहीं बिल्कुल स्वादकोशिकाएँ हैं ही नहीं। बच्चे अक्सर मिठाई को जबान की नोक से चाटते हैं, क्योंकि वे सीख जाते हैं कि उन्हें इस तरह मिठाई का ज्यादा मजा मिलता है, गोकि वे यह नहीं जानते कि जीभ का अगला हिस्सा या छोर ही मीठी चीजों के स्वाद लेने का स्थान है। इस जगह की स्वाद-कलियाँ विशेषकर मिठाई से ही अर्थ रखती हैं। जब हम कोई बहुत ही कड़वी वस्तु खाते हैं तो कहते हैं कि इससे तो हलक तक कड़वा हो गया, लेकिन हम यह नहीं जानते कि जीभ के अगले हिस्से में तो हमें कड़वाहट का पता चल ही नहीं सकता, क्योंकि कड़वाहट का बोध करानेवाली स्वाद-कलियाँ जीभ के सबसे पिछले हिस्से में होती हैं। जीभ के दायें और बायें किनारों पर खटाई और नमक का स्वाद जाननेवाली कलियाँ अधिक होती हैं। युवकों में जीभ के बीच का हिस्सा बिल्कुल स्वाद-रहित होता है, किन्तु बच्चों में स्वाद-कलियाँ सारी जीभ और मुँह के नर्म अस्तर पर भी फैली होती हैं। जब आप मिश्री खाएँ तो उसको आगे की ही जबान पर चूसिये, क्योंकि वहीं पर आपको उसका सबसे अच्छा मिठास मिल सकेगा। कड़वी दवा को बहुत जल्दी से निगल जाइए, जिससे वह जीभ के पिछले भाग से जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी निकल जाए। यदि भोजन का पूरा स्वाद लेना चाहते हैं तो उसको अच्छी तरह चबाइए, जिससे स्वाद-स्थानों को उसका पूरा मजा मिले। स्वादेन्द्रिय का पूर्ण लाभ प्राप्त करने का यही सुगम उपाय है।

स्वाद में गन्ध की तरह रासायनिक संवेदना है और दोनों को ही उत्तेजित करनेवाला पदार्थ पानी में घुलने पर ही अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। स्वाद तभी जाना जा सकता है जब खाद्य-सामग्री घुले हुए रूप में हो या मुँह में पहुँचकर लार में घुल जाय। यदि जीभ को अच्छी तरह पोंछकर सुखा डाला जाय तो किसी भी स्वाद का पता न चले। आप स्वयं इस बात की जाँच कर सकते हैं। जबान को खूब पोंछकर उस पर एक टुकड़ा मिट्टी या नमक रखिए तो उस समय तक कोई स्वाद न मालूम होगा जब तक थूक या लार से वह घुलने न लगे। स्वाद और गन्ध में और भी सम्बन्ध है। जब हम सेब या संतरे का एक टुकड़ा मुँह में रखते हैं तो हमें उनकी विशेष मनभावन लज्जत का जो स्वाद मिलता है उसको हम सेब या संतरे का ही स्वाद कहते हैं। वह केवल मीठा, खट्टा, नमकीन या कड़वा कहकर नहीं समझाया जा सकता। किसी चीज के जायके में उसके स्वाद के अतिरिक्त और भी कोई चीज अवश्य शामिल है। यह दूसरी चीज उसकी सुगन्ध है। जब हम सेब या संतरे को मुँह में चबाते हैं तो उसके मीठे या खट्टे होने का बोध तो जिह्वा से होता है लेकिन उनकी उड़नेवाली महक तालू में होकर नाक के भीतर पहुँचती है और घ्राणेन्द्रिय को उत्तेजित करती है। अतः किसी चीज की लज्जत उसके स्वाद और गन्ध दोनों का मेल है। आपकी आँखों पर पट्टी बाँधकर और नाक जोर से दबाकर बन्द करके मुँह में सेब और नासपाती के टुकड़े बारी-बारी से रक्खे जायँ तो आप बतला न सकेंगे कि कौन-सा टुकड़ा किस चीज का है। उन दोनों में अन्तर सूँघने का है चखने का नहीं।

गन्ध के सदृश स्वाद भी सहज में मंद पड़ जाता है अथवा हमारी तबियत उससे भर जाती है। अगर हम मीठी चीज बहुत देर तक खाते रहें तो फिर उसकी मिठास उतनी तेज नहीं लगती। यही कारण है कि ऐसी चीजें यदि हम थोड़ी सी ही खाएँ तो जो स्वाद हमें मिलता है वह बहुत-सी खाने पर नहीं मिलता। यह अत्यन्त बुद्धिमानी है कि प्रतिदिन के भोजन की मूल वस्तुएँ—दाल, भात, रोटी आदि—मीठी होती हैं। वे ऐसी न होतीं तो रोज-रोज हम उनको ही भूख भर खाने में परेशान हो जाते। ये सब चीजें तो हम बहुत-सी खाते हैं, लेकिन चटनी या अचार यदि एक पोरा भी खा लें तो खाने का मजा मिल जाता है। चारों स्वादों और गन्धों की संवेदना देनेवाली कोशिकाओं के अतिरिक्त और भी सांवेदनिक कोशिकाएँ हैं, जिनसे पदार्थों की चरपराहट या शीतलता का बोध होता है; जैसे मिर्च से चरपराहट और पिपरमिंट तथा बर्फ से ठंडक का।

तेज जुकाम हो जाने पर केवल हमारी घ्राण-शक्ति ही मन्द नहीं हो जाती, बल्कि स्वाद भी बिगड़ जाता है। जो चीजें पहले अच्छी लगती हैं वे उस समय बेस्वाद प्रतीत होती हैं। गन्ध और स्वाद हमारे दो बड़े आवश्यक नौकर हैं, जिनके सहयोग से हमको अपने खाने के स्वाद और सुगन्ध का मजा मिलता है। यदि खाने में मजा न मिले तो खाना ठीक से हज्म न हो और शरीर-रूपी घर गड़बड़ा जाय। ये दोनों नौकर यदि पूर्ण सत्याग्रह कर दें तो हमारे स्वास्थ्य और आराम का क्या हाल हो यह हमारी कल्पना से परे है। जीभ पर जब दो-चार छाले निकल आते हैं तभी सारे खाने हमको फीके-से लगने लगते हैं!

प्रतिक्रिया और आचरणवादी मनोविज्ञान

हमने पिछले खंड के इसी स्तम्भ के अंतर्गत "स्वयंभू वृत्तियां और सहज आचरण" एवं "चेतन-वृत्तियाँ तथा चेतना-प्रवाह" का अध्ययन किया है। यद्यपि प्रतिक्रिया अथवा परावर्तित क्रिया (Reflex Action) का संक्षिप्त परिचय हम मस्तिष्क के स्थूल रूप और स्नायुतंतुओं के वर्णन के सिलसिले में पहले ही करा चुके हैं, पर उसकी विस्तृत विवेचना आज के मनोविज्ञान की गुत्थियों को समझने के लिए वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य है। तो फिर आइए, इस संबंध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करें।

अमेरिकन विचारधारा

आचरणवादी मनोविज्ञान वास्तव में अमेरिका की ही उपज है। इस सम्बन्ध में रूसी वैज्ञानिक पोफोलोफ का नाम लिया जाता है, परन्तु वह वास्तव में मनोवैज्ञानिक नहीं था, उसके अध्ययन और प्रयोगों का क्षेत्र प्राणि-विज्ञान था। फिर भी उसके प्रयोगों और खोजों ने आचरणवादी मनोविज्ञान पर काफी प्रभाव डाला है, इसलिए बिना उसके विचारों का अध्ययन किये मनोविज्ञान का वर्णन अधूरा ही रहेगा। पोफोलोफ के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे परंतु यहाँ इस बात के महत्व पर ध्यान देना उचित होगा कि प्राणिशास्त्र में खोज करनेवाला एक वैज्ञानिक भी आधुनिक मनोविज्ञान को प्रभावित कर सका! यह इस बात को सूचित करता है कि आचरणवादी मनोविज्ञान के प्रतिपादक स्वयं मनोविज्ञान और प्राणि-शास्त्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। अमेरिका के एक आचरणवादी लेखक ए० ई० वैस के अनुसार मनुष्य का आचरण प्राणि शास्त्र (Biology) के अन्तर्गत आ जाता है, लेकिन मनुष्य के सामाजिक जीव होने के कारण उसका आचरण समाज-शास्त्र के अन्तर्गत आता है। इसलिए मनोविज्ञान में, जिसमें हम मनुष्य के आचरण का अध्ययन करते हैं, प्राणि-शास्त्र और समाज शास्त्र दोनों का मिश्रण है। भौतिक विज्ञान में जो उन्नति हुई है, उससे आचरणवादी मनोविज्ञान पूरी तरह प्रभावित है। पुराना मनोविज्ञान बहुत-कुछ इस प्रभाव से परे था। यह बात नहीं थी कि तब भौतिक विज्ञान की उन्नति न हुई हो। उन्नति होने पर भी, अनेक मनोवैज्ञानिक उसके प्रभाव से अपने मनोविज्ञान को अछूता रखना चाहते थे, जैसा कि आज के भी कई मनोविज्ञान-शास्त्री करते हैं। इसीलिए नये आचरणवादी लेखक चाहते थे कि मनोविज्ञान वास्तव में एक विज्ञान हो, विज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति उसका भी अध्ययन किया जा सके, तथा प्रयोगों द्वारा उसके तथ्य निश्चित किये जा सकें और लोग अपने ही अनुभव से उलझकर व्यर्थ का एक वाग्जाल खड़ाकर विज्ञान का ढोंग न रचें।

अमेरिका में आचरणवादी मनोविज्ञान के लिए उचित वातावरण तैयार करने में उन लोगों ने काफी सहायता दी जिनका मनोविज्ञान से कोई सीधा सम्बन्ध न था। इन व्यक्तियों में थॉर्नडाइक नामक वैज्ञानिक का स्थान प्रमुख है। पोफोलोफ की भाँति, परंतु उससे भी पहले, उसने पशुओं पर प्रयोग आरंभ कर दिये थे। उसकी खोज का विषय पशुओं की प्रकृति और उनका अर्जित अनुभव था। आचरणवादी मनोविज्ञान में आचरण को भौतिक रूप से समझने की चेष्टा की गई है—मनुष्य के विचारों और भावनाओं आदि को एक अगोचर और सूक्ष्म संसार से खींचकर गोचर और प्रयोगों द्वारा बोधगम्य संसार में रखा गया है। इसलिए आधुनिक मनोविज्ञान के लिए थॉर्नडाइक के प्रयोगों की महत्ता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। थॉर्नडाइक ने प्रयोगों द्वारा दिखलाया कि हाल की पैदा पिड़कुली यदि एक छोटे-से बक्से पर रख दी जाय तो बिना हिचकिचाए वह नीचे कूद पड़ेगी। यदि बक्स अधिक ऊँचा हो तो वह कुछ हिचकिचाकर कूदेगी। परंतु

फुलाते हैं, तब भी इंद्रियों की क्रिया का नापना कठिन होता है। अतः जब बातचीत मानसिक क्षेत्र में होती है, तब तो उनकी क्रियाओं का अति सूक्ष्म होना स्वाभाविक ही है और उस क्रिया को ग्रहण कर हमें बताने के लिए एक अति सूक्ष्म यंत्र की आवश्यकता है। विचार में स्थूल स्नायुओं आदि की भौतिक क्रिया होती है, इस अनुमान को सिद्ध करने के लिए आवश्यक नहीं है कि हम यह मान ही लें कि विचार करते समय हम बोलते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं होते। इसलिए विचार पहले तो अशब्द रूप में ही पैदा होता है। परन्तु फिर भी यह संभावना रहती है कि यह विचार का प्राथमिक अशब्द रूप भी शरीर की सूक्ष्म क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का परिणाम हो सकता है। अस्पष्ट और अशब्द विचारों का शारीरिक क्रियाओं से कितना संबंध है, यह साधारण अनुभवों द्वारा देखा जा सकता है। क्रोध में शब्द नहीं आते, परन्तु सारा शरीर उत्तेजित हो उठता है, मानो कोई आंतरिक क्रियाएँ, जिन्हें हम देख नहीं पाते, हमें आन्दोलित किये डालती हों! अनेक कलाकारों, कवियों आदि में देखा गया है कि भावना की अव्यक्त दशा में वे अनेक भांति से आन्दोलित हो जाते हैं, और उसे शब्दों आदि द्वारा व्यक्त करने में उन्हें काफी समय लग जाता है। कैनन के अनुसार स्नायुओं की क्रिया और शरीर में एकत्र रसों के प्रवाह से अनेक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। आन्तरिक क्रियाओं का बाह्य निदर्शन हृदय की तीव्र गति, रुधिर का द्रुत प्रवाह, पेट में स्थिरता आदि के रूप में होता है।

आचरणवाद के अनुसार किसी विशेष भावना का अपना एक मानसिक अस्तित्व नहीं होता है; वह परिस्थिति से उत्पन्न हमारे शरीर-यंत्र की एक प्रतिक्रिया-मात्र है। भय और क्रोध की विभिन्नता परिस्थिति के कारण है; शारीरिक क्रियाएँ दोनों दशाओं में एक ही हैं। वाटसन के अनुसार बच्चों में केवल तीन प्रकार की भावनाएँ होती हैं—भय, क्रोध और मोह। मनुष्य में ये ही तीन मूल भावनाएँ काम करती हैं, शेष वह अनुभव से सीख लेता है। बच्चों में भय की भावना भारी शब्द से, या उसका सहारा खींच लेने से, पैदा होती है; क्रोध उसकी गति रोकने से पैदा होता है, और मोह या प्रेम उसे थपथपाने और सहलाने से होता है। तीनों भावनाओं को परिस्थिति ही उत्पन्न करती है और परिस्थिति के बदलने पर ये भावनाएँ भी बदल जाती हैं। जहाँ पहले भय न था, वहाँ परिस्थिति में थोड़ा परिवर्तन होने से भय उत्पन्न हो जाता है। एक बच्चा सामने पड़े खिलौने को पकड़ने जाता है, परन्तु पीछे से किसी ने खट-खट शब्द किया। उससे परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और उस खिलौने के प्रति उसकी भावना में परिवर्तन हुआ। बच्चे ने भय के चिह्न दिखाये और शायद रोने भी लगा। फिर जब भी वह उसे पकड़ने चला, तब यदि फिर वैसा ही शब्द हुआ तो इस भांति उस खिलौने के प्रति उसके भीतर एक भय की भावना पैदा हो जायगी। बड़ों में भी इस प्रकार की वास्तव में निर्मूल भय की भावनाएँ पाई जाती हैं, और वे एक बार परिस्थिति से इस प्रकार निर्मित हो गई होती हैं कि उनसे छुटकारा पाना असम्भव है।

इस आधार पर वाटसन ने एक कदम और आगे बढ़कर कहा कि उचित वातावरण और शिक्षा मिलने पर किसी भी बच्चे को लेखक, कवि, वैज्ञानिक आदि बनाया जा सकता है। इसी के साथ इस अनिवार्य परिणाम पर वह पहुँचा था कि बच्चा अपने माता-पिता से जन्म से ही कोई भी संस्कार नहीं पाता। यहाँ आचरणवाद अपनी तर्कसंगत अन्तिम सीमा को पहुँच गया है। इसलिए मनोविज्ञान में सारा जोर परिस्थिति पर ही डाला गया है। परन्तु इस अन्तिम परिणाम तक पहुँचने के लिए अभी उचित प्रमाणों का अभाव है। न अभी ऐसी परिस्थिति पाई गई है, न उस शिक्षाप्रणाली का ही हमें ज्ञान है, जिससे किसी भी बच्चे को इच्छानुसार एक उच्च मानसिक विकास की दशा तक पहुँचा दिया जाय। आचरणवादी जिस प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिकता को लेकर चले थे, वह यहाँ उनसे छूट जाती है। वाटसन ने भी स्वीकार किया है कि उसके परिणाम प्रमाणों से परे हैं और ऐसा करने के लिए उसके पास एक यही दलील रह गयी है कि विपक्षी भी ऐसा सैकड़ों वर्षों से करते चले आ रहे हैं।

अन्य वैज्ञानिकों ने अपने अपने ढंग से आचरणवाद को पुष्ट करने में सहायता दी है। मैक्स मेयर ने कान और मस्तिष्क की रचना का विशेष अध्ययन किया है और उसके अनुसार मनोविज्ञान यदि वास्तव में विज्ञान है, तो उसमें स्नायु-क्रियाओं का विशेष अध्ययन होना आवश्यक है। मनुष्य की चेतना और उसके विचारों और भावनाओं का अध्ययन तब तक अर्थहीन है, जब तक मनुष्य की क्रियाओं को प्रेरणा देनेवाले स्नायु-नियमों का अध्ययन न किया जाय। वाटसन की भांति मेयर आत्म-चिन्तन को बिलकुल बेकार नहीं समझता। उसका उपयोग हम वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए कर

सकते हैं। मनोवैज्ञानिक को चाहिए कि वह अपनी विचार-श्रृंखलाओं को छोड़कर दूसरे व्यक्तियों को अपने प्रयोगों के लिए चुने। अभी तक मनोवैज्ञानिक अपने व्यक्तिगत अनुभव पर जोर देते थे, परन्तु मनोवैज्ञानिक को अपने विषय का एक प्राणि-शास्त्रवेत्ता की ही भाँति अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न जीवों का अध्ययन करनेवाला प्रयोग के लिए कुछ जीवों को ले लेता है; वह अपने ऊपर ही प्रयोग नहीं करता। पूर्ण निष्पक्षता के लिए आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक अपने ही अनुभव को अपने प्रयोग का विषय न बनाये। ए० पी० वैस ने और आगे बढ़कर कहा कि मनोविज्ञान के मूल तत्त्व वही हैं, जो पदार्थ और जीवविज्ञानों के हैं। भौतिक विज्ञान के मूल तत्त्व ही मनोविज्ञान में भी काम आने चाहिए और यह भ्रम अब दूर हो जाना चाहिए कि मनोविज्ञान में हम ऐसे तथ्यों तक पहुँचते हैं, जो भौतिक विज्ञान की परिधि से बाहर हैं।

यह आवश्यक नहीं कि पदार्थ-विज्ञान में तत्त्वों का अंतिम विश्लेषण हो चुका हो, परन्तु जो कुछ हो चुका है, उससे मनोविज्ञान को संतोष करना पड़ेगा। मन की दशाएँ भी भौतिक परिस्थितियों के अंतर्गत हैं और मनोविज्ञान में भी हमें उन्हीं अणुओं-परमाणुओं से वास्ता पड़ेगा, जिनकी छानबीन हम पदार्थ-विज्ञान में करते हैं। जैसे हम अन्य भौतिक दशाओं का विश्लेषण करते हैं, उसी भाँति मनोदशाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण भी सम्भव है।

लैश्ले नामक मनोवैज्ञानिक भी आचरणवादी है, परन्तु वह वाटसन की भाँति आत्मचिंतन का विरोधी नहीं है। इसके अनुसार आत्मचिंतन के उचित तथ्य हम वैज्ञानिक शब्दावली में व्यक्त कर सकते हैं। लैश्ले ऐसा कर सकता था या नहीं, इसे विवादास्पद समझकर छोड़ते हुए ध्यान देने की बात यह है कि आत्मचिंतन से भी कुछ ऐसे तथ्य जाने जा सकते हैं, जो विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरें। लैश्ले आदि की विचारधाराओं को देखते हुए जान पड़ता है कि पुराने मनोविज्ञान के प्रति आचरणवाद के रूप में जो विद्रोह फूटा था, वह अब तक बहुत मंदा पड़ गया है और आत्मचिंतन की प्रणाली और आचरणवाद में कोई तात्त्विक विभिन्नता अब नहीं है। लैश्ले के कुछ प्रयोगों से अनेक आचरणवादी चिंतित भी हुए हैं। वाटसन ने अपने प्रयोगों से दिखाया था कि चूहे, जो एक बार एक टेढ़ी-मेढ़ी राह को सीख लेते हैं, बाद में दृष्टि, घ्राण, श्रवण आदि की इंद्रियों के न रहने पर भी अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। इससे वाटसन इस परिणाम पर पहुँचा था कि वे स्नायुज्ञान द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। परन्तु लैश्ले ने उनके लिए वह स्नायुज्ञान भी असम्भव कर दिया, जिससे प्रतिक्रिया-सिद्धांत (Theory of Reflex Action) पर निर्भर आचरणवाद को भारी धक्का लगा। परन्तु लैश्ले के प्रयोगों से घबड़ाने की कोई बात नहीं है। आचरणवाद एक सीमित विचार-समूह नहीं है; वह एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण है और इसी में उसकी उपयोगिता है।

रूसी विचारधारा

रूस के जिन वैज्ञानिकों का संबंध आचरणवाद से स्थापित किया जाता है, वे वास्तव में मनोवैज्ञानिक न थे, पर उनकी खोजों ने अमेरिकन आचरणवाद पर भारी प्रभाव डाला है। इन रूसी वैज्ञानिकों में पोफोलोफ का नाम हम पहले ले चुके हैं। दूसरा वैज्ञानिक बेख्तेरेफ था, जो अपनी खोजों से उन्हीं परिणामों पर पहुँचा जिन पर कि पोफोलोफ। बेख्तेरेफ स्नायविक प्रतिक्रियाओं और विकृत मानसिक चेष्टाओं के संबन्ध में खोज कर रहा था। बेख्तेरेफ ने देखा कि यदि देह पर कोई ठंडी चीज मली जाय तो उसका प्रभाव श्वास पर पड़ता है, जो कि एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यदि बाद में कोई ऐसी चीज उसी ठंडी वस्तु के साथ मली जाय, जिसका अपने आप श्वास पर कोई प्रभाव न पड़ता हो, तो समय पाकर वह प्रभावहीन दूसरी वस्तु भी अकेले मले जाने पर श्वास पर वैसा ही प्रभाव डालेगी। ठंडी वस्तु के संसर्ग से बाद में स्नायुओं पर उस दूसरी वस्तु का भी वही प्रभाव पड़ेगा। यह प्रतिक्रिया स्वभाविक न होकर संसर्ग से उत्पन्न हुई। बेख्तेरेफ और उसके शिष्य इन संसर्गजात प्रतिक्रियाओं के संबन्ध में पशुओं और विकृत मस्तिष्क के मनुष्यों पर काफी दिनों तक धैर्य के साथ प्रयोग करते रहे, जिससे कि आधुनिक मनोविज्ञान में वे अपनी खोज का समावेश कर सकें। बेख्तेरेफ ने खुलकर आत्मचिंतन पर निर्भर पुरानी मनोविज्ञान-प्रणाली का विरोध नहीं किया, परंतु उसका विचार था कि पुराने पारिभाषिक शब्दों को लिये बिना भी वह अपनी नवीन वैज्ञानिक शब्दावली द्वारा मनोविज्ञान की सभी सूक्ष्म और स्थूल बातों को व्यक्त कर सकता है। पोफोलोफ पहले हाजमे के संबन्ध में कुछ खोज कर रहा था और इस खोज के सिलसिले में ही वह संसर्गजात प्रतिक्रियाओं तक पहुँच गया था। किस तरह वह उक्त विषय तक पहुँचा और उसने किन नई बातों का अनुसंधान किया, इसका हाल सुनिए।

आपने देखा कि पोफोलोफ के प्रयोगों का क्षेत्र वास्तव में प्राणि-विज्ञान था। फिर भी उसके प्रयोगों और खोज ने आचरणवादी मनोविज्ञान पर काफी प्रभाव डाला है। पोफोलोफ हाजमे के सम्बन्ध में कुछ खोज कर रहा था और इसी सिलसिले में वह संसर्गजात प्रतिक्रियाओं तक पहुँच गया था। वह उस समय एक कुत्ते पर प्रयोग कर रहा था। अन्य पशुओं की अपेक्षा कुत्ते पर प्रयोग करने से जो फल निकलेगा, वह मनुष्य पर लागू होगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क बहुत-कुछ कुत्ते-जैसा ही बना है। पोफोलोफ ने अस्त्र-चिकित्सा द्वारा लार के निकलने का स्थान कुत्ते के गाल में कर लिया था। अब लार मुँह की राह न आकर सीधे अपने केन्द्र से टपक पड़ती। यह उसने इसलिए किया था कि वह देख सके कि बाहरी प्रभाव से किस प्रकार लार गिर या रुक सकती है। भोजन की तश्तरी सामने देखकर या भोजन लानेवाले को देखकर अथवा उसकी पद-चाप ही सुनकर कुत्ते की लार गिरने लगती। पोफोलोफ अपने पहले प्रयोगों में देख चुका था कि लार का आना या रुकना बहुत-कुछ भोजन के ऊपर निर्भर था। भोजन रूखा होता तो लार अधिक निकलती या भोजन गीला होता तो लार कम निकलती। इससे यह मालूम हुआ कि शरीर यंत्र परिस्थिति के अनुसार परि-चालित होता है। परन्तु अभी तक शारीरिक क्रियाओं का मस्तिष्क से कोई संबंध स्थापित नहीं हुआ था। मुँह में जब भोजन गया, तब उससे स्वाद-इन्द्रियों में प्रतिक्रिया हुई और इस तरह लार बनी। परन्तु जब कुत्ते ने केवल भोजन से सम्बन्धित वस्तुओं को देखकर लार गिराना आरंभ कर दिया, तब कहना चाहिए कि शारीरिक प्रतिक्रियाओं में मस्तिष्क का भी कोई स्थान है। शारीरिक प्रतिक्रिया—जैसे लार बहना—के लिए स्वाभाविक यह है कि प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेवाली वस्तु का शरीर से स्थूल सम्बन्ध हो; परंतु जब वह बिना इस स्थूल सम्बन्ध के केवल उन वस्तुओं के देखने या सुनने मात्र से, जिनका प्रतिक्रियाजनक वस्तु से संसर्ग है, उत्पन्न हो जाती है तो हम उस प्रतिक्रिया को संसर्गजात कहेंगे। पोफोलोफ अब खोज करने लगा कि इन मनोविकारों का शारीरिक क्रियाओं से ठीक-ठीक क्या संबंध है; केवल मनोविकार शारीरिक क्रियाओं को कैसे जन्म दे सकते हैं? क्या मनुष्य भी अपने आपको इसी प्रकार परिस्थिति के अनुकूल बनाता है और परिस्थिति उसके भीतर विशेष प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न करती है? पोफोलोफ मनोवैज्ञानिक तो था नहीं, अतएव उसने अपने जीव-विज्ञान की प्रणाली पर ही प्रयोग करने आरंभ किये।

महान् रूसी वैज्ञानिक पोफोलोफ जिसकी प्राणि-विज्ञान संबंधी खोजों ने अमेरिकन 'आचरणवाद' के सिद्धान्त पर भारी प्रभाव डालकर उसे दृढ़ भित्ति प्रदान कर दी।

प्रतिक्रियाजनक वस्तु के बदले उसके संसर्ग में आई अन्य वस्तुएँ कहाँ तक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, पहले वह इसी की जाँच करने लगा। तश्तरी और भोजन लानेवाले व्यक्ति का भोजन से निकट का संबंध है। पोफोलोफ ने कमरे में एक प्रकार का वाद्ययंत्र रखा, जो भोजन देने के पहले एक मिनट तक शब्द करता था। कुछ बार ऐसा करने का फल यह हुआ कि वाद्ययंत्र एक मिनट तक बज भी न पाता कि भोजन की आशा से कुत्ते की लार गिरने लगती। इसके बाद यह किया गया कि नियत समय तक वाद्ययंत्र को बजाकर भोजन न दिया गया। इससे पहले तो लार बही, परंतु कुछ प्रयोगों के पश्चात् कुत्ता समझ गया कि अब भोजन नहीं मिलने का और उसकी लार आना भी कम हो गई। धीरे-धीरे लार बिलकुल बन्द हो गई। भोजन के संसर्ग से वाद्ययंत्र के शब्द में कुत्ते के लिए जो गुण उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया। पोफोलोफ ने यह भी देखा कि यदि पहले दिन वाद्ययंत्र का शब्द सुनकर

संसर्गजात प्रतिक्रिया निश्चित हो गई, तो दूसरे दिन तक उस का वैसा ही प्रभाव न बना रहा। वरन् दूसरे दिन जब वाद्ययंत्र बजा, तो कुत्ते के भीतर कोई भी प्रतिक्रिया न उत्पन्न हुई। परंतु यदि प्रत्येक बार वाद्ययंत्र का शब्द करने पर उसे भोजन दिया गया, तो उससे फिर वही संसर्ग स्थापित हो गया। विशेष बात यह हुई कि संसर्ग स्थापित करने के लिए अबकी पहले की अपेक्षा कम समय लगा। इस प्रयोग के लगातार दोहराने का परिणाम यह हुआ कि संसर्ग उत्पन्न करने के लिए कुछ भी समय न लगता। इसी भाँति एक बार संसर्ग स्थापित हो जाने पर जब निषेधात्मक प्रयोग किया जाता, अर्थात् वाद्ययंत्र बजाकर भोजन न दिया जाता, तो पहले के संसर्ग को मिटाने में काफी समय लगता। एक दिन संसर्ग के मिट जाने पर वह फिर दूसरे दिन प्रकट हो जाता। परन्तु बराबर कई दिन तक यदि वह निषेधात्मक प्रयोग किया जाता, तो संसर्गजात प्रतिक्रिया बिलकुल ही बन्द हो जाती और कुत्ते की लार वाद्ययंत्र के बजने पर भी न निकलती।

संसर्गजात प्रतिक्रिया की स्थापना और निषेध—दोनों एक-दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि पोफोलोफ ने निश्चित किया कि शारीरिक क्रियाएँ दोनों बार एक ही होती हैं। अंतर केवल इतना होता है कि पहली बार "संसर्ग" स्थापित किया जाता है, दूसरी बार उसका "निषेध"। पोफोलोफ ने अपने प्रयोगों को और विस्तार देते हुए देखा कि प्रतिक्रियाजनक वस्तु से मिलती-जुलती अन्य वस्तु के होते हुए कुत्ता दोनों के भेद को भी पहचान सकता है। मान लीजिए वाद्ययंत्र से षड्ज पर एक शब्द किया गया और कुत्ते को भोजन दिया गया। दूसरी बार पंचम पर शब्द किया गया; कुत्ते ने इस बार भी लार गिराई, परन्तु उसे भोजन नहीं दिया गया। ऐसा अनेक बार करने पर पोफोलोफ ने देखा कि षड्ज पर शब्द करने पर ही कुत्ता लार गिराता है; पंचम पर शब्द करने से उसके भीतर वैसी कोई संसर्गजात प्रतिक्रिया नहीं होती। इसके बाद स्वर को पंचम से उतारते हुए वह षड्ज की तरफ आए। देखना यह था कि कुत्ता कितना सूक्ष्म भेद जान सकता है। पंचम से पहले तीव्र मध्यम तक आए, फिर मध्यम तक। और षड्ज के अत्यंत निकट के स्वर, कोमल ऋषभ, तक आने में कई महीने लग गये, परंतु प्रयोग करनेवालों का कहना था कि कुछ कुत्ते इस भेद को ग्रहण कर सकते हैं।

अपने प्रयोगों से पोफोलोफ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मस्तिष्क में ऐसे विश्लेषक स्नायु रहते हैं, जो शरीर के चारों ओर होनेवाली हलचल से अपने काम की विशेष प्रतिक्रियाएँ ही ग्रहण करते हैं। जहाँ तक मनुष्य के आचरण की बात है, वह उसकी एकत्र संसर्गजात प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इस संसर्ग का नियमन उस तत्व से होता है, जिससे कि मस्तिष्क बना हुआ है। प्रमाण यह है कि पशु-मस्तिष्क के इस तत्व पर आघात होने से फिर वह पशु संसर्गजात प्रतिक्रियाएँ ग्रहण नहीं करता। निद्रा में भी ऐसा संसर्ग नहीं स्थापित हो सकता, जिससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्क के इस भाग की क्रिया उक्त प्रतिक्रियाओं के लिए अनिवार्य है। पोफोलोफ मनोवैज्ञानिक नहीं था, परन्तु उसने मनोवैज्ञानिकों से पूछा कि वे उसकी खोजों को किन पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त करेंगे। पुराने मनोवैज्ञानिकों के पास पुरानी शब्दावली ही थी, जिसे पोफोलोफ ने अपनी नवीन प्रयोग-सिद्ध खोजों के लिए अपर्याप्त समझा। अतएव उसने घोषणा की कि आचरण को समझने के लिए प्राणि-विज्ञान जानना आवश्यक है। जब उसे अमेरिका के डॉक्टर थॉर्नडाइक के प्रयोगों का पता चला तो उसने थॉर्नडाइक की खोजों का स्वागत किया, क्योंकि इससे उसके पक्ष की पुष्टि होती थी। परंतु अमेरिका में पोफोलोफ का स्वागत धीरे-धीरे हुआ। वाटसन ने पहले उसके प्रयोगों का उल्लेख करते हुए कहा कि उनसे मनोविज्ञान की छानबीन में सहायता मिल सकती है, परंतु मनोवैज्ञानिक खोज की अन्य प्रणालियों की तुलना में वे तुच्छ ठहरते हैं। क्रमशः उसने कहा कि पुरानी प्रणालियों को छोड़कर पोफोलोफ की प्रयोगशैली को ही ग्रहण करना चाहिए। उसने स्वयं उसे अपनाया और कहा कि अँधेरे में कब्रिस्तान में या ऐसी जगहों में जो भय की भावना उत्पन्न होती है, वह एक संसर्गजात प्रतिक्रिया है। स्मिथ- गुथरी आदि अन्य आचरणवादियों ने भी स्वीकार किया कि मनुष्य का सभी आचरण संसर्गजात प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है।

आचरणवाद के संबंध में अब भी बहुत-सा वादविवाद प्रचलित है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पुराने मनोविज्ञान में अब आगे बढ़ने की सामर्थ्य न थी और उसे गति देने के लिए एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। संभव है, आचरणवादी अपने प्रयोगों से जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, वे सभी ठीक न हों, परन्तु उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने मनोविज्ञान को तर्क-वितर्क की भूमि से हटाकर पुष्ट वैज्ञानिक प्रयोग की भित्ति पर स्थापित किया है। ये प्रयोग आगे चलकर अन्य गुत्थियों को सुलझाने में सफल होंगे, इसकी पूर्ण आशा की जा सकती है।

सभ्यताओं का उदय—(३)

प्राचीन मिस्र की सभ्यता

भारतवर्ष को सिन्धु और गंगा तथा मसोपटेमिया को दजला और फरात नदियों की भाँति मिस्र को नील नदी की उपत्यका में भी आज से पाँच-छः हजार वर्ष पूर्व एक महान् सभ्यता का उद्भव एवं विकास हुआ था, जिसके असाधारण वैभव का अनुमान आज भी विद्यमान उसके अनेक भव्य स्मारकों द्वारा किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रकरण में उसी का परिचय दिया जा रहा है।

सिन्धु और गंगा ने भारत की तथा दजला और फरात नदियों ने मसोपटेमिया की सभ्यता के विकास में जितना भाग लिया है, उससे भी अधिक नील नदी ने मिस्र देश की सभ्यता पर प्रभाव डाला है। वस्तुतः नील नदी के बिना वहाँ सभ्यता की कल्पना तक नहीं की जा सकती। वहाँ का जीवन और सभ्यता नील नदी का ही प्रसाद है। उसकी बाढ़ से और जल से मिली हुई मिट्टी से उसके दोनों तट उपजाऊ हो गए, वरना वहाँ रेगिस्तान ही दिखाई देता। उसी की सहायता से लोग मिस्र के विभिन्न स्थानों में आ जा सकते थे। उसी के दोनों तटों पर मिस्र के इतिहास का निर्माण हुआ है। कोई आश्चर्य नहीं कि मिस्र-निवासी नील नदी को देवता मानकर उसकी स्तुति किया करते थे।

पुरातत्त्ववेत्ताओं ने, विशेषतया मॉर्गन ने, यह पता लगाया है कि अन्य देशों की तरह मिस्र में भी पुराने और नए पत्थर के युग थे, जिनका समय ईसा के दस हजार से चार हजार वर्ष पूर्व तक रहा। इस भूभाग के पत्थर के औजार संसार के अन्य देशों के पत्थर-युग के औजारों से बनावट, सफाई और तीक्ष्णता में बढ़कर हैं। उस समय के लोगों ने जंगल साफ करके, दलदलों को दूर करके खेती करना आरंभ कर दिया था। वे नाव बनाना, अनाज पीसना, मिट्टी के अच्छे बरतन बनाना, कपड़े और दरी बुनना और तस्वीर बनाना जानते थे। वे जानवर पालते थे। उन्हें सुगंधिद्रव्य बनाने और रत्नों का ज्ञान था। वे बाल कटवाते थे। उनको चित्र-लेख अंकित करना आता था। पत्थर-युग के अन्त में उनको धातुओं का भी ज्ञान हो चला था। कुछ लोगों का अनुमान है कि लेखन-कला का आविष्कार मिस्र देश में ही हुआ है। यह तो सब मालूम हुआ, किन्तु यह ठीक पता नहीं कि वहाँ के आदिम निवासी कौन और किस जाति के लोग थे। यह अनुमान किया गया है कि वे लोग किसी एक जाति के न थे। उनका समाज न्यूबिया, लीबिया और ईथोपिया के काले लोगों एवं सेमेटिक और आर्मिनाइड लोगों के मिश्रण से बना था।

मिस्र का ऐतिहासिक काल-निर्णय

मिस्र के ऐतिहासिक काल का आरम्भ वस्तुतः ईसा के ३४०० वर्ष पूर्व अर्थात् अबसे लगभग ५४०० वर्ष पहले होता है। वहाँ के इतिहास को विद्वानों ने कई भागों में विभक्त किया है। पहला भाग ३४०० से २१६० ई० पू० तक रहा। उसे 'पुरातन राज्य' कहते हैं। उसके बाद 'माध्यमिक राज्य' अथवा 'सामन्त-सत्ताकाल' आरम्भ हुआ, जो २१६० से १५८० ई० पू० तक रहा। तीसरा काल, जिसे 'नया राज्यकाल' अथवा 'साम्राज्यकाल' कहते हैं, १५८० से ९४५ ई० पू० तक रहा। इस के बाद मिस्र के दुर्दिन आ गए। उस पर आक्रमण होने लगे। ईसा के पूर्व की छठी शताब्दी में फारस ने मिस्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया और ३३२ ई० पू० यूनान के प्रख्यात विजेता अलेक्जाण्डर (सिकन्दर) ने सदा के लिए मिस्र की स्वाधीनता का अन्त

कर दिया। ऐतिहासिक काल में मिस्र में इकतीस राजवंशों ने राज्य किया, जिनमें चौथा, बारहवाँ और अठारहवाँ विशेष रूप से प्रख्यात हुआ।

पुरातन राज्यकाल
(३४००-२१६० ई० पू०)

इस युग का आरम्भ उस समय हुआ जब कि 'मीनीज' नामक एक व्यक्ति ने, जो नील नदी के दक्षिणी भाग में राज्य करता था, नील के उत्तरी भाग को जीतकर सम्पूर्ण तलहटी में एक राज्य स्थापित कर दिया। उसके पहले अनेक छोटे-छोटे जमींदारों ने मिलकर एक राज्य नील के उत्तर में और एक दक्षिण में बना लिया था। मीनीज ने उन कानूनों को प्रचलित किया, जो उसे "थोथ" नाम के देवता से मिले थे। उसने लोगों को मेज और तख्त का प्रयोग सिखलाया। उसने अपनी राजधानी 'मेम्फिस' नगर में स्थापित की। इस समय का दूसरा प्रसिद्ध राजा जोसीर (३१५० ई० पू०) हुआ, जिसे मिस्र के लोग देवता की तरह मानते थे। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उसने ही पहलेपहल वैद्यक, विज्ञान, कला और स्थापत्य-विद्या का प्रचार मिस्र में किया। कहते हैं कि इसी के समय से वहाँ पत्थर के मकान बनना शुरू हुए। इस युग में दस वंशों ने राज्य किया। जब जोसीर मरा, तब 'सक्कर' में उसकी कब्र के ऊपर पटरीदार या सीढ़ीदार पत्थर का एक पिरामिड बनाया गया, जिसे देखकर बाद को बड़े विशाल पिरामिडों की रचना की गई। इसी के समय में संसार में सबसे पुराना पत्थर का मकान भी बनाया गया था। इस युग में सुन्दर तराशदार पत्थर के खंभे, उभरी नक्काशी का काम, ग्लेजदार रंगीन मिट्टी की चीजें बनाई जाने लगी थीं। कहते हैं कि इस युग का संसार को ज्ञात सबसे प्राचीन प्रस्तर-स्थपित 'इमहोतेप' था। वह ऊँचे दर्जे का हकीम और राजनीतिज्ञ भी था। इन्हीं गुणों के कारण वह राजमंत्री हो गया था। उसी ने उस काल की पत्थर की इमारतें बनाई थीं।

चतुर्थ राजवंश
(३०००-२५०० ई० पू०)

जोसीर के सौ वर्ष बाद मिस्र के चौथे राजवंश का प्रभुत्व आरम्भ हुआ। इस समय तक मिस्रवासियों ने स्थापत्य-कला और कारीगरी में ऐसी उन्नति कर ली थी, जितनी उन्नीसवीं सदी को छोड़कर संसार की किसी भी एक शताब्दी में कहीं भी नहीं हुई। खनिज-विद्या की उन्नति एवं मिस्र का बढ़ता हुआ व्यापार इस अपूर्व उन्नति के कारण माने जाते हैं। इस वंश का पहला राजा 'खूफू' नाम का था, जिसका ग्रीसवालों ने 'खीऑप्स' के नाम से उल्लेख किया है। उसके समय में मिस्र समृद्धिशाली देश हो गया था। खूफू अभिमानी और उग्र स्वभाववाला था। उसने एक लाख मजदूर लगाकर बीस वर्ष में 'गीजे' में सबसे पहला पिरामिड बनवाया। यूनानी लेखक हेरोडोटस के अनुसार कुछ लोगों ने उसे अत्याचारी माना है। इन लोगों के अनुसार गुलामों से जबरन काम लेकर उसने पिरामिड बनवाया था। किन्तु कुछ विद्वान् कहते हैं कि बेकारी के समय में अथवा नील में बाढ़ आने से पीड़ित किसानों और जनता को काम और दाम देकर उसने उनकी रक्षा की थी। अतएव उसे प्रजापालक समझना चाहिए। उसका उत्तराधिकारी

गीजे के सुप्रसिद्ध पिरामिड। यह फोटो इन पिरामिडों के दक्षिण-पश्चिम में स्थित रेगिस्तान से लिया गया है। इनमें बाईं ओर से पहला (खैफरे के उत्तराधिकारी) मेनकुरे का पिरामिड है, दूसरा खैफरे का पिरामिड है और तीसरा खूफू का पिरामिड है।

'खेफरे' हुआ, जिसने ५६ वर्ष तक संतोषजनक शासन किया। उसके बाद वंश का पतन होने लगा।

गीजे का महान् पिरामिड तेरह एकड़ जमीन पर बना है। उसकी ऊँचाई ४८१ फीट, लंबाई ७५५ फीट और चौड़ाई भी उतनी ही है। यह इमारत पत्थरों का एक ठोस त्रिकोण है। उसके बनाने में तेईस लाख या पच्चीस लाख पत्थर लगे होंगे। प्रत्येक पत्थर का वजन लगभग ढाई टन* है, किन्तु कुछ पत्थरों का वजन तो डेढ़ सौ टन (४२०० मन) तक है! इतने भारी-भारी पत्थरों को काटकर अरब आदि दूर-दूर के प्रदेशों से लाने और उतनी ऊँचाई तक चढ़ाने, साथ ही एक लाख मजदूरों के रहने, खाने-पीने आदि का प्रबन्ध करने में जो कठिनाई और समस्याएँ पैदा हुई होंगी, उनका अनुमान किया जा सकता है। उनको सुलझाकर इस कार्य को सफल बनाना प्राचीन इतिहास की एक महत्वपूर्ण कृति है। मिस्र में इंजीनियरिंग ग्रीस और रोम से अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। वैसी इंजीनियरिंग योरप में उन्नीसवीं शताब्दी तक भी विकसित नहीं हुई।

उन्नत जीवन

गीजे के पिरामिडों के आसपास राजमहल, कचहरियाँ, बाग आदि बनने लगे और धीरे-धीरे वहाँ "मेम्फिस" नाम का एक सुन्दर नगर निर्मित हो गया। यहीं चतुर्थ वंश की राजधानी स्थापित हो गई। इस नगर की इमारतें पत्थर की नहीं, बल्कि कच्ची ईंट और लकड़ी की बनी थीं। रईस लोगों के मकानों के चारों ओर बाग लगाया जाता था। उनको कमल के फूलों का बड़ा शौक था। बागों के तालाबों में कमल के फूल लहलहाया करते थे। उनमें बाल-बच्चे खेला करते थे और पुरुष आमोद-प्रमोद करते, जुआ खेलते तथा स्त्रियाँ नाचा-गाया करती थीं। नगर में अच्छे-अच्छे कारीगर बसते थे। लकड़ी का और सुनारी का काम ऐसा सुन्दर होता था कि जिसका मुकाबला आज के दिन भी करना कठिन है। चतुर कुम्हार, शिल्पकार, शीशे की चीजें बनानेवाले, ताँबे और काँसे की चीजें बनानेवाले, बारीक कपड़े बिननेवाले, रँगरेज, छीपी, फर्दसाज, संगतराश, जौहरी, चित्रकार, कागज बनानेवाले, सभी वहाँ बसते थे। स्मरण रखना चाहिए कि मिस्र में शीशा और बादामी कागज बनाने की कला और बिनाई में बड़ी उन्नति हुई थी। कहते हैं कि वहाँ ही सबसे पहले शीशे का बनना आरम्भ हुआ था। मेम्फिस नगर की समृद्धि कृषि और व्यापार पर अवलम्बित थी। मिस्रवासी छोटी-बड़ी नावों और बजरों द्वारा नदियों और मेडिटरेनियन (भूमध्यसागर) में व्यापार करते थे। स्थल-मार्ग से व्यापार गधों के द्वारा होता था, क्योंकि वहाँ के लोगों को घोड़ों का परिचय न था। इस समय वहाँ सिक्के का चलन शुरू नहीं हुआ था और व्यापार साधारणतया विनिमय द्वारा होता था। मालगुजारी भी जिन्स में दी जाती थी। केवल राजा और रईस सोने अथवा ताँबे के वजनी छल्लों का प्रयोग सिक्कों की तरह करते थे।

'कैरो म्यूजियम' में सुरक्षित खेफरे की मूर्ति।

पिरामिड-काल में मिस्र का समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था। एक श्रेणी तो दासों की थी, जो दूसरों की जमीन पर काम करते थे। दूसरी श्रेणी में स्वतंत्र जनता थी, जो

* एक टन का वजन लगभग २८ मन होता है।

कृषि और उद्योग-धन्धों से अपना निर्वाह करती थी। प्रत्येक पेशे के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी काम को करते थे, जिससे कि हर एक पेशे की बिरादरी या जाति बन गई थी, जैसी कि हमारे देश में है। हर पेशे के लोगों का एक नायक होता था, जो सबसे काम लेता और उनको मजदूरी देता था। मजदूरी में अधिक विलम्ब होने अथवा ज्यादती करने पर कारीगर हड़ताल कर देते थे और कभी-कभी तो उपद्रव मचाते और आक्रमण कर बैठते थे। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के लोगों के पास अपनी जमीन नहीं थी। इनके ऊपर जमींदार और सरकारी बड़े उच्च पदाधिकारी थे। सबसे ऊँचा स्थान 'फेरो' अर्थात् राजा या सम्राट् का था। सम्राट् ही कुल जमीन का मालिक माना जाता था।

पाँचवाँ वंश (२६६५-२८२५ ई० पू०) और छठा वंश (२८२५-२६३० ई० पू०)

चौथे राजवंश के बाद पाँचवें राजवंश का आरम्भ हुआ। इस वंश के तेरह राजाओं के नाम मिलते हैं, किन्तु सम्भवतः नौ राजाओं ने ही राज्यासन ग्रहण किया। इस समय के इतिहास का अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। किन्तु एक बड़े महत्व की वस्तु उस समय का एक 'पेपाइरस' अर्थात् कागज की लपेटी हुई कुण्डली-सी है, जिसमें पाँचवें वंश के सम्राट् तत्-का-राअसा के समय की घटनाओं का उल्लेख है। कहा जाता है कि यही संसार का सबसे पुराना लेख है।

पाँचवें वंश की मुख्य विशेषता मिस्र में उत्तर के सूर्य देवता 'रा' की पूजा की पुनः स्थापना और प्रचार होना है। इसके पहले वहाँ दक्षिण के आकाश-देवता 'होरस' की पूजा होती थी। कहा जाता है कि इसी काल से मिस्र में 'पुरोहित' श्रेणी का प्रारम्भ हुआ। इसके पहले पुरोहितों की कोई पृथक् श्रेणी नहीं थी। इसी प्रकार पैतृक या पुश्तैनी पदाधिकारियों का भी आरम्भ हो गया। इसके पहले वहाँ राज्य के बड़े-बड़े पद राजा के वंशजों को ही मिलते थे। किन्तु इस समय से उच्च पद पुश्तैनी हो गए। इनको जो अधिकार और भूमि मिली थी, वह छठे राजवंश के समय तक इनके वंश में पुश्तैनी हो गई।

छठे वंश में "पेपी" द्वितीय नाम का पराक्रमी राजा हुआ। इसके समय (२७३८ से २६४४ ई० पू०) से यह प्रथा चली कि प्रत्येक राजा अपने समय में ऐसे मन्दिरों का निर्माण कराए, जो भविष्य में उसके महत्व के साक्षी हो सकें। स्वयं पेपी ने लाल पत्थर के मन्दिर बनवाए। इस पत्थर के लिए उसे 'असवान' पर दो बार आक्रमण भी करना पड़ा। कहा

छठे राजवंश के प्रतापी सम्राट् पेपी द्वितीय की प्रतिमा यह प्रतिमा पूरे मनुष्य के आकार की है और ताँबे की चादर की बनी है। पीछे की ओर जो एक और छोटी प्रतिमा है, वह पेपी के पुत्र की है। पेपी के समय से मिस्र में सम्राटों द्वारा भव्य देवालय बनवाने की प्रथा पड़ी।

जाता है कि 'स्वेज' की ओर भी उसने चढ़ाई की थी। अपने राजत्व-काल में पेपी द्वितीय ने पाँच नहरें खुदवाई, जिनका उद्देश्य असवान से पत्थर लाना था। यद्यपि पेपी के समय में राज्यकोष और राज्य की वृद्धि हुई एवं उसे योग्य मंत्री भी मिले और उसका राज्य-काल लगभग ६४ वर्ष तक रहा, किन्तु राज्य के अस्त-व्यस्त होने के लक्षण उसके राज्य-काल के अन्त तक साफ दिखलाई पड़ने लगे। उसके मरते ही उसका राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्थानिक जमींदार, सरदार और राजवंश स्वतन्त्र बन बैठे। मेम्फिस नगर का महत्व भी उसके साथ-साथ नष्ट हो गया। ऐसी परिस्थित में 'सीरिया' वालों ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। यह भी कहा जाता है कि न्यूबिया के 'नीग्रो' लोगों ने भी उस पर चढ़ाई कर दी। परिणाम यह हुआ कि पुराने राजवंशों और उनके ऐश्वर्य का अन्त हो गया।

माध्यमिक राज्य-काल

ग्यारहवाँ राज्य-वंश (२३७५ से २२१२ या २१६० से २००० ई० पू०)

करीब तीन सौ वर्ष तक मिस्र का इतिहास अन्धकारपूर्ण और संभवतः अशान्तिपूर्ण रहा। छोटी-छोटी रियासतों के आपस के बैर और विदेशियों से आक्रमण से मिस्र अव्यवस्थित हो गया। किन्तु उसका उद्धार करनेवाली एक नई शक्ति देश के मध्य भाग में पैदा हो गई। यह थीबिया का "अन्तेफाँ" वंश था, जिसकी राजधानी 'थेबीज' में थी। इस वंश का सबसे बड़ा राजा नेभपेत्रे (२२६०-२२४२ ? ई० पू०) हुआ, जिसने जमींदारों पर अपना प्रभुत्व जमाकर मिस्र में फिर एक राज्य स्थापित कर दिया। किन्तु उसने उनको न तो नष्ट किया और न उनके स्थानिक अधिकारों को ही उनसे छीना। यही नहीं, उसने विदेशी आक्रमणकारियों से भी अनेक युद्ध किए। एक सौ साठ वर्ष तक राज्य करके यह वंश भी समाप्त हो गया, किन्तु इसने मिस्र के उत्थान के लिए रङ्गमञ्च तैयार कर दिया।

(बारहवाँ वंश २००० से १७८८ ई० पू०)

मिस्र के इतिहास में सबसे महत्व का वंश 'बारहवाँ वंश' माना जाता है। इसका सबसे पहला राजा "आमेनमहेत" प्रथम (२२१२-२१८२ या १५५७-१५४१ ई० पू०)हुआ, जो या तो ग्यारहवें वंश की किसी शाखा से उत्पन्न हुआ था या उसके अन्तिम राजा का मन्त्री था। इसी के समय में नए वंश की राजधानी 'इत्थतोई' की बड़ी उन्नति हुई और 'लक्सर' के प्रसिद्ध देवालयों का निर्माण आरम्भ हुआ। इसी ने 'आमोन' देवता की पूजा का प्रचार किया, जो कुछ समय के बाद 'रा' से संयुक्त होकर 'आमोन-रा' के नाम से मिस्र का प्रमुख देवाधिदेव प्रख्यात हो गया। इसने राजा और युवराज के मिलकर शासन करने की परिपाटी चलाई, जिससे वयस्क और युवक के सहयोग से शासन में स्फूर्ति रहे तथा राज्याभिषेक में भी कम कठिनाई पड़े। कहा जाता है कि मिस्र का यही पहला राजा था, जिसने प्रजापालन और राष्ट्रसेवा को ही राजा का परम कर्त्तव्य निश्चित किया था। वह निरन्तर राज्य का दौरा करता रहा और अराजकता एवं देशद्रोहियों का दमन करता रहा। इसी की नीति का अनुकरण करके उसके प्रतापी उत्तराधिकारियों ने जमींदारी वंश का विनाश कर दिया और राजाश्रित नए राज्य-पदाधिकारियों का वर्ग तैयार कर दिया।

सेनूस्रेत तृतीय

इस वंश के राजाओं में दो विशेषतया उल्लेखनीय हैं। एक "सेनूस्रेत" तृतीय और दूसरा "आमेनेमहेत" तृतीय। 'सेनूस्रेत' तृतीय (२०९९-२०६१ या १८८७-१८४९ ई० पू०) ने न्यूबिया पर चढ़ाई करके अपने राज्य की सीमा दूसरे प्रपात तक बढ़ा दी। उसने पेलेस्टाइन के दक्षिणी भाग में 'सेकमेम' पर भी चढ़ाई की, किन्तु उसका सबसे महत्व का कार्य स्थानिक जमींदारों और रजवाड़ों को निस्तेज और अशक्त करना था। उसका उत्तराधिकारी आमेनेमहेत तृतीय (२०६१-२०१३ या १८४९-१८०१ ई० पू०) हुआ। इसने राज्य की सीमा तृतीय प्रपात तक बढ़ाकर वहाँ किले बनवा दिए एवं बाँध बनाकर मोइरिस झील के पानी को नील नदी की ओर बहा दिया, जिससे एक बड़ा भूभाग जल से सिंचित और खेती से हरा-भरा हो गया। फैय्यूम में उसने प्रसिद्ध भूलभुलैयाँ और मनुष्य के चेहरे के सिंह बनवाए। सीनाई में याकूत और ताँबे की खानों से भी पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उसके समय में राजा की शक्ति पूर्णता पर पहुँच गई और शासन का कार्य जमींदारों के हाथ से राजकर्मचारियों के हाथ में चला गया।

किन्तु इसके बढ़ते हुए वैभव में क्रूर काल का विनाशकारी विधान छिपा हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद राज्य की दशा बिगड़ने लगी और १८०० या १७८८ ई० पू० 'हिक्सोस' नामक सेमेटिक भाषा-भाषी वंश ने अरब की मरुभूमि से बढ़कर मिस्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मिस्र में विदेशियों का ऐसा प्रबल और इतने काल तक अधिकार

पहले कभी नहीं हुआ था। उनकी विजय का मुख्य कारण उनके युद्ध के साधन थे। उनके पास घोड़े थे, जिनको वे पहियोंवाले रथों में जोतकर चलाते थे। मिस्रवालों को न तो घोड़ों और न पहियावाले रथों का ही ज्ञान था। इसके अलावा आक्रमणकारियों के पास काँसे के हथियार, विशेषतः तलवार थी, जिसके मुकावले का कोई अस्त्र मिस्रवालों के पास न था, क्योंकि वे काँसे का प्रयोग जानते ही नहीं थे। जान पड़ता है कि मिस्र के अधिकारच्युत जमींदारों और असन्तुष्ट प्रजा ने राजाओं का साथ न दिया, जिससे आक्रमणकारियों का काम सुलभ हो गया। "हिक्सोस" वंश के उत्थान के साथ-ही-साथ मिस्र के माध्यमिक काल का अन्त माना जाता है।

नया राज्य-काल

(१५८०-९४५ ई० पू०)

यद्यपि मिस्र के दक्षिणी भाग में वहाँ के ही राजा राज्य करते रहे, किन्तु हिक्सोस लोगों के प्रताप के सामने वे निस्तेज और नगण्य-से रहे। दो सौ आठ वर्ष तक हिक्सोस वंश का ही दौरदौरा रहा। किन्तु यह व्यवस्था ई० पू० की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से वदलने लगी। थेवीज के एक राजकुमार 'सेकेनेनरे' प्रथम ने हिक्सोस लोगों के विरोध का आरम्भ किया, जो दिनोंदिन बल पकड़ता गया। उसका एक उत्तराधिकारी 'सेकेनेनरे' तृतीय सम्भवतः इन्हीं विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ (१५६० ई० पू०)।

सेकेनेनरे तृतीय का एक पुत्र 'आहमीज' बड़ा योद्धा निकला। उसने अपने पिता का संकल्प पूर्ण किया और हिक्सोस लोगों की राजधानी 'अवरिस' को छीनकर उन्हें मिस्र से निकाल दिया। इसी वीर नवयुवक ने १५७८ ई० पू० राजसिंहासन पर बैठकर मिस्र के इतिहासप्रसिद्ध अठारहवें राज्य-वंश की प्रतिष्ठा की, जिसमें आगे चलकर अनेक प्रतापी राजा पैदा हुए। यही नहीं, दक्षिण के विद्रोहियों और न्यूवियन लोगों का दमन करके उसने मिस्र को फिर एकता के सूत्र में बाँध दिया।

यह भग्न प्रस्तर-मूर्ति सेनूस्रेत तृतीय की प्रतिमा बताई जाती है, जो बारहवें राज्यवंश का सबसे प्रतापी राजा था।

अठारहवाँ राजवंश

(१५६०-१५३० ई० पू०)

'आहमीज' के बढ़ते हुए प्रताप के आगे मिस्र के जमींदारों और प्रबल राजकर्मचारियों का सितारा फिर डूब गया। उसने उनकी पैतृक भूमि छीनकर अपने शासन में ले ली। इसके समय में सामन्तों का अन्त हो गया और सारी भूमि राज्य-शासन में आ गई। अपनी विजयों से उत्साहित होकर उसने सीरिया और पैलेस्टाइन पर चढ़ाइयाँ आरम्भ कर दीं। देश में विजयाकांक्षा की ऐसी उत्तेजक लहर उठी कि मध्य श्रेणी के लोग भी हथियार बाँधकर सैनिक हो गए। उसने उनको उदारता के साथ पुरस्कृत करके उनके उत्साह को दृढ़ और संवर्द्धित कर दिया। मिस्र में घोड़े, रथ और नए अस्त्रों से सज्जित नए ढंग की स्थायी सेना की स्थापना हो गई। इस सेना से मिस्र में दिग्विजय की अभिलाषा और नए युग का आरम्भ हो गया। आहमीज ने बड़े परिश्रम के साथ अपने सुयोग्य मन्त्री की सहायता से नवआदर्शों के अनुकूल राज्य और शासन का संगठन किया। समाज में राजकर्मचारियों की वृद्धि होने लगी। मन्दिरों की सम्पत्ति और उनका महत्व बढ़ने के कारण "पुजारियों" के एक पृथक श्रेणीबद्ध दल का आविर्भाव हो गया, जो आगे चलकर प्रबल हो गया और राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया।

आहमीज की मृत्यु (१५५७ ई० पू०) के पश्चात् कई प्रतापी राजा हुए। आमेनहोतेप प्रथम (१५५७-१५४१ ई० पू०) ने न्यूविया के उत्तरी भाग को राज्य में मिला लिया। लीवियावालों को खदेड़कर उसने उनके प्रान्त पर चढ़ाई कर दी और कहा जाता है कि मसोपटेमिया की फरात नदी तक धावा किया। उसके उत्तराधिकारी 'थटमोज' प्रथम (१५४०-१५०१ ई० पू०) ने अपना राज्य नील के चौथे प्रपात तक बढ़ा दिया। एशिया के राज्य, जिन्हें उसके पूर्वजों ने करद बनाया था, ठीक तौर पर कर नहीं देते थे। अतएव वह सीरिया की ओर बढ़ा और फरात नदी के तट तक

जा पहुँचा। वहाँ उसे इतनी सफलता हुई कि वह प्रसन्नमन लौटा और थेबीज में आलीशान मन्दिरों की रचना में लग गया। मन्दिरों के लिए उसने बहुमूल्य सामग्री एकत्रित कर दी और उनके लिए जागीरें दे दीं। उसकी मृत्यु (१५०१ ई० पू०) के बाद उत्तराधिकारी पुत्र के अभाव में उसकी पुत्री 'हाशेपसुत' महारानी बनाई गई। वह बड़ी तेजस्विनी थी। यद्यपि उसका पति 'थटमोज' तृतीय स्वयं पराक्रमी और प्रतापी था, किन्तु महारानी के जीते जी तक उसकी कुछ चलने न पाई। सारा राज-काज महारानी ही करती रहीं। कहा जाता है कि ऐतिहासिक स्त्रियों में राज्य करनेवाली यही सबसे पहली महारानी हुई। यद्यपि उसने राज्य-विस्तार तो नहीं किया, किन्तु उसके गौरव की पूरी तरह रक्षा की। उसके शान्तिमय राजत्वकाल में मिस्र ने अच्छी उन्नति और समृद्धि प्राप्त की। उसने भी बड़े आलीशान मन्दिर निर्माण कराए। मिस्र-वाले उसे एक देवी का अवतार मानने लगे। १४७९ ई० पू० उसका देहान्त होने के बाद उसके पराक्रमी पति को स्वतंत्रता-पूर्वक अपने पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर मिला।

थटमोज तृतीय
(१४७९-१४४७ ई० पू०)

थटमोज तृतीय जैसा पराक्रमी और विजयी था, वैसा ही सेनानायक और राजनीतिज्ञ भी था। इतिहासज्ञ उसकी सेना-संचालन की विधि को सोचकर अचम्भे में आ जाते हैं, क्योंकि उसका ढंग वैज्ञानिक और ठीक आधुनिक युद्धकला के अनुरूप था। अपने शासन के पहले वर्ष में ही उसने 'मेगीडो' में सीरिया के संयुक्त बल का मुकाबला किया और घोर युद्ध के बाद प्रशंसनीय विजय प्राप्त की, जिससे अनेक राजा उसकी शरण में आ गए। इस विजय से प्रोत्साहित होकर उसने सात बार आक्रमण किया और प्रत्येक युद्ध में उसकी विजय हुई। इसी कारण उसे इतिहासकार 'मिस्र का नेपोलियन' कहते हैं। उसका आतंक ऐसा जम गया कि सीरिया, असीरिया, नहरैन, मिटानी, खेटा (हिटाइट), फोनीशिया, अलाशिया (साइप्रस ?) की रियासतें उसको कर देने लगीं। उसकी सेना फरात की तहलटी तक जा पहुँची। उसका जहाजी बेड़ा भूमध्यसागर में निर्द्वन्द्व विचरता फिरता था। चारों ओर से सम्पत्ति उठकर मिस्र में आने लगी, जिससे उसकी समृद्धि अभूतपूर्व हो गई। इस धन से मिस्र में बड़े-बड़े मन्दिर और स्मारक बनाए गए, जिनसे नील नदी के तट के कई नगर जगमगाने लगे। थटमोज जैसा विजेता था, वैसा ही शासक भी था। शासन के प्रत्येक विभाग और देश के समस्त जीवन पर उसने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। कहा जाता है कि वास्तविक अर्थ में वह सबसे पहला साम्राज्य-निर्माता और दिग्विजयी हुआ है। केन्द्रीय शासन के स्थानिक शासन पर आधिपत्य का विधान रचकर भविष्य को उसने नया मार्ग दिखाया। विजित प्रजा को स्वानुरक्त बनाने के लिए उसने सहानुभूति, न्याय, शान्ति और शिक्षा रूपी साधनों का प्रयोग किया।

थटमोज तृतीय, जो 'मिस्र का नेपोलियन' कहा जाता है। यह सुन्दर प्रस्तर-मूर्ति कैरो म्यूजियम में रक्खी है।

आमेनहोतेप तृतीय
(१४११-१३७५ ई० पू०)

मिस्र का साम्राज्य शक्ति के प्रयोग से बना था और उसी से उसकी रक्षा भी हो सकती थी। थटमोज के बाद उसके पुत्र और प्रपौत्र को बल का प्रयोग करना पड़ा, क्योंकि थटमोज के मरते ही सीरिया आदि में विद्रोह की आग भड़क उठी थी। इस विद्रोह का दमन ऐसी दृढ़ता के साथ किया गया कि "आमेनहोतेप" तृतीय को अपने छत्तीस वर्ष के राज्यकाल में फिर सीरिया की ओर जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। इस राजा के समय में मिस्र उन्नति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस समय को लोग 'मिस्र का स्वर्णयुग' मानते हैं। सम्पत्ति-शाली होने के कारण इस युग में मिस्र की कलाओं और

उद्योग-धंधों ने अभूतपूर्व उन्नति की। आमेनहोतेप तृतीय के पिता ने और स्वयं उसने भी मिटानी और बेबिलान के राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जिससे मिस्र के राजनीतिक प्रभाव और सभ्यता की यथेष्ट वृद्धि हुई।

इतने वर्षों तक शान्ति, वैभव, ऐश और आराम में रहने के कारण मिस्र में विजयादर्श क्षीण हो गया और युद्धप्रेम भी कम हो गया। संयोगवश नया राजा 'आमेनहोतेप' चतुर्थ (१३७५-१३५८ ई० पू०) शान्ति और धर्म का प्रेमी निकला। उसके विचार और आदर्श क्रान्तिकारी थे। धर्म, कला, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में उसके विचार अपने पूर्वजों से भिन्न थे। न तो जातीय देवता 'आमोन' के प्रति उसकी श्रद्धा थी और न उसे मन्दिरों और पुजारियों का आडम्बर ही रुचिकर था। मन्त्र, तन्त्र, पशुवलि और नरवलि एवं मन्दिर की अगणित देवदासियों को वह निन्दनीय समझता था। पुजारियों की जीवनचर्या और व्यभिचार आदि से उसे घृणा थी। उसके आचार-विचार पवित्र थे और भाव एवं आदर्श शुद्ध थे। नवयुवक होने और कवि का हृदय पाने के कारण, उसमें उत्साह और सुधार करने की प्रवल इच्छा जाग्रत हो उठी। उसने एक ईश्वर 'आतोन' की पूजा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। अन्य देवताओं के स्थान पर उसने केवल सूर्य की उपासना का ही आदेश दिया, क्योंकि वही सर्वव्यापक, परम पिता, दयालु, रक्षक, परमेश्वर की विभूति का द्योतक है। थेबीज नगर को आचारहीन और पापपूर्ण देखकर, उसने "आखेतातोन" नामक नवीन नगर का निर्माण किया। उसने 'आतोन' के सिवा सभी देवताओं की पूजा का नामनिशान मिटा देने की आज्ञा देदी। स्वयं अपना नाम भी बदलकर उसने 'इखनातोन' रख लिया। यही नहीं, मन्दिरों में खुदे हुए विविध देवताओं के नामों से संयुक्त होने के कारण उसने अपने पूर्वजों के भी नाम वहाँ से खुरचवा दिए। देवालयों से पुराने देवता निकाल दिए गए और पुजारियों की सम्पत्ति छीन ली गई। उसने क्रान्तिकारी विचारों और आदर्शों के प्रचार में अपनी पूरी शक्ति, अपना कवित्व और सारा समय लगा दिया, जिससे राज-काज में ढील पड़ गई और शिथिलता आने लगी। प्रजा में उसके विचारों और नीति से असन्तोष पैदा हो गया। वंशानुगत जातीय देवताओं का अपमान लोगों को असह्य होने लगा। पुजारियों ने भी असन्तोष बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इखनातोन को लोग सनकी, धर्मान्ध, आदर्शवादी, निर्बल, और अदूरदर्शी प्रचारक, उपदेशक एवं प्रमादी कवि समझने लगे। उसके प्रति उपेक्षा, अरुचि और घृणा के भाव पैदा हो गए। राजकर्मचारियों ने ढील डाल दी। प्रवन्ध में गड़बड़ी पैदा हो गई। अधीनस्थ राज्यों ने कर देना बन्द कर दिया। खजाना खाली हो गया। सेना निरुत्साहित हो गई और मिस्रवासियों का आत्म-विश्वास घट गया। ऐसी पतनोन्मुख परिस्थिति में हिटाइट, मिटानी और बेबिलानवालों ने साम्राज्य का विरोध करना आरम्भ कर दिया। ऐसी शोचनीय दशा में अपने देश को छोड़कर, विलक्षण प्रतिभाशाली किन्तु प्रभावहीन 'इखनातोन' तीस वर्ष की अवस्था ही में दुखी होकर बिना सन्तान के संसार छोड़कर चल दिया। उच्च आदर्शों का राज्य और देश पर दुखद प्रभाव पड़ना इतिहास की एक विषम पहेली है।

आमेनहोतेप तृतीय, जिसका राज्य-काल मिस्र के इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है।

इखनातोन की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी उसका एक दामाद हुआ, किन्तु वह बिना कुछ किए ही उसी वर्ष मर गया। फिर दूसरा दामाद 'तूतनखातोन' राजा बना। जनता को संतुष्ट करने के लिए, वह राजधानी को फिर थेबीज वापस ले गया। 'आतोन' की पूजा छोड़ी जाने लगी। 'आमोन' तथा पुराने देवता फिर जीवित हो गए। पुराने पुजारी फिर फूलने-फलने लगे। उसने अपना नाम बदलकर 'तूतनखामोन' रख लिया। किन्तु यह परिश्रम निरर्थक रहा। उसने एक बार मिस्र के महत्व को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की, किन्तु वह असफल रही। उसका समाधिस्थान सन् १९२२ ई० में खोला गया। †उसमें बड़े महत्व की चीजें निकलीं, जिससे पुरातत्त्व की दुनिया में उनकी बड़ी चर्चा हो गई। उन चीजों के देखने से साफ पता चलता है कि उसके श्वसुर के क्रान्तिकारी विचारों के कारण कलाओं का ह्रास हो गया था। राज्यासीन होने के पाँच वर्ष बाद तूतनखामोन की मृत्यु हो गई (१३५३ ई० पू०)। उसका उत्तराधिकारी और भी निर्बल निकला। उसके मरते ही (१३५० ई० पू०) अठारहवें राजवंश का विनाश हो गया। इस प्रकार मिस्र का शासन अस्तव्यस्त हो गया और अशान्ति के झकोरों से शासन की बेलि टूटकर गिरने लगी।

सम्राट् इखनातोन, जो मिस्र के राजाओं में सबसे अधिक प्रतिभाशाली, क्रान्तिकारी और आदर्शवादी हुआ।

अठारहवें वंश के अंतिम राजा 'आई' का मन्त्री 'होरमहेब' एक चतुर, कार्यकुशल और प्रभावशाली व्यक्ति था। विप्लव से राज्य की रक्षा करने के लिए उसने राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले ली। प्राचीन संस्थाओं, पुराने देवताओं और देवालयों का फिर से संस्कार करके उसने शासन को सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। इखनातोन की बहिन से विवाह करके उसने राजवंश से अपना संबंध स्थापित कर लिया। अपनी मृत्यु (१३२१ या१३१४ ई० पू०) के पूर्व उसने शायद किसी पुराने राजवंश के 'रामसेज' प्रथम नाम के एक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था।

† तूतनखामोन के मकबरे से प्राप्त मूल्यवान् सामग्री को खोज निकालने का प्रमुख श्रेय हॉवर्ड कार्टर नामक एक अंग्रेज विद्वान् को है।

उन्नीसवाँ और बीसवां राजवंश--रामसेज वंश
(१३२१—१०९४ ई० पू०)

'रामसेज' से ही उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश चला है। रामसेज वृद्ध था। सिंहासन ग्रहण करने के एक वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया। इस वंश में भी कई प्रसिद्ध राजा हो गए हैं। उनमें पहला 'सेती' प्रथम था, जिसने कि पेलेस्टाइन में बद्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव को रोककर वहाँ वालों पर मिस्र की सेना का आतंक फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया। वहाँ से लौटकर उसने लीबियावालों को पीछे हटा दिया। हिटाइट लोगों से, जिन्होंने सीरिया में अपना प्रभाव जमा लिया था, युद्ध करने के लिए सेती ने उन पर चढ़ाई की और उनको परास्त किया। इस विजय से मिस्र की शक्ति का ऐसा प्रभाव जमा कि हिटाइट उससे फिर न उलझे। सेती ने राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और थेबीज को पुनर्जीवित करके विशाल मन्दिरों और स्मारकों से उसे विभूषित किया। उसकी मृत्यु लगभग १३०० ई० पू० हुई।

दूसरा प्रतापी राजा रामसेज द्वितीय (१३००-१२२५ ई० पू०) हुआ। यह बली योद्धा था। इसमें अदम्य आत्मिक विश्वास और स्वाभिमान था। थटमोज तृतीय की समता प्राप्त करने के लिए उसने हिटाइट लोगों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि उससे भयंकर चूक हो गई थी, किन्तु अपनी वीरता और उत्साह से उसने उनपर (१२९६ या १२८८ ई० पू०) विजय प्राप्त कर ली। किन्तु उनकी भूमि लिए बिना ही उसे लौटना पड़ा। इतिहास में यह सबसे पहला युद्ध माना जाता है, जिसका पूरा वर्णन मिलता है। इस विजय को सन्दिग्ध समझकर हिटाइटों ने फिर उपद्रव खड़ा किया और अन्य रियासतों को भी उभाड़ा। इस बार रामसेज ने फिर चढ़ाई की और तीन वर्ष तक वह इधर-उधर विजय करता तथा नगरों पर आधिपत्य जमाता रहा। अन्त में हिटाइटों की प्रार्थना पर उसने शान्ति प्रदान कर (१२९५ या १२-७२ ई० पू०) सन्धि कर ली। यह सन्धि भी इतिहास की पहली सन्धि है, जिसकी कि बाकायदा लिखा-पढ़ी की गई

थी। आगे चलकर उसने हिटाइट राजवंश की एक राजकुमारी से विवाह कर लिया (१२५६ ई० पू०)। रामसेज के दीर्घव्यापी शासनकाल में यद्यपि मिस्र का बाहरी स्वरूप अच्छा दिखायी दिया, किन्तु भीतरी दशा कुछ न सुधर पाई। शासन में ढील पड़ गई। उच्च कर्मचारी मनमानी करने लगे। सम्पत्ति और शक्ति बहुत-कुछ पुजारियों के हाथ में आ गई और आसपास की रियासतों में अशान्ति और विद्रोह के लक्षण दिखलाई देने लगे। रामसेज द्वितीय की मृत्यु (१२२५ ई० पू०) के बाद मिस्र के राजाओं के सामने शासन के संगठन और शत्रुओं से देश की रक्षा के दो जटिल प्रश्न बने रहे। कई राजा आए और गए। किन्तु सत्ताईस वर्ष एक व्यवस्था खराब ही रही।

आखिर रामसेज तृतीय सिंहासन पर आया (११९८ ई० पू०), और तब मिस्र में फिर से जान आई। उसने देशी और विदेशी सिपाहियों को मिलाकर एक स्थायी सेना संगठित की और जहाजी बेड़ा भी मजबूत किया। इनकी सहायता एवं अपने साहस और बल से उस युवक राजा ने क्रीट और सीरियावालों से युद्ध ठान लिया एवं क्रीटवालों के प्रबल बेड़े को पराजित कर पीछे हटा दिया (११९४ ई० पू०)। सीरिया में ईजियन लोग थे, जो उत्तरी भूमध्यसागर से आकर बलपूर्वक जम गए थे। उन्हें भी रामसेज तृतीय ने जल और स्थल युद्ध में अच्छी तरह हराकर (११९० ई० पू०) अधीन कर लिया। उसी प्रकार मेशवेश नामक उत्तरी अफ्रीकावालों को, जो लीबिया में घुस बैठे थे और मिस्र में पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसने हराकर पीछे भगा दिया। यद्यपि उसने राज्य तो बहुत नहीं बढ़ाया, किन्तु मिस्र का आतंक पुनः उसने स्थापित कर दिया और विद्रोहियों और आक्रमणकारियों से देश की रक्षा कर ली। देश में शान्ति स्थापित हो गई। व्यापार फिर से चेत उठा। ठीक समय से राजकर वसूल होने लगा। सामुद्रिक बल और सेना-बल बढ़ गया। उस युग के विशाल मन्दिरों, (उनमें प्राप्त) लेखों और तत्कालीन आर्थिक जीवन में मिस्र की इस शक्ति का उल्लेखनीय प्रभाव लक्षित है। मन्दिरों के महत्व के साथ पुजारियों का भी प्रभाव बढ़ने लगा और राज्य में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई। मन्दिरों पर होनेवाले खर्च का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनकी सेवा में राज्य में उपजाऊ भूमि का सातवाँ भाग दे दिया गया था। इसके सिवा ८८ जहाज, ५३ कारखाने और कितने ही नगर भी इन मंदिरों के अधीन थे! उनमें से सबसे सम्पन्न और वैभवपूर्ण 'आमोन' का मन्दिर था, जहाँ खजाने के खजाने खिंचे चले आते थे। रामसेज ने अनेक लोकहित के कार्य भी किए। उसने जनता के हितार्थ राज्य में स्थान-स्थान पर बहुत से पेड़ लगवा दिए थे, जिससे लोगों को छाया मिल सके।

समाधिस्थान से प्राप्त तूतनखामोन की प्रतिमा

बाहरी वैभव में बहुत बढ़ा-चढ़ा दिखाई देने पर भी वास्तव में मिस्र के राज्य के भीतर पतन के कीटाणु छिपे हुए थे। मंदिरों का अत्यधिक सम्पत्तिशाली होना, पुजारियों और राजकर्मचारियों का बल-वैभव बढ़ना, राजा तथा उनके अनुचरों और राजकर्मचारियों में आमोद-प्रमोद का व्यसन बढ़ना, राज्य में दासों और दासियों की संख्या बढ़ना, गुलामों का राज्य में महत्व पाना और उनके प्रभाव की वृद्धि होना, रनिवास में षड़यन्त्र का विकास होना आदि लक्षण पतन के प्रमाण थे। एक रानी ने तो रामसेज ही की हत्या करने का षड़यंत्र रचा, जो संयोगवश विफल हो गया। तत्सम्बन्धी षड़यंत्रकारियों पर मुकदमा चल ही रहा था कि मानसिक और शारीरिक आघात से राजा की मृत्यु हो गई (११६७ ई० पू०)।

राज्य का पतन (११६८ से १०९० ई० पू०)

रामसेज की मृत्यु के बाद राज्य में इतनी अस्थिरता बढ़ी की पचीस-तीस वर्ष के भीतर ही पाँच राजा रामसेज नाम

के आए और चले गए। जब तक रामसेज नवाँ राजा हुआ, तब तक आमोन के महन्त का इतना महत्व बढ़ गया कि उसके सामने राजा का महत्व दबने लगा। समय में इतना फेर आ गया कि लोगों ने पुराने राजाओं के समाधिस्थानों की सम्पत्ति को चुराना और छीनना शुरू कर दिया, और अन्ततोगत्वा उन्होंने उसे लूट ही लिया। अब राजधानी में इतनी अराजकता फैल गई, तो दूरस्थ प्रान्तों का कहना ही क्या था। सीरिया तो स्वतंत्र हो ही गया था और पेलेस्टाइन में भी मिस्र का प्रभाव नगण्य सा हो गया। मिस्र के बुरे दिन आ गए और उसके हाथ से सभ्यता का झंडा और राजनीतिक नेतृत्व जाता रहा। राज्य का अङ्गभङ्ग हो गया और अन्त में उसका इतिहास केवल स्थानिक महत्व का ही रह गया।

मिस्र का जीवन और उसकी सभ्यता

मिस्र का विकास नील नदी की उपजाऊ तलहटी में हुआ था। वह कृषिप्रधान देश था। यद्यपि बाढ़ों के कारण हानि हो जाया करती थी तथापि धरती के अधिक उपजाऊ होने के कारण कृषि-कार्य वहाँ सरल था। समय-समय पर नहरों के बन जाने से और भी सहायता मिल गई थी। किन्तु किसानों की परिस्थिति बहुत अच्छी इसलिए न थी कि उनसे अधिक काम बेगारी का लिया जाता था, लगान भी दस से बीस सैकड़ा तक था, और जमींदारों एवं स्थानिक कर्मचारियों का भी हाथ उन्हें गरम करना पड़ता था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसानों की दशा विशेष खराब थी। मिस्र के लोग अनाज, मछली और मांस खाते थे। खाद्य विविध ढंग से पकाये जाते थे। अस्सी तरह के पके हुए मांसों का और चौबीस प्रकार के पेय पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। अमीर अच्छी शराब और गरीब जौ की शराब पिया करते थे। मिस्र के लोग परिवर्तनप्रेमी नहीं थे। वे अपने आचार-विचार में कम फेरफार करते थे। वे प्रगतिशील नहीं थे। उनके बच्चे बारह वर्ष तक नंगे फिरा करते थे; लड़कियाँ अवश्य ही शरीर का कुछ भाग ढक लेती थीं। साधारणतः औरतें और मर्द नाभि तक नङ्गे रहते थे, उसके नीचे वे लुङ्गी-सी पहनते थे। आगे चलकर स्त्रियाँ और मर्द भी छाती ढकने लगे और चुस्त कपड़े के बदले ढीले कपड़े पहनने लगे। आदमी और औरतें आभूषणों के शौकीन थे। दोनों के कान छिदवाने का रिवाज था। औरतों को बनावटी सिंगार के अनेक साधन मालूम थे। आदमी दाढ़ी-मूँछें बनवाते थे और औरतें तरह-तरह से बाल सँवारती थीं। लोगों को खेल-कूद और मेलों और जलसों का शौक था। कुश्ती, घूँसेबाजी और साँड़ों को लड़ाने में उन्हें आनन्द आता था। पाँसे का खेल भी उनमें प्रचलित था। आजाद किसानों के अलावा गुलामों की भी मिस्र में भारी संख्या थी। परन्तु उनकी परिस्थिति किसानों की स्थिति से भी खराब थी।

कला-कौशल और उद्योग-धंधे

यद्यपि मिस्र में खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं थी, किन्तु ताँबे के सिवा अन्य खनिज पदार्थ वहाँ वालों को अन्यत्र से लाने पड़ते थे। न्यूबिया से सोना और हिटाइट प्रदेश से लोहा लाना पड़ता था। ताँबा और टीन मिलाकर वे लोग काँसा बनाना भी सीख गए थे। उनसे वे पेंच, बरमा, आरी, गड़ारी, पहिये आदि बनाते थे। उन्हें लकड़ी पर बढ़िया नक्काशी करना आता था। कुरसी, पलंग, संदूक, गाड़ी, नाव आदि वे बना लेते थे। ईंटें, सीमेन्ट और पलस्तर बनाना वे जानते थे। रंगीन चमकीले मिट्टी के बरतन और शीशे की सादी और रंगीन चीजें भी वे बनाया करते थे। जानवरों की खाल से वस्त्र, ढाल, तरकश आदि बनाते थे। पौधों और पेड़ों के रेशों से चटाइयाँ, रस्से, जूते और कागज बनाना उन्हें मालूम था। धातु पर रंग चढ़ाने और पालिश करने का कौशल भी उन्हें आता था। वे ऐसे बारीक कपड़े सूत से बिनते थे कि बिना आतशी शीशे की परीक्षा के उन्हें रेशम से भिन्न मानना कठिन था। उद्योग-धंधे आजाद और गुलाम कारीगर करते थे। कारीगरों के कुटुम्ब में पुश्त-दर-पुश्त कला या कौशल चला करते थे, जैसा कि हमारे देश में है। कारीगरों के ठेकेदार या मुखिया होते थे, जो लोगों से काम लेते और उन्हें मजदूरी देते थे। मजदूरी ठीक-ठीक न मिलने से मजदूर कभी-कभी हड़ताल भी कर देते थे, किन्तु ऐसा बहुत कम होता था। सिक्कों का चलन न था, इसलिए वेतन और मजदूरी जिन्स में दी जाती थी और कर भी वैसे ही वसूल किया जाता था। लेन-देन के लिए अमीर आदमी सोने के छोटे, बड़े, पतले और मोटे छल्लों या कड़ों का प्रयोग करते थे। व्यापार बड़े मजे से चलता था। व्यापारियों की साख पक्की होती थी और लिखा-पढ़ी, हुंडी और खाता से काम लिया जाता था।

महान् इंजीनियर

मिस्रवालों में इंजीनियरी ने अच्छी उन्नति की थी। कहा जाता है कि रोम, यूनान, एवं अठारहवीं शताब्दी तक के योरप को भी उनके बराबर इंजीनियरी का ज्ञान न था।

बड़े-बड़े बाँध, तालाब, नहरें, आलीशान मन्दिर और स्मारक बनाना उन्हें आता था। उनके बनाए हुए पिरामिड संसार में प्रख्यात हैं। इनका निर्माण किसी कला अथवा धर्म के भाव से नहीं किया गया था। ये मृतक के समाधिस्थान एवं एक प्रकार से स्मारक मात्र हैं। स्थापत्य के अलावा मिस्रवाले मूर्ति-निर्माण-कला में भी निपुण थे। वे पत्थर पर तरह - तरह की नक्काशी और तराश का काम करते थे। मिस्र के राजा अपना वंश और रक्त शुद्ध रखने के लिए कभी-कभी अपनी बहनों और लड़कियों से भी विवाह कर लेते थे। प्रेमी और प्रेमिका के लिए वे उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते थे, जो भाई और बहन के लिए प्रचलित थे। राजों और रईसों में बहुत-सी स्त्रियों को रखने का फैशन था, किन्तु साधारण लोग एक ही स्त्री से संतुष्ट रहते थे। उनमें तलाक-प्रथा का चलन था। पुरुष स्त्री और स्त्री पुरुष को तलाक दे सकती थी। पर आगे चलकर यह अधिकार स्त्रियों के हाथ से जाता रहा। व्यभिचारिणी स्त्री को वे निकाल देते थे। मर्दों में भी एक पत्नी-व्रत का आदर था। स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक अकेली अथवा साथियों के साथ आ-जा सकती थीं। पति प्रायः पत्नी के अनुकूल आचरण करता था। स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति रखने, दे देने और अपने नाम से लेने का अधिकार था। जायदाद की उत्तराधिकारिणी प्रायः स्त्रियाँ ही मानी जाती थीं। प्रेम प्रकट करने में भी वे पुरुष के प्रति स्वयं ही अग्रसर होती थीं। मिस्र में प्रेम की कविता प्रायः स्त्रियों की ओर से पुरुषों के प्रति की जाती थी। प्रणय-चर्चा बिना संकोच के सब करते थे। उनके मन्दिरों के शिल्प में नग्नता अनुचित नहीं गिनी जाती थी। वेश्याओं, देवदासियों एवं अन्य प्रकार के वासना-तृप्ति के साधनों की कमी न थी।
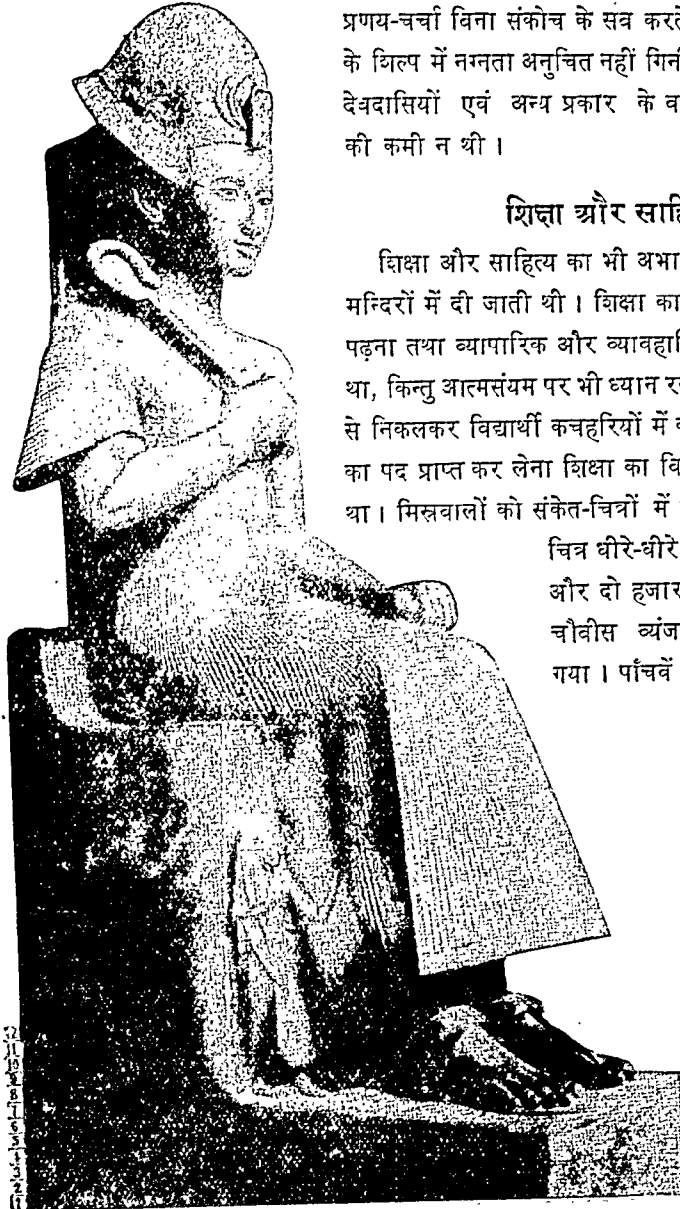
उन्नीसवें वंश का प्रतापी सम्राट् रामसेज द्वितीय

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा और साहित्य का भी अभाव न था। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य ध्येय लिखना-पढ़ना तथा व्यापारिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था, किन्तु आत्मसंयम पर भी ध्यान रखा जाता था। मन्दिरों से निकलकर विद्यार्थी कचहरियों में काम सीखते थे। लेखक का पद प्राप्त कर लेना शिक्षा का विशेष लाभ माना जाता था। मिस्रवालों को संकेत-चित्रों में लिखना आता था। ये चित्र धीरे-धीरे छोटे होते चले गए और दो हजार वर्ष ईस्वी पूर्व उनसे चौबीस व्यंजनों का विकास हो गया। पाँचवें और छठे राजवंश तक के समय के इसी शैली में लिखे हुए लेख पिरामिडों में मिले हैं। ईसा के दो हजार वर्ष के पहले के पेपाइरी (कागज) पर लिखे हुए लेखों के पुलिंदे मिलते हैं। उनमें किस्से- कहानियाँ, धार्मिक विषय, प्रेम-गीत, रण-गान, कविताएँ, पत्र, मंत्र-तंत्र, स्तुतियाँ, ऐतिहासिक वार्ताएँ, वंशावलियाँ, नीति के उपदेश आदि भरे पड़े हैं। कहा जाता है कि नाटक और पद्य-कथाओं को छोड़कर मिस्रवालों ने साहित्य के सभी मुख्य अङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। साहित्य

के अलावा विज्ञान की ओर उनका ध्यान गया था। गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, प्रजनन-विज्ञान, शृंगार के मसालों आदि का भी अध्ययन किया जाता था। शल्यशास्त्र या जर्राही का भी उन्हें ज्ञान था। उनके लेखों में अड़तालीस प्रकार के आपरेशनों का उल्लेख है। संतान-निरोध की औषधियाँ उन्हें ईसा से अठारह सौ वर्ष पूर्व ही मालूम थीं। अनेक रोगों के सैंकड़ों नुसखों का भी उल्लेख मिलता है। उपवास, रेचन, आदि का प्रयोग किया जाता था। कहा जाता है कि वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य अच्छा था। साहित्य और विज्ञान की भाँति सङ्गीत-कला और चित्र-कला से भी उन्हें अनुराग था। भित्ति-चित्र बनाने में वे बड़े चतुर थे। कई प्रकार के रङ्गों का चित्रों में वे प्रयोग करते थे। कहते हैं कि चीन को छोड़कर कोई भी प्राचीन सभ्य देश चित्र-कला में उनकी समता नहीं कर सकता था।

धार्मिक विचार और आचार

मिस्रवालों की धर्म-भावना बड़ी व्यापक थी। धर्म का प्रभाव उनकी प्रत्येक कृति में कुछ न कुछ पाया जाता है। मिस्र में अनेक देवता माने जाते थे, किन्तु आकाश, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य आदि प्रमुख गिने जाते थे। नदी, वृक्ष, थलचर, जलचर और पक्षियों में भी वे देवताओं की भावना कर लेते थे। वे राजा को भी देवता मानते थे। बकरे और बैल का सबसे अधिक महत्व था। रा (आमोन), ओसरिस (लिङ्गधारी देव), आइसिस (धरित्री देवी), होरस (सूर्य देव), सुतेख, और पृा सब देवताओं में मुख्य थे। मिस्र के इतिहास के उत्तरकाल में रा, आमोन और पृा त्रिदेव गिने जाने लगे, जो एक ही देवता के तीन भिन्न स्वरूप हैं।

इखनातोन ने आमोन देवता और पशु-बलि द्वारा उसकी पूजा का विरोध किया था। उसके सिद्धान्त के अनुसार सब देवता कपोलकल्पित थे; क्योंकि वस्तुतः ईश्वर केवल एक है, जिसे वह "आतोन" (सूर्य) कहता था। उसे वह सर्वव्यापक, आनन्दमय, प्रेममय, रक्षक, द्रष्टा, सर्वज्ञ, और अन्तर्यामी मानता था। इस प्रकार प्राचीन मिस्र में एकेश्वरवाद भी प्रचलित था। आतोन की उपासना भक्तिमूलक थी। इखनातोन ने स्वयं उसकी प्रभावपूर्ण भक्तिरसात्मक स्तुतियाँ रची थीं। मिस्र में देवताओं को भोज्य और पेय पदार्थ चढ़ाये जाते थे। देवताओं के लिए देवालय बने थे, जिनके प्रबन्ध के लिए उन्हें अच्छी सम्पत्ति मिली थी। उनकी सेवा के लिए पुजारी और दास-दासियाँ नियुक्त थे। प्रजनन के देवता ओसरिस की नग्न मूर्तियाँ साङ्केति[illegible]

मिस्रवालों का विश्वास था कि प्रत्येक प्राणी का एक लिंग-शरीर होता है, जो उसके मरने के बाद भी जीवित रहता है। उसको वे लोग 'का' कहते थे। शरीर और 'का' के अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में 'जीव' रहता है, जो अमर है। शरीर यदि नष्ट होने से बचा लिया जाय, तो वह भी 'का' और जीव की तरह स्वर्ग को जाता है, जहाँ शान्ति, सुख और सम्पन्नता के साथ वे रहते हैं। किन्तु यदि प्राणी पापी है, तो वह अनन्तकाल तक अन्धकारमय समाधि-स्थान में भूखा-प्यासा पड़ा रहता है और तरह-तरह के त्रास पाता है। स्वर्ग केवल पवित्र आचरण से ही से नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत मंत्र-तंत्र आदि के प्रभाव से अपवित्र आचरणवाला भी स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

राज्य-संगठन

राजा के ऊपर राज्य-संचालन का भार था। न्याय करना तथा शासन का निरीक्षण और सेना का नियंत्रण उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। ज्यों-ज्यों धन और वैभव बढ़ता गया, त्यों-त्यों कर्मचारियों की भी वृद्धि होती गई। कर्मचारियों की संख्या का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राजा के साज और शृंगार की सामग्री के प्रबन्ध के लिए इक्कीस अफसर नियुक्त थे! राज-सेवकों में मन्त्री और कोषाध्यक्ष प्रमुख माने जाते थे। राजा प्रातःकाल उनको बुलाकर उनसे राज्य और कोष की व्यवस्था पूछता, परामर्श करता और उचित आदेश देता था। मन्त्री का मुख्य काम शासन-तन्त्र का रक्षण, सेना-प्रबन्ध और न्याय करना था। राज्य बढ़ने पर एक के बदले दो मन्त्री रखे जाने लगे। राजा स्वयं राज्य में घूम-घूमकर शासन-प्रबन्ध का निरीक्षण करता और न्याय करता था। बड़े-बड़े पदाधिकारियों का एक परिषद् था, जिसे 'सरू' कहते थे। यह परिषद् परामर्श द्वारा राजा की सहायता करता था।

राज्य चालीस या पचास प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त के लिए वे लोग "नोम" शब्द का प्रयोग करते थे। प्रत्येक नोम का एक बड़ा अफसर रहता था, जो न्याय, प्रबन्ध और कोष के लिए उत्तरदायी था। इसी प्रकार प्रत्येक नगर के लिए भी अफसर रखे जाते थे। इनकी सहायता के लिए लेखक आदि बहुत से कर्मचारी नियुक्त कर दिए गए थे। जमीन दो प्रकार की थी। एक तो वह जो जमींदारों के अधिकार में थी और दूसरी वह जिसका प्रबन्ध स्वयं राज-कर्मचारी करते थे। सिक्कों का चलन न होने के कारण माल-गुजारी पशु, अन्न, तेल, शहद, शराब और वस्त्र आदि के

रूप में वसूल की जाती थी। पैदावार का पाँचवाँ हिस्सा मालगुजारी में लिया जाता था। कर्मचारियों से कर लिया जाता था, जो प्रायः सोना, चाँदी, पशु, अनाज और वस्त्र के रूप में था। स्थानिक कर्मचारी प्रति मास आय-व्यय का चिट्ठा राजमंत्री और कोषाध्यक्ष के पास भेजा करते थे।

कानून और दंड-व्यवस्था

मन्त्री से साधारण कर्मचारी तक सभी अपने-अपने क्षेत्र में न्याय करते थे। न्याय करने के लिए रोज कचहरी लगती थी। मुकदमों का फैसला प्रायः तीन दिन में ही कर दिया जाता था, किन्तु अगर मामला दूर का हुआ तो अधिक-से-अधिक दो महीने तक लग जाते थे। फैसला लिखे हुए कानून के अनुसार होता था। कानून चालीस पुलिन्दों में लिखे हुए थे। मुकदमे की सारी कार्रवाई लिखकर होती थी। वादी और प्रतिवादी एवं गवाहों के बयान और फैसले सब लिखे जाते थे। स्थानिक अफसरों के फैसले के विरुद्ध मन्त्री की कचहरी या राजदरबार में अपील की जा सकती थी। किसी भी व्यक्ति को बिना बाकायदा मुकदमा किए हुए दण्ड नहीं दिया जाता था।

मिस्र में रिश्वत भी चलती थी, जिससे धनी व्यक्तियों का काम बन जाता था। किन्तु अमीर और गरीब के लिए कानून एक ही था। सजाएँ कई तरह की थीं। शारीरिक दण्ड, अङ्ग-भङ्ग, देश-निर्वासन और प्राणदण्ड भी दिए जाते थे। यदि किसी बड़े आदमी को प्राणदण्ड दिया जाता था तो उसे पहले आत्महत्या कर लेने का अवसर दिया जाता था, ताकि वह जनता के सामने बेइज्जती से बच सके।
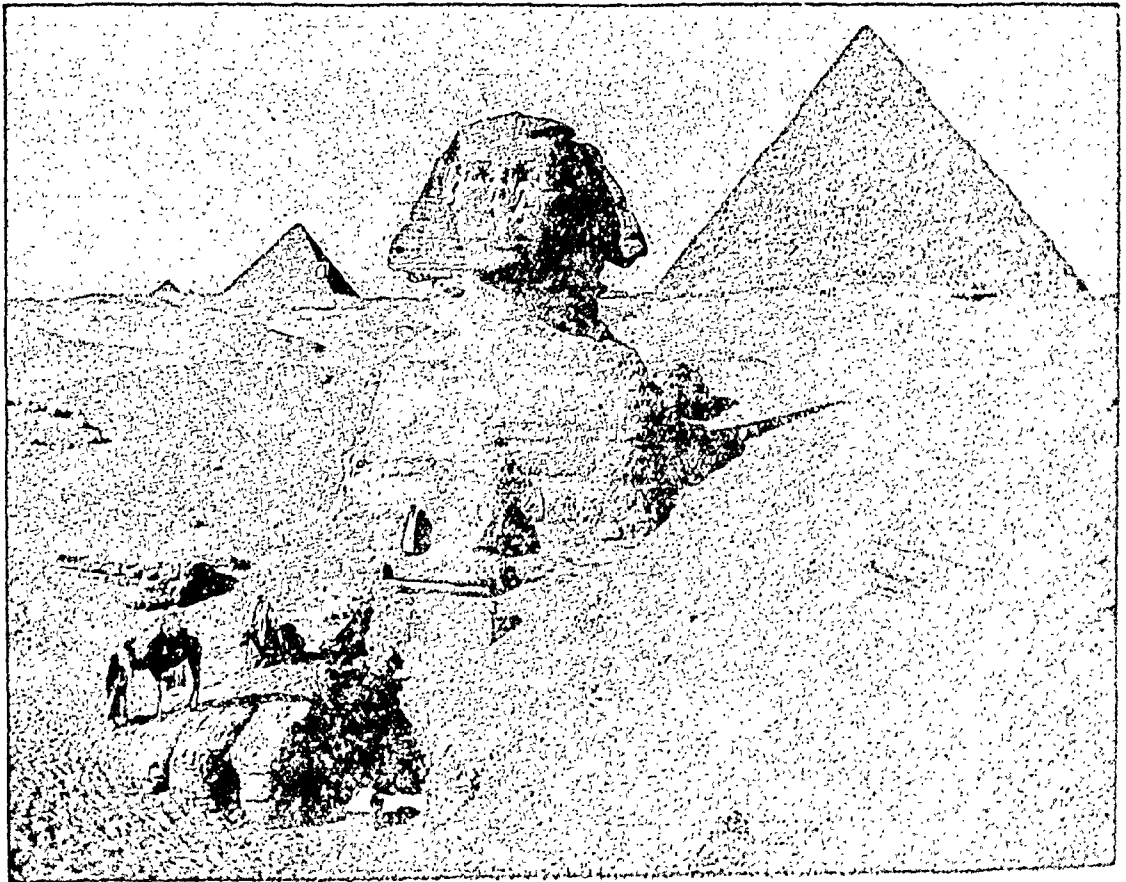
पिरामिडों की भाँति मिस्र के प्राचीन गौरव का अन्य एक भव्य स्मारक गीजे में स्थित स्फिंक्स की यह विशाल मूर्ति है, जिसकी मौन मुद्रा विगत तीन-चार सहस्राब्दियों के कोलाहलपूर्ण काल-चक्रमण एवं प्रकृति के अनवरत प्रहारों के बावजूद अभी तक भंग होते नहीं दिखाई दी है। इस रहस्यमय मूर्ति के संबंध में तरह-तरह की धारणाएँ प्रचलित हैं। कई इतिहासकार इसे किसी मिस्री सम्राट् की मूर्ति मानते हैं। इस संबंध में प्रायः खफरे का नाम लिया जाता है, क्योंकि स्फिंक्स की इस मूर्ति के पंजों के बीच एक लेख में खफरे का उल्लेख है।

आर्थिक जीवन का श्रीगणेश

आज के दिन हमारी जो सभ्यता है, वह किसी एक व्यक्ति के परिश्रम का फल नहीं है, वरन् सारी मानव जाति के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है। हमारा आज का जीवन हमारी इस सामूहिक एकता का सबसे बढ़िया उदाहरण है। यदि मनुष्य का सामाजिक रूप बिल्कुल मिट जाय तो हमारी यह सभ्यता की इमारत एकबारगी ही ताश के महल की तरह ढह पड़ेगी। आज हम सब सामूहिक रूप से एक दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में लगे हैं—हमारे कल-कारखाने, बाजार, रेल और जहाज, सड़कें, नगर, म्युनिसिपैलिटियाँ, शासन-सत्ताएँ आदि हमारे इस जटिल आर्थिक जीवन के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। वह कौन-सी अद्भुत व्यवस्था है, जिसके अधीन रोज सुबह दूधवाला हमारे यहाँ दूध, अखबारवाला अखबार, डाकिया चिट्ठी-पत्री, और फेरीवाला खाने-पीने का सामान दे जाता है? किस व्यवस्था के अनुसार माता-पिता अपने बालकों को पालते-पोसते, परिवार का स्वामी अपने परिवार के व्यक्तियों के लिए कमाकर लाता, मजदूर हजारों की संख्या में जुटकर तरह-तरह की चीजें कल-कारखानों और खेतों में उत्पादन करते, और वे चीजें संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक मानों जादू की लकड़ी घुमाते ही पहुँच जाती हैं? आइए, इस प्रकरण में मानव समाज के इस पहलू पर विचार करें।

अन्य प्राणियों की आर्थिक जीवन की ओर प्रगति

मनुष्य ने सामूहिक रूप में शिकार खेलना या पशु पालना आरंभ करके अपनी भावी सामाजिक या आर्थिक जीवन की नींव डाली, इसके बहुत पहले ही से उसके आर्थिक विकास की प्रारम्भिक दशा से मिलती-जुलती अवस्थाएँ कई छोटे-छोटे अन्य जीवधारियों के जीवन में मौजूद थीं। चींटी उनमें से एक है। यह पाया गया है कि चींटियों में बहुत पहले से मिलकर आखेट करने तथा सामाजिक व्यवस्था बाँधकर रहने की दशा का विकास हो गया था। चींटियों की जातियाँ अपने पूर्वजों के बनाये हुए निवासस्थान को पैतृक सम्पत्ति की तरह ग्रहण करती थीं और निर्माण किये हुए निवासस्थान, चरागाह तथा आखेट-स्थान के लिए परस्पर युद्ध भी करती थीं। बहुधा यह भी देखा गया है कि चींटियों के समूह युद्ध की आकांक्षा करनेवाली सेना लेकर वन्दियों को पकड़ने के लिए भी जाते थे!

इसी प्रकार भेड़ियों के झुण्ड भी प्रायः आपस में मिलकर अच्छा शिकार कर लेते थे और अपने से अधिक बली तथा बड़े जानवरों को भी परास्त कर देते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करनेवाले पक्षियों के जीवन में भी उनकी नियमित ऋतु-सम्बन्धी सुदूर यात्राओं में पारस्परिक सहयोग, नेतृत्व तथा संगठन का अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार मकड़ियों की कुछ जातियाँ मिलकर कताई व बुनाई का कार्य अच्छा करती हैं। इन जन्तुओं की प्राचीन काल से विकसित कलाएँ अब भी कभी-कभी किसी-किसी बात में मनुष्यों के नियमित आर्थिक प्रयत्नों से उच्च तथा श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं। चींटियों और अन्य छोटे जन्तुओं के आर्थिक जीवन में सामूहिक प्रकार से कार्य करने की सुन्दर प्रणाली तथा समाज-संगठन इतने उच्च श्रेणी के हैं कि उन्हें मनुष्य-समाज में प्रचलित करने के लिए बहुत-से समाज-सुधारकों को हताश होना पड़ा है।

मनुष्य की विशेषता

यह बताना कठिन है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रारंभ आज से कितने वर्ष पूर्व हुआ होगा। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि चूँकि मनुष्य स्वभाव ही से एक सामाजिक जीव है, अतएव उसके भावी आर्थिक विकास के सूक्ष्म बीज उसके प्रत्येक कार्य और प्रवृत्ति में आरंभ ही से रहे होंगे। मनुष्य को केवल चीजों का बनाना और उनका उपयोग करना ही नहीं, वरन् उनको बचाकर भविष्य के लिए जमा करना भी आता था। उसके खेती करने, कपड़ा बुनने और छोटे-छोटे उद्योगों के सादे औजार, उसके पालतू

पशु और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अन्य पदार्थ अब परिवार के अन्य सामान के साथ इकट्ठा किये जाने लगे। क्रमशः यही मनुष्य की स्थायी सामाजिक सम्पत्ति हो गई, जिसने भोजन प्राप्त करने और इसे बचाकर रखने में उसे सुगमता प्रदान की और जिसके कारण अपने निवासस्थान की रक्षा करना उसके लिए अनिवार्य हो गया। मनुष्य के परिवार की संख्या अब बढ़ सकती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे परिवार सम्बन्धित जन अथवा जाति में परिवर्तित हो गया।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का विकास

गृहस्थी के सामान की ओर जाति और सम्बन्धित जनों की सामूहिक अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव उत्पन्न हुआ और यह भाव यहाँ तक ही सीमित न रहा। पृथ्वी के भागों पर भी अधिकार समझा जाने लगा और इस अधिकार को सुरक्षित रखने की चेष्टा भी होने लगी। समाज के भाव से प्रेरित जन्तुओं और झुण्ड में रहनेवाले पशुओं की अनेक जातियों, जैसे चरागाह के मैदानों में रहनेवाले कुत्तों और ऊदबिलाव इत्यादि, की स्थायी सामाजिक वस्तुओं और उनकी जुटाई हुई पैतृक सम्पत्ति ने उन्हें सांसारिक संघर्ष में सफल होने में बहुत अधिक सहायता प्रदान की है।

किन्तु ऐसे पशुओं की उक्त प्रकार की सम्पत्ति एक ही विशेष प्रकार की और अस्थायी होती थी; जब कि मनुष्य की सामाजिक सम्पत्ति बहुत प्रकार की और अधिक स्थायी है और इस सम्पत्ति को घोर संघर्ष होते हुए भी निरंतर स्थायी बनाये रक्खा गया है। मनुष्य केवल एक औजार बनानेवाला प्राणी ही नहीं वरन् परिस्थितियों के अनुसार औजार बदलनेवाला पशु भी है। उसके औजारों का भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। हिरन के टूटे हुए सींग, हल, एक पहिये की गाड़ी, बैलगाड़ी, मोटर, ट्रैक्टर, और हवाई जहाज—सबका ही मनुष्य ने क्रमानुसार विविध परिस्थितियों में प्रयोग किया है। पृथ्वी के अनेक भागों की विभिन्नता और उनकी विशेषताओं के अनुरूप मनुष्य के आर्थिक जीवन के परिवर्तन के साथ-साथ इन नाना प्रकार के औजारों का रूप और कार्य भी आवश्यकतानुसार बदला है।

क्रमशः आरंभिक वनों से चरागाहों, चरागाहों से कृषि-योग्य उपजाऊ मैदानों और नदियों के मुहानों के आसपास की भूमि तक के कष्टप्रद भ्रमण ने मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न आर्थिक परिस्थितियाँ उपस्थित कीं, जिनके अनुसार उसे अपना आर्थिक कार्यक्रम समय-समय पर बदलना पड़ा और
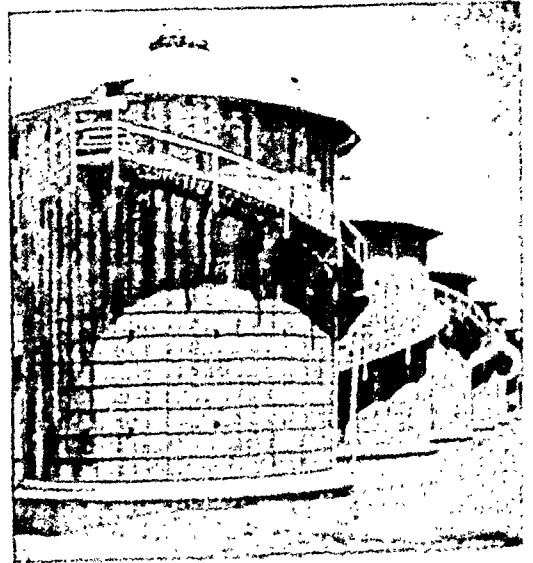
संपत्ति को बचाकर जमा करने की मनुष्य की आदिम और वर्तमान प्रवृत्ति के ही फलस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में आर्थिक असमानता ने दृढ़ नींव जमा ली है। ऊपर के चित्र में एक ओर आदिम अवस्था में रहनेवाली जंगली जातियों की और दूसरी ओर सभ्य संसार की अनाज की बड़ी-बड़ी बखारें हैं, जो मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की तह में जड़ जमाये हुए उपर्युक्त मनोवृत्ति के मूर्तिमान् प्रतीक के समान हैं।

उसको पूरा करने के लिए नवीन तथा उपयोगी औजार बनाने पड़े।

इन प्रयोगों से मनुष्य को अनेक लाभदायक अनुभव प्राप्त हुए और उनके फलस्वरूप अनेक प्रथाएँ, विश्वास और संस्थाएँ पैदा हो गई। मनुष्य की चेष्टाओं को इन अनुभवों से बहुत लाभ और सहायता मिली। पशुदेव का पूजन, पवित्र अग्नि का उपयोग, सूर्य-चन्द्रमा की आराधना आदि कार्य अधिकांश सभ्यताओं के अंग बन गए।

मिश्रित सभ्यता का विकास

इसी प्रकार घोड़े, बैल और पृथ्वी की आराधना का भी सभ्यताओं में समावेश हो गया। मनुष्य के बनाये हुए औजार और मकान आदि अब इतने अधिक शक्तिशाली और सुखप्रद हो गये कि वह धीरे-धीरे भूभाग के प्राकृतिक प्रतिबन्धनों से मुक्त हो गया। अब उसकी सभ्यता अधिकाधिक मिश्रित हो चली। जलवायु और भोजन, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, मनुष्य के मस्तिष्क के आकार-प्रकार, देह के रंग और जाति की विशेषताओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जातियों के परस्पर मिश्रण से मनुष्य की जातीय विशेषताएँ इतनी घट-बढ़ जाती हैं कि उसके आदिम स्वरूप को अनिश्चित रूप में पहचानना भी कठिन हो जाता है। दूसरी ओर, जातियों में पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध कभी-कभी शारीरिक तथा मानसिक विकास में भी सहायक हो जाते हैं और यही विकास साहसपूर्ण चेष्टा, आविष्कार और अन्वेषण की जड़ है। इन्हीं से उत्तेजना और बल पाकर मनुष्य को पृथ्वी के ऊपर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अग्रसर होते हम देखते हैं।

दो महत्वपूर्ण आविष्कार

मनुष्य के दो विशेष आविष्कार जिनका कि परिणाम उसके जीवन पर बहुत प्रभावशाली हुआ है, उदाहरण के लिए यहां लिखे जा सकते हैं। पहला दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के रहनेवाले चरवाहों द्वारा ईसा से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल में घोड़े पर विजय पाना और दूसरा ईसा के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरी-पश्चिमी योरप के निवासियों द्वारा उन्हें युद्ध में विजय देनेवाले भाप से चलने के जहाजों का आविष्कार। संसार में मनुष्य जाति के बड़े-बड़े समूहों का भ्रमण, आर्थिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल, और अन्य अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन इनके ही द्वारा हुए हैं।

मनुष्य की आधुनिक सभ्यता में शिकारी का बल और पराक्रम, चरवाहों की संगठित कार्य-शैली और वाटिका के माली का परिश्रम और दूरदर्शिता मिश्रित है। आज के व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में पुराने समय जैसा ही विशेष वर्ग के व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न नौकरियों और व्यवसायों पर आधिपत्य है।

इस प्रकार मनुष्य का आर्थिक जीवन अन्य पशुओं के जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक पेचीदा और सुसंगठित हो गया है। इस पेचीदा सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति और समाज-संगठन, दोनों ही, एक साथ संभव है।

जाति-भेद और दूषित अर्थव्यवस्था के कुपरिणाम

परन्तु भारतवर्ष की तरह जहां जाति और वर्ग की भिन्नता के कारण परस्पर विवाह-सम्बन्ध वर्जित है और जहां बहुत बड़ी जनसंख्या आर्थिक और सामाजिक उन्नति के सुअवसरों से वंचित है, वहां सम्पूर्ण समाज की आर्थिक सम्पत्ति प्रत्येक मनुष्य को लभ्य नहीं है और न वहां मनुष्य अन्य जन्तुओं की तरह सबके सम्मिलित परिश्रम से उपार्जित धन-राशि अथवा कमाई का लाभ समाज के प्रत्येक व्यक्ति में वितरण करने ही को राजी होता है। भारतवर्ष का परम्परागत जातिभेद आज मनुष्य की सामाजिक एकता को निर्बल कर रहा है। इसी प्रकार आजकल की दूषित आर्थिक व्यवस्था में अविवाहित बालिकाएँ और विधवा स्त्रियां एक बड़ी संख्या में औद्योगिक कारखानों और अन्य व्यवसायों में काम करती हैं, जहां प्रति दिन का कठोर परिश्रम और कार्य-विशेषज्ञता उन्हें अपने मातृत्व या पत्नित्व को समाज की वेदी पर बलिदान करने के लिये बाध्य कर देती है। यह इस बात का उदाहरण है कि किस तरह कार्यनिपुणता और विशेषज्ञता शारीरिक और सामाजिक उन्नति की हानि पर निर्भर होती है।

आज के पूँजीपति पुरानी शिकारी वृत्ति के प्रतीक

आज इस नवीन आर्थिक समाज में महाजन और पूँजीपति पुरातन काल के शिकारी मनुष्यों की मनोवृत्ति से अपने को वंचित नहीं कर सके हैं। वास्तव में वे इन्हीं लोगों का प्रतिनिधित्व आज के समाज में कर रहे हैं। पुराने समय के शिकारी मनुष्य का संपत्ति बचाकर रखने का भाव, उसकी चतुरता और अधिकार जताने अथवा अनुचित लाभ उठाने की मनोवृत्ति ने आज सामाजिक विरोध उत्पन्न कर दिया है और यह भाव आज मनुष्य की नई आर्थिक उन्नति में बाधक हो

प्रयत्न किया। अब मनुष्य आखेट में पशु को मारने व पकड़ने, दोनों ही की चेष्टा करता था। इस नवीन योजना ने उसके जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। पशु को मारने के बजाय उसको जीवित पकड़ना अधिक दुष्कर कार्य था। अब यह आवश्यक हुआ कि कुछ मनुष्य साथ मिलकर आखेट पर जायँ और पशु को घेरकर पकड़ें। यही मनुष्य के सहकारी आर्थिक जीवन की नींव है। पशु पकड़ने के बाद इन बन्दी पशुओं के संरक्षण की समस्या उपस्थित हुई। डर था कि कहीं पशु भाग न जायँ, अथवा दूसरे मनुष्य और हिंसक पशु इन्हें उठा न ले जायँ। इसलिए परिवार के कुछ व्यक्तियों को पशुओं के निरीक्षण का कार्य करना पड़ा। साथ-ही-साथ इन पालतू पशुओं के भोजन के प्रबन्ध का भार भी बढ़ गया। उनकी समय-समय की देखरेख, तथा उनके बच्चों का पालन-पोषण स्वभाव ही से कोमलप्रकृति और मृगया के लिए असमर्थ स्त्री-जाति के हिस्से में आया। इस तरह आजकल के आर्थिक जीवन के मूल सिद्धान्त श्रम-विभाग (Division of Labour) का जन्म हुआ।

पालतू पशुओं में सबसे पहले पाला जानेवाला पशु कुत्ता था और यह पशु आज तक मनुष्य का साथी बना हुआ है। पालतू बनाने पर मनुष्य ने कुत्ते से आखेट में सहायता लेना प्रारम्भ किया और अब मनुष्य के समूह, पालतू कुत्तों की सहायता से, अन्य पशुओं को पकड़ने लगे। बहुधा शिकार न मिलने पर अथवा आखेट में असफल होने पर पाले हुए पशु को ही मारकर क्षुधा-तृप्ति होती थी। अपने परिवार के भोजन के अतिरिक्त पशुओं के लिए भोजन-प्रबन्ध का कार्य भी अब मनुष्य को चिन्तित करने लगा। अतएव मनुष्य ने अपना निवासस्थान ऐसे स्थानों को बनाया, जहाँ चरागाह समीप थे और पशुओं के लिए खाने का सुभीता था। थोड़े-थोड़े समय के बाद मनुष्य को अपना निवासस्थान बदलना पड़ता था और चरागाहों की खोज में जाना पड़ता था। इसके लिए मनुष्य ने कुत्ते के बाद घोड़े को पालतू बनाया और सुदूर यात्रा में उससे सवारी का काम लिया। पकड़े हुए पशु और चरागाह अब मनुष्य की सम्पत्ति गिने जाने लगे, जिन्हें बचाने की वह चेष्टा करता और उनकी रक्षा में बहुधा भिन्न-भिन्न दलों में परस्पर युद्ध भी होता था। विजयी दल पराजित दल के पशुओं और चरागाहों को छीन लेता था और पराजित दल को दास बनाकर अपने साथ रखता था। ऐसी अवस्था में प्रत्येक परिवार अपनी जन-संख्या बढ़ाने की चेष्टा करने लगा। परिवार का बल जन-संख्या पर निर्भर था। अब परिवार में पुरुष का पद उच्च समझा जाने लगा, क्योंकि युद्धकार्य, रक्षाकार्य, आखेट तथा चरागाहों का ढूँढ़ना केवल पुरुष ही कर सकता था। परिवार मातृसत्तावादी स्थान पर पितृसत्तावादी होने लगे। परिवार की जन-संख्या बढ़ाने और एकत्रित रखने के लिए पुरुषों ने एक से अधिक विवाह किये, संयुक्त परिवार बनाय, छोटे-छोटे परिवारों में विवाह-सम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य उपायों से मैत्री-भाव बढ़ाया और इस तरह कई परिवार अथवा जन-समूह मिलकर एक जाति के रूप में संगठित हुए। इन जातियों में साथ रहने के कारण एकसा आचरण-व्यवहार होता था। उनका एक मुखिया होता था और अधिकांश में उसी मुखिया के आदेशानुसार सम्पूर्ण जाति कार्य करती थी। चरागाहों का दूसरा प्रभाव मनुष्य के भोजन पर पड़ा। पशुमांस के अतिरिक्त इनके भोजन में कन्द, मूल, फल इत्यादि भी अधिक मात्रा में आने लगे। पाले हुए पशुओं के प्रति मनुष्य में दया-भाव उत्पन्न हुआ और उनको मारकर खाने में उसे दुःख होने लगा।

अपने निवासस्थान को दैवी प्रकोप तथा हिंसक पशुओं से सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य ने वृक्षों की शाखाओं, पत्थरों के टुकड़ों व अन्य सामग्री एकत्रित करके रहने के स्थान बनाये थे। पशुओं की खालें वस्त्र के काम में लाई जाती थीं। अग्नि प्रज्वलित करने का कार्य भी मनुष्य को मालूम हो चुका था। दो पत्थरों को रगड़कर वृक्ष-शाखाओं की सहायता से यह कार्य किया जाता था। यहीं से कला के विकास का भी आरम्भ होता है। इस कार्य में बूढ़े मनुष्य व स्त्रियों का प्रमुख हाथ था। युवा पुरुष सदैव आखेट तथा परिवार व पशु-संरक्षण में संलग्न रहते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की नींव भी इसी काल से पड़ती है। पकड़े हुए पशु, निवासस्थान तथा एकत्रित कन्द-मूल, परिवार व मनुष्य के छोटे-छोटे समूहों की सम्पत्ति समझे जाते थे। कहीं-कहीं तो चरागाह तक बँटे हुए थे और एक दूसरे के चरागाह में जाने के लिए तथा अधिकार पाने के लिए दो दलों में युद्ध भी होता था। इस समय तक मनुष्य को वृक्षों का लगाना तथा खेती करने की कला का ज्ञान नहीं हुआ था। खेती प्रारम्भ करने का श्रेय भी स्त्री-जाति ही को है। चरागाह के इस युग में स्त्रियाँ समीपवर्ती वन-वृक्षों से कन्द-मूल तोड़ लेती थीं। नदियों से जल लाने का काम वे ही करती थीं। इस काम में कुछ समय तक एक ही मार्ग से फल इत्यादि लाते समय मार्ग में यहाँ-वहाँ फलों के बीज गिर जाते थे। उसी मार्ग से जल लाते समय पृथ्वी में दबे हुए उन बीजों को पानी भी मिला। वर्षा ऋतु में इन बीजों ने छोटे-छोटे पौधों का रूप धारण किया,
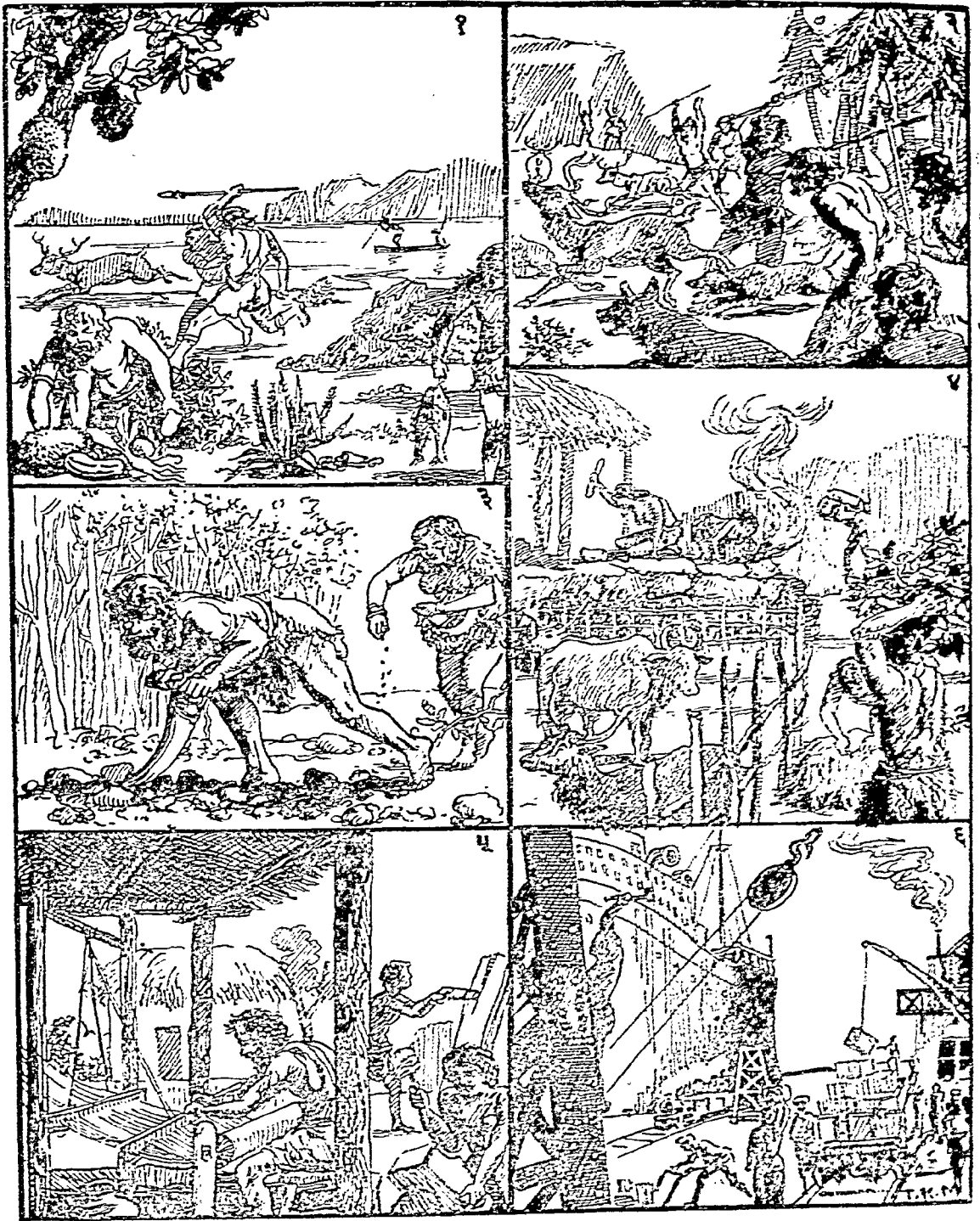
मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास

(१) आखेट-काल—जब जंगल के कंद-मूल, जलाशयों की मछली और वन के पशुओं से आहार प्राप्त करना ही मनुष्य का एकमात्र काम था; (२) पारस्परिक सहयोग का आरंभ—कई आदमी मिलकर कुत्ते आदि पशुओं की सहायता से बारहसिंघे आदि को घेर कर पकड़ रहे हैं। (३) खेती का आरंभ; (४) पारिवारिक जीवन का उदय और एक स्थान में बसना तथा पशु आदि को पालना; (५) छोटे-छोटे उद्योग-धंधों और कलाओं का आरंभ; (६) आधुनिक युग में मनुष्य के आर्थिक जीवन का फैलाव।

जिनको देखकर उस समय के मनुष्यों को बड़ा कौतूहल हुआ। साथ-ही-साथ फल इत्यादि के इन वृक्षों के निवास-स्थान के समीप आ जाने से खाने की सुविधा भी हो गई, अतएव अब वृक्षों को समीप लगाने का प्रयत्न होने लगा और इसी प्रयत्न ने समयानुसार खेती का रूप धारण कर लिया।

भूमि व जलवायु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की खेती होने लगी। कृषि के विकास में भी अनेक अवस्थाएँ रही हैं, जो देश की प्राकृतिक दशा तथा मनुष्य के तत्कालीन ज्ञान की अवस्था के अनुसार हुई हैं। खेती के काल में मनुष्य ने गाय व बैल को पालना शुरू किया और बैल से अपने इस नये कार्य में सहायता ली। खेती के आदि काल में भूमि खोदने के लिए पकड़े हुए मृगों के सींग से हल की तरह सहायता ली जाती थी। क्रमशः लोहे के अस्त्र बनाये जाने लगे और हल चलाने के लिए बैलों व अन्य चौपायों से काम लिया जाने लगा। यही कारण है कि कृषि-प्रधान देशों में आरंभ से ही गाय व बैल की महिमा बहुत है। खेती के विकास ने मनुष्य के निरन्तर भ्रमण, आखेट की खोज, भोजन की अनिश्चितता की अनिवार्यता को दूर कर दिया। अब परिवार एक स्थान पर बहुत काल तक निश्चित रूप से रहने लगा। इसके परिणामस्वरूप सुन्दर और अधिक काल तक रहनेवाले टिकाऊ निवासस्थानों का निर्माण हुआ। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हुआ। एक किसान के लिए आवश्यक हुआ कि वह विवाह करे। खेती व्यक्तिगत न होकर अब परिवार की वस्तु हो गई, जिसमें सबका सहयोग अनिवार्य था। दुष्कर व परिश्रम के कार्य पुरुष के हिस्से में पड़े। स्त्रियाँ बीज बोने, गल्ला साफ करने, खेत साफ करने इत्यादि के सुगम कार्य करती थीं। पशुपालन का कार्य भी स्त्रियों तथा बालकों पर रहा। छोटी-छोटी कलाओं का उत्थान होने लगा। रुई इत्यादि के पैदा होने से कपड़ा बनने लगा। पुरुष को परिवार के साथ रहना और उसकी रक्षा व पालन का भार लेने से परिवार के स्वामित्व का पद प्राप्त हुआ। यहाँ से स्त्रियों का प्रभुत्व घटा तथा पुरुष का प्रभुत्व प्रबल हुआ।

इसके बाद का समय 'छोटे-छोटे कला-कौशल का युग' या 'कलाकार समिति (Guild) का काल' कहा जाता है। इस काल में व्यक्तिगत कलाकार से लेकर छोटे-छोटे कारखानों तक का उत्थान भी सम्मिलित है। छोटे-छोटे औजारों का बनाना, वस्तु को एकत्रित करना तथा औजारों के भिन्न-भिन्न प्रयोग मनुष्य ने इसी काल में सीखे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव अब प्रमुख हुआ और पैतृत्व की प्रथा प्रबल हुई। परिवार अथवा वंश संगठित हुए। एक ही उद्योग या कला में संलग्न व्यक्तियों में अपनी आवश्यकताओं तथा सुविधा-असुविधाओं की एकता व समानता से परस्पर सम्पर्क बढ़ा और घनिष्टता होने लगी। मनुष्य-समाज भिन्न-भिन्न उद्योगी समूहों में विभाजित हुआ। इधर गत दो शताब्दियों में मशीन, द्रुतगामी सवारियों तथा शीघ्र समाचार फैलने के साधनों के आविष्कारों ने कला-सम्बन्धी इस संगठन का रूप बिल्कुल पलट दिया है। छोटे-छोटे कारखानों, कारीगरों के परिवारों व व्यक्तिगत कलाकारों की जगह अब बड़े-बड़े मिलमालिकों द्वारा संचालित मिलें बन गई हैं। व्यापार गाँव, नगर व प्रान्त में सीमित न रहकर अब अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। गाँव की कला के विनाश के साथ-साथ मनुष्य के आर्थिक संगठन में भी अपूर्व परिवर्त्तन हुआ है। सुदृढ़ पारिवारिक जीवन शिथिल हो गया है और परिवार-विच्छेद होने लगा है। आज पुरुष यदि एक कारखाने में काम करता है, तो स्त्री दूसरे में। अब मनुष्य का आर्थिक जीवन इस सीमा तक पहुँच चुका है कि आर्थिक निर्भरता व सहयोगिता का स्थान अब स्वतंत्रता व स्वच्छन्दता ने ले लिया है। देश की प्राकृतिक दशा, सम्पत्ति व विज्ञान की उन्नति के अनुसार मनुष्य ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक आर्थिक परिवर्त्तन किये हैं।

आर्थिक विकास का क्रम सर्वदा सर्वत्र एक-सा न रहकर भिन्न-भिन्न रहा है। कहीं-कहीं अब भी कई अवस्थाएँ एक साथ ही पाई जाती हैं और किसी-किसी जगह प्रगति के कारण बीच की अवस्थाएँ प्राप्त किये बिना ही आगे की उन्नतिशील अवस्था ने स्थान पाया है। बुद्धि-विकास द्वारा मनुष्य का कार्यक्रम पशु-बुद्धि के कार्यों तक ही सीमित न रहा, वरन् वह धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाता गया और प्रकृति के कुछ अटल व अजेय नियमों को छोड़कर मनुष्य ने प्रकृति को स्वामी के स्थान से गिराकर उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है। परन्तु इतनी उज्ज्वल विजय के बाद भी मनुष्य प्रकृति को बिलकुल परास्त नहीं कर सका। इस कल-कारखानों के युग में भी जलवायु का प्रभाव, पृथ्वी की परिमित उपज, मानव प्रकृति, धातुओं की सुलभता अथवा न्यूनता, भूकम्प, बाढ़, वर्षा की कमी, अति शीत और गरमी आदि बातें प्रकृति की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और विज्ञान का पुतला पराकर्मी अजेय मनुष्य पुनः उत्साहित होकर उससे द्वन्द्व करने में लग जाता है। यह क्रम आदि से चला आया है और शायद अन्त तक चलता रहेगा।

(ऊपर) कोलंबस का प्रधान जहाज 'सांता मेरिया', जिस पर यात्रा कर उसने 'नई दुनिया', की खोज की थी। इस जहाज द्वारा अटलांटिक महासागर को पार करने में ३६ दिन लगे थे। (दाहिनी ओर) १६ हजार टन का एक वायुयानवाहक जंगी जहाज पहले-पहल समुद्र में उतारा जा रहा है। (नीचे)

४२ हजार टन का एक आधुनिक रणपोत।
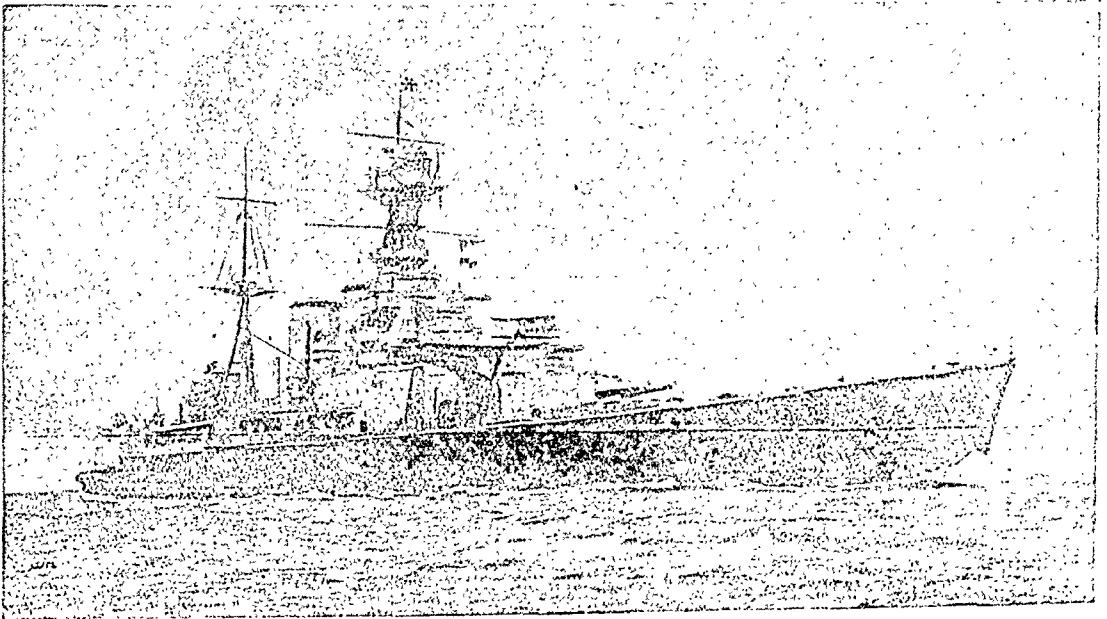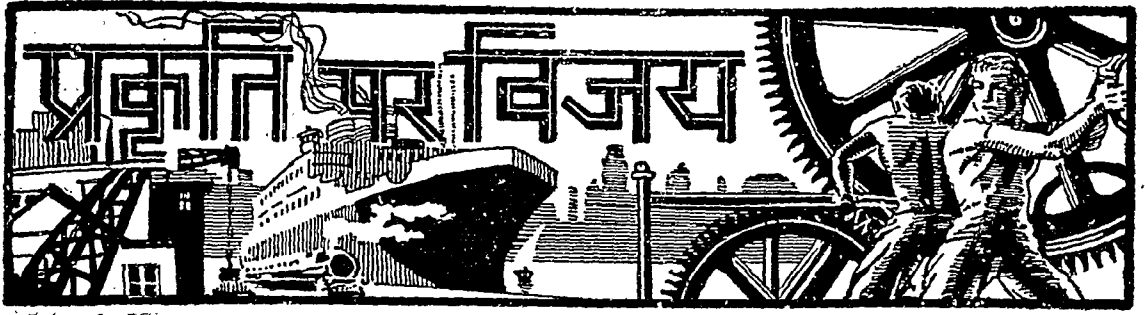
समुद्र पर विजय

साधारण डोंगी से विशालकाय जहाजों तक कैसे पहुँचे ?

प्रकृति पर विजय संबंधी मनुष्य की अमर गाथाओं में समुद्र पर उसकी विजय एक विशेष महत्व रखती है। सागर की जो अनंत जलराशि सदियों से विभिन्न भूभागों को एक-दूसरे से विभाजित किए हुए थी, वही मनुष्य के कौशल द्वारा आज सारी मानव-जाति के पारस्परिक संसर्ग और यातायात का मुख्य साधन बन गई है। कैसे ? आइए, इसका हाल आपको सुनाएँ।

अतीत के धुँधले प्रकाश में जब मनुष्य ने पहली बार देखा कि पानी पर तैरते हुए सूखे लट्ठे उसका भार भी सँभाल सकते हैं, तो उसके आश्चर्य और उल्लास की सीमा न रही। सामने सैकड़ों मील तक फैला हुआ समुद्र अब तक उसके लिए एक वर्जित क्षेत्र था, किन्तु इस नवीन खोज ने उस वर्जित प्रदेश में घुसने के लिए पहली बार उसे साधन प्रदान किया।

ज़ाने कितने साल के प्रयोग तथा लगातार गलतियों के बाद अपने बेढंगे बेड़े को नाविक इस योग्य बना पाया होगा कि उस पर बैठकर वह क्षितिज के उस पार दिखाई देने-वाले द्वीप तक सही सलामत पहुँच सके। जरा कल्पना तो कीजिए, यह साहसी नाविक जब अपनी पहली समुद्र-यात्रा से लौटकर उस द्वीप से एक सुन्दरी युवती साथ में लाया होगा तो उसके देशवासियों ने कितने उल्लास के साथ उसका स्वागत किया होगा ! उस दिन तक क्षितिज पर दिखाई देनेवाला द्वीप उनके लिए एक दुर्लभ रहस्य की वस्तु थी। इस वीर नाविक ने ही पहली बार इस रहस्य का उद्घाटन किया। देश के इस लाड़ले की समूचे देश में पूजा होना उचित ही थी। उस साहसी नाविक के शौर्य से उत्साहित होकर उसके अन्य साथियों ने कहा होगा—"आओ, फिर चलें और अन्य द्वीपों पर छापा मारकर अतुल धनराशि, ढोर तथा स्त्रियाँ जीत लाएँ।"

किन्तु नाविक ने गम्भीर स्वर में जवाब दिया होगा—"नहीं, मेरे भाई ! समुद्र की उत्ताल तरंगें बहुत ही खतरनाक हैं। यह तो निरे संयोग की बात है कि मैं इस बेढंगे बेड़े पर सही सलामत लौट आया। हमें अब समुद्रयात्रा करने के पहले मजबूत और बड़ी नावें बनाना चाहिए, जो लहरों की चपेट को सह सकें, और साथ ही हमारे लड़ाकू साथियों का बोझ भी सँभाल सकें, क्योंकि उस द्वीप के निवासी लड़ना भी बखूबी जानते हैं।"

पिछले चार-पाँच हजार वर्ष के इतिहास में समुद्रयान के विकास की एक लम्बी कथा निहित है। इस कहानी की एक-एक कड़ी जोड़ने के लिए सैकड़ों व्यक्तियों ने अपनी अमूल्य जानें खोई हैं। इनकी अपूर्व लगन और बलिदान का ही नतीजा है कि आज आदिम बेड़े ने परिष्कृत होकर ऐसे बड़े-बड़े जलपोतों का रूप धारण किया है, जो मीलों दूर तक फैले हुए समुद्र के वक्षःस्थल पर तैर रही विशाल नगरी जैसे दिखाई देते हैं। आदि काल के लोगों

आदिकाल में लोगों ने लकड़ी के लट्ठों के बेड़े पर ही सर्व-प्रथम जलयात्रा करना सीखा होगा। पर आगे चलकर वे पेड़ के तने को खोखला बनाकर डोंगी बनाना भी सीख गये।

ने निस्सन्देह लकड़ी के लट्ठों पर सर्वप्रथम जलयात्रा करना सीखा था। विज्ञान की इस बीसवीं शताब्दी में भी पूर्वी द्वीप-समूह के मूल निवासी लट्ठों के बने हुए बेड़े काम में लाते हैं। ये लट्ठे दोनों सिरों पर नुकीले बना लिये जाते हैं ताकि पानी की सतह पर तेजी के साथ ये आगे को बढ़ सकें।

आॅस्ट्रेलिया के तट पर सरकन्डों को एक दूसरे से बाँधकर बेड़े तैयार कर लेते हैं। मद्रास के समुद्र-तट पर भी तीन या ज्यादा लट्ठों को नारियल के रेशे की बटी हुई रस्सी से एक दूसरे से बाँधकर बेड़े बना लेते हैं। पेरू में तो बहुत ही चौड़े-चौड़े बेड़े बनाये जाते हैं। कोई-कोई २० फीट तक चौड़े होते हैं। इनमें पाल टाँगने का भी प्रबन्ध रहता है। समुद्र पर विजय प्राप्त करने के आदि प्रयत्न के ये स्मृतिचिन्ह हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशों के मूल-निवासी अब भी अपनाये हुए हैं।

बेड़ों के ऊपर समुद्र की ऊँची लहरों का पहुँचना कुछ मुश्किल न था। अत: बेड़े पर लदे हुए सामान को भीगने से बचाने के लिए बेड़े के ऊपर एक ऊँचा-सा चबूतरा बनाने की बात लोगों ने सोची। आधुनिक जहाज के डेक की कल्पना का मानो उसी दिन जन्म हुआ।

बेड़े के बाद जलयान के विकास की दूसरी सीढ़ी डोंगियों के निर्माण से आरम्भ होती है। पेड़ के भारी तने को खोखला करके उसे पानी में तैरा सकना तत्कालीन नाविकों के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। कुछ लोगों का विचार है कि पानी मे तैरते हुए शंख तथा घोंघे को देखकर मनुष्य के दिमाग में डोंगी बनाने का खयाल पैदा हुआ। जो कुछ भी हो, यह बात निश्चय रूप से कही जा सकती है कि सभ्यता के शैशव-काल में भी भिन्न-भिन्न देश के लोग डोंगियाँ बनाना जानते थे। यह जमाना प्रस्तर-युग का था।

पत्थर की छेनियों से पेड़ के तने का पेटा खोखला करने में काफी परिश्रम और समय लगता था, अतएव आग की मदद से भी पेटे के भीतरी हिस्से को जलाकर खोखला कर लेते थे। इसके बाद छाल की डोंगियाँ भी बनने लगीं। छाल की डोंगी की शक्ल तनी हुई रखने के लिए जरूरी था कि डोंगी के भीतर एक ढाँचा लकड़ी के डंडों का फिट किया जाता। यह आविष्कार भी जलयान के विकास के इतिहास में विशेष महत्व रखता है, क्योंकि ढाँचेयुक्त किश्ती का प्रादुर्भाव इसी आविष्कार के साथ हुआ। कुछ देशों में जहाँ ढाँचे पर चढ़ाने के लिए उपयुक्त छाल नहीं मिल सकती थी, जानवरों की खाल या कोलतार का पुता हुआ नमदा प्रयोग में आने लगा। किश्ती के अन्दर के इसी ढाँचे ने कुछ सदियों बाद विशालकाय जहाजों के ढाँचे का रूप ले लिया।

फिर लकड़ी की तख्तियों को एक-दूसरे से रस्सी द्वारा
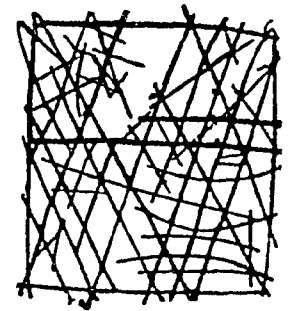
सदियों से पोलीनेशिया के द्वीपों के आदिम निवासी अपनी मामूली नौकाओं पर इसी तरह तूफानी समुद्रों की यात्रा करते रहे हैं। वे यात्रा में मार्ग-निदर्शन के लिए घास या लकड़ी की तीलियों के ऐसे ही नक्शे बना कर साथ रखते थे, जैसा कि चित्र में एक नाविक के हाथ में और दाहिनी ओर अलग से दिखाया गया है। इन नक्शों द्वारा वे दिशा, ज्वार-भाटा, वायु की दिशा आदि का लेखा रखते थे।

प्राचीन मिस्र की एक नौका का नमूना
डोंगी और किश्ती से आगे बढ़कर भारी जहाज बनाने की नींव डालने का श्रेय मिस्रवालों को ही प्राप्त है। मिस्र के बड़े जहाजों में कई डाँड़ चलाये जाते थे और उनमें पाल भी लगाये जाते थे।
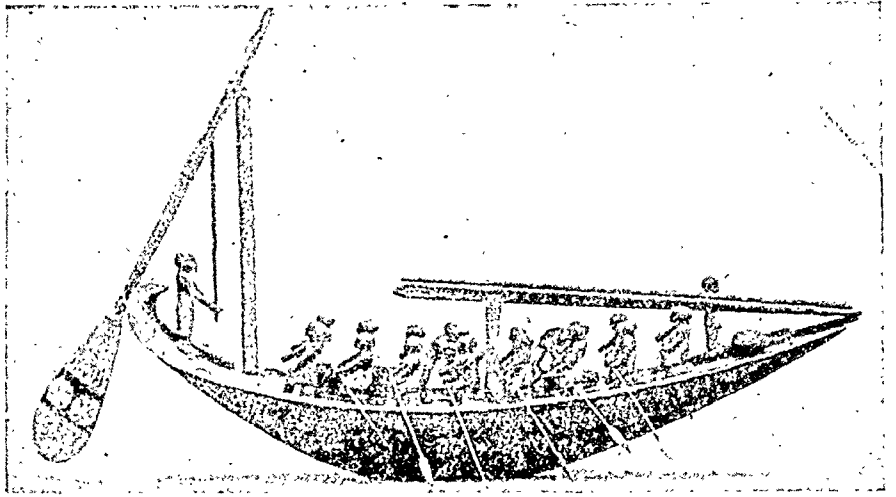
बाँधकर किश्ती बनाना भी लोगों ने सीखा। इन किश्तियों में लचक बहुत काफी होती है, अत: समुद्र की लहरों के थपेड़ों की चोट से ये लच भले ही जायँ, पर टूट नहीं सकतीं, जबकि मामूली ढाँचेवाली किश्ती चूर-चूर हो जाती है। मद्रास के समुद्र-तट पर इस प्रकार की किश्तियाँ प्रचुरता से देखने में आती हैं। इन किश्तियों का बाहरी खोल पहले तैयार कर लेते हैं, फिर उनके भीतर लम्बे और आड़े डण्डे फिट कर देते हैं। इन डण्डों का मुख्य काम डेक का चबूतरा सँभालना होता है।

पैसिफिक-तट के देशों में इस प्रकार की लचीली किश्तियों का रिवाज बहुतायत से था। इनमें से कुछ एक किश्तियों की समाई तो २०० टन तक पहुँचती थी। इसी ढंग की किश्तियों में सवार होकर भारत के नाविकों ने हजारों वर्ष पूर्व सुमात्रा-जावा आदि देशों में आर्य सभ्यता का प्रकाश पहुँचाया था। आकाश के तारे, चिड़ियों की उड़ान तथा अपनी सहज बुद्धि के भरोसे ये दिशा का अन्दाज लगाते थे। न उनके पास कुतुबनुमा था, न दिशासूचक अन्य साधन ही, जो आजकल के नाविकों को लभ्य हैं। फिर भी प्रशान्त महासागर की असीम जलराशि को पार कर ये कभी-कभी मैक्सिको तक भी पहुँच जाते थे!

इनके पास न बिस्किट के टिन थे न मुरब्बे, या जमा हुआ दूध और चीनी। फिर भी छ:-छ: महीने की लम्बी यात्रा पर ये लोग अपने बाल-बच्चों को लेकर निकल पड़ते थे। गजब का था उनका आत्मविश्वास और गजब की थी उनकी हिम्मत! पीने के लिए नारियल में भरकर पानी साथ ले लेते थे और यदि रास्ते में वर्षा हुई तो उस वर्षा का ही जल ताड़ की बुनी चटाइयों में बटोर लेते थे।

जलयान-निर्माण में अगला कदम पोलिनेशिया के द्वीपों के लोगों ने बढ़ाया। किश्ती की बाजू के तख्तों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने के लिए सर्वप्रथम लकड़ी की खूँटियों का प्रयोग उन्हीं लोगों ने किया। मिस्र में नील नदी में चलनेवाली किश्तियों में भी लकड़ी की खूँटियों से तख्ते जड़े जाते थे।

जलयान के इतिहास में मिस्र का एक अपना विशिष्ट स्थान रहा है। ईसा के लगभग ३,००० वर्ष पूर्व मिस्र-निवासी पालवाली किश्तियाँ बनाना जानते थे। इनकी किश्तियों में अक्सर दो मस्तूल लगे रहते थे। ऊपरी सिरे पर ये दोनों मस्तूल जुड़े हुए रहते थे। इन किश्तियों का आकार भी काफी बड़ा होता था। मवेशियों को लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना इनके लिए मुश्किल न था। बड़ी किश्तियों में २४ जोड़ें डाँड़ चलते थे। पतवारों की संख्या भी चार-पाँच से कम न रहती थी। प्राय: इन किश्तियों का अगला सिरा ऊँचा उठा रहता, ताकि शत्रु के छोड़े गये तीर डाँड चलानेवालों को न लगकर इसी उठे हुए भाग से टकरा जायँ।

डोंगी और किश्ती से आगे बढ़कर सर्वप्रथम भारी भरकम जहाज बनाने का श्रेय मिस्र-निवासियों को ही प्राप्त है। जहाज-निर्माण की कला मिस्र से ही यूनान, रोम तथा लाल सागर के रास्ते पूर्व के देशों तक फैली। भिन्न-भिन्न देशवालों ने इस हुनर में तरह-तरह की उन्नति का समावेश किया। रोम और यूनानवालों ने डाँड़ों की दुहरी और तिहरी पंक्तियाँ अपने जहाजों में बिठाईं, ताकि जहाज की लम्बाई बढ़ाये बिना ही डाँड़ों की शक्ति बढ़ सके। डाँड़ चलानेवालों की पहली पंक्ति सबसे किनारे की ओर बैठती, फिर उसके बाद भीतर की ओर दूसरी पंक्ति, और केन्द्रीय

सतलज नदी पर काम मे लाई जानेवाली मशक की नौकाएँ
इनमें जानवरों की खालों को सीकर और उनमें हवा भर कर एक दूसरे से बाँध दिया जाता है, जिससे काफी वजन का बोझ उठा सकनेवाला एक खासा बेड़ा तैयार हो जाता है।

कतार के पास तीसरी पंक्ति रहती। तीसरी पाँत में बैठने-वाले नाविकों के डाँड़ सबसे लम्बे होते थे—कभी-कभी इन डाँड़ों की लम्बाई ५० फीट तक पहुँचती थी!

फिर भी बावजूद इन सुधारों के आज से सौ-दो सौ वर्ष पहले तक समुद्र की यात्रा बहुत-कुछ अंशों में समुद्री वायु पर ही निर्भर रहा करती थी। समुद्र के उन भागों में, जहाँ हवा एकदम शान्त रहती है, यदि ये जहाज पड़ जाते, तो प्रायः महीनों वे वहीं पड़े रहते और उपयुक्त हवा का आसरा ताकते रहते थे। नाविकों का बाहुबल और पाल की हवा, बस इन्हीं के भरोसे ये लोग अपनी लम्बी यात्राएँ पूरी करते थे। फिर भी इन साधारण किश्तियों की मदद से तत्कालीन नाविकों ने कमाल कर दिखाया था।

कुछ दिन बाद इन किश्तियों में डाँड़ के स्थान पर हत्थे लगे पहिए काम में लाये जाने लगे। इन पहियों को नाविक अपने हाथ से घुमाता था। पहिये के घूमने पर हत्थों द्वारा पानी जोरों से कटता और क़िश्ती आगे को बढ़ती थी। किसी-किसी किश्ती में पहिये घुमाने का काम बैलों से भी लिया जाता था। तदुपरान्त इस काम के लिए भाप के इंजिनों का प्रयोग करने की बात भी सोची गई। भाप के इंजिनों के आविष्कार ने समुद्र-यात्रा के इतिहास में एक नवीन युग का समावेश किया। सर्वप्रथम स्टीम-बोट तैयार करने का श्रेय एक फ्रेञ्च वैज्ञानिक डेनिस पेपिन को प्राप्त है।

बेचारे पेपिन की भी कहानी बड़ी करुणाजनक है। लगभग २०० वर्ष पूर्व की बात है। राजनीतिक कारणों से पेपिन को फ्रांस छोड़ना पड़ा। फिर इंगलैंड और इटली में कई साल घूमने के बाद उसने जर्मनी में शरण ली। यहीं पर उसने अपनी स्टीम-बोट तैयार की। उसकी वर्षों की संचित मनोकामना पूरी हुई। किन्तु तत्कालीन लोकमत मशीन द्वारा परिचालित वाहन के एकदम खिलाफ था। पेपिन को भी रूढ़िवादिता के सामने हार माननी पड़ी। ब्रमेन के म्यूनिसिपल अधिकारियों से उसने आज्ञा प्राप्त करनी चाही कि वह अपनी स्टीम-बोट वेजर नदी में जाँच करने के लिए चला सके। म्यूनिसिपल अधिकारियों ने उत्तर दिया कि ऐसी आज्ञा प्रदान करने के रास्ते में भारी अड़चनें हैं, जिनका यहाँ जिक्र करना आवश्यक नहीं है। अतः तुम्हें स्टीम-बोट चलाने की आज्ञा नहीं मिल सकती। बेचारे पेपिन की तो तमाम आशाओं पर पानी फिर गया। यही नहीं, आस-पास के मल्लाहों ने पेपिन के घाट पर धावा बोलकर उसके स्टीम-बोट के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। पेपिन किसी प्रकार जान बचाकर इंगलैंड भाग गया और वहीं तीन साल उपरांत मर गया। अपने जीवन में वह स्टीम-बोट का पानी पर चलता न देख सका।

तदुपरान्त इंगलैंड के लोगों का ध्यान स्टीम-बोट की ओर आकर्षित हुआ। किन्तु कोई भी सही ढंग का मॉडल तैयार न कर सका। अमेरिका और फ्रांस में अवश्य स्टीम-बोट तैयार किये गये, किन्तु वे भी सन्तोषजनक न थे। तब स्कॉटलैंड में पैट्रिक मिलर ने दो किश्तियोंवाली एक स्टीम-बोट तैयार की। दोनों किश्तियों के बीच एक हत्थेवाला पहिया लगा हुआ था। ब्वॉयलर एक किश्ती पर था और

इंजिन दूसरी किश्ती पर। यह विचित्र स्टीम-बोट ५ मील फ़ी घंटे की रफ्तार से पानी पर चली थी। इसके इंजिन में केवल एक अश्वबल की शक्ति थी, अतः यह मॉडल निरा खिलौना-सा था। किन्तु फिर भी उसने इंगलैंड के इंजीनियरों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम किया। यह घटना सन् १७८७ की है। कुछ ही वर्ष उपरान्त हेनरी बेल नामक एक उत्साही नवयुवक ने १८१२ में क्लाइड नदी में अपना बनाया हुआ स्टीमर उतारा। इंगलैंड का यह सर्वप्रथम पैसेन्जर स्टीमर था। इस स्टीमर का नाम "कॉमेट" था। नियमित रूप से यह स्टीमर मुसाफिरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाता था। इसकी रफ्तार ८ मील प्रति-घंटा थी। इसकी लम्बाई ४० फीट और चौड़ाई १० फीट थी। इसके इंजिन में ४ अश्वबल की शक्ति थी।

थोड़े ही दिनों में 'कॉमेट' के अतिरिक्त और भी स्टीमर नदियों में चलने लगे। फिर तो समुद्र में चलने योग्य स्टीमर भी तैयार किये गये।

इंगलैंडवालों ने शीघ्र ही जहाजों के निर्माण के लिए लोहे का प्रयोग किया। इन्हीं दिनों में ५ इंच मोटी लोहे की चद्दर से ७० फीट लम्बी एक स्टीम-बोट लंकाशायर में तैयार की गई। इस स्टीमर का वजन ८ टन था। फिर और भी कई स्टीमर लोहे की चद्दरों से बनाये गये। १८१७ में क्लाइड नदी के किनारे विल्सन नामक एक बढ़ई ने एक लोहार की सहायता से जहाज बनाने का कारखाना खोला। उसने लोहे की चद्दरों से विशालकाय जहाज तैयार करने की योजना बनाई। जिन दिनों वह अपना पहला जहाज बना रहा था, पास-पड़ोस के लोग आते और उसका मखौल उड़ाते कि क्या तुम समझते हो कि लोहा पानी पर तैर सकेगा? तब विल्सन जवाब देता—'अपने कनस्टर को पानी के ऊपर फेंककर देखो।' विल्सन ने अपने स्टीमर 'वल्कन' को जब पानी में डाला, तो अब तक जो लोग उसका मजाक उड़ाया करते थे, वे ही लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। पूरे ७० वर्ष तक 'वल्कन' मुसाफिरों के ढोने का काम करता रहा। अब बड़े आकार के जहाज भी बनने लगे। १८४३ में अटलांटिक को पार कर अमेरिका से व्यापार करने के लिए 'ग्रेट ब्रिटेन' नामक जहाज बनाया गया। यह जहाज ३२२ फीट लम्बा था, और इसका वजन ३००० टन से भी अधिक था। इन जहाजों में पाल टाँगने का भी इन्तजाम रहता था, ताकि इंजिन फेल हो जाने पर पाल का प्रयोग किया जा सके। उन दिनों के इंजिन का कुछ भरोसा थोड़े ही था। उन दिनों तो वे अक्सर फेल हो जाया करते थे। किन्तु कुछ ही दिनों बाद इंजिन इतने अच्छे बनने लगे कि उन पर पूरा भरोसा किया जाने लगा। इस तरह पाल की प्रथा एकदम मिट गई।

लोहे के कारबार में भी काफी उन्नति हो चुकी थी। कच्चे लोहे के स्थान पर अब बढ़िया किस्म का फौलाद बनने लगा था। अतः जहाज बनाने के लिए भी फौलाद का ही प्रयोग होने लगा, जिससे जहाज अब पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ बनने लगे।

१८४२ में जब इंगलैंड का सुप्रसिद्ध उपन्यासकार डिकेंस अमेरिका गया था, तो उसने अपने जहाज के बारे में लिखा था कि वह एक कफन के बक्स के तुल्य था, जिसमें दो-चार खिड़कियाँ भी बना दी गई थीं! किन्तु १९वीं शताब्दी के

दजला और फरात नदियों की डलियानुमा नौकाएँ

ये नावें हजारों वर्षों से इराक में काम में लाई जा रही हैं! ये एक तरह की बेंत को बिनकर बनाई जाती हैं और इनके ऊपर राल पुती रहती है।
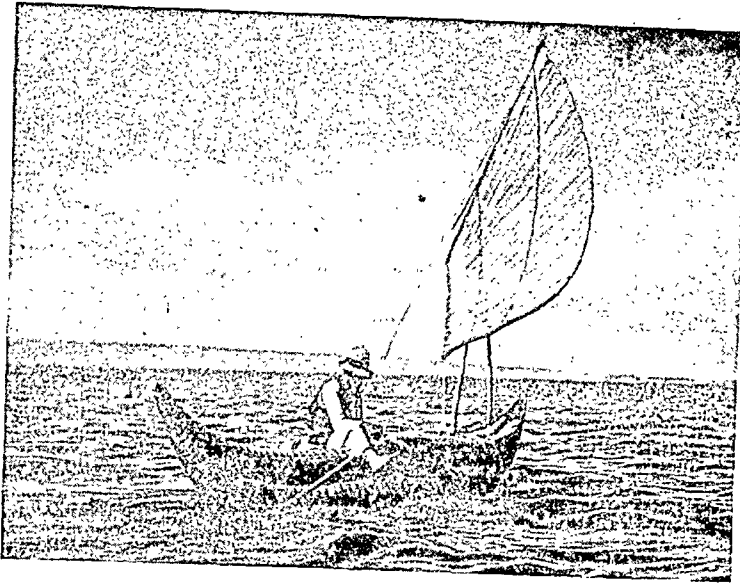
दक्षिणी अमेरिका के पीरू और बोलिविया देशों की सीमा पर स्थित तीतीका झील में प्राय: घास को बाँधकर बनाई गई ऐसी ही नौकाएँ चलती हैं। इन नौकाओं के पाल भी कपड़े के न होकर सरकंडे की चटाइयों के बने होते हैं।

अन्तिम दिनों में जहाज इतने अच्छे बनने लग गये थे कि अनेक यात्रियों ने मुगल बादशाहों के दीवानखानों से उनकी तुलना की है। इस तरह समुद्र-यात्रा बहुत ही सुखप्रद बन गई। जहाजों की रफ्तार भी पहले की अपेक्षा तेज हो गई थी।

रफ्तार बढ़ाने की धुन में इंजीनियरों ने ध्यानपूर्वक भाप के इंजिनों का निरीक्षण किया। उन लोगों ने देखा कि इंजिन के पिस्टन की आगे-पीछेवाली गति को वृत्ताकार गति में परिणत करने में काफी शक्ति का ह्रास होता है। क्या शक्ति के इस भारी अपव्यय को किसी तरकीब से रोका नहीं जा सकता ?

आखिरकार एक नवयुवक वैज्ञानिक पार्सन ने इस मुश्किल को हल करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया। भाप की शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग करने के लिए उसने स्टीम-टर्वाइन का निर्माण किया। स्टीम-टर्वाइनवाले इंजिन जिन जहाजों में फिट किये गये, उनकी रफ्तार भी खूब बढ़ गयी।

जहाज के इंजिनों में निरन्तर सुधारों का समावेश होता रहा। कम-से-कम खर्च में शक्ति उत्पन्न करने की कोशिश में लोगों ने इंजिन की भट्टी में कोयले के स्थान पर तेल जलाने का प्रयोग किया। धीरे-धीरे शीघ्रगामी जहाजों में ईंधन का नाम खनिज तेलों से लिया जाने लगा। कोयले की अपेक्षा तेल सस्ता भी पड़ता था। उधर जहाँ जहाज हजारों टन कोयला लादकर अपनी लम्बी यात्रा के लिए चला करते थे, वहाँ अब उनका काम थोड़े-से तेल के भरे पीपे और टैङ्क से ही चलने लगा।

किन्तु तेल का प्रयोग भट्टियों तक ही सीमित रह गया हो, सो बात नहीं है। डा० डीजेल नामक एक जर्मन ने पानी की भाप बनाने की झंझट में पड़े बिना सीधे तेल से चलनेवाले इंजिन बनाने की बात सोची। उसने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये, और थोड़े ही समय उपरान्त तेल की भाप से चलनेवाले इंजिन उसने तैयार कर लिये। तेल से चलनेवाले डीजेल इंजिनों में सबसे बड़ी खूबी यह है कि ये नितांत हलके होते हैं तथा जगह भी कम घेरते हैं। इन इंजिनों में अलग से भट्टी और ब्वॉयलर रखने का झंझट नहीं। अत: ये काफी लोकप्रिय बन गए।

इंगलैण्ड का सर्वप्रथम जहाज, जिसमें डीजेल इंजिन फिट किया गया था, "फुटलैण्डिया" था। १९१२ में यह क्लाइड नदी में उतारा गया और १९३८ तक बराबर काम देता रहा। डीजेल इंजिन से चलनेवाले जहाजों में धुआँ देनेवाली ऊँची चिमनियों की भी जरूरत नहीं हुआ करती।

डीजेल इंजिन की ईजाद ने मोटर-बोट के निर्माण को भी प्रोत्साहन दिया। इन हलके इंजिनों के बगैर मोटर-बोट की दौड़-प्रतियोगिता कभी सम्भव न थी। ऐसी मोटर-बोटों की रफ्तार क्रमश: ११० मील प्रति घण्टा तक पहुँच गई। जिस समय विद्युत्-गति से ये किश्तियाँ पानी पर भागती हैं, तो पानी की सतह से समूची ऊपर उठ जाती हैं। केवल इनके पिछले भाग का थोड़ा-सा हिस्सा पानी के वक्षःस्थल को छूता रहता है। मोटर-लाइफ-बोट (जान बचानेवाली नौका) अपनी तीव्र गति के कारण बड़ी उपयोगी साबित हुई है। दुर्घटना स्थल पर कम से कम वक्त में पहुँच जाना इसने संभव कर दिया है।

समुद्रयात्रा में दिशाज्ञान के लिए कुतुबनुमा निस्संदेह बड़े काम की चीज है, किन्तु लोहे के बने जहाजों में कुतुबनुमा की सुई लोहे के कारण प्रभावित हो जाती थी। अत: कुतुबनुमा को ठीक रखने के लिए अनेक प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ती थी। आधुनिक युग के जहाज अब दिशा-ज्ञान के लिए कुतुबनुमा का आसरा नहीं देखते। वे अब जाइरो-स्कोप-कम्पास का प्रयोग इस काम के लिए करते हैं! जाइरो-

स्कोप-कम्पास और बच्चों के लट्टू के सिद्धांत में कोई अंतर नहीं है। जिस तरह तेजी से नाचते हुए लट्टू को आप तख्ते पर लेकर यदि तख्ते को कितना ही हिलायें-डुलायें तो भी लट्टू सीधे एक दिशा में नाचता रहता है, उसी तरह जाइरो-स्कोप-कम्पास में भी बिजली की मोटर की सहायता से एक चक्का तेजी के साथ घूमता रहता है। इस चक्के को उत्तर दिशा के धरातल में नचाते हैं। अब जब तक पहिये में हरकत रहेगी, पहिया अपने को उत्तर के धरातल में ही रक्खेगा, जिस तरह कि कुतुबनुमा की सुई बार-बार अपना मुंह उत्तर की ओर ही करती है। इस प्रकार के जाइरो-स्कोप का पहिया एक मिनट में हजारों बार घूमता है।

किन्तु लट्टू का काम यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। जाइरोस्कोप की मदद से एक स्वयंक्रिय पतवार भी इन जहाजों में काम करता है। एक खास दिशा के लिए जाइ-रोस्कोपयुक्त पतवार को ठीक कर दिया, बस घण्टों बिना किसी की देखरेख के जहाज उसी दिशा में चलता रहेगा। तनिक भी रास्ता जहाज ने बदला कि जाइरोस्कोप एक बिजली के यंत्र की मदद से पतवार घुमाकर जहाज को पुनः पहली दिशा में कर देता है।

पहले ऊँची लहरों के कारण जहाज हिलते-डुलते बहुत थे। अभी भी बम्बई से एलिफैन्टा की गुफाओं तक जाते समय हलके स्टीमर लहरों के थपेड़े से खूब पलटा खाते हैं। किन्तु बड़े जहाजों में, जहाँ डेक पर टेनिस आदि खेलने तक की सुविधाएँ रहती हैं, इस बात का पूरा विचार रक्खा जाता है कि जहाज में समुद्र के आन्दोलित होने से व्यर्थ की गति न पैदा हो। जहाज का सम-तुलन बनाये रखने के लिए भी जाइरोस्कोप का ही प्रयोग किया जाता है। यह जाइरो-स्कोप जहाज के पेंदे में जुड़ा रहता है। जाइरोस्कोप के चक्के का वजन ५० टन होता है। जब लहरों के थपेड़े से जहाज किसी तरफ डोलता है, तो जाइरोस्कोप का चक्का जहाज की इस हरकत का विरोध करता है। अतः जहाज का समतुलन बिगड़ने नहीं पाता।

आधुनिक जहाजों की विशालता का सही अन्दाज लगाने के लिए जरूरी है कि हम जहाजों के कारखानों में जाकर देखें कि कितने लोग इसके निर्माण में जुटते हैं।

संसार का दूसरा सबसे बड़ा जहाज "क्वीन मेरी" कई

ऑस्ट्रेलिया के निकटवर्त्ती सालोमन द्वीपवासियों की रणनौका, जिसे ये लोग स्वयं ही पेड़ के तने को खोखला करके अपने आप ही बनाते हैं। इन नौकाओं में बैठकर ये हजारों वर्षों से एक द्वीप से दूसरे द्वीप की यात्रा करते रहे हैं।
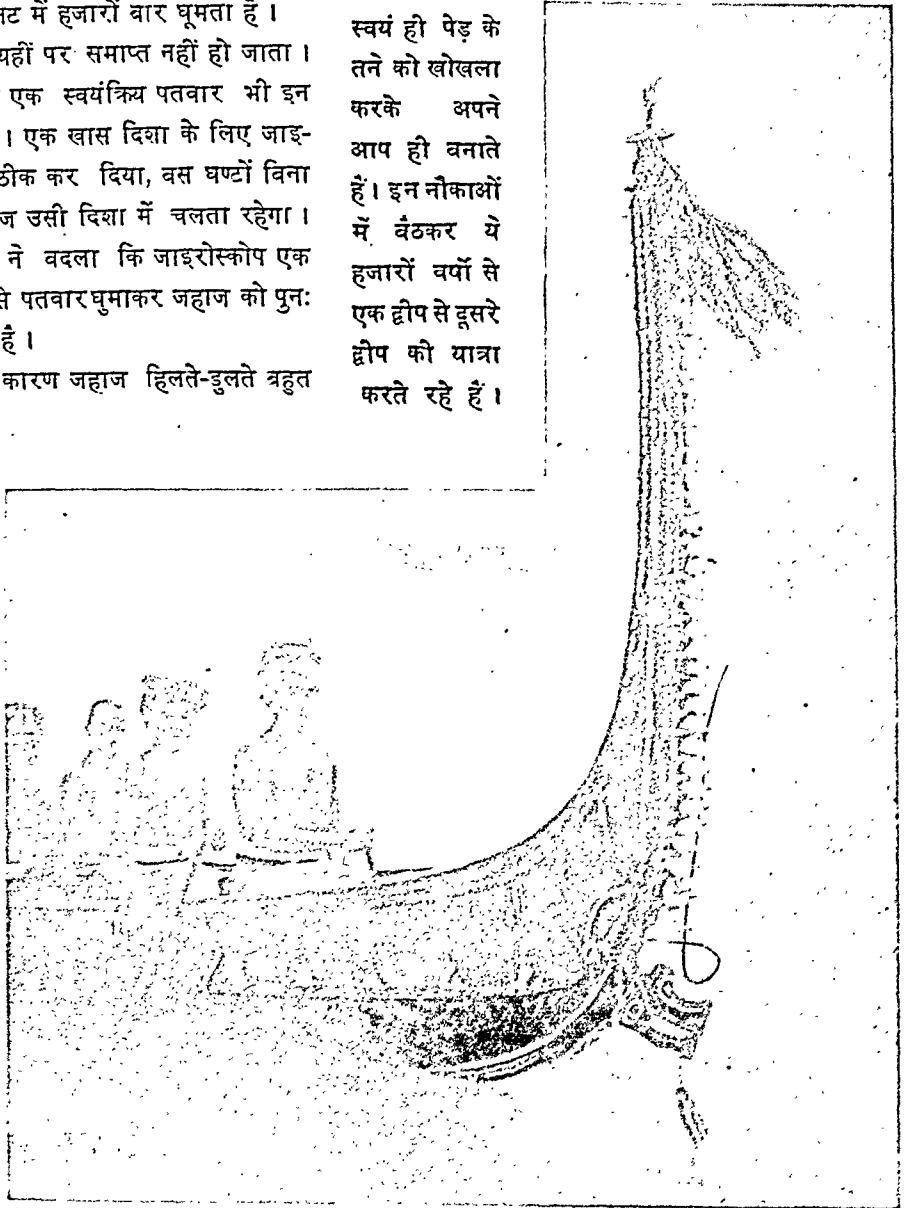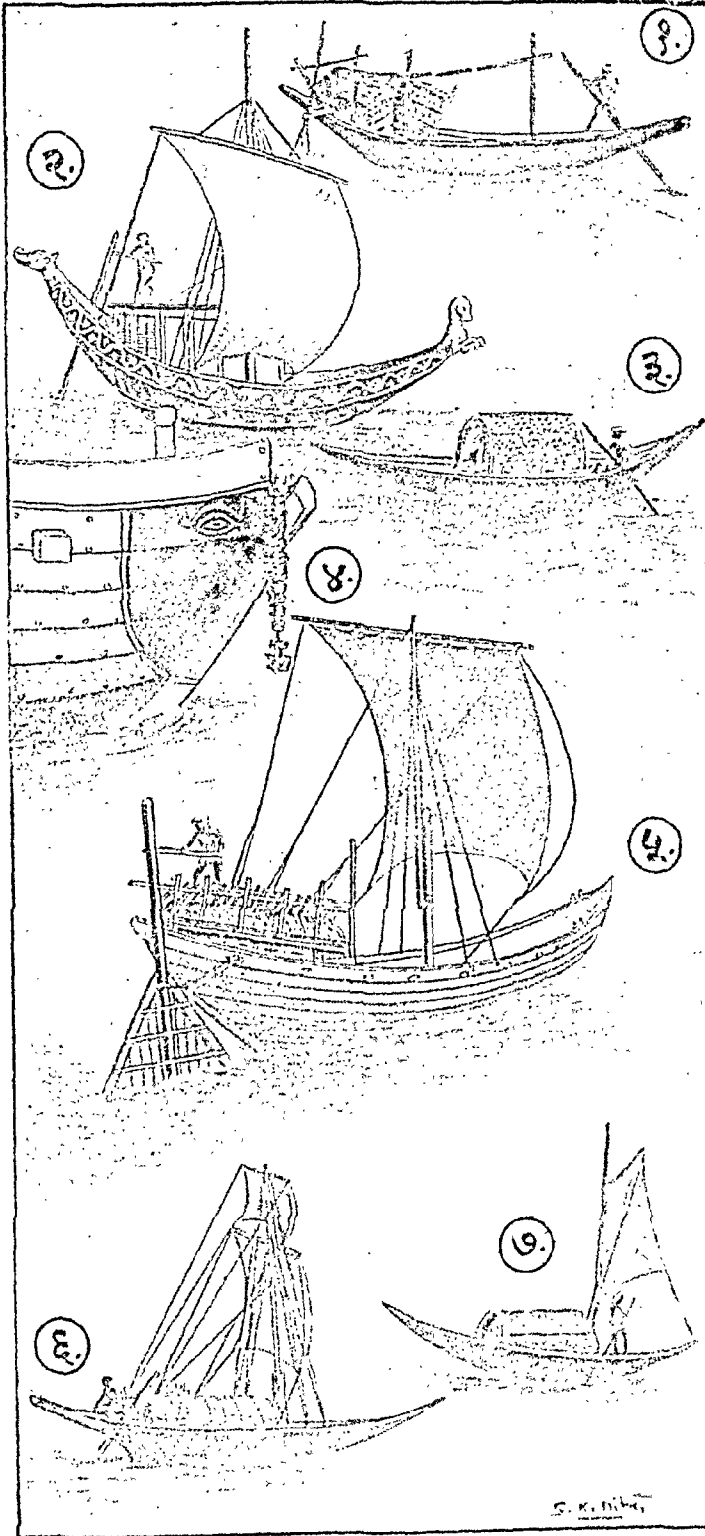
हजार कुशल कारीगरों की सहायता से कई वर्ष में तैयार हो पाया है। यह जहाज १०२० फीट लम्बा और ११८ फीट चौड़ा है। इसका वजन लगभग ८० हजार टन है। इसके इंजिन के लिए २४ विशालकाय ब्वॉयलर स्टीम तैयार करते हैं। इसके स्टीम-टर्बाइन-इंजिनों की शक्ति २ लाख अश्वबल के बराबर है। लगभग ४० लाख गैलन मीठा पानी इसके ब्वॉयलरों में प्रतिदिन खर्च होता है। इसकी चद्दर मजबूत फौलाद की बनी हुई है, और निचले भाग में दुहरी चद्दर लगी हुई है। इन दोनों चद्दरों के बीच ६ फीट चौड़ी जगह है। इस बीच की जगह में अनेक छोटे-छोटे कम्पार्टमेण्ट बने हुए हैं। ये कम्पार्टमेण्ट एक दूसरे से एकदम अलग हैं। यदि किसी दुर्घटना में यह जहाज दूसरे जहाज से लड़ गया तो छेद होने पर पानी एक ही आध कम्पार्टमेण्ट में घुस पायगा। जहाज का शेष भाग पानी के खतरे से एकदम सुरक्षित रहेगा। जहाज में कुल २० भिन्न-भिन्न डेक हैं। यह जहाज कई हिस्सों में एस्बेस्टस नामक अज्वलनशील पदार्थ की दीवालों की सहायता से बाँट दिया गया है, ताकि आग लगने पर समूचे जहाज में आग तुरन्त फैल न जाय। जहाज में चारों तरफ बिजली के तार लगे हुए हैं। तखमीना लगाया गया है कि इन तारों की कुल लम्बाई ४,००० मील होगी। रोशनी के लिए जहाज में ३०,००० बल्ब जलते हैं। बिजली

विभिन्न प्रकार की भारतीय नौकाएँ: १. बंगाल में गंगा नदी पर बोझा ढोनेवाली 'होला' नामक नौका; २. पुराने जमाने का बनारसी बजड़ा; ३. एक से अधिक आदमियों द्वारा खेई जानेवाली डिंगी; ४. माल ढोनेवाली बनारसी नौका का एक भाग; ५. बड़ा पालदार बनारसी बजड़ा; ६. मलारपांशी नामक छोटी नौका; ७. एक आदमी की डिंगी।
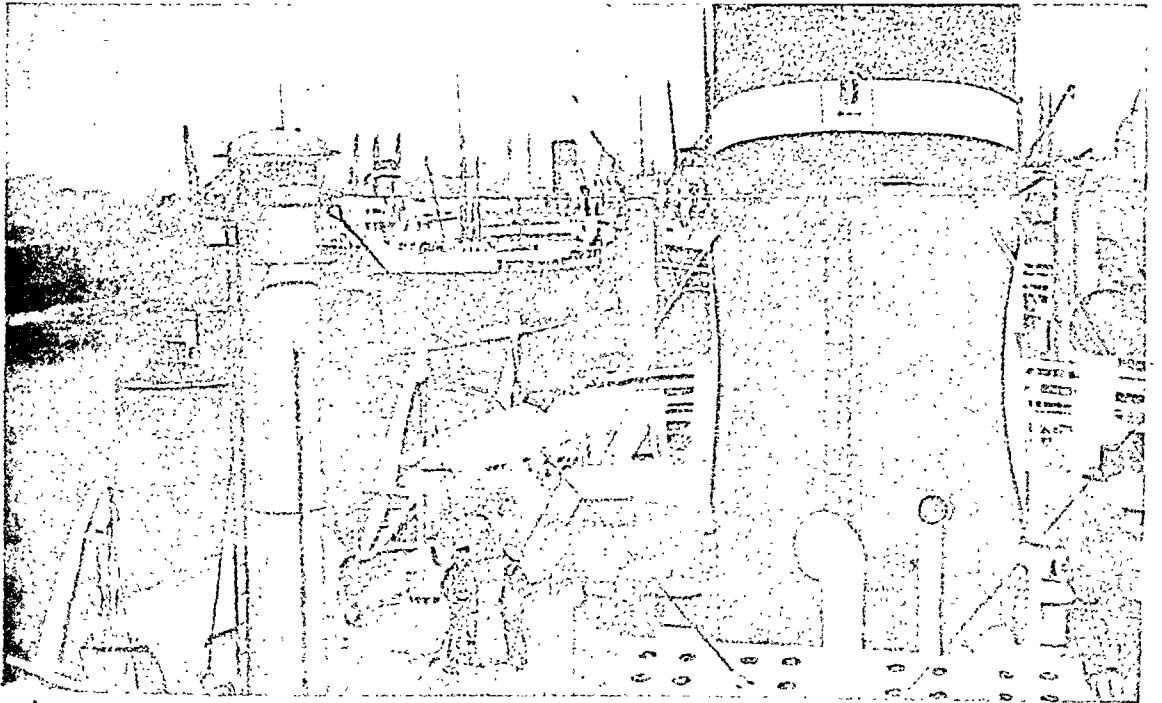
(ऊपर) अमेरिका के एक बहुत बड़े यात्रियों के जहाज "अमेरिका" (वजन ३०,००० टन) के निर्माण का दृश्य। (नीचे) संसार के सबसे बड़े बंदरगाह लंदन के रॉयल अलबर्ट डॉक का दृश्य। यहाँ संसार भर के जहाज आते-जाते रहते हैं।

द्वारा एक डेक से दूसरे डेक पर जाने के लिए लिफ्ट परिचालित होते हैं, इसी से टेलीफोन का काम चलता है और नहाने के लिए पानी भी बिजली ही के चूल्हों पर गरम किया जाता है। पिछली शताब्दी का यात्री, जो जहाज में अपनी निज की मोमवत्ती रात को जलाता था, क्वीन मेरी के इस वैभव को देखकर कितना आश्चर्यचकित होगा! इसके लंगर उठाने-गिराने के लिए और लाइफ-बोट को उतारने के लिए भी विद्युत् शक्ति की सहायता ली जाती है।

'क्वीन मेरी' का बेतार का तारघर भी नूतनतम

एक आधुनिक सबमरीन या पनडुब्बी

इस तरह के जहाज डुबकी लगाकर सतह से बहुत नीचे पानी के भीतर-ही-भीतर समुद्र में गश्त लगाते रहते हैं। ये केवल युद्ध-कार्य के लिए ही बनाये गये हैं। ऊपर एक ११०० टन वजनवाली ब्रिटिश सबमरीन का चित्र है।

बना सकते हैं। नाविकों के अतिरिक्त २००० मुसाफिरों के लिए इस जहाज में जगह है। उनके मनोरंजन के लिए जहाज में ही स्नानागार तथा अनेक प्रकार के आमोद-गृह और क्लब भी बने हैं। इस जहाज के सिनेमाघर किसी भी बड़े शहर के सिनेमाहाल से किसी तरह कम नहीं हैं।

आधुनिक जहाजों के निर्माण में पूरी सावधानी से काम लिया जाता है। जहाज की रचना का काम प्रारम्भ होने के पहले उसका मॉडल तैयार कर लिया जाता है। इस मॉडल के प्रत्येक अंग का अनुपात एकदम सही पैमाने पर रहता है। मॉडल तैयार हो जाने पर प्रयोगशाला के अन्दर तालाब में चलाकर देखते हैं कि मॉडल में किसी प्रकार का दोष तो नहीं है। यदि उसमें कोई नुक्स देखा तो उस मॉडल की जगह फिर से नया मॉडल तैयार करते हैं। जब पूरा इतमीनान हो जाता है कि इस मॉडल में कोई दोष नहीं है, तब उसी के अनुसार वास्तविक जहाज के निर्माण का काम आरम्भ होता है। लेखक जब यूनिवर्सिटी की बोट-टीम का कैप्टेन था, एक रेसिंग बोट बनवाने का उसे अवसर मिला था। बढ़ई को रेसिंग बोट का कुछ भी ख्याल न था—निदान जब बोट बनकर तैयार हुई, तो पानी पर उतारने पर वह फौरन एक ओर लौट गई। मजबूर होकर उसे छिन्न-भिन्न करना पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस बोट के लिए कोई मॉडल तैयार नहीं किया गया था।

लड़ाई के काम में लाये जानेवाले जहाजों की बाहरी चद्दर बहुत मोटी होती है, तथा इनका वजन भी ज्यादा होता है, ताकि तोप दागने का धक्का ये आसानी से सहन कर सकें। इसी कारण लड़ाई के जहाज बहुत महँगे पड़ते हैं। "नेलसन" नामक एक ब्रिटिश लड़ाकू जहाज में १६ तोपें लगी हुई हैं। बटन दबाते ही एक-एक तोप दगने लगती है। इनसे २० मील की दूरी पर गोले जाकर गिरते हैं। एक फुट मोटी फौलाद की चद्दरों को भी ये गोले भेद सकते हैं! लड़ाई के जहाजों के डेक इतने लम्बे-चौड़े होते हैं कि डेक पर से हवाई जहाज उड़ सकते हैं, तथा आसमान से उन पर उतर भी सकते हैं। आधुनिक लड़ाई के जहाजों के पास अपने वायुयान भी रहते हैं। इस प्रकार शत्रु पर दोहरा हमला करने में ये समर्थ होते हैं। गत द्वितीय महायुद्ध ने युद्ध के काम के लिए पनडुब्बी जहाजों की उपयोगिता योरप के सामने प्रकट की। उस महायुद्ध में इंगलैण्ड के एक तिहाई जहाज जर्मनों की पनडुब्बियों द्वारा नष्ट कर दिये गये थे।

आधुनिक जहाज का एक जाइरोस्कोप जो बिना किसी व्यक्ति की मदद के बिल्कुल सही तरीके से दिशा विशेष की ओर जहाज का संचालन करता है।

पिछले २२ वर्ष के जमाने में सबमैरीन ने भी लम्बे कदम आगे बढ़ाये हैं। वजन, रफ्तार और इंजिन की उसकी शक्ति पहले की अपेक्षा आज की पनडुब्बियों की बहुत बढ़ी हुई है। उन दिनों सब से अधिक शक्तिशाली सबमैरीन के इंजिन की शक्ति ८०० अश्वबल थी, और आज 'नॉटिलस' जैसी परमाणु-शक्ति से संचालित ऐसी पनडुब्बियाँ बन चुकी है, जो चाहें तो एक ही बार म बिना ईंधन-पानी लिये सारी पृथ्वी का चक्कर लगा सकती हैं। निश्चय ही अपने बुद्धिबल से मनुष्य ने स्थल के साथ-साथ जल पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। वस्तुतः समुद्र आज भी दुनिया का प्रधान राजमार्ग है और कदाचित् शताब्दियों तक उसकी उपयोगिता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। इधर परमाणु-शक्ति ने आवागमन के

यांत्रिक साधनों के विकास की एक बिल्कुल ही नवीन मंजिल हमारे समक्ष ला उपस्थित की है। अब न तो हजारों मन कोयला और न तेल की विशालकाय टंकियों ही का झमेला जहाजों पर रखने की झंझट उठानी पड़ेगी। बस, यूरेनियम जैसे रेडियमधर्मी पदार्थ की एक चुटकी भर राशि ही ईंधन के तौर पर ले लेना पर्याप्त होगा और जहाज पूरा अटलांटिक महासागर पार कर ले जाएँगे। कब ऐसे इंजिन बनने लगेंगे, अभी उसकी निश्चित तिथि तो नहीं बताई जा सकती। परन्तु 'नॉटिलस' के निर्माण ने उस युग का उद्घाटन कर दिया है, इसमें संदेह नहीं।

वायु पर विजय—(१)

गुब्बारे से वायुपोत तक कैसे पहुँचे !

मनुष्य के अनेकानेक अद्भुत आविष्कारों में आकाश में विचरण करने की कला का आविष्कार भी एक विशेष महत्व रखता है। इस अद्भुत खोज ने आज के दिन मनुष्य के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी है। आकाश-मार्ग के उद्घाटन ने मानों हमारे जल और स्थल के बंधनों और सीमाओं को तोड़ दिया है। अभी तो इसकी शुरुआत ही है, आगे इस दिशा में न जाने कितनी उन्नति की संभावना है। इस और अगले प्रकरण में हम मनुष्य की इसी महत्वपूर्ण खोज का हाल सुना रहे हैं।

पक्षियों को आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करते देख, मनुष्य ने आज से लाखों वर्ष पहले ही इस सम्बन्ध में अपनी लाचारी और बेबसी को महसूस किया होगा। इधर-उधर घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता के लिहाज से मनुष्य तो पक्षियों के सामने पासंग में भी नहीं टिक सकता। आदमी एक अन्धी मछली की भाँति हवा के इस अथाह सागर के तल पर रेंगता फिरता है। चन्द फीट ऊँची दीवाल सामने आई तो बस वहीं रुकना पड़ा, या सामने कोई चौड़ी खाई आई तो उसे पार करने में भी असमर्थ ! इसके प्रतिकूल पक्षियों को हर दिशा में स्वतंत्रता प्राप्त है। ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, किसी भी ओर पलक मारते - मारते पक्षी उड़कर जा सकते हैं। जिन पहाड़ों और खाइयों को पार करने में मनुष्य को घंटों लग जाते हैं, उन्हें पक्षी चन्द सैकण्ड में पार कर लेते हैं। कदाचित् इसी कारण अतीतकाल से ही मनुष्य के मन में पक्षियों की भाँति आकाश में विचरने की एक तीव्र लालसा उत्पन्न हुई होगी।

इस तीव्र लालसा की छाप हर देश के प्राचीन साहित्य पर पड़ी है। पौराणिक कथाओं तथा आख्यायिकाओं के रूप में कवियों और लेखकों ने अपनी इस कामना को खुल कर खेलने का मौका दिया। जिस किसी भी व्यक्ति में असाधारण शौर्य्य या प्रतिभा दिखाना हुआ, उसे विमानों की सवारी प्रदान कर दी ! पुष्पक विमान का उल्लेख रामायण में आया है। अन्य देशों में भी
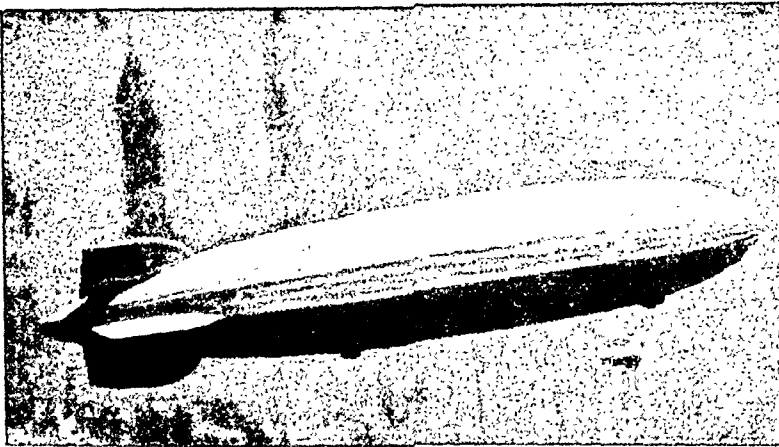
आकाश और वायु पर मनुष्य की विजय का महान् प्रतीक

यह न्यूयार्क शहर पर मँडराते हुए महान् जर्मन वायुपोत 'हिंडनबर्ग' का चित्र है, जो दुर्भाग्यवश बाद में जलकर खाक हो गया था। यह इस युग का सबसे बड़ा वायुपोत था।
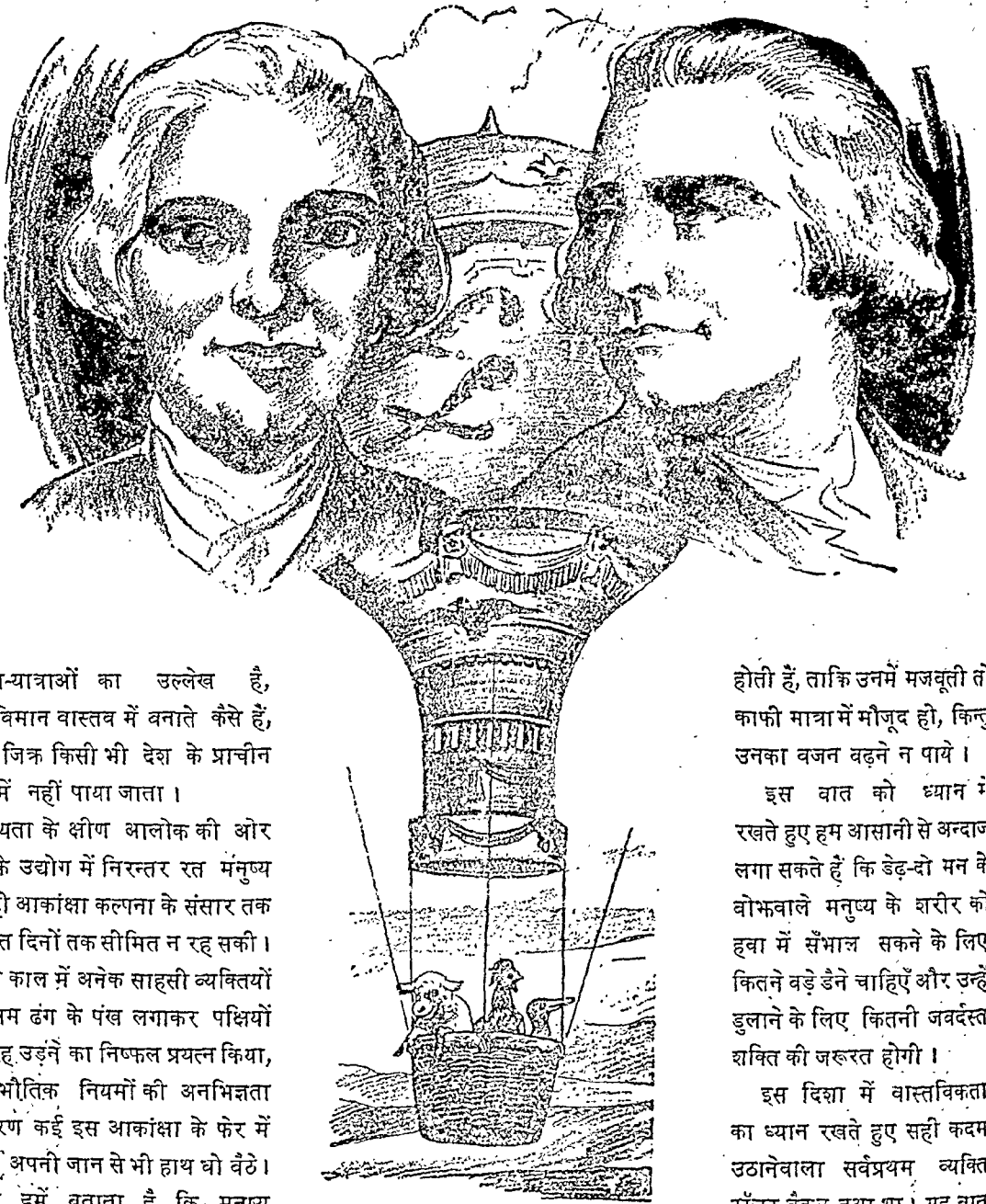
आकाश-यात्राओं का उल्लेख है, किन्तु विमान वास्तव में बनाते कैसे हैं, इसका जिक्र किसी भी देश के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता।

सभ्यता के क्षीण आलोक की ओर बढ़ने के उद्योग में निरन्तर रत मनुष्य की यही आकांक्षा कल्पना के संसार तक ही बहुत दिनों तक सीमित न रह सकी। प्रारम्भ काल में अनेक साहसी व्यक्तियों ने कृत्रिम ढंग के पंख लगाकर पक्षियों की तरह उड़ने का निष्फल प्रयत्न किया, किन्तु भौतिक नियमों की अनभिज्ञता के कारण कई इस आकांक्षा के फेर में आकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठे। विज्ञान हमें बताता है कि मनुष्य पंख डुलाकर केवल अपनी शक्ति से पक्षियों की तरह हवा में क्यों नहीं उड़ सकता। किसी भी पक्षी के शरीर को लीजिए, उसके डैने क्षेत्रफल में शरीर के बोझ के मुकाबले में कितने बड़े होते हैं! फिर उसके शरीर की हड्डियाँ भी निहायत हल्की और खोखली होती हैं, ताकि उनमें मजबूती तो काफी मात्रा में मौजूद हो, किन्तु उनका वजन बढ़ने न पाये।

मोन्टगोलफियर-बन्धु और उनका गुब्बारा, जो एक मुर्गा, एक भेड़ और एक बतख को लेकर आठ मिनट तक आकाश में उड़ा था। आकाश में गुब्बारों द्वारा उड़ने के मार्ग का सर्वप्रथम उद्घाटन करने का श्रेय मोन्टगोलफियर बन्धुओं को ही प्राप्त है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम आसानी से अन्दाज लगा सकते हैं कि डेढ़-दो मन के बोझवाले मनुष्य के शरीर को हवा में सँभाल सकने के लिए कितने बड़े डैने चाहिएँ और उन्हें डुलाने के लिए कितनी जबर्दस्त शक्ति की जरूरत होगी।

इस दिशा में वास्तविकता का ध्यान रखते हुए सही कदम उठानेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति रॉजर बैकन हुआ था। यह बात १३वीं शताब्दी की है। उसने गौर किया कि गरम करनेसे चीजें प्रायः हलकी हो जाती हैं। प्राप्त वायु भी ठण्डी वायु की अपेक्षा हल्की होगी। अब यदि एक वृहत्काय खोखले बर्तन में गरम हवा भर दी जाय, तो बाहर

की हवा में यह बर्तन उसी प्रकार तैरेगा जैसे पानी पर किश्ती तैरती है। धातु का बना हुआ तप्त वायु से भरा हुआ गोला यदि किसी ऊँचे स्थान से हवा में लुढ़का दिया जाय तो वह अवश्य हवा में इधर-उधर तैरता रहेगा। रॉजर वैकन पूर्ण विश्वास के साथ लिखता है कि इस बर्तन के अन्दर कोई ऐसी मशीन रखी जा सकती है, जो बर्तन के बाहर लगे हुए पंख को तेजी के साथ डुला सके। ऐसा करने से चिड़ियों की तरह मनमानी दिशा में तेज रफ्तार के साथ हम उड़ सकेंगे। किन्तु रॉजन वैकन ने भी वास्तव में कभी अपनी इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया।

पंख लगाकर उड़ने का खब्त अभी तक यहाँ-वहाँ लोगों के अन्दर मौजूद था। इसलिए इन्हीं दिनों इंगलैंड का एक पादरी अपने शरीर में चिड़ियों के पंख बाँधकर एक ऊँचे मीनार से इस आशा में कूदा कि नीचे गिरते समय ये पंख उसका बोझ सँभाल लेंगे और वह चील की तरह मँडराता हुआ धीरे-धीरे जमीन पर सकुशल उतर आयेगा। किन्तु उसके कृत्रिम पंखों ने उसकी तनिक भी मदद न की और बेचारा इतने जोर से गिरा कि हाथ-पैर टूट गये।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सफलता प्राप्त करने का श्रेय मोन्टगोलफियर बन्धुओं को प्राप्त है। नवम्बर १७८१ ई० में चिमनी से धुएँ को ऊपर उठते देखकर उन्होंने विचार किया कि इस धुएँ के बल से हल्की चीजें ऊपर को उठ सकती हैं। पतले कागज का थैला बनाकर ऊपर उठाए हुए उन्होंने उसे आग के ऊपर रक्खा तो गरम हवा उस थैले में भर गई और तुरन्त वह थैला ऊपर को उठ चला। इस प्रयोग की सफलता देखकर दोनों भाइयों की प्रसन्नता की सीमा न रही। एक तरह से मोन्टगोलफियर भाइयों को हम गुब्बारे का जन्मदाता कह सकते हैं।

इनके इस अद्भुत आविष्कार की खबर जनता में बिजली की तरह फैल गई। फलस्वरूप ५ जून, १७८३, को
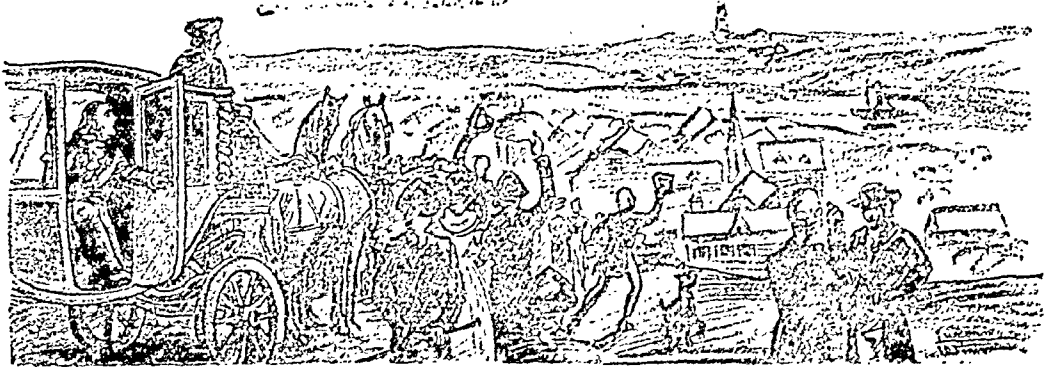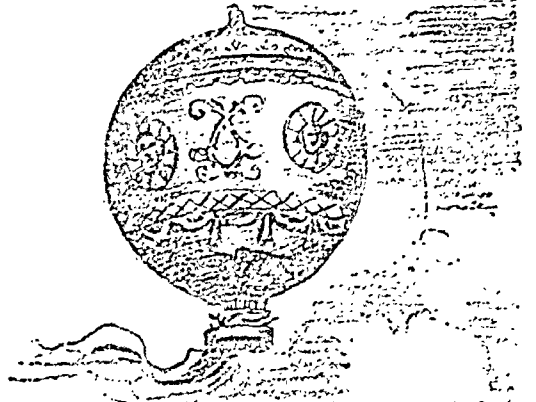
संसार का सर्वप्रथम उड़ाका डी रोजियर और उसका बैलून

(ऊपर बाईं ओर) डी रोजियर, जो अक्टोबर १५, १७८३, को एक बैलून में बैठकर सबसे पहले आकाश में उड़ा था। महीने भर बाद वह फिर एक साथी के साथ ३,००० फीट की ऊँचाई तक उड़ा। इस उड़ान का दृश्य दाहिनी ओर के चित्र में दिखाया गया है।

जनता के सामने गुब्बारे के एक बहुत बड़े प्रदर्शन का आयोजन किया गया। राज्यपरिषद् के सदस्य तथा आम जनता की भीड़ ने कुतूहल-भरे नेत्रों से इस करिश्मे को देखा। ११० फीट की परिधि के गुब्बारे की कागज की खोल सामने मैदान में पड़ी हुई थी। गुब्बारे के पेंदे में सूराख था। इसी सूराख के रास्ते धीरे-धीरे भूसे की आग की गरम हवा इस गुब्बारे में प्रवेश करने लगी। थोड़ी देर में यह सुडौल गुब्बारा ऊपर उठकर १॥ मील की ऊँचाई पर पहुँच गया और ठंडा होकर फिर नीचे उतर आया। कुल दस मिनट का समय लगा। इस गुब्बारे की खोल पर वार्निश पुती हुई थी ताकि हवा की साँस बाहर निकल न सके।

कुछ ही दिन पहले हाइड्रोजन गैस के गुणों की जाँच कैवेन्डिश ने की थी। हाइड्रोजन साधारण हवा से पंद्रहवाँ हिस्सा हल्की होती है। अतः गरम हवा के स्थान पर हाइड्रोजन को गुब्बारे में भरने की बात सोची गई। फलस्वरूप पेरिस में सर्वप्रथम हाइड्रोजनवाला गुब्बारा तैयार किया गया। १४ मन लोहे का चूर और ८ मन गन्धक के तेजाब से इस गुब्बारे में भरने के लिए हाइड्रोजन गैस तैयार की गई। इस गुब्बारे का व्यास १३ फीट था और वजन केवल १० सेर। इसकी खोल रेशम की बनी थी, जिस पर गोंद की पतली वार्निश चढ़ाई हुई थी। यह गुब्बारा ३०० फीट ऊँचा उठा और मूसलाधार वारिश में भी ४५ मिनट तक आकाश में उड़ता रहा।

इसके कुछ ही दिनों बाद मोन्टगोल्फियर ने एक दूसरा गरम वायु का गुब्बारा बनाया और इस गुब्बारे से एक टोकरी लटका दी, जिसमें एक मुर्गा, एक भेड़ और एक बत्तख बैठी हुई थी। आठ मिनट के बाद जब गुब्बारा धरती पर उतरा तो ये तीनों सही-सलामत दिखाई दिये। इस प्रयोग को देखकर लोगों को स्वयं गुब्बारे में
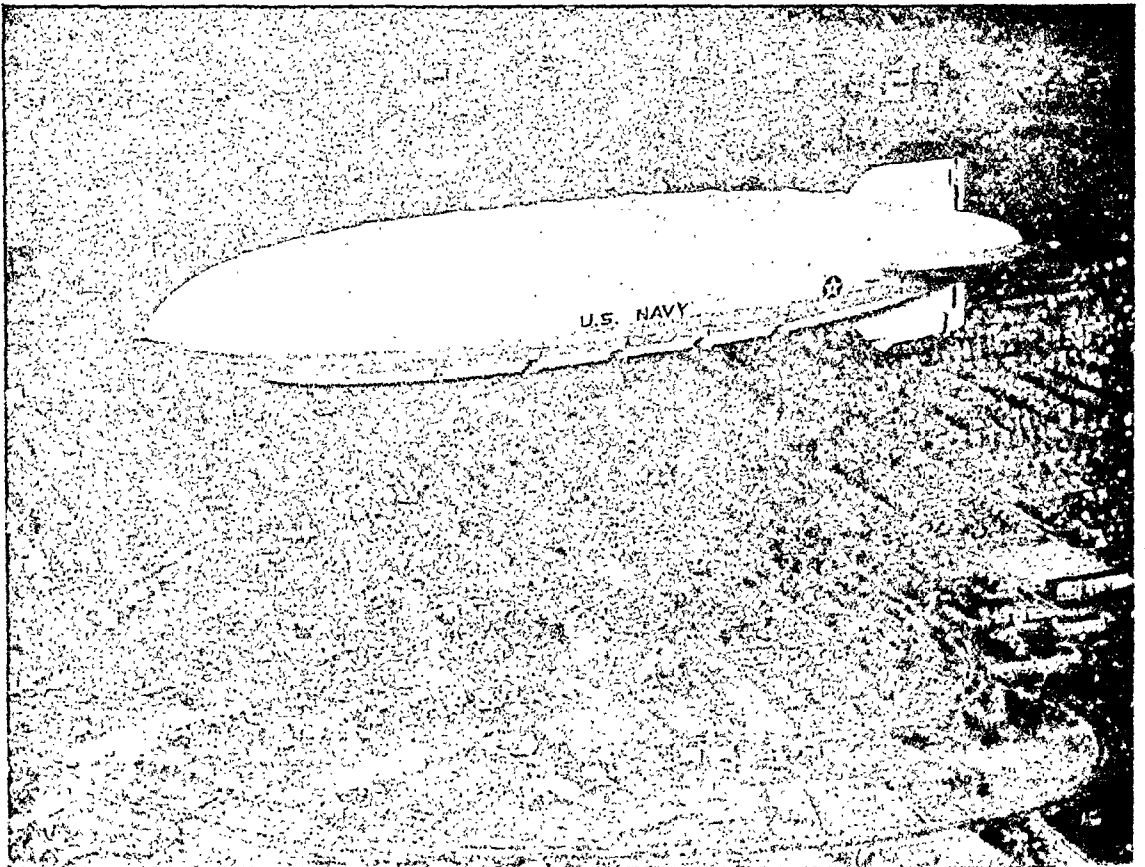
अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत 'एक्रॉन' पहले-पहल आकाश में उड़ रहा है!
जलने से बचने के लिए इसमें हीलियम गैस भरी गई, फिर भी दुर्भाग्यवश १९३५ में आँधी और तूफान के झोंके में आकर यह नष्ट हो गया।

सवार होकर ऊपर जाने की हिम्मत हुई। अक्टूबर १७८३ में फ्रान्स का एक नवयुवक रोजियर एक गरम वायु के वैलून की टोकरी में अकेले वैठकर ऊपर गया। हवा में उड़नेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति वही था। वाद में एक साथी को लेकर वह ३,००० फीट की ऊँचाई तक भी उड़ने में सफल हुआ!

अव हाइड्रोजनवाले गुब्वारे भी इस दिशा में पीछे न रहे। अमेरिका के फिलाडेलफिया प्रान्त में उसी महीने में एक व्यक्ति हाइड्रोजनवाले गुब्वारे में चढ़कर आकाश म उड़ा। फिर तो भिन्न-भिन्न देशों में जैसे गुब्वारों की वाढ़आ गई। दिसम्वर १७८४ में रावर्ट और चार्ल्स दो व्यक्ति हाइड्रोजनवाले वैलून में वैठकर १० हजार फीट ऊँचे तक उड़े। इसी साल लिओं में मैडम थिवुल नामक फ्रेंच महिला हाइड्रोजनवाले वैलून में चढ़ी। आकाश में भ्रमण करनेवाली यह सर्वप्रथम महिला थी।

वैलून उड़ाने की कला से अव लोग भली भाँति परिचित हो चुके थे—किन्तु अभी तक वैलून का प्रयोग केवल मनोरंजन तक ही सीमित था। वैज्ञानिक अन्वेषण के सिलसिले में आकाश की वायु का ताप, दवाव, आदि का नाप-जोख करने के लिए वैलून का सर्वप्रथम प्रयोग १८०५ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गेलुजाक ने किया था। परन्तु इसके वाद एक निष्क्रियता का जमाना आया और करीव ५० वर्ष तक इस दिशा में कुछ विशेष काम नहीं हुआ। हाँ, इंगलैण्ड में इसी वीच वायुमंडल का महत्त्वपूर्ण अध्ययन जारी रहा। १८६२-६६ के वीच ग्लेशर ने वैलून में सवार होकर ऊर्ध्वाकाश की कई वार सैर की और वायुमण्डल के ऊपरी वायुस्तर के वारे में नई-नई वातें ढूंढ़ निकालीं। वादलों की ऊँचाई, उनका घनत्व, भिन्न-भिन्न वायुधाराओं की दिशा तथा उनका वग, हवा में विद्युत् की मात्रा, हवा का दवाव और उसका ताप इन सभी वातों पर पर्याप्त प्रकाश उसने डाला। ग्लेशर के लिए निस्संदेह यह वड़े गौरव की वात थी कि आकाशीय उड़ान के प्रयत्नों के इस शुरू के जमाने में भी अपने को खतरे में डालकर वह ऊर्ध्वाकाश में ६॥ मील की ऊँचाई तक पहुँचा था। तदुपरान्त ऊर्ध्वाकाश में समय-समय पर वैज्ञानिक अनुसन्धान के निमित्त और भी अभियान होते रहे। १९०१ में वर्लिन से दो साहसी अभियानकारी वैलून में वैठकर आकाश में ७ मील की ऊँचाई तक पहुँचे थे। इस क्षेत्र में प्रो० पिकार्ड ने इधर विशेष ख्याति पाई है। सन् १९३३ में वह अनुसन्धान के लिये ९½ मील की ऊँचाई तक उड़े थे। फिर नवम्वर १९३५ में विशेष तैयारी के साथ दो अमेरिकन स्टीवेन्स और एन्डर्सन दुनिया के सवसे वड़े वैलून में ऊर्ध्वाकाश के अभियान के लिए उड़े थे। ये लोग १४ मील से भी कुछ फीट ऊपर पहुँच गये थे!
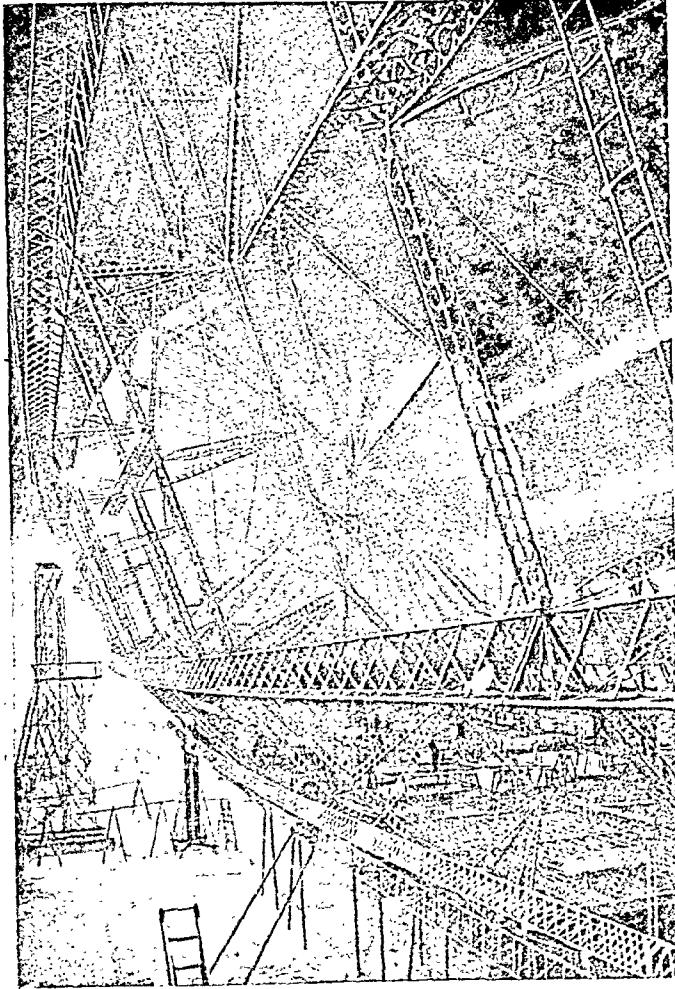
अँगरेजों के वड़े वायुपोत 'आर-१०१' का विशाल कंकाल! यह वायुपोत भी दुर्घटनावश जलकर नष्ट हो गया था।

हाइड्रोजनवाले वैलून के आविष्कार के बाद ही उड़ाकों ने वैलून द्वारा लम्बी यात्राएँ पूरी करने की योजनाएँ वनाईं। तदनुसार इंगलिश चैनेल पार करने का प्रयत्न कई साहसी व्यक्तियों ने किया। इसी उद्योग में वेचारे रोजियर की जान गई। किन्तु १७८५ में ब्लैकर्ड और जेफ्री ने एक अपने निज के डिजाइन के वैलून में वैठकर इंगलिश चैनेल को पहली वार पार किया। फिर तो वैलून द्वारा लम्बी यात्राएँ पूरी करने की धुन लोगों में इतनी फैली कि १८९७ में आन्द्रे ने स्विट्जवर्ग से अपने दो साथियों को लेकर वैलून में उत्तरी ध्रुव के लिए अभियान किया। पर यह सारी टोली वहीं मौत की भेंट हो गई। पूरे ३० वर्ष वाद वर्फ के ढेर के अन्दर से उनकी लाशें मिलीं! साधारण वैलून द्वारा पूरी की गई सवसे लम्वी यात्रा का रेकार्ड १०३२ मील के फासले का है, जवकि सितम्वर १९३५ में वॉरसा से स्टैलिनग्रेड तक ५७ घंटे ५४ मिनट में यह यात्रा पूर्ण की की गई थी।

किन्तु वैलूनवाली इन सभी यात्राओं में वैलून को निरन्तर हवा की मर्जी पर निर्भर रहना होता था। हवा के झोंके जिधर चाहे उसी ओर उसे ले जाएँ। तत्कालीन सभी वैज्ञानिक इस उधड़वुन में थे कि कौन-सी ऐसी तरकीव निकले, जिसमें गुव्वारे को इच्छित दिशा में ले जाना सम्भव हो। इस उद्योग में कई एक विचित्र मशीनें वनीं। धीरे-धीरे लोगों ने इस वात को महसूस किया कि हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए यह आवश्यक है कि वैलून गेंद की तरह गोल न हो, वल्कि सिगार की तरह गावदुम शक्ल का हो। क्योंकि इस शक्ल के वैलून की सतह पर से हवा आसानी से फिसल सकेगी। अतः एक फ्रेंच जनरल ने १७८४ में एक सिगार की शक्ल का वैलून वनाया और उसमें हाथ से चलानेवाले पतवार लगाये ताकि उनकी मदद से वैलून का नियमन कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पतवार कार्यकर सावित न हो सके।
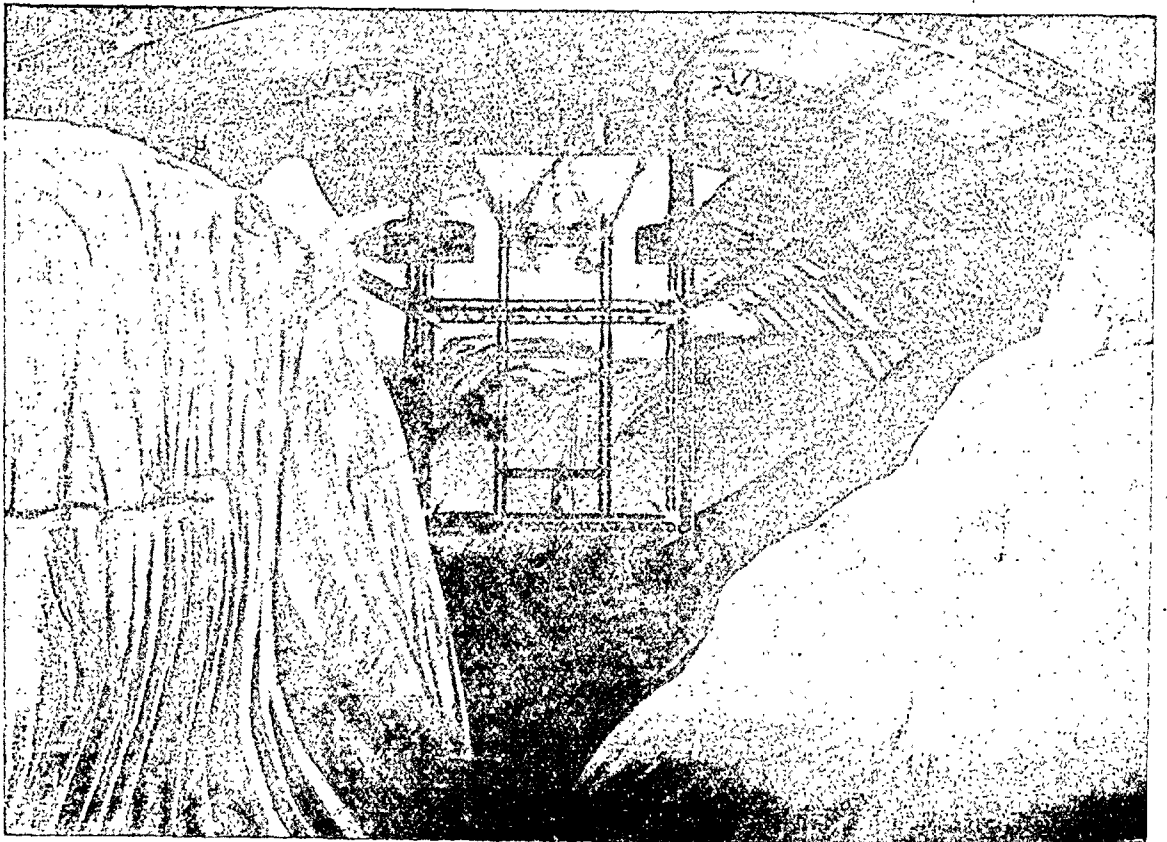
संसार के सवसे वड़े वायुपोत 'हिंडनवर्ग' के ढाँचे का भीतरी दृश्य

इस विशाल ढाँचे के भीतर गैस भरने के १६ वड़े-वड़े थैले थे, जिनमें ७० लाख घन फीट हाइड्रोजन भरी जाती जाती थी। चित्र में थैले खाली दिखाई दे रहे हैं।

वास्तविक रूप में पहला नियम्य (Dirigible) बैलून गिफार्ड ने १८५२ में तैयार किया। सिगार के आकार का यह बैलून ११४ फीट लम्बा और ३९ फीट चौड़ा था। इसके संचालन के लिए एक हलके वाष्प-इंजिन का प्रयोग किया गया था। स्थिर हवा में ४ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से यह बैलून उड़ा था। फिर भी वाष्प-इंजिन का बोझ इतना अधिक था कि ऐसे बैलून कुछ अधिक कार्य-कर साबित न हो सके, क्योंकि ये तेज रफ्तार पकड़ ही नहीं पाते थे।

हाँ, पेट्रोल-इंजिन की ईजाद ने इस क्षेत्र में लोगों को अवश्य उत्साहित किया। १८९७ में डाक्टर उल्फर्ड ने अपने बैलून में पेट्रोल-इंजिन लगाया, किन्तु बीच आकाश में इंजिन के फट जाने से समूचे बैलून में आग लग गई और उल्फर्ड भी उसी आग में भुनकर खत्म हो गया। दूसरे साल सैन्टो ड्यूमा ने मोटर लगे हुए वायुयान तैयार किये। इस उत्साही युवक ने एक-एक करके १४ वायुपोत तैयार किये। अपने नियम्य बैलून में बैठकर १९ अक्टूबर, १९०१, को १९ मील की रफ्तार से उसने पेरिस की एफिल टावर के कई चक्कर लगाये। ड्यूमा का वायुपोत बिना ढाँचेवाला था—वह सिगार की शक्ल का एक बड़ा-सा थैला था, जिसके अंदर हाइड्रोजन कसकर भरी रहती थी। हाइड्रोजन के ही दबाव के कारण इसकी गावदुम शक्ल कायम रहती थी। हाइड्रोजन निकल जाने पर वह एकदम पिचक जाता था।

'मूरिङ्ग मास्ट' या वायुपोत को बाँध रखनेवाला लौह स्तम्भ

इसे हम वायुपोत रूपी आकाशीय जहाजों का 'घाट' कह सकते हैं, क्योंकि इसी पर आकर ये जहाज टिकते और यात्री लोग इसी के द्वारा इन जहाजों पर चढ़ते-उतरते हैं। इस मूरिंग मास्ट से 'आर-१०१' बँधा दिखाया गया है।

आधुनिक बिना ढाँचेवाले वायुपोत साइज में अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते हैं। थोड़ी दूर तक आने-जाने के लिए ये बड़े ही उपयुक्त साबित होते हैं। पिछले योरपीय महायुद्ध में ऐसे वायुपोतों को प्रायः पनडुब्बियों का पता लगाने के लिए काम में लाया जाता था।

बिना ढाँचेवाले वायुपोत में हाइड्रोजन गैस के थैले की खोल से रेशम की मजबूत डोरियों के सहारे एक गाड़ी लटकती रहती है। इसी गाड़ी में इंजिन लगा रहता है तथा पेट्रोल रखने और आठ-दस यात्रियों के बैठने के लिए जगह बनी रहती है। गैस के थैले में छोटे-छोटे कई खाने एक दूसरे से अलग भी बने रहते हैं, जिनमें हाइड्रोजन के बजाय हवा कसी रहती है। ज्यों-ज्यों पेट्रोल खत्म होता जाता है, कार का बोझ भी हलका पड़ता जाता है, फलस्वरूप समूचे वायुपोत का घनत्व भी कम हो जाता है और वह आकाश में और ऊँचा उठना चाहता है। उसे एक नियत ऊँचाई पर ही रखने के लिए थैले के अन्दर से थोड़ी हाइड्रोजन बाहर निकल जाने देते हैं और इन खाली खानों में साधारण हवा भर देते हैं ताकि वायुपोत का घनत्व पहले जैसा हो जाय, साथ ही उसकी शक्ल भी पूर्ववत् बनी रहे।

इस तरह के वायुपोत लगभग २५० फीट की लम्बाई तक बनाये जाते हैं। इस ढंग के वायुपोत अगर बड़े साइज के तैयार किये जायँ तो उनमें यह खराबी आ जाती है कि तेज हवा के झोंके के सामने पड़ते ही इनका गैसवाला थैला दुहर जाता है और कभी-कभी तो ये फट भी जाते हैं। इसी कारण बड़े साइज के वायुपोतों के लिए पहले से मजबूत ढाँचा तैयार कर लिया जाता है ताकि उनके दुहरने या फटने का डर न रहे। कभी-कभी पूरा ढाँचा न तैयार करके केवल अर्द्ध-ढाँचे का ही प्रयोग करते हैं।

अर्द्ध-ढाँचेवाला वायुपोत बहुत-कुछ बिना ढाँचे के वायुपोत के ढंग पर बनता है। इसे मजबूती देने के लिए इसके सिगारनुमा थैले के पेंदे में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक मजबूत गर्डर लगा देते हैं, जैसा समुद्र के जहाजों में अक्सर लगा हुआ होता है। फिर इसी गर्डर से इंजिन-कार वगैरह लटकाते हैं। किन्तु इस तरह के अर्द्ध-ढाँचेवाले वायुपोतों की संख्या बहुत कम है।

बहुत दूर का फासला तय करने के लिए ऐसे वायुपोतों की जरूरत थी जो काफी मजबूत हों, ताकि हजारों मील की यात्रा की कठिनाइयों को आसानी से वे सह सकें। इसी जरूरत को पूरा करने के लिए ढाँचेवाले वायुपोतों का आविष्कार हुआ। इस श्रेणी के वायुपोत एक जर्मन आविष्कारक काउण्ट जैप्लिन के मस्तिष्क की खास उपज है। काउण्ट जैप्लिन ने ही बिना ढाँचेवाले वायुपोतों के दुहर जाने की खराबी को दूर करने के लिए तरकीब ढूँढ़ी। उसने अल्यूमिनियम की मजबूत तीलियों की मदद से एक विशालकाय ढाँचा तैयार किया ताकि उसी के अन्दर हाइड्रोजन भरा हुआ थैला रखा जा सके। ढाँचे के अन्दर १५ अलग-अलग खाने थे और हर खाने में गैस के ढोलनुमा थैले रक्खे गये थे। गैस को अलग-अलग थैलों में रखने से यह लाभ रहता है कि यदि किसी एकाध थैले में छिद्र हो जाय तो अन्य थैलों में से गैस बाहर न निकल सके। थैलों के बीच कुछ थोड़ी-सी जगह खाली भी रख छोड़ी गई थी ताकि बाहरी हवा के दबाव के घटने-बढ़ने से गैस में होनेवाले संकुचन या प्रसार के लिए काफी गुंजाइश बनी रहे। पूरे ढाँचे पर लिनन की एक पतली किन्तु मजबूत चद्दर चढ़ाई गई थी, ताकि हवा के झोंकों का झटका सीधे गैस के थैलों पर न लगे। ढाँचे से लटकती हुई दो गाड़ियाँ भी इस वायुपोत में थीं। प्रत्येक गाड़ी में १६ अश्वबल का पेट्रोल इंजिन लगा हुआ था। इस विशालकाय ढाँचे की पूँछ पर पतवार लगा हुआ था, जिसका सम्बन्ध इंजिन से था। इस तरह का ढाँचायुक्त वायुपोत सर्वप्रथम जून १९०० में १८ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से उड़ा। ढाँचेयुक्त वायुपोतों की शक्ल उसमें भरी हुई गैस के दबाव पर बिल्कुल ही निर्भर नहीं रहती।। अपने आविष्कारक के नाम पर ऐसे नियम्य वायुपोतों का नाम ही जैप्लिन पड़ गया।

जर्मन महायुद्ध में शुरू-शुरू में जर्मन जैप्लिन वायुपोतों ने लन्दन में बमवर्षा करके जनता में भीषण आतंक उत्पन्न कर दिया था। फिर तो कुछ ही दिनों के उपरान्त जर्मनी के अतिरिक्त इंगलैंड और अमेरिका में भी जैप्लिन के निर्माण का काम जोरों से शुरू हो गया। लोगों ने उसके डिजाइन में तरह-तरह के सुधार भी किये। यहाँ तक कि आधुनिक जैप्लिन वायुपोतों में १६ हजार से ज्यादा भिन्न-भिन्न पुर्जे अब फिट किये जाते हैं। ढाँचे के गर्डर और शहतीरों की कुल लम्बाई करीब ७० मील तक पहुँचती है और उनको बाँधनेवाले तार की कुल लम्बाई ५३ मील से भी ऊपर उतरती है। गाड़ियाँ इस ढाँचे से चन्द फीट नीचे को लटकती हैं। प्रायः चार गाड़ियाँ आजकल के जेप्लिनों में लगी हुई होती हैं।

सबसे आगेवाली गाड़ी का आकार काफी बड़ा होता है और इसमें वायरलेस यंत्र, कन्ट्रोल केबिन और एक इंजिन रहता है। कन्ट्रोल केबिन में दिशासूचक तथा ऊँचाई नापने के यंत्र लगे रहते हैं। कप्तान यहीं से जैप्लिन का संचालन करता है। टेलीफोन द्वारा एक गाड़ी के व्यक्ति दूसरी गाड़ी के व्यक्तियों से बात कर सकते हैं। शेष तीन गाड़ियों में भी इंजिन लगे होते हैं। इन इंजिनों की कुल शक्ति १,२०० से लेकर ४,००० अश्वबल तक पहुँचती है। मुख्य ढाँचे के दोनों सिरों पर पतवार और ऊँचाई नियामक यंत्र लगे रहते हैं। इन्हीं की मदद से कप्तान वायुपोत को इच्छित ऊँचाई पर और जिस दिशा में चाहे उधर ले जा सकता है।

पेट्रोल और पानी की टंकियाँ ढाँचे के अन्दर पेंदे में रक्खी होती हैं, ताकि इनका बोझ वायुपोत का समतुलन कायम रख सके। ढाँचे के अन्दर ही एक सँकरी गली-सी बनी रहती है। इसी गली से होकर आप एक गाड़ी में से दूसरी गाड़ी में जा सकते हैं। लम्बी यात्रा में यात्री लोग इसी गली में टहलकर व्यायाम भी कर सकते हैं। यात्रियों के सोने का इन्तजाम भी इसी ढाँचे के अन्दर होता है। रात के समय जब नींद मालूम होने लगी, तो अपनी गाड़ी से चढ़कर ऊपर ढाँचे के अन्दर चले गये और लटकते हुए पालने में आराम के साथ लेट गये। बिना ढाँचेवाले वायुपोतों में इन सब आराम के साधनों के लिए कहाँ गुंजाइश हो सकती थी?

महायुद्ध के बाद सवारी ढोने और सेना-सम्बन्धी काम, दोनों के लिए इंगलैंड, अमेरिका आदि में जैप्लिनों का निर्माण तेजी के साथ होने लगा। आकाशपथ से हजारों मील की लम्बी यात्रा रास्ते में बिना कहीं रुके हुए पूरी करने के लिए जैप्लिन सबसे ज्यादा उपयुक्त साबित हुए। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-३४' को सबसे पहले अटलाण्टिक महासागर पार करने का श्रेय प्राप्त हुआ। और १९३४ में तो जर्मन वायुपोत ग्रेफ जैप्लिन ने सारी दुनिया की प्रदक्षिणा लगा ली। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-१०१' ने भी लम्बी उड़ान में बड़ा नाम कमाया था। किन्तु १९३० में फ्रान्स की एक पहाड़ी से टकराकर यह जल उठा और ४८ प्राणी इस दुर्घटना में नष्ट हुए।

निस्सन्देह जैप्लिन-निर्माण में जर्मनी का स्थान अब तक सर्वोपरि रहा है। जर्मनी का सबसे बाद का वायुपोत

'हिन्डनवर्ग' था। इसमें ७० लाख घन फीट हाइड्रोजन भरी हुई थी। अब तक तैयार हुए तमाम वायुयान इसके आकार के सामने बौने-से जँचते थे। ८१३ फीट लम्बा और १३५ फीट चौड़ा इसका ढाँचा था। इसके ढाँचे की खोल के ऊपर अल्यूमिनियम पाउडर की सफेद पालिश की हुई थी, ताकि सूर्य की तप्त किरणें वायुपोत को विशेष गरम न कर सकें। इसके इंजिनों की कुल शक्ति ४,००० अश्वबल के बराबर थी। इसके इंजिन में पेट्रोल नहीं प्रयुक्त होता था, बल्कि उसकी जगह क्रूड तेल का प्रयोग करते थे। इस तरह इसके परिचालन में कम खर्च बैठता था। साथ ही अनुमान यह भी था कि यदि कोई दुर्घटना हुई तो क्रूड तेल पेट्रोल की तरह फौरन् विस्फोट न कर बैठेगा। किन्तु नियति की कुदृष्टि देखिए—१९३७ में आकाशपथ की यह रेल भी दुर्घटना के चक्कर में पड़कर खाक हो गई!

एक बार की उड़ान में बीच में कहीं पर इंजिनकेलिए ईंधन लियेबिना यह वायुपोत८,००० मील का रास्ता आसानी के साथ ८० मील प्रति घंटे की रफ्तार से तय कर सकता था। कप्तान, ड्राइवर वगैरह को मिलाकर कुल ९०व्यक्तियों के लिए इस वायुपोत में जगह थी। स्नानगृह, वाचनालय, भोजनगृह और शयनागार तथा ५० फीट लम्बी डेक—सभी आवश्यक चीजों का इस वायुपोत पर समावेश किया गया था।

प्रो० पिकार्ड का आकाश-अभियान!
इसी गुब्बारे के नीचे बँधे हुआ गंडोला में प्रो० पिकार्ड और उनके साथी बैठे थे। चित्र में बाजू काटकर भीतर का भाग दिखाया गया है।

इसके प्रतिकूल ग्रैफ जैप्लिन नामक वायुपोत, जो १९२८ में जर्मन जनता के चन्दे से तैयार हुआ था, बराबर १९३७ तक बिना एक भी दुर्घटना के अटलाण्टिक महासागर के एक छोर से दूसरे छोर तक सवारी ढोता रहा। किन्तु हिन्डनवर्ग की दुर्घटना के कारण अधिकारीगण 'ग्रैफ जैप्लिन' की ओर से भी शंकित हो गये और उन्होंने उसे छुट्टी दे दी। ग्रैफ जैप्लिन का विशालकाय ढाँचा अब जैप्लिन वायुपोतों का संग्रहालय बना दिया गया है।

वायुपोत-सम्बन्धी लगभग ९० प्रतिशत दुर्घटनाएँ गैस बैग की हाइड्रोजन में आग लगने के कारण हुई हैं। अतः ऐसी गैस की तलाश थी, जो हलकी भी हो, साथ ही आग पकड़नेवाली न हो। ऐसी एक गैस 'हीलियम' ही है। इसकी उड़नशक्ति भी हाइड्रोजन से कुछ ही कम है। किन्तु जैप्लिन के लिए इतनी महँगी गैस का प्रयोग करना सम्भव न था। १९०० में जब काउण्ट जैप्लिन ने अपना सर्वप्रथम नियम्य वायुपोत तैयार किया था, तब हीलियम विज्ञानशालाओं की एक नायाब चीज समझी जाती थी। उन दिनों इसका मूल्य प्रति घन फुट २००० पौण्ड था। किन्तु इस बीच में अमेरिका में खनिज तेल के कुओं से हीलियम गैस सस्ते में तैयार की जाने लगी। यहाँ तक कि अब प्रति घन फुट दो पैसे के हिसाब से हीलियम गैस खरीदी जा सकती है।

अतः अब आग की दुर्घटनाओं से बचने के लिए अमेरिकाके कई जैप्लिनों में हीलियम गैस का प्रयोग होने लगा है। जैप्लिनों में हीलियम गैस का प्रयोग करने पर वायुपोत के बोझ उठाने की शक्ति कम हो जाती है, और व्यावसायिक दृष्टिकोण से इस कमी के प्रति उदासीन नहीं रहा जा सकता; क्योंकि सवारी और माल दोनों पर जैप्लिन के संचालन का मुनाफा निर्भर है। हीलियम गैस भरने पर येजैप्लिन पहले की अपेक्षा कम माल-असबाव ढो सकेंगे। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हीलियम का प्रयोग करने पर भी हम जैप्लिनों को दुर्घटनाओं से सुरक्षित न बना सके। १९३५ में अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत 'एक्रॉन'—जिसमें हीलियम भरी थी और जो दुर्घटनाओं से परे समझा जाता था—आँधी और विद्युत् तूफान के झोंके के चक्कर में आकर समुद्र में गिरकर डूब गया और ७४ प्राणी तुरन्त जलमग्न हो गये! केवल तीन अपनी जान बचा पाये।

फिर भी आग से बचने के लिए हीलियम का प्रयोग यथासम्भव हर जैप्लिन में किया जा रहा है और जैप्लिन के ढाँचे का बोझ कम करने के लिए भारी भरकम-गर्डर

की जगह खास ढंग पर तैयार की हुई धातु की चद्दरें भी काम में लाई जा रही हैं।

हाइड्रोजनवाले जैप्लिन में इंजिन का ईंधन ज्यों-ज्यों खर्च होता है, जैप्लिन हल्का होकर त्यों-त्यों ऊपर चढ़ना चाहता है। उसे ऐसा करने से रोकने के लिए हाइड्रोजन के एकाध थैले को खोल देते हैं, जिससे हाइड्रोजन बाहर निकल जाती है और वायुपोत का घनत्व पहले-जैसा बना रहता है तथा जैप्लिन भी उसी पहल की ऊँचाई पर उड़ता रहता है। किन्तु हीलियम-जैसी महँगी गैस को इस तरह नष्ट नहीं कर सकते। अतः हीलियमवाले जैप्लिनों का घनत्व एक-सा बनाये रखने के लिए एक दूसरा ही उपाय काम में लाते हैं। इंजिन से निकलनेवाली भाप को ठण्डी करके पानी बना लेते हैं और उसे इकट्ठा करते जाते हैं। इस तरह पेट्रोल के वजन की कमी पूरी हो जाती ह और जैप्लिन अनायास ही ऊपर चढ़ने नहीं पाता।

हाइड्रोजन से भरे वायुपोतों के लिए सबसे बड़ा खतरा उनमें आग का लगना है। इससे 'हिंडनबर्ग' जैसे वायुपोत भी न बच सके। इसीसे बचाव के लिए वायुपोतों म अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का प्रयोग होने लगा है।

हीलियमवाले जैप्लिनों के ढाँचे के अन्दर ही इंजिन और मुसाफिरों के बैठने की गाड़ी भी रखी जा सकती है, क्योंकि अब उसमें आग लगाने का खतरा नहीं। ऐसा करन से निस्सन्देह हवा की अवरोधक शक्ति बहुत कम पड़ जायगी और तब जैप्लिन की रफ्तार में भी काफी वृद्धि की जा सकेगी।

जैप्लिन वायुपोत जमीन पर नहीं उतरा करते। लोहे के विशालकाय स्तम्भ, जिन्हें 'मूरिंग मास्ट' कहते हैं, इन वायुपोतों के लिए लंगर का काम देते हैं। हवा में उड़ता हुआ जैप्लिन जब मूरिंग मास्ट के ऊपर पहुँचता है, तो जैप्लिन से लटकता हुआ एक मजबूत तार मूरिंग मास्ट की एक घूमती हुई पुली से लिपट जाता है। तेजी के साथ घूमती हुई पुली वायुपोत को अपनी तरफ खींच लेती है और अन्त में वायुपोत के अगले सिरे में लगी हुई एक कँटिया मूरिंग मास्ट के आँकड़े में फँस जाती है। अब यात्रीगण जैप्लिन से बाहर निकलकर इस मूरिंग मास्ट पर आते हैं और विद्युत् लिफ्ट से नीचे उतर आते हैं। ये मूरिंग मास्ट बड़े मजबूत होते हैं। तेज-से-तेज आँधी भी मूरिंग मास्ट से जैप्लिन को अलग नहीं कर सकती। हाँ, हवा की दिशा के साथ जैप्लिन का रुख भी बदलता रहता है। कुछ थोड़े-से ड्राइवर और मिस्त्री इस समय भी वायुपोत का समतुलन कायम रखने के लिए वहाँ ड्यूटी पर लगे रहते हैं।

जैप्लिनों के सम्बन्ध में एक भारी खर्चका मद है उनके रखने के लिए घर का निर्माण। ये घर या शेड प्रायः २०० फीट ऊँचे होते हैं और इनके फर्शका क्षेत्रफल कभी-कभी तो आठ-दस एकड़ तक पहुँच जाता है। उपयोगिता की दृष्टि से हवा से हलके इन वायुपोतों में पंख लगे हुए वायुयानों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ होती हैं। काफी धीमी रफ्तार पर ये अपने मूरिंग मास्ट पर और ऐसी जगह में भी जहाँ किसी भी वायुयान के लिए उतरना सम्भव नहीं उतर सकते हैं। फिर वायुपोत इंजिन के बन्द हो जाने पर भी आकाश में भ्रमण कर सकते हैं; क्योंकि ये हवा से हलके होते हैं। इंजिन का काम केवल इन्हें किसी नियत दिशा में ले जाना होता है। लेकिन वायुयान में जहाँ पेट्रोल चुका कि वह बेतहाशा नीचे को गिरा! वायुपोत इस खतरे से बरी हैं। किन्तु जहाँ तेज रफ्तार का प्रश्न आता है, वहाँ वायुयान के आगे वायुपोत को कोई पूछता भी नहीं। इसीलिए सैनिक दृष्टि से भी वायुयानों को विशेष महत्व प्राप्त है।

पिछले दिनों, जब से अंतरिक्ष-यात्रा के स्वप्न मनुष्य के मन में जगने लगे हैं, ऊर्ध्वाकाश के सूक्ष्म अध्ययन के लिए बड़े जोर-जोर के साथ प्रयत्न होने लगे हैं। पिकार्ड और स्टीवेन्स की उड़ान के बाद और भी कई लोग गुब्बारे में बैठकर ऊँचाई तक आसमान में ऊपर उठे हैं। अब आदमी के ऊपर आकाश में उठने का रेकर्ड लगभग एक लाख फीट तक पहुँच चुका है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कार्य रूस में हुआ है। उसने तो न केवल अपने 'स्पुतनिक' नाम कृत्रिम उपग्रह ही पृथ्वी के आसपास हजार मील ऊपर स्थापित कर दिए हैं, बल्कि रॉकेटों में कुत्ते जैसे जीवित पशुओं को दो-ढाई सौ मील तक ऊपर भेजकर उन्हें सही सलामत वापस पृथ्वी पर उतारा है।

वायु पर विजय—(२)

हवा से हलके गुब्बारों और वायुपोतों के आविष्कार और विकास की कहानी पिछले लेख में आप पढ़ चुके हैं, इस लेख में हवा से भारी और पंखदार वायुयानों की उत्पत्ति और विकास का विवरण दिया जा रहा है। आगे के अन्य किसी प्रकरण में हम आज के युग के वायुयानों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

जिन दिनों बैलून-सम्बन्धी प्रयोग जारी थे, कुछ विचारशील व्यक्तियों का ध्यान पतंग की ओर भी गया। उन्होंने सोचा कि पतंग घनत्व में हवा के भारी होती है, फिर भी डोर खींचने से पतंग हवा से जोर से ऊपर चढ़ जाती है, तो क्या यह मुमकिन नहीं है कि एक विशालकाय पतंग बनाई जाय, जो अपनी पूँछ में लटकाकर भारी बोझ ऊपर उड़ा ले जाय? इसी गुत्थी को सुलझाने के उद्योग में लोगों ने बक्सनुमा पतंगें तैयार कीं। समान आकार की दो पतंगों को एक दूसरे के समानान्तर रखकर पतली लकड़ी के जरिए उनके चारों कोनों को मिला दिया गया। इनके बीच में दो तीन इंच की दूरी रक्खी गई। बक्सनुमा पतंग के दोनों पृष्ठभागों पर वायु का झोंका लगता है; इस कारण साधारण पतंगों की अपेक्षा इसमें उठान ज्यादा होती है। समतुलन कायम रखने के लिए साधारण पतंगों की तरह इसमें पूँछ लगाने की भी जरूरत नहीं होती।

फ्रांस में इसी ढंग की कई बक्सनुमा पतंगों को एक साथ बाँधकर एक ढाँचा तैयार किया गया। फिर एक आदमी की कमर में रस्सी बाँधकर उसे उसी ढाँचे में बाँध दिया गया। हवा के झोंके से जब पतंगों का यह बेड़ा ऊपर आकाश में उठा, तो उसी बेड़े के संग वह आदमी भी ऊपर उठ गया। जब हवा का वेग कुछ कम होता, तो वह आदमी पतंग को लिये हुए धम से जमीन पर आ गिरता, फिर जब हवा तेज होती तो वह आदमी आसमान में पुनः उड़ जाता। यह घटना १८९० की है।

इन प्रयोगों के आधार पर कुछ ही दिनों बाद ग्लाइडरों का निर्माण हुआ। लम्बे-चौड़े पंख के बने ढाँचे में अपनी दोनों बाहों को फँसाकर उड़ाके किसी ऊँची पहाड़ी से नीचे उपत्यका में कूद पड़ते। पंख में हवा का धक्का लगता, इस कारण ग्लाइडर काफी देर में हवा में पतंग की तरह धीरे-धीरे मँडराता हुआ उतरता। ग्लाइडर के प्रयोग में लोगों ने बड़ी दिलचस्पी ली। भिन्न-भिन्न देशों में ग्लाइडिंग क्लब खुल गय और अनेक साहसी व्यक्तियों ने इस खतरनाक प्रयोग में हिस्सा लिया। बर्लिन के एक इंजिनियर ऑटो लिलिएन्थैल ने खूब सोच-विचार कर अपने लिए चिड़ियों के पंख जैसा एक ग्लाइडर तैयार किया था। दो लम्बे-लम्बे पंख बीच में जुड़े हुए थे। पंख जहाँ जुड़े हुए थे वहीं पर एक चौड़ा सूराख था, जिसमें अपना आधा धड़ डालकर लिलिएन्थैल ग्लाइडर को मजबूती से पकड़ लेता था। अब ग्लाइडर को लेकर हवा के रुख के खिलाफ वह पहाड़ी की ढाल पर दौड़ता और कुछ ही क्षणों में ऊपर उठ जाता था। यदि हवा तेज हुई तो ग्लाइडर की उड़ान भी दूर तक होती। चार-पाँच वर्ष के अरसे में लिलिएन्थैल ने २००० उड़ान अपने ग्लाइडर पर पूरी की थीं। किन्तु आखिरी उड़ान में जमीन से करीब ६० गज की ऊँचाई पर लिलिएन्थैल का ग्लाइडर उलट गया और वह बेतहाशा जमीन पर गिरा। नीचे स्वयं वह था और ऊपर उसका ग्लाइडर। फौरन् ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये!

तदुपरान्त एक उत्साही अंग्रेज नवयुवक पिल्चर ने लिलिएन्थैल के प्रयोगों का अध्ययन करके अपने लिए एक ग्लाइडर तैयार किया, जिसके नीचे पहिये भी लगे

हुए थे। मोटर के जरिये ग्लाइडर को वे ढालू जमीन पर तेज रफ्तार से दौड़ाते और इस तरह हवा का झोंका पाकर ग्लाइडर जमीन से ऊपर उठ जाता। पिल्चर ने अपने ग्लाइडर में पेट्रोल इंजिन फिट करने की बात भी सोची थी, किन्तु एक दिन उसका ग्लाइडर बीच आसमान में टूट गया और अपने ग्लाइडर के साथ वह जमीन पर ढेर हो गया। उसकी हवा में मनमाने उड़ने की इच्छा उसी के साथ चली गयी।

किन्तु इन इक्की-दुक्की दुर्घटनाओं से लोग हताश नहीं हुए। ग्लाइडर के प्रयोग बराबर जारी रहे। हवा के झोंके भिन्न-भिन्न शक्ल के धरातल पर क्या प्रभाव डालते हैं, आकाश की हवा में समतुलन कायम रखने के लिए सबसे उपयुक्त ढाँचा कौन-सा हो सकता है, इन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर ग्लाइडर-सम्बन्धी प्रयोगों ने काफी रोशनी डाली। वायुयानों के निर्माण के इतिहास में निस्सन्देह ग्लाइडर को विशिष्ट स्थान प्राप्त है; क्योंकि वायुयान को ऊपर उठाने के लिए केवल उपयुक्त इंजिन बना लेने से हमारा काम नहीं चल सकता, जब तक कि हम यह न जान लें कि हवा में वायुयान का समतुलन किस प्रकार कायम रक्खा जा सकता है तथा कैसे हम आसानी के साथ उसे इच्छित दिशा में घुमा-फिरा सकते हैं। इस जानकारी जो हासिल करने के लिए ग्लाइडर से बढ़कर अन्य कोई साधन हो भी नहीं सकता था।

ग्लाइडर के प्रयोग से लोगों ने यह भी महसूस किया कि यदि ग्लाइडर के पंख को थोड़ा-बहुत झुकाया जा सके तो ग्लाइडर और भी सुरक्षित बन सकेगा। क्योंकि अगर हवा का बेहद तेज झोंका आया तो पंख झुकाकर हवा के जोर को कम किया जा सकता है। पंख के सामनेवाले हिस्से को जरा ऊपर उठा देने से ग्लाइडर थोड़ी देर तक और हवा में मँडराता रह सकता है। यह भी लोगों ने मालूम किया कि यदि ग्लाइडर के पंख की निचली सतह नतोदर रक्खी जाय और ऊपरी उन्नतोदर, तो ऐसी दशा में ग्लाइडर ज्यादा आसानी से देर तक आसमान में रक्खा जा सकता है। इंजिनियरों ने हिसाब लगाकर यह भी मालूम किया कि एक नियत क्षेत्रफल के पंखवाला ग्लाइडर कुल कितना बोझ सँभाल सकता है। ग्लाइडर के समतुलन कायम रखने के सम्बन्ध में भी काफी जानकारी हासिल की गई।

अमेरिका के ओहियो प्रान्त के निवासी राइट बन्धुओं ने इन नई जानकारियों से फायदा उठाकर अपने ग्लाइडर में क्रान्तिकारी सुधार किये। ग्लाइडर में सर्वप्रथम पतवार लगाने का श्रेय राइट बन्धुओं को ही प्राप्त है। इस पतवार की मदद से राइट बन्धु अपने ग्लाइडर को ऊपर या नीचे इच्छानुसार ले जा सकते थे। गजब की थी इनकी लगन और गजब का था इनका उत्साह! पूरे सात वर्ष तक ये दोनों भाई ग्लाइडर-सम्बन्धी प्रयोगों में लगे रहे। इन दोनों भाइयों ने एक साइकिल की दूकान खोल रक्खी थी और उन सात वर्षों के लम्बे अरसे में, जबकि इनके अनुसन्धान चल रहे थे, दूकान की बचत की पाई-पाई इन भाइयों ने ग्लाइडर और वायुयान के पुर्जे खरीदने में खर्च कर डाली! इन बेचारों के पास इतना पैसा भी न जुट सका कि वे अपनी शादी कर लेते। इस पर वायुयान-सम्बन्धी अनुसन्धान पूरा करने के लिए उन्हें अपनी बहिन से हजारों रुपये कर्ज भी लेने पड़े थे।

राइट बन्धुओं के ग्लाइडर में दुहरे पंख लगे थे, और इन्हीं के सामने छोटे-छोटे दो और पंख लगे थे, जिन्हें तार के जरिए झुकाने से वे ग्लाइडर को इच्छानुसार ऊपर या नीचे ले जा सकते थे। नीचेवाले पंख पर उड़ाकू व्यक्ति औंधे मुँह लेट जाता, ताकि उड़ते समय उसके शरीर के कारण हवा विशेष रुकावट न डाले। अपने इस नये तर्ज के ग्लाइडर से राइट बन्धु बराबर प्रयोग करते रहे। सन् १९०२ में अपने ग्लाइडर के पीछे उन्होंने एक सीधा खड़ा पतवार भी लगाया, जिसकी मदद से ग्लाइडर को दायें-बायें घुमाने में वे समर्थ हो सके।

इन प्रयोगों की सफलता से उत्साहित होकर आखिर राइट बन्धुओं ने निश्चय किया कि इस ग्लाइडर में पेट्रोल-इंजिन भी लगाया जाय। उन दिनों हलके इंजिन तैयार नहीं होते थे, अतः स्वयं राइट बन्धुओं ने ही २५ हॉर्सपावर का एक पेट्रोल-इंजिन बनाया। इसका वजन १२५ सेर था। ग्लाइडर की बिचली लाइन की दाहिनी तरफ निचले पंख पर यह इंजिन फिट किया गया और बायीं ओर पाइलट के बैठने की सीट रक्खी गई थी। इंजिन का सम्बन्ध दो बड़े साइज के प्रोपेलरों से था, जो ग्लाइडर के पीछे लगे हुए थे। ये दोनों प्रोपेलर एक दूसरे की प्रतिकूल दिशा में घूमते थे।

उड़ने के पहले ग्लाइडर को जमीन पर दौड़ाना जरूरी था। राइट बन्धुओं ने इसके लिए भी एक अजीब-सी तरकीब ढूँढ निकाली। एक गाड़ी में मजबूत तार बाँधा गया। यह गाड़ी एक लम्बी रेल की पटरी पर खड़ी थी। ग्लाइडर उसी गाड़ी पर रक्खा था। तार के दूसरे छोर से
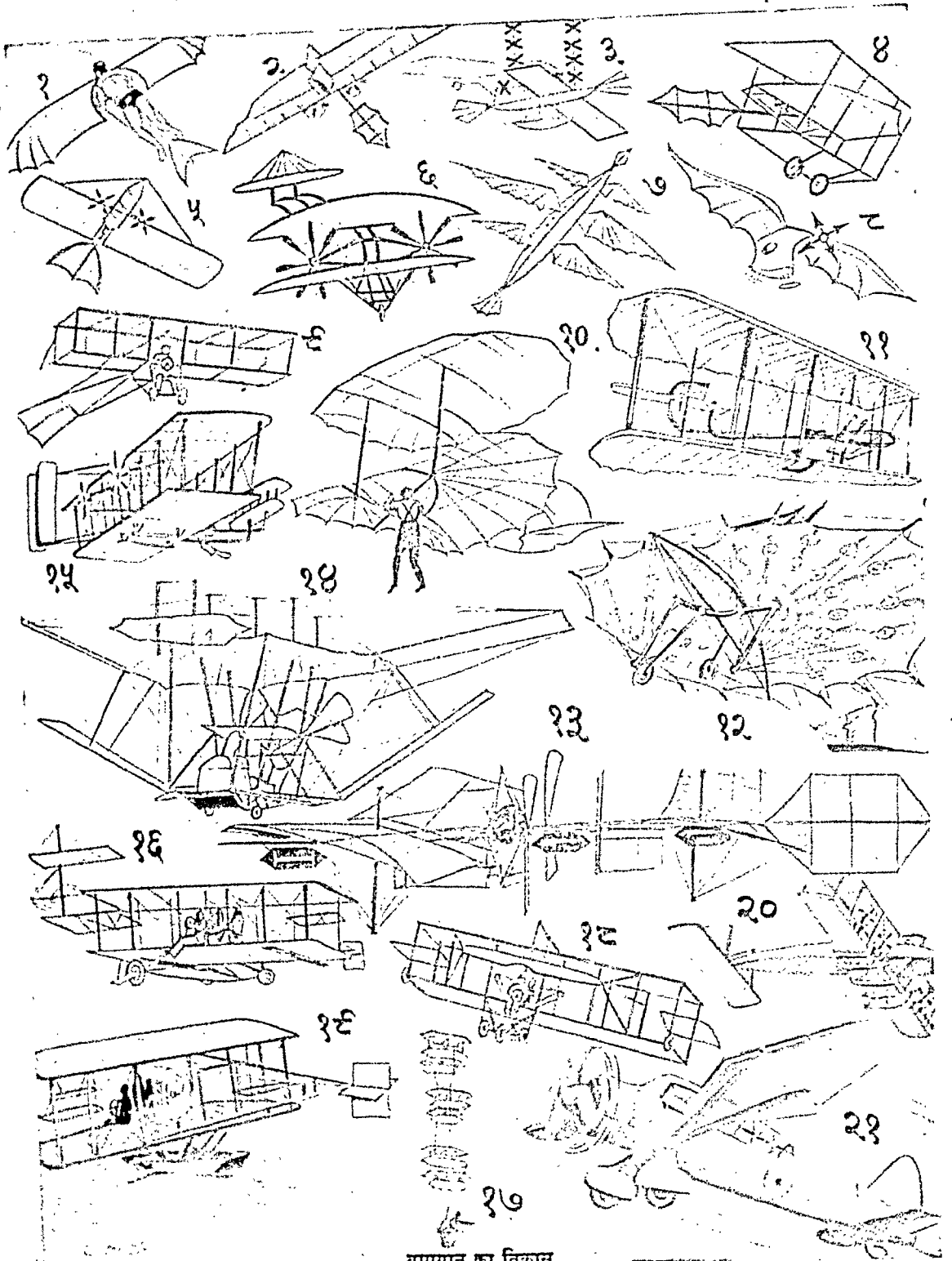
वायुयान का विकास

१. लियोनार्डो दा विंची द्वारा कल्पित वायुयान; २. स्ट्रिंगफेलो का नमूना; ३. लंदेल का नमूना; ४. वेनहेम का वायुयान; ५. लातिन का नमूना; ६. मोंच का हवाई 'स्टीमर'; ७. टामस एडिसन का नमूना; ८. क्लीमेंट एडर का वायुयान; ९. ग्रेहम बेल का नमूना; १०. लिलिएन्थॅल का सुप्रसिद्ध ग्लाइडर; ११. चेन्यूट का ग्लाइडर; १२. पिल्चर का ग्लाइडर; १३. लेंग्ले की मशीन; १४. मॅक्सिम का वायुयान; १५. राइट बंधुओं का सुप्रसिद्ध वायुयान; १६. कर्टिस का वायुयान; १७. बक्सनुमा पतंगों द्वारा आदमी ऊपर उठ रहा है; १८. कोदी की मशीन; १९. कर्टिस का प्रथम सी-प्लेन; २०. कई इंजिनोंवाला वायु-प्लेन; २१. वायुयान।

एक भारी बोझ लटकाया गया था। ऊँचे मीनार पर लगी हुई एक गराड़ी (पुली) से होकर यह तार गुजरता था। तैयारी पूरी हो चुकने पर यह भारी बोझ नीचे को गिराया गया, इसके खिंचाव से पटरी पर गाड़ी तेजी के साथ दौड़ी। उधर ग्लाइडर का इंजिन भी चालू कर दिया गया था। अतः कुछ ही क्षणों में ग्लाइडर आसमान में ऊपर उठ गया। १७ दिसम्बर, १९०३, की यह बात है। सात वर्ष बाद राइट बन्धुओं की तपस्या पूरी हुई।

इनका यह वायुयान १२ सैकण्ड तक पहली उड़ान में हवा में उड़ता रहा था। इस वायुयान ने अपनी प्रथम उड़ान में १२० फीट लम्बा फासला तय किया था। उसी दिन यह मशीन तीन बार उड़ी। आखिरी उड़ान में वायुयान ५९ सैकण्ड तक आसमान में उड़ता रहा था और इस बार ८५२ फीट का फासला उसने तय किया था।

१७ दिसम्बर, १९०३, के पहले अकेली अपनी शक्ति के भरोसे कोई भी मशीन हवा में न उड़ पाई थी। अवश्य १८६० में हेन्सन और स्ट्रिंगफेलो नाम के दो उत्साही व्यक्तियों ने वायुयान का एक मॉडल तैयार किया था, जिसमें उन्होंने भाप का एक छोटा-सा इंजिन फिट किया था। किन्तु इंजिन के भारी वजन के कारण यह मॉडल जमीन से ऊपर उठ न सका। तदुपरान्त प्रोफेसर लैंग्ले ने एक मॉडल तैयार किया था, जो कुछ दूर तक आसमान में उड़ सका था। इन्हीं दिनों ग्रेवियल दी ला लैंदेल नामक एक फ्रेंच ने कई मनोरंजक नमूने तैयार किये, जिनमें से एक में स्टीम-इंजिन द्वारा वायुयान चलाने की योजना की गई थी। १८६६ में वेनहेम नामक एक अंग्रेज इंजीनियर ने दुपंखी और तिपंखी यानों के नमूने बनाये और वायुयानों के लिए सर्वप्रथम गैस-इंजिन का आविष्कार किया। १८७९ में विलियम तांतिन नामक एक फ्रेंच इंजीनियर ने एक नमूना बनाया, जो दबाई गई हवा की शक्ति से चलता था। इस नमूने का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया गया। इधर इंगलैड में टामस मॉथ नामक इंजीनियर ने हेन्सन और स्ट्रिंगफेलो के मार्ग पर चलते हुए एक अद्‌भुत मशीन बनाई, जो एक हल्के स्टीम-इंजिन से चलती थी और दौड़ते समय जमीन से ६ इंच ऊँचे उठ जाती थी। बाद में अपने असंख्य आविष्कारों द्वारा ख्याति प्राप्त करनेवाले महान् अमेरिकन वैज्ञानिक टामस एल्वा एडिसन ने भी सन् १८८० में हवा से भारी वायुयान का एक नमूना बनाया था और कई प्रयोग किये थे, पर उसमें अधिक सफलता न होते देख उन्होंने आगे उस पर अधिक समय न लगाया। इसी तरह अमेरिका में ग्रेहेम बेल, चेन्यूट और कर्टिस तथा इंग्लैंड में सर हाइराम मैक्सिम आदि ने तरह-तरह के नमूने बनाकर वायु पर विजय के महान् कार्य को आगे बढ़ाया, लेकिन इनमें से बहुतों का कार्य अधिकतर सिद्धांतों तक ही सीमित रहा—व्यावहारिक क्षेत्र में सबसे पहले सफलता राइट-बंधुओं को ही मिली। पंद्रहवीं शताब्दी में लियोनार्डो दा विंची ने एक मॉडल बनाकर मनुष्य द्वारा वायु पर विजय-प्राप्ति की जिस सम्भावना की घोषणा की थी; उसे सार्थक बनाने तथा व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर ला खड़ा करने का श्रेय राइट बन्धुओं को ही है। हेन्सन और स्ट्रिंगफेलो की मशीन लन्दन के सायन्स म्यूजियम में रक्खी हुई है। १८९७ में एक फ्रेंच इन्जिनियर एडर ने पेट्रोल के इंजिन की मदद से अपना वायुयान एक आध सेकन्ड के लिए आसमान में उड़ाया था, किन्तु प्रथम प्रयास में ही इसकी मशीन टूट गई और फिर निरुत्साह होकर एडर ने वायुयान-सम्बन्धी अनुसन्धान ही छोड़ दिये। अतः राइट बन्धु ही आधुनिक वायुयान के जन्मदाता माने जाते हैं। लन्दन के साइन्स म्यूजियम में राइट बन्धुओं का बनाया हुआ यह सर्वप्रथम वायुयान भी रक्खा हुआ है।

राइट बन्धुओं के वायुयान की कहानी संसार के कोने-कोने में पहुँच गई, किन्तु योरप के लोगों ने इसे मनगढ़न्त कहानी समझकर इस पर विश्वास नहीं किया। कहा जाता है कि राइट बन्धुओं की प्रथम उड़ान की खबर जिस रिपोर्टर ने अपने योरप के अखबार को तार द्वारा भेजी, उसे झूठा ठहराकर अखबार के अधिकारियों ने उसका प्रकाशन कई महीनों के लिए स्थगित कर दिया था।

इसके उपरान्त कई साल के परिश्रम के बाद राइट बन्धुओं ने अपने वायुयान में तरह-तरह के सुधार किये और १९०८ में ये अपने परिष्कृत वायुयान को फ्रान्स में प्रदर्शन के लिए ले आये। यहाँ पर पूरे ७७॥ मील का फासला उन्होंने एक उड़ान में तय किया। अब तो सभी की जबान पर राइट बन्धुओं की तारीफ थी।

तब तो आए दिन उड़ान की प्रतियोगिताओं का आयोजन होने लगा। इंगलैण्ड के एक धनी व्यक्ति ने वायुयान द्वारा इंगलिश चैनेल पार करने वाले उड़ाके के लिए १००० पौण्ड के पारितोषिक का ऐलान किया। उक्त चैनेल को पार करने का प्रयास सबसे पहले एक फ्रेंचमैन लैथम ने किया। उसके वायुयान में ५५ हार्स पावर का इंजिन लगा था। प्रोपेलर प्रति मिनट ११००

बम बरसानेवाले जंगी हवाई जहाज के भीतर का दृश्य

इन वायुयानों का एक महत्वपूर्ण अंग उन पर लगा हुआ 'वायरलेस' अर्थात् बेतार का संदेशवाहक यंत्र होता है, जिसके द्वारा उड़ाके धरती पर स्थित स्टेशनों को लगातार संदेशे भेजते रहते हैं। इस चित्र में वायुयान का वायरलेस-यंत्रचालक अपने कार्य में व्यस्त दिखाई दे रहा है। युद्ध की आवश्यकताओं के फलस्वरूप इन जंगी हवाई जहाजों ने लंबी उड़ान में कमाल हासिल कर लिया है।
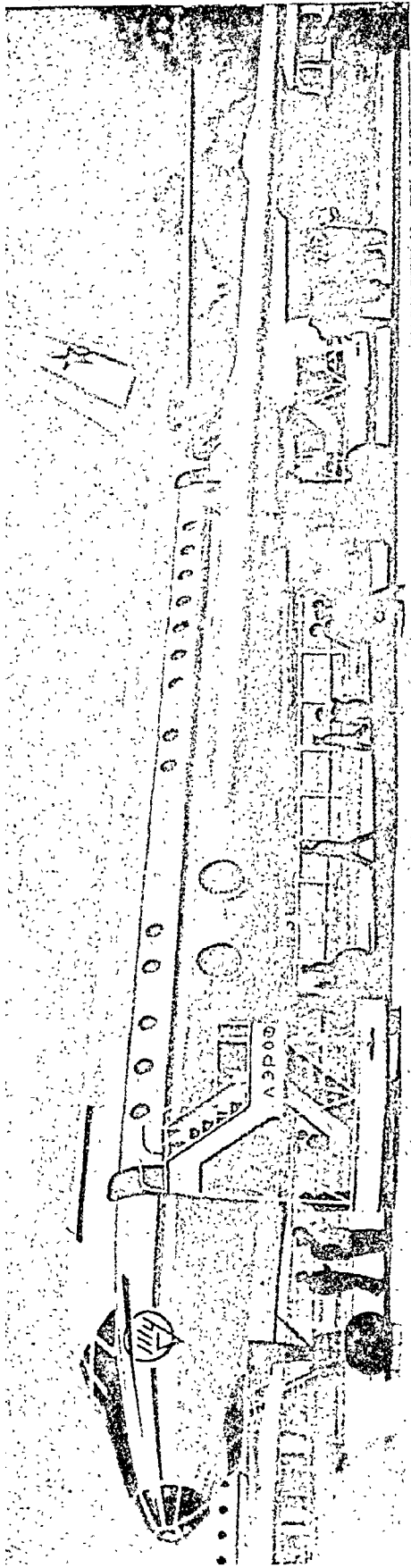
. . त रूस द्वारा निर्मित तु–११० नामक विशालकाय टर्बो-प्रापजेट यात्री-वायुयान——इस जेट-वायुयान से विना कहीं रुके छः सौ मील प्रति घंटा की औसत चाल से रूस से ठेठ संयुक्त राज्य, अमेरिका, तक की यात्रा की जा सकती है, जिसमें बारह घंटे से अधिक समय नहीं लगता। इसमें दो सौ से अधिक यात्रियों के लिए सुख-सुविधापूर्वक यात्रा करने की व्यवस्था है [फोटो—'सोवियत संघ' से आभारपूर्वक]।
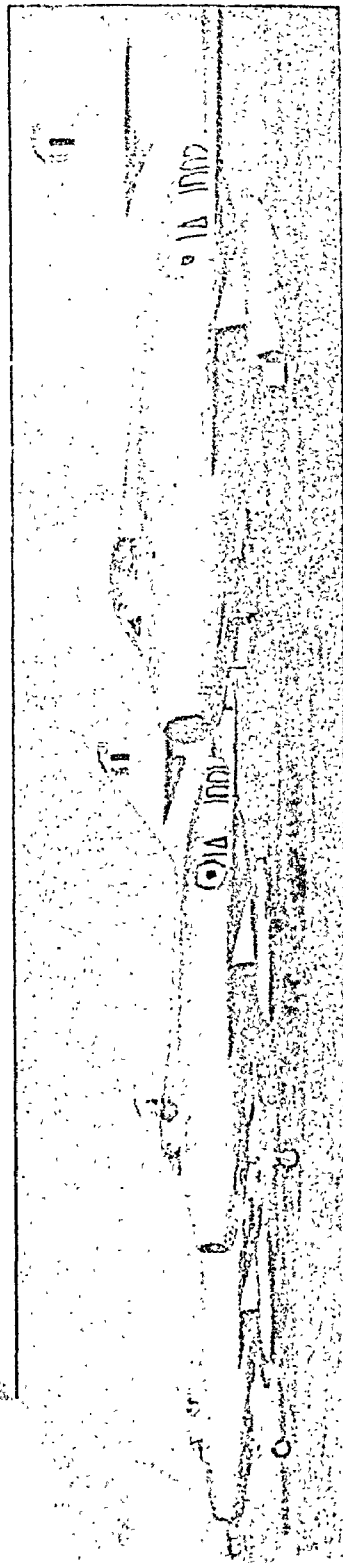
भारतीय वायुसेना के जेट लड़ाकू वायुयानों का वेड़ा।

बार चक्कर लगाता था। जिस समय कैले से डोवर के लिए लैथम रवाना हुआ, साथ-साथ एक बोट भी पानी पर चली थी, ताकि यदि कोई दुर्घटना हुई तो लैथम की फौरन् मदद की जा सके। हुआ भी ऐसा ही। डोवर से कुछ दूर इधर ही लैथम का वायुयान समुद्र में जा गिरा। जिस समय मोटर-बोट लैथम को लेने वहाँ पहुँची, उस समय निहायत इतमीनान के साथ अपने टूटे हुए वायुयान के पंख पर बैठा हुआ वह सिगरेट के कश खींच रहा था। लैथम एक सिद्धहस्त उड़ाका था। जिस समय वायुयान ४५ मील की रफ्तार पर जा रहा था, उसका इंजिन फेल कर गया। लैथम जरा भी घबराया नहीं, उसने फौरन् ही अपने वायुयान को ग्लाइड कराना शुरू कर दिया और सही सलामत पानी पर उतर आया। ग्लाइड करने के बजाय अगर उसकी मशीन सीधे पानी पर उतरती तो निस्सन्देह मय अपनी मशीन के वह पानी के गर्भ में समा गया होता।

एक दूसरे फ्रेञ्चमैन ब्लेरियो ने आखिर ब्रिटिश चैनेल पार करने का श्रेय प्राप्त किया। २५ जुलाई, १९०९, को ३॥ बजे सुबह ब्लेरियो कैले से रवाना हुआ और ५ बजकर १२ मिनट पर डोवर में वह सकुशल जमीन पर उतर आया। इंगलैण्ड और फ्रांस के लोग वायुयान के इस अजीब करिश्मे को देखकर खुशी के मारे पागल हो गये। अखबारों में ब्लेरियो की प्रशंसा में कालम-के-कालम भरे नजर आने लगे। अब तो भिन्न-भिन्न देशों में उड़ान प्रतियोगिताओं की बाढ़-सी आ गई। रोज ही वायुयान के डिजाइन में नये-नये परिवर्तन होने लगे। वायुयान के निर्माण में इन दिनों तीन दिशाओं में विशेष उन्नति हुई। हलके किन्तु शक्तिशाली पेट्रोल - इंजिन बनने लगे, जिनका वजन प्रति हॉर्स-पावर के पीछे दो तीन पौंड से अधिक न होता। प्रोपेलर की डिजाइन में भी काफी सुधार किये गये, और वायुयान के बाहरी ढांचे की शक्ल ऐसी बनाई जाने लगी कि उसके खिलाफ हवा की अवरोधक-शक्ति ज्यादा न हो। इस तरह की शक्ल को स्ट्रीम-लाइन बॉडी कहते हैं।
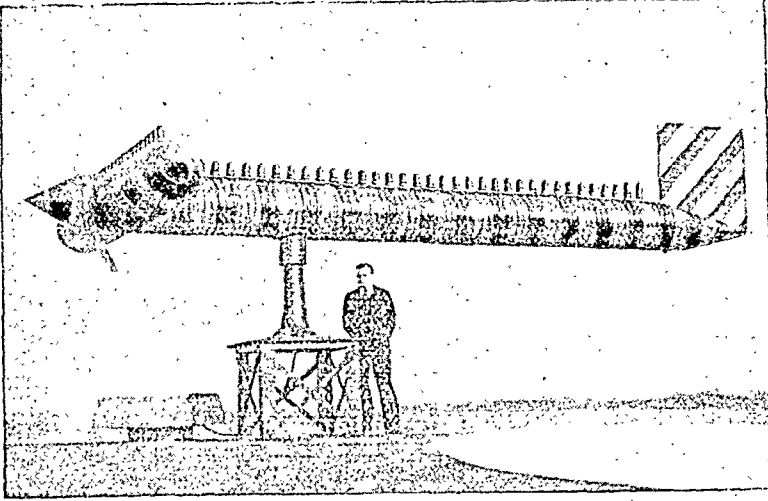
वायुयानों के संचालन म सहायता देने के लिए एयरोड्रोम (वायुयानों के उतरने-चढ़ने के मैदान) में हवा का रुख बतानेवाले यंत्र लगे रहते हैं, जो मीलों से दिखाई देते हैं। ऊपर एक ऐसा ही यंत्र लगा है।
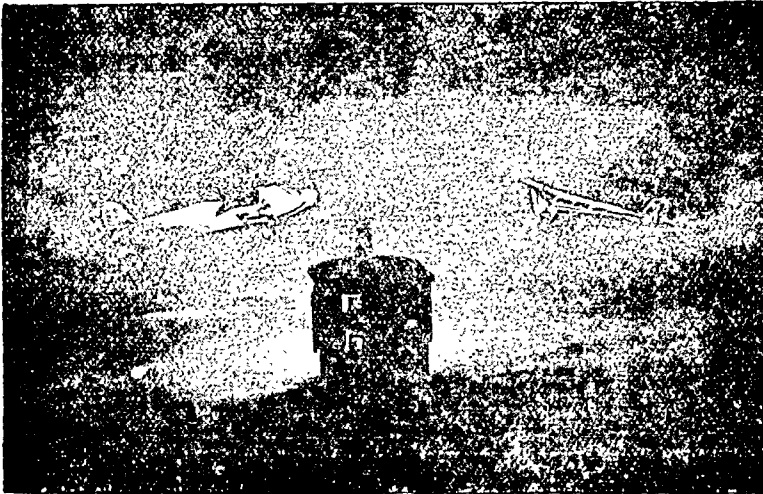
रात को भी वायुयानों के उतरने-चढ़ने में सहायता देने के लिए कई एयरोड्रोमों में प्रकाश-स्तंभ रहते हैं। ऊपर ५,०००,००० बत्तियों के बराबर रोशनी देनेवाला एक ऐसा ही प्रकाश-स्तंभ है।

इतने में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। वायुयान, जो एक दिलचस्प किन्तु निहायत खतरनाक चीज समझी जाती थी, सैनिक दृष्टिकोण के लिहाज से एक जबर्दस्त हथियार साबित हुआ। युद्ध के उन चार वर्षों में जर्मनी, इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका के वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने वायुयान में क्रान्तिकारी परिवर्तन और सुधारों का समावेश कर डाला। आकार, इंजिन की शक्ति और रफ्तार सभी में हद दर्जे की उन्नति हुई। इंजिन की शक्ति बढ़ जाने से वायुयान को खतरा भी बहुत-कुछ अंशों में कम हो गया। परन्तु १९१४ के इन भद्दे शक्ल के वायुयानों में मुश्किल से दो आदमी रिवाल्वर लेकर बैठ सकते थे। तब तक उनकी रफ्तार भी ६० मील प्रति घण्टे से ज्यादा नहीं पहुँची थी। हाँ, लड़ाई खत्म होते-होते वायुयानों की रफ्तार २०० मील प्रति घण्टे तक पहुँच गई और भद्दे शक्ल की उन मशीनों की जगह डेढ़ सौ फीट लम्बे पंखवाले विशाल आकार के लड़ाई के वायुयान तैयार होने लगे, जो स्थल या जल दोनों की सतह से चढ़-उतर सकते थे। इन मशीनों पर शक्तिशाली मशीनगनें लगी हुई थीं, जो एक मिनट में ६०० बार गोली चला सकती थीं।

जर्मन-युद्ध समाप्त होने पर इस क्षेत्र में काम करनेवालों का ध्यान साधारण जनता की जरूरतों की ओर आकर्षित हुआ। अतएव २५ अगस्त, १९१९, को ३६० हॉर्सपावर के इंजिन से सुसज्जित एक वायुयान ने लन्दन से पैरिस सवारी ढोने का काम शुरू किया। इस वायुयान पर पाइलट के अतिरिक्त दो पैसेन्जर और बैठ सकते थे। रोजाना सर्विस का यह पहला वायुयान था। इसे देखकर लोगों ने नाक-भौं सिकोड़कर कहा, देखिये यह सवारी ढोने का काम कब तक चलता है! किन्तु अपनी उड़ान के पहले सप्ताह में ही उस वायुयान ने २० पैसेन्जर लन्दन और पैरिस के बीच में ढोये। कुछ ही दिनों उपरान्त संसार के सभी प्रगतिशील देशों में सवारी और डाक के ढोने के लिए वायुयान का प्रयोग होने लगा। आज तो संसार के हवाई जहाज प्रतिदिन हजारों पैसेन्जरों को दूसरे देशों को ले जाते हैं। इनमें डाक और पार्सल का बोझ भी कई टन बैठता है।
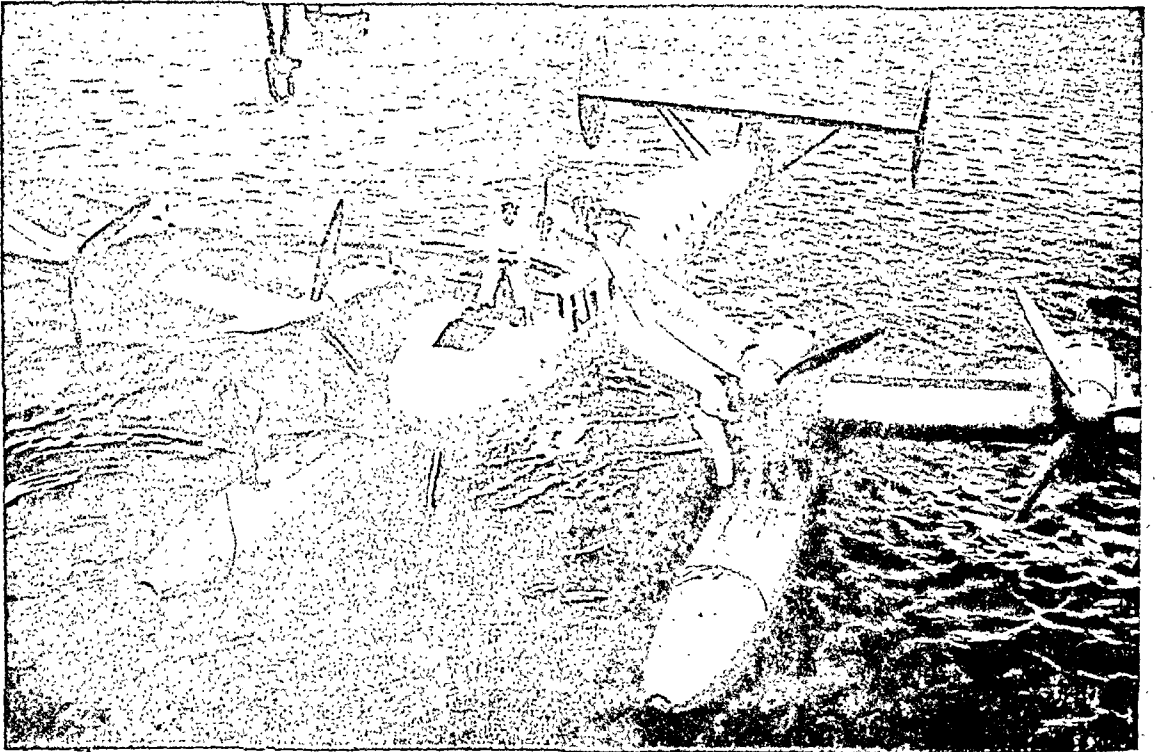
उत्तरी अटलांटिक महासागर को पार कर योरप से अमेरिका को डाक ले जानेवाला कुछ वर्ष पूर्व का एक सी-प्लेन या समुद्री हवाई जहाज। इसमें छः-छः सौ हॉर्स पावर के ४ इंजिन लगे थे, जो १८६ मील प्रति घंटे की गति से इसे उड़ाते थे। ऐसे वायुयान जल की सतह पर उतरते हैं। अब तो चार-पाँच सौ मील प्रति घंटे की चाल के वायुयान आमतौर पर उड़ते हैं।

वायुयान और वैलून अथवा जैप्लिन के उड़ने के सिद्धान्त में काफ़ी अन्तर है। समूचा जैप्लिन घनत्व में हवा से हलका होता है। अतः इसके पेंदे पर ऊपर की हवा का धक्का पहुँचता है, और इसी कारण यह ऊपर को उठता है। किन्तु वायुयान की मशीन घनत्व में हवा की अपेक्षा वहुत भारी होती है। अतः यह अपने आप हवा में तैर नहीं सकती। इंजिन और प्रोपेलर की मदद से जव वायुयान जमीन पर तेजी के साथ आगे को भागता है, तो इस कृत्रिम ढंग से मशीन के नीचे हवा का एक तेज झोंका उत्पन्न हो जाता है, जो वायुयान को ऊपर उठा देता है। एक वार जव वायुयान आकाश में ऊपर उठ जाता है तो उसके प्रोपेलर के व्लेड हवा को चीरकर वायुयान को आगे की ओर खींच लेते हैं। जिस तरह स्क्रू घुमाने पर कार्क के अन्दर आगे को वढ़ता चला जाता है, उसी तरह तेजी से घूमता हुआ प्रोपेलर हवा के भीतर प्रवेश करता जाता है। इसी कारण इस तरह के प्रोपेलर को 'स्क्रू प्रोपेलर' कहते हैं। विजली के पंखे की तरह इसमें भी व्लेड होते हैं, जो तेजी के साथ घूमते हैं।
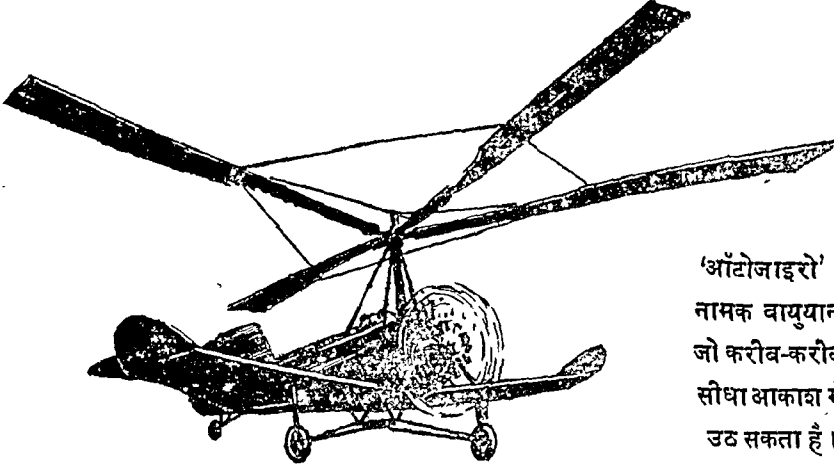
'ऑटोजाइरो' नामक वायुयान जो करीव-करीव सीधा आकाश में उठ सकता है।

वायुयान के पंख के सामने का भाग ऊपर को झुका रहता है। जव वायुयान तेजी के साथ आगे को वढ़ता है तो ये पंख हवा को नीचे की ओर दवाते हैं, किन्तु हवा में उस वक्त इतना जोर रहता है कि वह वायुयान को ऊपर फेंकना चाहती है। इस तरह पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के खिलाफ वायुयान आकाश में टिका रह सकता है। जितनी ही तेज रफ्तार से वायुयान उड़ता है उतने ही ज्यादा जोर से नीचे की हवा पंख को ऊपर उठाती है। एक मामूली तख्ती को तेजी के साथ यदि हवा में पृथ्वीतल के समानान्तर घुमाया जाय तो वह स्वयं हवा के जोर से ऊपर उठ जाती है। ठीक इसी सिद्धान्त पर ये पंख भी तेज रफ्तार पाने पर हवा में ऊपर उठ जाते हैं।

वायुयानों में एकहरे, दुहरे या कभी-कभी तिहरे पंख भी लगे होते हैं। उन्हें क्रम से एकपंखी (मॉनोप्लेन), दुपंखी (वाइ-प्लेन) और तिपंखी (ट्राइ-प्लेन) वायुयान कहते हैं। अव तिपंखी या दुपंखी वायुयान वहुत कम प्रयुक्त होते हैं। साधारणतः एकपंखी और दुपंखी वायुयान ही काम में लाये जाते हैं। एकपंखी वायुयान सुडौल और ठीक पक्षियों की शक्ल के होते हैं। इंजिन के दोनों ओर एक-एक पंख इसमें लगे हुए होते हैं। उड़ते समय इन पर हवा की अवरोधक शक्ति भी कम लगती है, अतः ये वड़े ही द्रुतगामी होते हैं। दुपंखी वायुयान में दोनों ओर दो-दो पंख होते हैं। नीचेवाले पंख एक प्लैटफार्म का काम देते हैं। इसी पर इंजिन भी फिट किया होता है और पायलट तथा पैसेन्जर के वैठने की सीटें भी लगी होती हैं। राइट-वन्धुओं का सर्वप्रथम वायुयान भी दुपंखी था। इसका ढाँचा काठ का वना हुआ था। इनके ऊपर नीचेवाले दोनों पंख डंडों के जरिये एक दूसरे से जुड़े होते थे या तार से वँधे रहते थे। इस कारण मजवूती में एकपंखी वायुयान की अपेक्षा ये ज्यादा पायदार वैठते थे।

वायुयान के पंख की नीचेवाली सतह नतोदर और वाहरवाली उन्नतोदर होती है। जिस समय आसमान में वायुयान तेजी के साथ आगे वढ़ता है, पंख का सामनेवाला भाग जरा-सा ऊपर को उठा दिया जाता है। हवा जव पंख से टकराती है तो वह दो हिस्सों में वँट जाती है। एक भाग नीचे को, दूसरा ऊपर को जाता है। हवा की धारा जो ऊपर को जाती है, उन्नतोदर धरातल से टकराकर एकाएक ऊपर को उठ जाती है। अतः पंख के ऊपर कुछ दूर तक हवा का दवाव एकदम कम हो जाता है तथा कुछ वैकुअम-सा उत्पन्न हो जाता है। पंख के नीचे नतोदर धरातल के पास वहुत-सी हवा चक्कर खाकर इकट्ठी हो जाती है। इसका दवाव या चाप काफी वढ़ जाता है। चूँकि

पंख के नीचे हवा का दवाव अधिक है, और ऊपर कम, इसलिए हवा वायुयान को ऊपर उठाने की कोशिश करती है। वायुयान की उठान-शक्ति उसके पंख की लम्बाई और चौड़ाई पर निर्भर है। पंख का क्षेत्रफल जितना ही अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उठान-शक्ति भी होगी। मजबूती के लिहाज से पंख की लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात ६ और १ का सब से उपयुक्त पाया गया है।

जिस समय वायुयान आसमान में उड़ता है, चार विभिन्न शक्तियाँ इस पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से जोर डालती हैं। तेजी के साथ घूमता हुआ प्रोपेलर एयर-स्क्रू की भाँति वायुयान को आगे खींचता है, और इस तरह हवा की अवरोधक शक्ति पर विजय पाता है, तथा पंख के कारण उत्पन्न हुई उठान-शक्ति वायुयान के वजन को सँभालती है। जब कभी उठान-शक्ति पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति (वजन) से कम पड़ जाती है, वायुयान लड़खड़ाकर गिर जाता है। इस दशा में पतवार, एलिरान वगैरह सब वेकार सावित होते हैं।

वायुयान की उठान-शक्ति और उसकी रफ्तार के वर्ग में सीधा अनुपात है। अतः अपनी उठान-शक्ति को वायुयान के वजन से ज्यादा बनाये रखने के लिए जरूरी होता है कि वायुयान की रफ्तार एक खास हद से नीचे न गिरने पाए।

उड़ते हुए वायुयान पर पाइलट को तीन तरह का नियंत्रण रखना होता है। दाहिने-बाएँ घुमानेवाला पतवार एक खड़ी तख्ती का बना होता है। इसे 'रडर' कहते हैं। वायुयान को ऊपर-नीचे ले जानेवाला पतवार भी तख्ती का बना होता है, किन्तु यह तख्ती पंख के समानान्तर धरातल में रहती है। इसे 'एलिवेटर' कहते हैं। तार द्वारा ये पाइलट की सीट के पास के लीवर और खटकों से बँधे रहते हैं। पैर से दवाकर या हाथ से खींचकर पाइलट इनका परिचालन करता है। वायुयानों में एक तीसरा पतवार भी लगा होता है जिसे 'एलिरान' कहते हैं। इसका उपयोग वायुयान का समतुलन बनाए रखने के लिए होता है ताकि वायुयान किसी एक ओर पलटा न खा जाय (देखिए पृष्ठ ११२५ का चित्र)।
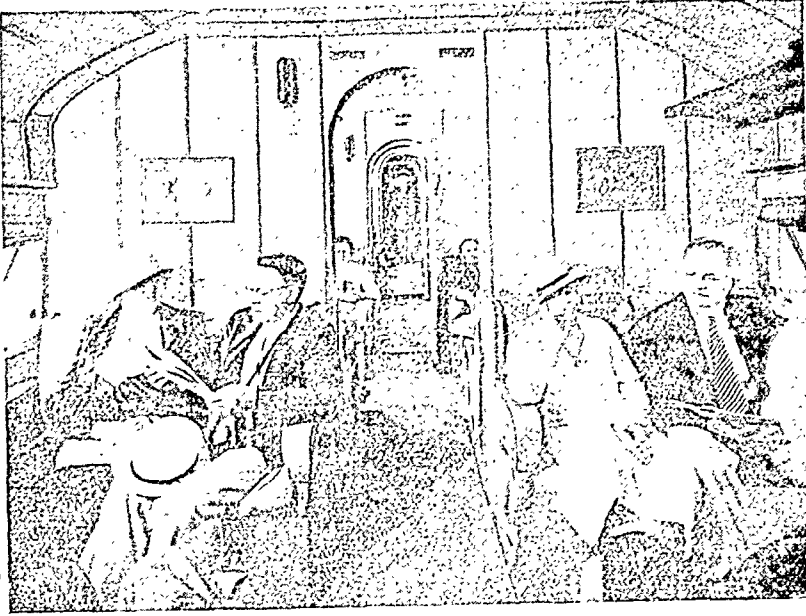
एक बड़े यात्री हवाई जहाज के भीतर का दृश्य

अगर वायुयान को दाहिनी ओर घुमाना हो तो दाहिने 'एलिरान' को दवाकर पाइलट दाहिने पंख को पहले नीचा कर देता है, फिर रडर को दाहिनी ओर घुमाकर समूचे वायुयान को दाहिनी ओर घुमा देता है। वायुयान को वाईं ओर घुमाना हुआ तो वाएँ एलिरान और रडर दोनों का परिचालन करना जरूरी होता है।

पार्सल, माल, असवाव, पैसेन्जर आदि को एक खास व्यवस्था के साथ वायुयान पर रक्खा जाता है, ताकि वायुयान का समतुलन विगड़ने न पाए। आधुनिक वायुयानों का समतुलन इतना सुधर गया है कि इन पर सवार होने में वायुयान के उलटने का खतरा अब नहीं रहता। एक बार एक युद्ध-वायुयान का पाइलट बीच आकाश में गोली से मारा गया, किन्तु पाइलट की मृत्यु के वाद पूरे १०० मील तक वायुयान उड़ता ही रहा और फिर निरापद जमीन पर ग्लाइड करता हुआ उतर आया!

वायुयान को नियत रास्ते पर रखने के लिए अब यह जरूरी नहीं कि मोटर-ड्राइवर की तरह पाइलट रास्ते भर स्टियरिंग ह्वील पर हाथ जमाये रक्खे। प्रारम्भिक दिनों में अवश्य ही पाइलट को हर समय 'रडर', 'एलि-

वायुयान किस तरह बाईं या दाहिनी ओर मुड़ता या झुकता और सीधे या समतल उड़ता है ? 'रडर', 'एलीवेटर' या 'एलिरान' की स्थिति और उनका कर्त्तव्य इस चित्र में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित है।

वेटर' और 'एलिरान' को सँभाले रहना पड़ता था। किन्तु अब 'जाइरोस्कोप' की मदद से एक बार ठीक दिशा में वायुयान को चालू कर देने पर वह उसी दिशा में ठीक उड़ता रहता है। हवा के झोंके वगैरह से वायुयान जरा-सा भी किसी ओर मुड़ा कि कई लीवरों और झूठे पतवार की हरकत से जाइरोस्कोप भी एक ओर को मुड़ जाता है और फिर इस तरह वायुयान को सही रास्ते पर ले आता है। वायुयान की दिशा ज्योंही दुरुस्त हुई कि जाइरोस्कोप पुनः अपनी पूर्ववत् अवस्था में वापस आ जाता है।

जल पर उतरनेवाले वायुयान का निचला हिस्सा किश्ती की शक्ल का होता है, ताकि जल पर वह आसानी से दौड़ लगा सके। जलीय वायुयान अक्सर भारी-भरकम होते हैं। *प्रायः जलीय वायुयान को इंजिनों को चालू करके* विशालकाय जहाजों के डेक से मजबूत स्प्रिङ्ग के खटके द्वारा दूर फेंक देते हैं। तेज रफ्तार मिल जाने से वायुयान के पंख फौरन् हवा को पकड़ लेते हैं, और वह आजादी के साथ उड़ने लगता है। अतः इस जाति के वायुयान दूर तक पानी पर दौड़ने के मुहताज नहीं रहते।

अब एक नये प्रकार के वायुयान भी तैयार किये जा रहे हैं, जो आवश्यकतानुसार पानी या ठोस जमीन दोनों पर उतर सकते हैं। अवश्य इस तरह के वायुयान भारी होने के कारण शीघ्रगामी नहीं होते।। इन्हें 'एम्फीबियम' कहते हैं। अमेरिका में ऐसे वायुयान काफी संख्या में बने हैं।

शुरू-शुरू में वायुयान के ढाँचे लकड़ी के बनते थे ताकि इनका वजन बढ़ने न पाए। किन्तु अब अल्यूमिनियम और ताँबे आदि की मिलावट से निहायत हलकी किन्तु मजबूत धातु तैयार की जा रही है। आधुनिक वायुयान के ढाँचे अब इसी धातु के बनने लग गये हैं। समुद्र का पानी इसमें मोर्चा भी नहीं पैदा कर सकता।

वायुयान के इंजिनों के निर्माण में भी आश्चर्यजनक उन्नति की गई है। इंजिन की शक्ति ही इस बात का निर्णय करती है कि वायुयान कितना बोझ सँभाल सकेगा। इस क्षेत्र में अनुसन्धान करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि बीच आकाश में यदि इंजिन फेल हो गया तो फिर वायुयान और चालक किसी की खैर नहीं—दोनों वहीं पर ढेर! मोटरकार के विकासकाल में इस किस्म का कोई खतरा पेश नहीं आया था—मोटर का इंजिन यदि फेल हो गया तो मोटर जमीन पर खड़ी हो गई। अतः इस खतरे से बचने के लिए अब वायुयानों में कई इंजिन लगाते हैं, ताकि यदि एकाध इंजिन फेल हो जाय तो दूसरे इंजिन उसे जमीन पर गिरने से रोक लें। आसमान की आँधी-तूफान से भी वायुयानों को हमेशा से खतरा रहा है। आज भी वायुयान-यात्रा इस मानी में एकदम निरापद नहीं है। हाँ, इस खतरे को दूर करने के लिए सराहनीय प्रयत्न अवश्य किये गये हैं। अब तो सभी वायुयानों में वायरलेस यंत्र लगा रहता है। इसकी मदद से पाइलट को हर देश की वेधशालाओं से ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी प्रति क्षण मिलती रहती है। आनेवाले तूफान की सूचना इन्हें पहले ही मिल जाती है, अतः उस ओर की यात्रा कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाती है। वेधशालाएँ यह भी बताती हैं कि भिन्न-भिन्न वायु-स्तरों में हवा का रुख क्या है। इस प्रकार ये वायुयान *अपने अनुकूल हवावाले वायुस्तर ढूँढ़ लेते हैं।*

युद्ध-वायुयानों के लिए वायरलेस निस्सन्देह एक अपूर्व देन साबित हुई है। आफिस में बैठा हुआ कप्तान हवाई जहाज के बेड़े को इच्छानुसार आर्डर देता है कि एक लाइन में उड़ो या त्रिभुजाकार आकृति में २०० मील प्रति घण्टे की रफ्तार से अमुक दिशा में आगे बढ़ो, और फौरन् वायरलेस यंत्र से खबर पाकर वायुयानों का बेड़ा वही आकृति ग्रहण कर लेता है। वायरलेस के कारण वायुयान का सम्बन्ध हमेशा जमीन से बना रहता है। अभी हाल ही में रूस और अमेरिका में कई एक वायुयान इस ढंग के तैयार किये गए हैं, जो बिना पाइलट के, केवल रेडियो की तरंगों के इशारे पर उड़ते हैं। इन वायुयानों में भी पेट्रोल का इंजिन लगा रहता है, साथ ही इनमें वायरलेस रिसीवर भी लगे रहते हैं। एक रिसीवर इंजिन पर कन्ट्रोल रखता है, दूसरा वायुयान के दिशा-परिचालक यंत्रों पर नियंत्रण रखता है। इनमें से प्रत्येक रिसीवर का वजन ढाई-तीन छटाँक से अधिक नहीं होता। नीचे मैदान में दो ट्रान्समिटर यंत्र रक्खे होते हैं। इन्हीं के द्वारा निर्देशक इच्छानुसार संकेत भेजता है, जिन्हें ग्रहण करके रिसीवर वायुयान का संचालन करते हैं। अवश्य ही ये मॉडल अभी प्रयोगात्मक क्षेत्र से बाहर नहीं निकल पाए हैं, किन्तु आश्चर्य नहीं कि कुछ ही दिनों बाद हमें रेडियो से परि-चालित वायुयान डाक के पार्सल ढोते हुए नजर आएँ!

दूर देश की यात्रा के लिए वायुयानों का उपयोग अब बहुतायत से होने लगा है। रेलगाड़ियों की तरह इनकी भी नियमित सर्विसें हैं। यदि यात्रा बहुत लम्बी हुई तो रास्ते में एक वायुयान को बदलकर दूसरा वायुयान काम में लाते हैं। आरंभ में इंगलैण्ड से भारत आने के लिए लन्दन के

क्रॉयडन एयरोड्रोम से जिनोआ तक एक वायुयान आता था, फिर वहाँ से पैसेंजर जलीय वायुयान पर सवार होकर मिस्र पहुँचते थे। वायुयान यहाँ फिर बदला जाता था, और तब लोग भारत पहुँचते थे। इतनी लम्बी यात्रा पहले ७ दिन में समाप्त हो पाती थी। पर अब तेज वायुयानों से वही यात्रा सोलह घंटे में पूरी हो जाती है! द्रुत वेग से यात्रा पूरी करने की हविस ने अनुसन्धान करनेवालों का ध्यान ऊर्ध्वाकाश की ओर आकर्षित किया है। पाँच-छः मील ऊँचे आकाश पर हवा नितान्त हलकी हो जाती है, अतः उसकी अवरोध-शक्ति में भी भारी कमी आ जाती है। यदि इतनी ऊँचाई पर वायुयान उड़ सकें तो निस्संदेह बेहद तेज गति प्राप्त की जा सकती है। विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि जमीन के पास उड़ने पर वायुयान की रफ्तार यदि २५० मील प्रति घन्टे पहुँचती है तो १० मील की ऊँचाई पर वही वायुयान आसानी से ५०० मील की रफ्तार हासिल कर सकेगा। किन्तु ऊर्ध्वाकाश की यात्रा में अनेक नई अड़चनें आ खड़ी होती हैं। हवा पतली होने के कारण प्रोपेलर की पकड़ हवा पर पहले-जैसी शक्तिशाली नहीं होती। फिर भी इस सम्बन्ध में अमेरिका, रूस, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशों में निरंतर अनुसन्धान किये जा रहे हैं और आशा की जाती है कि कुछ ही दिनों बाद ५००-६०० मील की रफ्तार से द्रुतगामी वायुयान ऊर्ध्वाकाश के मार्ग से संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ लगाया करेंगे। तब लोग न्यूयार्क से सुबह जलपान करके रवाना होंगे और कुछ ही घंटे बाद दिन के भोजन के समय से पहले ही अटलांटिक के पार लन्दन में पहुँच जायँगे!

पाश्चात्य देशों में वायुयानों से तरह-तरह के काम लिये जा रहे हैं। मीलों लम्बे खेत में अमेरिका के कृषक हवाई जहाज की मदद से बीज बोते हैं। फसल के हानिकारक कीड़ों को मारने के लिए वायुयानों की मदद से विषैली दवा छिड़की जाती है। पैमाइश के लिए तो भारत में भी दुर्गम स्थानों में वायुयानों से मदद ली गई है।

साधारण वायुयानों को आकाश में चढ़ने के लिए मैदान में लम्बी दौड़ लगानी पड़ती है। इस कारण यदि लम्बे मैदान लभ्य न हुए तो ये बड़े वायुयान आसमान में उठ ही नहीं सकते। वायुयानों के इस दोष को दूर करने के प्रयत्न में 'ऑटोजाइरो' नामक वायुयान का विकास हुआ (दे० पृ० ११२३ का चित्र)। यह मशीन देखने में साधारण वायुयान-सरीखी होती है—केवल एक बात इसमें भिन्न होती है। मशीन के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के ठीक ऊपर एक लम्बवत् धुरी में प्रोपेलर-सरीखे ब्लेड लगे रहते हैं। ये ब्लेड काफी अधिक लम्बे होते हैं, किन्तु इस धुरी का संबंध इंजिन से नहीं होता। जिस वक्त मशीन जमीन पर दौड़ती है, हवा के झोंके के कारण ये ऊपरवाले ब्लेड अपने आप घूमने लगते हैं, और कुछ ही दूर जाने पर वायुयान आसमान में उठ जाता है। ऑटोजाइरो करीब-करीब एकदम सीधा आसमान में उठ सकता है और जरूरत पड़ने पर एकदम सीधे नीचे मकान की छत पर भी उतर सकता है।
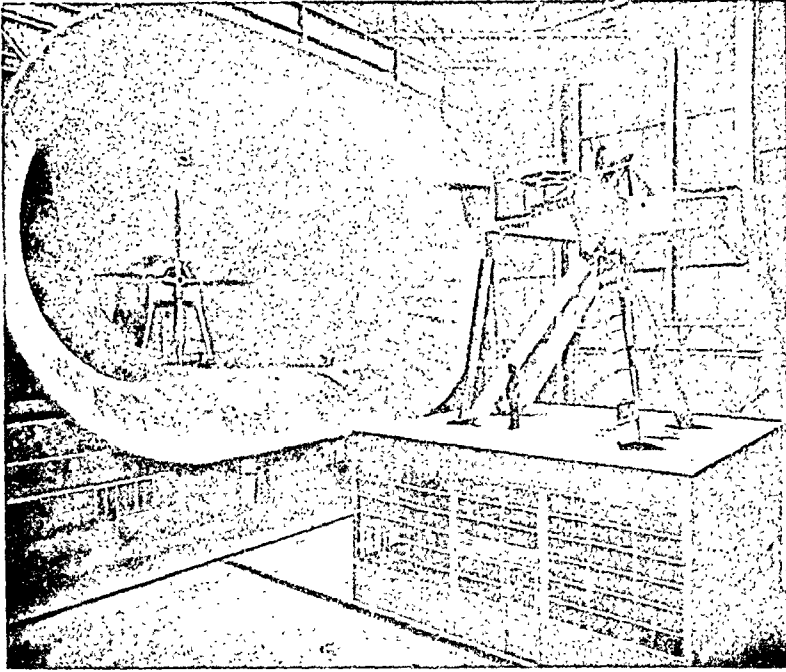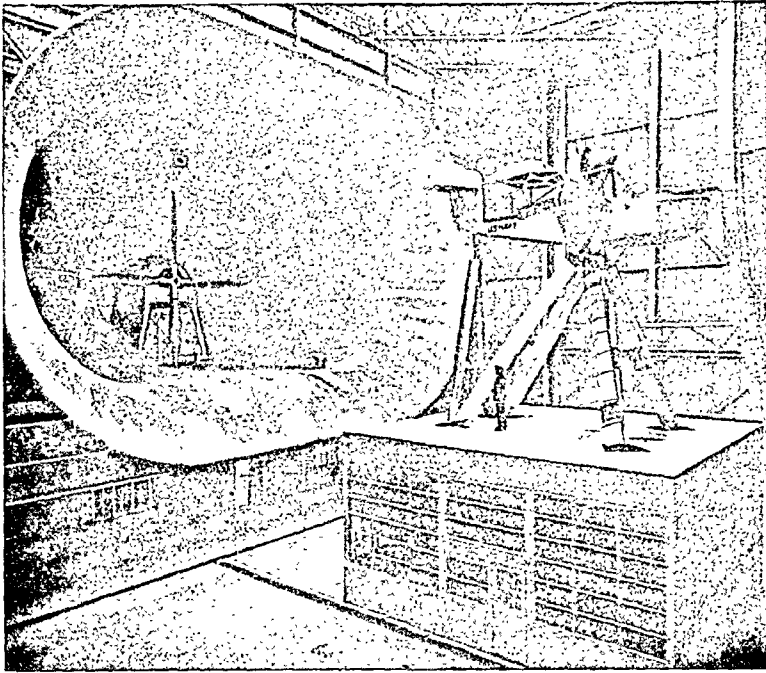
हवाई जहाजों को कारखानों से बाहर निकलने के पहले खूब जाँचा जाता है। यह एक वायु-सुरंग का चित्र है, जिसमें सैकड़ों मील प्रति घंटे तक की गति का झोंका कृत्रिम रूप से पैदाकर उसमें वायुयान की सहन-शक्ति की जाँच की जाती है।

वेटर' और 'एलिरान' को सँभाले रहना पड़ता था। किन्तु अब 'जाइरोस्कोप' की मदद से एक वार ठीक दिशा में वायुयान को चालू कर देने पर वह उसी दिशा में ठीक उड़ता रहता है। हवा के झोंके वगैरह से वायुयान जरा-सा भी किसी ओर मुड़ा कि कई लीवरों और झूठे पतवार की हरकत से जाइरोस्कोप भी एक ओर को मुड़ जाता है और फिर इस तरह वायुयान को सही रास्ते पर ले आता है। वायुयान की दिशा ज्योंही दुरुस्त हुई कि जाइरोस्कोप पुनः अपनी पूर्ववत् अवस्था में वापस आ जाता है।

जल पर उतरनेवाले वायुयान का निचला हिस्सा किश्ती की शक्ल का होता है, ताकि जल पर वह आसानी से दौड़ लगा सके। जलीय वायुयान अक्सर भारी-भरकम होते हैं। प्रायः जलीय वायुयान को इंजिनों को चालू करके विशालकाय जहाजों के डेक से मजबूत स्प्रिङ्ग के खटके द्वारा दूर फेंक देते हैं। तेज रफ्तार मिल जाने से वायुयान के पंख फौरन् हवा को पकड़ लेते हैं, और वह आजादी के साथ उड़ने लगता है। अतः इस जाति के वायुयान दूर तक पानी पर दौड़ने के मुहताज नहीं रहते।

अब एक नये प्रकार के वायुयान भी तैयार किये जा रहे हैं, जो आवश्यकतानुसार पानी या ठोस जमीन दोनों पर उतर सकते हैं। अवश्य इस तरह के वायुयान भारी होने के कारण शीघ्रगामी नहीं होते।। इन्हें 'एम्फीबियम' कहते हैं। अमेरिका में ऐसे वायुयान काफी संख्या में वने हैं।

शुरू-शुरू में वायुयान के ढाँचे लकड़ी के वनते थे ताकि इनका वजन बढ़ने न पाए। किन्तु अब अल्यूमिनियम और ताँबे आदि की मिलावट से निहायत हलकी किन्तु मजवूत धातु तैयार की जा रही है। आधुनिक वायुयान के ढाँचे अब इसी धातु के वनने लग गये हैं। समुद्र का पानी इसमें मोर्चा भी नहीं पैदा कर सकता।

वायुयान के इंजिनों के निर्माण में भी आश्चर्यजनक उन्नति की गई है। इंजिन की शक्ति ही इस वात का निर्णय करती है कि वायुयान कितना बोझ सँभाल सकेगा। इस क्षेत्र में अनुसन्धान करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि बीच आकाश में यदि इंजिन फेल हो गया तो फिर वायुयान और चालक किसी की खैर नहीं—दोनों वहीं पर ढेर! मोटरकार के विकासकाल में इस किस्म का कोई खतरा पेश नहीं आया था—मोटर का इंजिन यदि फेल हो गया तो मोटर जमीन पर खड़ी हो गई। अतः इस खतरे से बचने के लिए अब वायुयानों में कई इंजिन लगाते हैं, ताकि यदि एकाध इंजिन फेल हो जाय तो दूसरे इंजिन उसे जमीन पर गिरने से रोक लें। आसमान की आँधी-तूफान से भी वायुयानों को हमेशा से खतरा रहा है। आज भी वायुयान-यात्रा इस मानी में एकदम निरापद नहीं है। हाँ, इस खतरे को दूर करने के लिए सराहनीय प्रयत्न अवश्य किये गये हैं। अब तो सभी वायुयानों में वायरलेस यंत्र लगा रहता है। इसकी मदद से पाइलट को हर देश की वेधशालाओं से ऋतु-सम्वन्धी भविष्यवाणी प्रति क्षण मिलती रहती है। आनेवाले तूफान की सूचना इन्हें पहले ही मिल जाती है, अतः उस ओर की यात्रा कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाती है। वेधशालाएँ यह भी वताती हैं कि भिन्न-भिन्न वायु-स्तरों में हवा का रुख क्या है। इस प्रकार ये वायुयान अपने अनुकूल हवावाले वायुस्तर ढूँढ़ लेते हैं।

युद्ध-वायुयानों के लिए वायरलेस निस्सन्देह एक अपूर्व देन सावित हुई है। आफिस में वैठा हुआ कप्तान हवाई जहाज के वेड़े को इच्छानुसार आर्डर देता है कि एक लाइन में उड़ो या त्रिभुजाकार आकृति में २०० मील प्रति घण्टे की रफ्तार से अमुक दिशा में आगे वढ़ो, और फौरन् वायरलेस यंत्र से खवर पाकर वायुयानों का वेड़ा वही आकृति ग्रहण कर लेता है। वायरलेस के कारण वायुयान का सम्बन्ध हमेशा जमीन से वना रहता है। अभी हाल ही में रूस और अमेरिका में कई एक वायुयान इस ढंग के तैयार किये गए हैं, जो विना पाइलट के, केवल रेडियो की तरंगों के इशारे पर उड़ते हैं। इन वायुयानों में भी पेट्रोल का इंजिन लगा रहता है, साथ ही इनमें वायरलेस रिसीवर भी लगे रहते हैं। एक रिसीवर इंजिन पर कन्ट्रोल रखता है, दूसरा वायुयान के दिशा-परिचालक यंत्रों पर नियंत्रण रखता है। इनमें से प्रत्येक रिसीवर का वजन ढाई-तीन छटाँक से अधिक नहीं होता। नीचे मैदान में दो ट्रान्समिटर यंत्र रक्खे होते हैं। इन्हीं के द्वारा निर्देशक इच्छानुसार संकेत भेजता है, जिन्हें ग्रहण करके रिसीवर वायुयान का संचालन करते हैं। अवश्य ही ये मॉडल अभी प्रयोगात्मक क्षेत्र से वाहर नहीं निकल पाए हैं, किन्तु आश्चर्य नहीं कि कुछ ही दिनों वाद हमें रेडियो से परि-चालित वायुयान डाक के पार्सल ढोते हुए नजर आएँ!

दूर देश की यात्रा के लिए वायुयानों का उपयोग अव वहुतायत से होने लगा है। रेलगाड़ियों की तरह इनकी भी नियमित सर्विसें हैं। यदि यात्रा वहुत लम्बी हुई तो रास्ते में एक वायुयान को वदलकर दूसरा वायुयान काम में लाते हैं। आरंभ में इंगलैण्ड से भारत आने के लिए लन्दन के

क्रॉयडन एयरोड्रोम से जिनोआ तक एक वायुयान आता था, फिर वहाँ से पैसेंजर जलीय वायुयान पर सवार होकर मिस्र पहुँचते थे। वायुयान यहाँ फिर वदला जाता था, और तव लोग भारत पहुँचते थे। इतनी लम्बी यात्रा पहले ७ दिन में समाप्त हो पाती थी। पर अव तेज वायुयानों से वही यात्रा सोलह घंटे में पूरी हो जाती है! द्रुत वेग से यात्रा पूरी करने की हविस ने अनुसन्धान करनेवालों का ध्यान ऊर्ध्वाकाश की ओर आकर्षित किया है। पाँच-छः मील ऊँचे आकाश पर हवा नितान्त हलकी हो जाती है, अतः उसकी अवरोध-शक्ति में भी भारी कमी आ जाती है। यदि इतनी ऊँचाई पर वायु-यान उड़ सकें तो निस्संदेह वेहद तेज गति प्राप्त की जा सकती है। विशेषज्ञों ने हिसाव लगाया है कि जमीन के पास उड़ने पर वायुयान की रफ्तार यदि २५० मील प्रति घन्टे पहुँचती है तो १० मील की ऊँचाई पर वही वायुयान आसानी से ५०० मील की रफ्तार हासिल कर सकेगा। किन्तु ऊर्ध्वाकाश की यात्रा में अनेक नई अड़चनें आ खड़ी होती हैं। हवा पतली होने के कारण प्रोपेलर की पकड़ हवा पर पहले-जैसी शक्तिशाली नहीं होती। फिर भी इस सम्बन्ध में अमेरिका, रूस, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशों में निरंतर अनुसन्धान किये जा रहे हैं और आशा की जाती है कि कुछ ही दिनों वाद ५००-६०० मील की रफ्तार से द्रुतगामी वायुयान ऊर्ध्वाकाश के मार्ग से संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ लगाया करेंगे। तव लोग न्यूयार्क से सुवह जलपान करके रवाना होंगे और कुछ ही घंटे वाद दिन के भोजन के समय से पहले ही अटलांटिक के पार लन्दन में पहुँच जायँगे!

पाश्चात्य देशों में वायुयानों से तरह-तरह के काम लिये जा रहे हैं। मीलों लम्वे खेत में अमेरिका के कृषक हवाई जहाज की मदद से वीज वोते हैं। फसल के हानिकारक कीड़ों को मारने के लिए वायुयानों की मदद से विषैली दवा छिड़की जाती है। पैमाइश के लिए तो भारत में भी दुर्गम स्थानों में वायुयानों से मदद ली गई है।

साधारण वायुयानों को आकाश में चढ़ने के लिए मैदान में लम्वी दौड़ लगानी पड़ती है। इस कारण यदि लम्वे मैदान लभ्य न हुए तो ये वड़े वायुयान आसमान में उठ ही नहीं सकते। वायु-यानों के इस दोष को दूर करने के प्रयत्न में 'ऑटोजाइरो' नामक वायुयान का विकास हुआ (दे० पृ० ११-२३ का चित्र)। यह मशीन देखने में साधारण वायुयान-सरीखी होती है—केवल एक वात इसमें भिन्न होती है। मशीन के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के ठीक ऊपर एक लम्त्रवत् धुरी में प्रोपेलर-सरीखे व्लेड लगे रहते हैं। ये व्लेड काफी अधिक लम्वे होते हैं, किन्तु इस धुरी का संवंध इंजिन से नहीं होता। जिस वक्त मशीन जमीन पर दौड़ती है, हवा के झोंके के कारण ये ऊपरवाले व्लेड अपने आप घूमने लगते हैं, और कुछ ही दूर जाने पर वायुयान आसमान में उठ जाता है। ऑटोजाइरो करीव-करीव एकदम सीधा आसमान में उठ सकता है और जरूरत पड़ने पर एकदम सीधे नीचे मकान की छत पर भी उतर सकता है।

हवाई जहाजों को कारखानों से वाहर निकलने के पहले खूव जाँचा जाता है। यह एक वायु-सुरंग का चित्र है, जिसमें सैकड़ों मील प्रति घंटे तक की गति का झोंका कृत्रिम रूप से पैदाकर उसमें वायुयान की सहन-शक्ति की जाँच की जाती है।

करते थे। १८४० के लगभग, मिस्र की खुदाइयों और अनुसन्धानों से सन्तुष्ट होने पर, फ्रांसीसी पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान मसोपटेमिया के मैदानों की ओर आकर्षित हुआ। १८४३ में मोसल-स्थित तत्कालीन फ्रांसीसी राजदूत वोत्ता ने कुछ मजदूरों को खोरसावाद नामक गाँव की खुदाई में लगाया। इस जगह को उसने प्राचीन निनवे नगर का मूल स्थान समझा था। इस खुदाई में जो वस्तुएँ मिलीं, उनसे फ्रांस के पुरातत्त्वविदों के क्षेत्र में बड़े उत्साह का संचार हुआ। फ्रेंच सरकार ने पहले की तरह इस खोज के लिए भी काफी धन दिया और स्मारकों के चित्रों और नक्शों को तैयार करने के लिए फ्लैंड्रिन नामक कलाविद् को भेजा; क्योंकि स्मारक इतने भारी थे कि उनका हटाना संभव न था। वोत्ता और फ्लैंड्रिन ने मिलकर मसोपटेमिया के सम्बन्ध में शैम्पोलियों के प्रख्यात पुरातत्त्व-ग्रंथ 'मिस्र के वर्णन' के टक्कर के एक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की, जिसने मसोपटेमिया के सम्बन्ध में योरप के विद्वानों को चकित कर दिया।

बेबिलान के प्रसिद्ध ईश्तर-द्वार पर अंकित वृषभों के शिल्पचित्र

मसोपटेमिया की उभड़ी हुई मूर्तियों पर मिस्र की चित्र-लिपियों से मिलते-जुलते एक प्रकार के विचित्र कीलाकार चिह्न अंकित थे; किन्तु ये कीलाक्षर अब तक ज्ञात वर्णमालाओं या चित्रलिपियों से भिन्न थे। लैटिन भाषा में कील को 'क्यूनियस' कहते हैं, इसलिए यह विचित्र लिपि कीलाक्षर या 'क्यूनीफार्म' लिपि कहलाई। मिस्री लोग चीनियों की भाँति अपनी लिपि को कूँची से रंग द्वारा लिखते थे, किन्तु मसोपटेमियावाले रोमनों की तरह (जो 'स्टाइलस' नामक यंत्र से मोम की तख्तियों पर लिखते थे) अपने अक्षरों को मिट्टी की ईंटों पर किसी कील या नोकदार लकड़ी के टुकड़े से खुरचकर बनाते थे।

अनेक वर्षों तक यह क्यूनीफार्म लिपि असीरिया-संबंधी पुरातत्त्ववेत्ताओं की वुद्धि के लिए एक रहस्यमय पहेली बनी रही। १८२६ में प्रसिद्ध जर्मन इतिहासज्ञ नाइभुर ने मसोपटेमिया में प्राप्त पुरातत्त्व-संबंधी उपर्युक्त भव्य स्मारकों को देखकर आश्चर्यचकित होकर लिखा था, "ज्ञान के अक्षय भाण्डार का मार्ग तैयार करते चलो। नये शैम्पोलियों असीरिया की भाषा का अर्थ ढूँढ़ निकालेंगे और हमारी सन्तान क्यूनीफार्म लिपि के अर्थानुसन्धान का निरीक्षण कर सकेगी।" उसकी भविष्यवाणी कुछ ही वर्षों बाद पूरी हुई, जब गूटिंगेद विश्व-विद्यालय के एक यूनानी भाषा के नवयुवक शिक्षक ग्रोतेफेन्द ने इनमें के कुछ संकेत-चिह्नों के ध्वन्यात्मक महत्व का पता लगाया। जिस प्रकार रोजेटा-प्रस्तर पर अंकित सिकन्दर और क्लियोपाट्रा के नामों का पता लग जाने से अंतिम रूप से मिस्र की चित्रलिपि का रहस्योद्घाटन हो सका, उसी प्रकार जेरेक्सेज और उसके पिता डैरियस (दारा) के नामों ने असीरियन भाषा के अनुसन्धान की कुंजी का काम किया। कई साल बाद, रालिन्सन नामक ईस्ट इंडिया कं० के एक युवक सैनिक अफसर ने, जो ईरान में तैनात किया गया था, बेहिस्तून के महत्वपूर्ण अभिलेख की प्रतिलिपि तैयार की! उसने यह कल्पना की कि अभिलेख में बार-बार आनेवाले कुछ शब्दों की नामावली प्राचीन ईरान के बादशाहों के शासनान्तर्गत मण्डलों या प्रांतों के नामों की सूचक है और इस कल्पना के सहारे उसने बहुत-से नये अक्षरों के अर्थ ढूँढ़ निकाले। इस खोज और पुरातन ईरानी भाषा के ज्ञान की सहायता से अंततोगत्वा ईरानी अभिलेखों के रहस्य का पता चलाया गया। बेहिस्तून का यह महत्वपूर्ण अभिलेख ईरानी और बेबिलोनियन दोनों भाषाओं में लिखा हुआ था, इस कारण इस लेख के अर्थानुसन्धान से बेबिलोनियन भाषा के ज्ञान का मार्ग भी प्रशस्त हुआ।
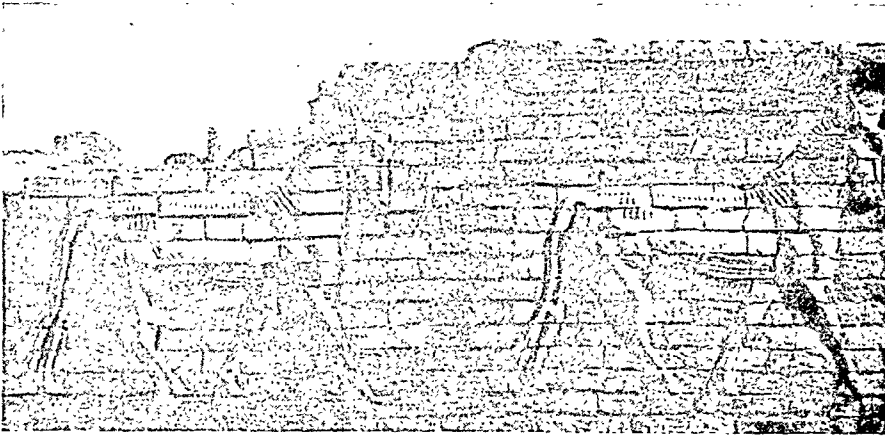
अधिक जानकारी न रखनेवालों को पुरातन मिस्र एवं

एक उभड़ा हुआ असीरियन शिल्पचित्र
इसमें दो व्यक्ति राजा के लिए भेंट ले जाते हुए दिखाये गये हैं।

प्राचीन मसोपटेमिया की कला में एक प्रकार की ऊपरी समता दिखाई देगी। यह समता इतनी अधिक मात्रा में है कि आरंभिक पुरातत्त्ववेत्ता भी यह निश्चय न कर सके थे कि सुमेरिया, बेबिलोनिया और असीरियावालों की कला का उदय मिस्रवासियों की कला से पहले हुआ था या बाद में। अब यह समझा जाता है कि जहाँ तक तिथि का संबंध है, दोनों देशों की कला प्रायः समकालीन है और दोनों देशों का इतिहास ईसा के ४००० वर्ष पूर्व आरम्भ होता है! ऐतिहासिक दृष्टि से मिस्र और मसोपटेमिया की कला में सबसे बड़ा अंतर यह है कि जहाँ मिस्र में ४००० वर्षों तक केवल एक ही नस्ल के लोग रहते रहे और बहुत-कुछ अंशों में एक ही जाति के लोग शासन करते चले आये, वहाँ मसोपटेमिया प्रदेश का शासन-सूत्र एक के बाद दूसरी जाति के आने से इतना अधिक बदलता रहा और उसे निरन्तर ऐसी बर्बरता और क्रूरता का शिकार होना पड़ा कि वहाँ से प्रचुर परिणाम में खुदाई द्वारा पाई गई अमूल्य पुरातत्व-सामग्री का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करना असंभवप्राय है। आरंभिक काल के सुमेरिया के मोजेइक (Mosaic) या पच्चीकारी के काम, बेबिलोनिया की मूर्तियाँ, कैल्डिया के देवालय, बेबिलोनिया की उत्तरकालीन नक्काशीदार तख्तियाँ, हिट्टाइट या खत्ती युग के नक्काशी के काम और उर के ध्वंसावशेष आदि का वर्गीकरण और काल-निर्धारण अभी होना बाकी है और विशेषज्ञ लोग इस सम्बन्ध में छानबीन कर रहे हैं।

मिस्र और मसोपटेमिया की कला में दूसरा उल्लेखनीय अन्तर यह है कि जहाँ मिस्री कलाकार का माध्यम कड़े-से कड़े हरित पाषाण से लेकर कोमल-से-कोमल सेलखरी तक सदैव प्रस्तर ही रहा है—चाहे उससे उन्होंने भवन-निर्माण का कार्य लिया हो, चाहे मूर्तियों के गढ़ने का; वहाँ मसोपटेमियावाले प्रायः सम्पूर्णतया ईंटों पर ही अवलम्बित थे। यही कारण है कि उनके राजप्रासाद, देवालय और अन्य स्मारक आज के दिन उतनी सुरक्षित अवस्था में नहीं पाये जाते, जितने मिस्र में पाये जाते हैं। इसके साथ-ही-साथ मसोपटेमिया के निवासियों की धारणाओं और आदर्शों में वह

वीरता का भाव नहीं पाया जाता, जो मिस्रवालों में मिलता है। वास्तव में मिस्रवासियों की अपेक्षा उनका बौद्धिक विकास निम्नतर कोटि का था, यद्यपि शारीरिक बल और क्रूरता के कार्यों में वे शायद उनसे बढ़े हुए थे। देवताओं की वंशावली और विश्व की उत्पत्ति, इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में असीरियावालों की अपेक्षा मिस्रवालों की कल्पना अधिक रोचक, गूढ़ और आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की द्योतक थी, और उनकी यह बौद्धिक श्रेष्ठता उनकी कला और कलात्मक आदर्शों में पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। मिस्रवासी जहाँ स्वभाव से ही विनयशील और शान्तिप्रिय होते थे, वहाँ बेबीलोनिया और असीरिया के निवासी क्रूरता का आनन्द लेने के लिए ही क्रूर कार्य करते थे। उनकी कुशलतापूर्वक निर्मित कितनी ही अद्भुत उभड़ी हुई मूर्तियों में ऐसे पैशाचिक अत्याचारों के क्रूर दृश्यों का चित्रण है कि उन्हें देखकर आज भी घृणा से रोंगटे खड़े होने लगते हैं, यद्यपि हत्या और रक्तपात के इन काण्डों में भाग लेनेवाले लोगों को मरे हुए पाँच हजार वर्ष से भी अधिक काल बीत चुका है!

यह क्रूरतापूर्ण कठोरता मसोपटेमिया के कलाकारों द्वारा मानव आकृति के चित्रण में भी स्पष्ट है। मसोपटेमिया की कला में हमें कहीं भी मिस्री रानियों के रमणीय सौष्ठव, सम्राटों की शान्त एवं निश्चल तथापि करुणापूर्ण आकृति, साधारण नागरिकों की विकाररहित मनोहारिता और शक्तिशाली देवताओं के अज्ञेय रहस्यमय चित्रण के दर्शन नहीं होते। उससे दर्शक के मन में कठोर शक्ति, पाशविकता, क्रुद्ध गौरव, हृदयहीन आदेशों, अमानुषिक रक्त-पिपासा, निर्दय हत्या एवं रक्त-संहार का ही भान होता है।

मिस्र की कला में हमें जिस मानवता का पर्याप्त परिचय मिलता है, मसोपटेमिया की कला में उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। सुखी घरेलू जीवन, स्त्रियों और बच्चों आदि के दृश्य, जो कि मिस्री कला की एक बहुत ही मनोरम विशेषता है, मसोपटेमिया की कला में विरले ही पाये जाते हैं। राजदरबार की शिष्टाचारगत आवश्यकताओं का कड़ा ध्यान रखकर चलने के कारण यहाँ की सजावट की शैली में भी एक प्रकार की जड़ता आ गई है; उसमें वह हिलोर और लहरन नहीं है, जो मिस्रवालों की फूल-पत्तियाँ बनाकर की गई सजावट में पाई जाती है। वास्तव में, कला के क्षेत्र में इतने अद्भुत कलानैपुण्य के साथ-साथ साधारण मानवीय भावनाओं के संपूर्ण अभाव का ऐसा उदाहरण शायद ही हमें अन्यत्र मिलेगा।

मसोपटेमिया की कला का हमारे मन पर ऊपर-वर्णित जो प्रभाव पड़ता है वह अंशतः इस कारण हो सकता है कि मुगल सम्राटों के काल की भारतीय चित्रकारी की भाँति मसोपटेमिया की सारी कला राजकीय या दरबारी कला थी। उन छोटी-छोटी सामान्य कलाओं को, जिनमें साधारण मनुष्य लगे रहते थे और जिनके कि कारण मिस्र की घाटी अध्ययन का एक बहुत रोचक केन्द्र हो गई है, बेबीलोनिया और असीरिया में संभवतः अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया गया। साथ ही सुमेरिया और बेबीलोनियावालों की कला में शाश्वतता और स्थायित्व का वह भाव नहीं पाया जाता, जो कि मिस्र की कृतियों की एक उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँ की कला की सृष्टि महज किसी स्थानीय राजवंश के विक्रम का प्रदर्शन करने के लिए, अथवा हाथीदाँत और सोने से मढ़ी लेपिस-लैजुली से बनी कटार की मूठों के लिए किसी राजकुमार की इच्छा को संतुष्ट करने के लिए हुई थी।

मसोपटेमिया के मैदानों के आरंभिक निवासी, जिनके सम्बन्ध में अब तक ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं, सुमेरियन लोग थे, जो वहाँ ईसा से ३५०० से २००० वर्ष पूर्व तक राज्य करते थे। उनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक यह बतलाना कठिन है कि वे कौन थे; किन्तु अधिकतर सम्भावना यह जान पड़ती है कि वे मूलतः उत्तर से आये थे, और संभवतः एशिया के उसी ऊँचे पठार के रहनेवाले थे, जो स्वयं हमारे पूर्वज आर्यों का मूल निवास था।

इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये सुमेरियन लोग सेमेटिक जाति के नहीं थे, जैसा कि उनके शिल्पावशेषों से ज्ञात होता है। वे लोग अपने केश मुंड़वाते थे और सुदूर दक्षिण से आनेवाले घने केशपाश, नुकीली नाक, काली दाढ़ी और बलिष्ट देहवाले सेमेटिक नस्ल के लोगों से वे देखने में बिल्कुल भिन्न थे।

सुमेरियन लोगों के शासनकाल में मसोपटेमिया का क्षेत्र अनेक छोटे-छोटे अर्ध-स्वतंत्र भागों में बँटा हुआ था, जिनमें मजबूत चहारदीवारियों से घिरे हुए शहरों में रहनेवाले छोटे-छोटे राजे राज्य करते थे। देश का उत्तरी भाग अक्कड और दक्षिणी भाग उर कहलाता था। सुप्रसिद्ध 'कैल्डियनों का उर', जहाँ से अब्राहम ने अपनी प्रसिद्ध यात्रा आरंभ की थी, सुमेरियन लोगों का एक प्रधान गढ़ था। इन राजाओं की अट्टालिकाएँ और उनके ऊँचे गढ़ तो अब विलुप्त हो गये हैं, किन्तु आधुनिक पुरातत्ववेत्ताओं ने, विशेषकर सर लियोनार्ड वूली ने, उनकी बहुत-सी कब्रों को ढूँढ़ निकाला है। ये कब्रें सोने, चाँदी, काँसे, हाथीदाँत

(ऊपर) ६ हजार वर्ष पूर्व के सुमेरिया के मिट्टी के वर्तन;
(नीचे वाई ओर) एक असीरियन मूर्ति; (दाहिनी ओर) सूसा से प्राप्त एक काँसे की मूर्ति ।

बेबीलान के सुप्रसिद्ध ईश्तर-द्वार की दीवारों पर ईंटों द्वारा बनाई गई विचित्र जंतुओं की मूर्तियों में से एक।
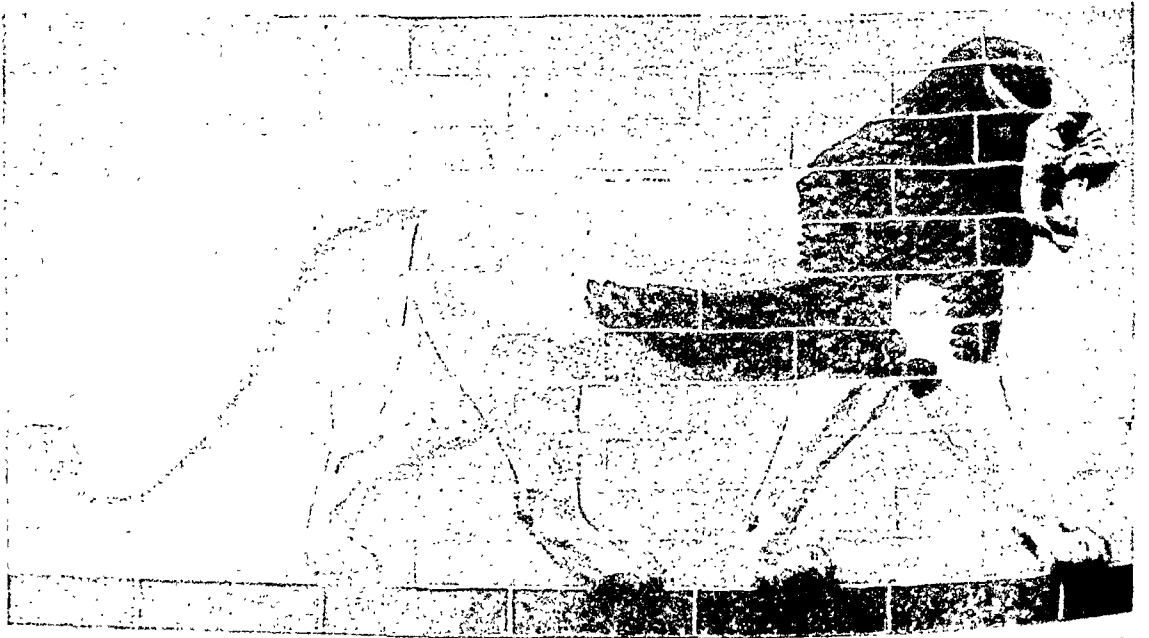
दीवार पर रंगीन ईंटों या टाइल्स द्वारा बनाई गई एक सिंह की मूर्ति। यह भी बेबीलान से प्राप्त हुई है। बेबिलोनिया में पत्थर का अभाव था, इसलिए वहाँ सभी इमारतें ईंटों की बनाई जाती थीं। पत्थर की अनुपस्थिति में ईंटों ही में वहाँ के लोग अपनी कला दिखाते थे और उनके द्वारा दीवारों पर तरह-तरह की मूर्तियाँ बनाते थे।

लोग महान् यहूदी पैगम्बरों के समकालीन थे। इन लोगों की राजधानी निनवे थी। यहाँ उन्होंने अपने लिए विशालकाय राजभवन बनवाये थे, जिनके भग्नावशेषों की खुदाई हाल ही में हुई है। इनकी दीवालें सतह उभाड़कर बनाये गये चित्रों से भरी पड़ी हैं, जिनमें उन पाशविक दण्ड-प्रणालियों का प्रदर्शन है, जिनका प्रयोग असीरियन शासक विरोधियों पर करते थे।

इसके बाद भाग्य ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि बेबिलान का विलुप्त गौरव पुनः अपनी जन्म-भूमि में आ प्रकट हुआ, और असीरियन लोगों का शक्तिशाली साम्राज्य उलट गया। उत्तर-कालके ये बेबिलोनियन असीरियावालों या स्वयं अपने ही पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य थे। उन्होंने अपनी राजधनी को ज्ञान-विज्ञान के एक बृहत् केन्द्र में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने ही गणित तथा खगोल-विद्या की नींव डाली, जिससे यूनानी लोग इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे बेबिलान का उल्लेख "सब विद्याओं की जननी" के नाम से करते थे और अपने बेबिलानवासी गुरुओं के ज्ञान-भाण्डार का बिना किसी हिचकिचाहट के उपयोग करते थे। कला के क्षेत्र में भी उत्तर-काल के इन बेबिलान-निवासियों ने उन नाना प्रकार के सम्भव तथा असम्भव पशुओं के चिकनी ईंटों पर शिल्पचित्र बनाये थे, जो आज भी पुरातन कला के अत्यन्त चित्ताकर्षक उदाहरणों में गिने जाते हैं।

एक उभड़ा हुआ ईरानी पाषाण-चित्र

एक शक्तिशाली केन्द्रीभूत शासन के अभाव के कारण द्वितीय बेबिलोनियन साम्राज्य बहुत जल्दी ही विनष्ट हो गया। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में जब सिकन्दर अपनी भारत-वर्ष की विजय-यात्रा के मार्ग में बेबिलान पहुँचा तो उस विनष्ट-प्राय महानगरी के विलुप्त गौरव ने उस पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि उसने उसका पुनरुद्धार कर उसे अपने पूर्वीय साम्राज्य की राजधानी बनाने का निश्चय किया। उसने प्राचीन राजभवन के पुनर्निर्माण के लिए आज्ञा दी, परन्तु ३२३ ई० पू० उसी राजभवन के भोजकक्ष में अचानक उसकी मृत्यु हो गई।

मसोपटेमिया के स्थापत्य की मुख्य विशेषता उसकी मेहराबदार छतें थीं। यूनानी लोग, जो अन्य सब दृष्टियों से उस समय के महान् स्थापत्यकारों में से थे, डाँटदार छतें बनाना नहीं जानते थे। मेहराबदार छत का प्रचार शीघ्र ही संपूर्ण एशिया माइनर में हो गया और एक लीडियन जाति, जो कि आगे चलकर एत्रूस्कन नाम से विख्यात हुई, मेहराबदार छत बनाने की कला को इटली ले गई। ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में रोमन लोगों ने इत्रूरिया को जीता। वहाँ वे मेहराबदार छत से परिचित हुए। इसके बाद उन्होंने इस प्रकार की छत का प्रचार सारे योरप में कर दिया। ईरान का साम्राज्य, जो स्थापत्य तथा अन्य कलाओं की दृष्टि से मसोपटेमिया की कला से घनिष्ट रूपसे संबंधित था, केवल दो शताब्दियों तक स्थायी रहा। यह साम्राज्य साइरस, कैम्बीसेस, डेरियस और जेरेक्सेज नामक प्रसिद्ध सम्राटों की अधीनता में सभ्यता की एक ऊँची अवस्था को पहुँच गया था। ये सभी सम्राट् महान् भवन-निर्माताओं के रूप में प्रख्यात हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश ईरान-वालों में मौलिकता नहीं के बराबर थी। सूसा और पर्सियोपोलिस में यूनानी स्थापत्यकारों द्वारा निर्मित ईरानी बादशाहों के राजमहल अधिकतर बेबिलान के राजकीय भवनों की नकल मात्र थे। जब उनका साम्राज्य लुप्त हो गया तो उनके राजभवन और मन्दिर भी पुनः मरु-भूमि की बालुकाराशि में विलीन हो गये। साथ ही उनकी सभ्यता भी अन्तर्धान हो गई। सूसा और पर्सियोपोलिस के गौरव की आज सिर्फ कहानी ही बच रही है; केवल यत्र तत्र पाया जानेवाला कोई स्तम्भ या मेहराबदार छतवाले कक्ष का खण्ड कभी-कभी उस विलुप्त गौरव की याद दिला देता है।
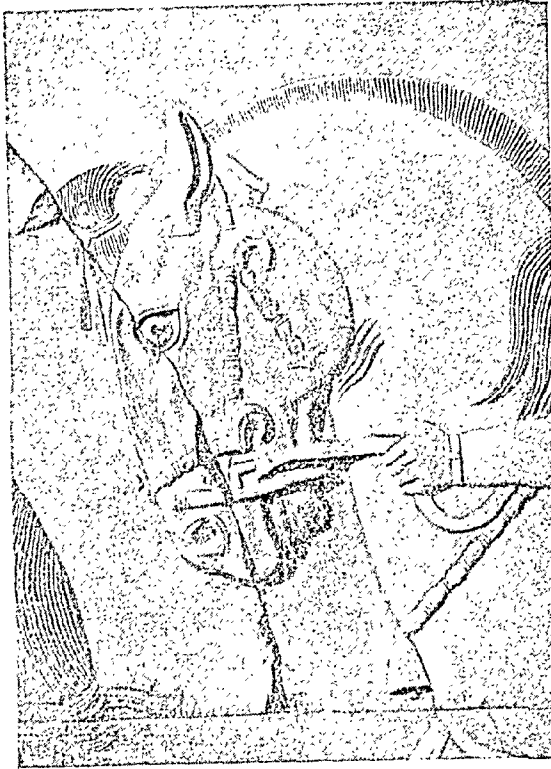
संस्कृत वाङ्मय—(१) प्रवेशक

संस्कृत भाषा का साम्राज्य

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जिस प्रकार आर्य जाति की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भूमण्डल के विविधि प्रदेशों में फैली हुई हैं, उसी प्रकार संस्कृत वाङ्मय की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी अनन्त अक्षय-वट की भाँति पृथ्वी के कोने-कोने में फैली हुई हैं। आर्य जाति का विस्तार पश्चिमोत्तर में आर्कटिक सागर के पश्चिमी किनारे से हिन्द-महासागर के तटवर्ती दक्षिण-पूर्व तक, फिर अटलांटिक के दोनों तटों पर है। आर्य भाषा का प्रसार आर्य जाति के विविध निवास-स्थानों में तो है ही, परन्तु वह उनसे बाहर अन्य अनार्य भाषाओं के अन्तर में भी पैठ चुका है। यथार्थतः तो यह कहना कि आर्य भाषाएँ बोलनेवाली सारी जातियाँ आर्य हैं, एक कल्पित धारणा है, जिसकी असत्यता अब सिद्ध हो चुकी है और जिस दृष्टिकोण को अधिकतर अधिकारी विद्वानों ने छोड़ भी दिया है। वस्तुतः भाषा का प्रभुत्व सांस्कृतिक सम्बन्ध और व्यापारिक आदान-प्रदान से जमता है। उसी से प्रायः एक भाषा में दूसरी भाषा का शब्द-बाहुल्य होता है। परन्तु किसी अन्य भाषा के शब्दबाहुल्य से कोई भाषा उस अन्य की शाखा नहीं कही जा सकती। उत्तरी भारत में आज जो सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती हैं, वे किसी न किसी प्रकार से संस्कृत से ही प्रादुर्भूत हुई हैं। हाँ, संस्कृत से आज की स्थिति तक पहुँचने में कई मार्ग उनके सहायक रहे हैं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। परन्तु इनके विपरीत दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ी कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो संस्कृत से नहीं निकलीं, जिनका अपना स्वतंत्र साहित्य है और जो संस्कृत के संसर्ग के पूर्व से ही फूल-फल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि उनके साहित्य को संस्कृत साहित्य ने बहुत-कुछ भरा है और उनमें संस्कृत भाषा के सैकड़ों-हजारों शब्द कई रूप से जाने-अनजाने व्यवहृत होते हैं। इस रूप से संस्कृत भाषा का औपनिवेशिक साम्राज्य संसार के सुदूर खण्डों में अनार्य भाषाओं में फैला हुआ है।

आर्य जाति का प्रसार

वास्तव में संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। उसका प्रसार आर्य जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जिन जातियों को हम आज 'आर्य' कहते हैं, वे कभी आर्य थीं कि नहीं अथवा जिन्हें हम 'आर्य' कहते हैं और जिन्हें स्वयं आर्यों ने अपनी प्रथम मानवी पुस्तक ऋग्वेद में 'आर्य' कहा है, वे स्वयं बहुत पूर्व विशुद्ध आर्य थे या नहीं, यह कहना कठिन है—विशेषकर इस कारण कि संसार की प्राचीन सारी जातियाँ कबीलों की अवस्था में घुमक्कड़ थीं और घुमक्कड़ अवस्था में एक जाति का दूसरी से वैवाहिक अथवा जनन-सम्बन्ध प्रचुरता से स्थापित होता रहता है। इस अर्थ से तो रक्त-शुद्धि अथवा जाति-पावनता एक भ्रान्ति, मृगतृष्णा-मात्र ही सिद्ध होती है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आर्य जाति ने अपनी जातीय पावनता बनाए रखने की असाधारण चेष्टा की है और किसी अंश तक बना भी रखी है। एक बात और है। इतिहासकारों ने जाति-समुदायों का अध्ययन करते समय जो अनेकों जातियों की गणना और वर्गीकरण किया है, उस पीत, कृष्ण, अरुण और श्वेत रूप वर्णाधार से परे एक सांस्कृतिक विभाजन भी किया है। इस विभाजन में आर्य और सेमिटिक (इसरायल, यहोवा आदि के वंशज), मिस्री (हेमिटिक), अस्सीरियन, बेबिलोनि-

यन, आदि प्रमुख हैं। है तो यह केवल सांस्कृतिक और जातीय वर्गीकरण और जातीय सम्बन्ध से यह बहुत प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दो जातियों में बहुत पूर्व प्रागैतिहासिक काल में वस्तुतः कितना अन्तर था यह नहीं कहा जा सकता—विशेषकर जब कि दोनों की शारीरिक विशेषताएँ लगभग समान थीं। वर्ण में भेद अवश्य था, परन्तु इसका ही क्या प्रमाण है कि सेमिटिक जातियाँ ही दजला और फरात के तटों पर सदा से बसी थीं, और पूर्वकाल में अन्यत्र से आकर न बसीं, अथवा उनका भी रंग आर्यों की ही भाँति श्वेत न था, जो मध्य एशिया के जलवायु से गेहुँआँ अथवा अधिकतर घना हो गया।

सेमेटिक और आर्य संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंतर

हाँ, सांस्कृतिक भेद यथार्थ है, जो आसानी से माना जा सकता है और मान लेना पड़ेगा। आर्य और सेमिटिक जातियों की संस्कृति में बड़ा गहरा भेद रहा है, जो अब तक बहुत अंशों में बना हुआ है। इनमें एक की संस्कृति का प्राण उदार और दूसरे का आतंकमय रहा है। यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि आर्यों ने अपने प्रसार और भौगोलिक विजयों में आतंक अथवा संघर्ष को स्थान ही न दिया या सेमिटिक जातियों ने सदा आतंक को ही अपनाया, परन्तु लाक्षणिक रूप में उनकी ये विशेषताएँ वस्तुतः सिद्ध हैं। एक बार घुमक्कड़ आर्य जाति ने जब किसी भूखण्ड को अपना गृह बनाया, फिर उसमें अपने निवासस्थान की नींव के साथ ही उसने झट अपनी संस्कृति की जड़ें भी डालीं और धीरे-धीरे अपनी मेधा की विभूतियों और कायिक विसर्जन से उसे दृढ़ की। फिर उनकी अन्य जातियों पर विजय, असि द्वारा नहीं, धर्म द्वारा हुई, जिसका विशेष व्यक्तीकरण बुद्ध और अशोक ने किया। अन्य विजित जातियों में उनके आतंक से कराह नहीं पैदा हुई, वरन् ब्रह्मघोष का निनाद फैला। अर्जुन का दिग्विजय अवश्य असि का ताण्डव था, परन्तु आर्य संस्कृति का वैभव अर्जुन का गांडीवघोष नहीं, कृष्ण का गीतानाद है। आर्य संस्कृति ने जब आवश्यकतावश 'शस्त्र' को ग्रहण किया, तब उसने उसके ऊपर 'शास्त्र' की प्रतिष्ठा की।

इस प्रकार आर्य संस्कृति का प्रसार उदारतापूर्वक हुआ विचार-स्वातंत्र्य की जड़ बनाए हुए। इसी कारण संस्कृत भाषा ने जिन-जिन भाषाओं में प्रवेश किया, वे दुर्बल न बनीं वरन् उसके सामीप्य से उनका उपवन फला-फूला। यही कारण है कि संसार की अनेक जातियाँ अनार्य होते हुए, इस आर्यभाषा संस्कृत की शब्दावली का व्यवहार करते हुए भी नहीं जानतीं कि वे विजातीय बोली बोलती हैं। और न स्वयं संस्कृत भाषा ने ही अन्य भाषाओं से आनेवाली शब्दमाला को अग्राह्य किया। उसने उस पर और अपनी मुद्रा लगाकर उसे अपनी घोषित कर दी और आज आर्य भाषा का कट्टर पुजारी भी विजातीय शब्दों का प्रयोग करता हुआ पूर्ण रूप से संतुष्ट रहता है।

मातृ-संस्कृत का व्यापक प्रभुत्व-क्षेत्र

संस्कृत भाषा आर्यों की भाषा है—उसी प्रकार जैसे संस्कृत से पहले मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत आर्यों के पुरखों की थी। इसी पूर्वप्राकृत-संस्कृत से वे अनेक भाषाएँ निकलीं, जिनकी आज आर्य अथवा 'इण्डो-टयूटोनिक' भाषाओं में गणना है। इसी मातृसंस्कृत का साम्राज्य भूमध्यसागर के तटवर्ती किसी युग के जगत् के मुकुटमणि ग्रीक और रोमन प्रदेशों पर फैला हुआ था और जिसकी सत्ता आज भी उनकी अनेक बोलियों में विद्यमान है। एक ओर इस साम्राज्य की परिखा अटलांटिक महासागर ने बनाई, जिसके ऐंग्लो-सैक्सन, फ्रांसीसी, जर्मन (टयूटन अथवा द्वायत्सलंदीय), लिथुएनियन आदि अन्तपाल हुए। लिथुएनियनों ने तो इस प्रकार इस भाषा का स्तवन किया कि आज भी क्रापात्किन के शब्दों में 'लिथिएनिया का कृषक संस्कृत के ही पदों का व्यवहार करता है'। संस्कृत के यहाँ की भाषा से घने सम्बन्ध के कारण कुछ लोगों ने आर्यों का आदिम निवास लिथुएनिया को भी माना। फिर इसका सिक्का मध्य योरप के स्लाव आदि अनेक भाषाओं में चला और सोलहवीं शती में जब योरपीय जातियों ने अमेरिका में अपना निवास बनाया, तो वहाँ भी इस भाषा-बोधि की कलमें जा लगीं। पर इनके बहुत पूर्व 'मय जाति' ने वहाँ आर्य संस्कृत की धरोहर रख छोड़ी थी। इधर एक बहुत बड़ा प्रांगण संस्कृत भाषा का ईरान देश में, जो आर्यों का कभी निवासस्थान था, खड़ा हो गया। यहाँ तक कि प्राचीन फारसी, जिसमें पारसियों की धर्मपुस्तक 'जेन्दावेस्ता' लिखी गई है, संस्कृत की निकटतम भगिनी है। कुछ अक्षरों की ध्वनियों को बदलकर पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो वेद पढ़े जा रहे हों। यह फारसी बाद की प्राकृतों अथवा बोलियों से संस्कृत के कहीं निकट है। फिर संस्कृत का विशेष आधार सप्तसिन्धु का प्रदेश बना, जहाँ उसकी विशेष वृद्धि हुई और जहाँ वह देवभाषा बनी। यहीं से उसका प्रसार

भारतवर्ष के प्रान्तों से होता हुआ आर्यों के अनेक उपनिवेशों—सिंहल, जावा, बालि, सुमात्रा, लवंगद्वीप, आदि—में आर्य संस्कृत के साथ-साथ हुआ। उसका प्रभाव फिर कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान आदि देशों के साहित्य पर पड़ा। इस लेखमाला में इसी भारतीय संस्कृति का इतिहास संकलित होगा, जिसने विश्व को वेद-जैसी ज्ञान-निधि प्रदान की और उसके बाद के इतिहास का निर्माण किया।

संस्कृत भाषा और संस्कृत विद्या

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जहाँ-जहाँ आर्य जाति की संस्कृति और वैभव फैले हैं, वहाँ-वहाँ संस्कृत भाषा का विस्तार हुआ है। इसे उन्होंने आर्य-भाषा, देव-भाषा और भारती आदि की संज्ञा प्रदान की है। संस्कृत भाषा का आरम्भ कितना प्राचीन है, यह कहना आज कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, क्योंकि उसका अधिकतर अर्थात् प्राग्वैदिक रूप बिल्कुल ही अनजाना है। जाने हुए रूप का अध्ययन और उसके उत्तरकालीन विकास का अनुशीलन सम्भव है। इस जाने हुए रूप का आरम्भ—उपलब्ध ज्ञान—ऋग्वेद संहिता से होता है और उसका अन्त अथर्ववेद संहिता के साथ हो जाता है। यह इस रूप का प्रथम युग है, जिसे हम संहिता-काल कहेंगे। दूसरा ब्राह्मण उपनिषद्-काल है, जिसमें गद्य का प्रारम्भ और पद्य का पोषण हुआ है। ये दोनों काल मिलकर उस युग का निर्माण करते हैं, जिसे हम वैदिक युग कहेंगे। तीसरा युग सूत्रग्रन्थों का था। चौथे युग में रामायण और महाभारत-जैसे वीरकाव्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पाँचवाँ युग प्राक्कालिदास काव्य और नाटकों का था, छठा स्वयं कालिदास का, सातवाँ कालिदासोत्तर काव्यों, नाटकों आदि का और अन्तिम युग विविध टीकाओं और भाष्यों का था।

ऋग्वेद से पूर्व की संस्कृत भाषा का अथवा उसके साहित्य का ज्ञान हमें नहीं होता, क्योंकि उसके अध्ययन की सामग्री हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु न सही साहित्य का, किन्तु भाषा का फिर भी हम कुछ न कुछ अटकल लगा सकते हैं। स्वयं ऋग्वेद ग्रीकों की देवी मिनर्वा की भाँति बिना शैशव-कैशोर आदि शरीर-गठन की आवश्यक अवस्थाओं के हमारे सामने आ उपस्थित होता है। उसे हम ठीक उसी रूप में स्वतःपूर्ण पाते हैं। लोगों ने उसके भाषा-विकास के अनुसार स्तरों को भी जानने की बात कही है। कुछ स्तरों का पता स्वयं ऋग्वेद के एकाध मंत्रों से ही चल जाता है। उदाहरणस्वरूप एक मंत्र में पूर्व, मध्यकालीन और वर्तमान ऋषियों की चर्चा की गई है। ऋग्वेद संहिता की भाषा पद्यमयी है। परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तरकाल के अलंकारशास्त्र की पद्धति का अनुकरण नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है। इससे यह बात प्रकट होती है कि छन्दों के उस रूप का अभी अधिकतर अभाव था, जिसका दर्शन हमें बाद के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में होता है। समसामयिक साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भाषा साधारण बोलचाल की नहीं है, क्योंकि पद्यमयी भाषा साधारण बोलचाल की नहीं हुआ करती। फिर भी छन्दबद्ध जो भाषा है, वही गद्य रूप में जनता की हो सकती है। इस छन्दरहित गद्य-भाषा के दो रूप हो सकते हैं, एक तो वह शुद्ध रूप जो पद्य से वर्जित ऋग्वेद की भाषा का हो सकता है, जिसे तत्कालीन शिष्ट लोग बोलते रहे होंगे, और दूसरा वह जो ग्रामीण अथवा अशिक्षित जन की भाषा का रहा हो।

जो भाषा शिष्ट समुदाय के लोगों की रही होगी वही पाणिनि के 'संस्कृत' का पूर्वरूप है, जिसमें संस्कार का समावेश तो हो चुका है, परन्तु जिसके पूर्ण 'संस्कृत' होने में स्वयं पाणिनि को अभी बहुत-कुछ करना है। किन्तु वह भाषा जो जन-साधारण की रही होगी, उसे हम पूर्वकाल की प्राकृत कह सकते हैं।

संस्कृत सदैव बोली जाती रही—वह एक जीवित भाषा थी

कुछ लोगों ने संदेह किया है कि संस्कृत, जिसे हम आज के रूप में जानते हैं, कभी वास्तव में बोली भी जाती थी या नहीं। एक महोदय ने तो सन्देह की मात्रा हद दर्जे तक पहुँचा दी है। उनकी राय में संस्कृत साहित्य तो निस्सन्देह और स्वयं संस्कृत भाषा भी एक भारी जाल है, जो स्वयं कभी स्थित न थी और "जिसे धूर्त ब्राह्मणों ने सिकन्दर के आक्रमणों के बाद ग्रीक भाषा के अनुरूप गढ़ डाला!"

यह विचारधारा संस्कृत-भाषा के अनुशीलन में अनोखी है। यहाँ इसका विवेचन श्रेय नहीं। इसकी अप्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है। बाकी, संस्कृत कभी बोली जानेवाली जीवित भाषा थी या नहीं, इस पर हम यहाँ विचार करेंगे। यहाँ इस बात पर विचार कर लेना अधिक आवश्यक है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ अथवा संस्कृत का। इस विषय

पर भी विद्वानों का मतैक्य नहीं। कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं और कुछ संस्कृत को प्राकृत से। संस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव युक्तिसंगत नहीं जँचता, क्योंकि स्वयं 'संस्कृत' पद में उसका विरोध है। 'संस्कृत' शब्द स्वयं अब संज्ञा होता हुआ भी एक प्रकार का विशेषण है और इसमें एक 'संस्कार की हुई' भाषा का भाव निहित है। फिर संस्कार किसका? स्वयं संस्कृत का? इसका कुछ अर्थ नहीं निकलता। अवश्य तब उस भाषा का संस्कार किया गया, जो ग्रामीण और जन-साधारण की थी और जो खरादी जाने से निखरकर शिष्टों की संस्कारपूत संस्कृत भाषा बनी। स्वयं 'प्राकृत' शब्द में भी 'संस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के विरोध में 'स्वाभाविक', 'प्राकृतिक', 'अपरिमार्जित', 'असंस्कृत' भाव सिद्ध हैं। इस हेतु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि 'प्राकृत' पहले की है और 'संस्कृत' बाद की 'प्राकृत' की ही संस्कारयुक्त भाषा।

बाद की प्राकृतें बिना संस्कृत के मध्य आधार के पुरातन प्राकृतों से निकलती रहीं, यद्यपि उनका स्वयं समय-समय पर संस्कृत होना और संस्कृत के अनेक शब्दों का फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत बन जाना अनिवार्य न था। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि संस्कृत की बुनियाद भी प्राकृत की भाँति ही प्राचीनतम स्तरों में पाई जायगी, क्योंकि उस समय की कल्पना कष्टकर होगी जब 'शिष्टों' का अभाव हो अथवा वे प्राकृतों को विशेष रूप से न बोलते रहे हों। संस्कृत का प्रादुर्भाव किसी सनातन संस्कृत से मानना अयुक्तिसंगत नहीं, परन्तु फिर भी प्राकृत की प्राकृतिकता और भी पूर्व जा पहुँचेगी। संस्कृत का मूल वहाँ खो जायगा, जहाँ से पूर्व 'शिष्टों' की कल्पना न हो सकेगी। और यदि मानव-विकास का सिद्धान्त सही है तो अवश्य एक अवस्था रही होगी जब प्रकृति का सहचर आदि-मानव शिष्ट-वर्ग के अभाव में उनसे वर्ज्य केवल समान प्राकृत ही बोलता रहा हो। और यदि उस अवस्था की कल्पना हम करें जब भाषा का जनन हुआ तो निस्सन्देह बालक की भाँति उच्चारण का प्रयास करते हुए मानव का भाषा-सम्बन्धी कोलाहल प्राकृत के अधिक निकट रहा होगा और संस्कृत से अधिक दूर।

आर्य जाति की विलक्षण मेधा का एकमात्र यान संस्कृत ही रही है

ऊपर जो कई स्थलों पर कहा गया है कि संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है उसका एक विशेष अर्थ है। यह अर्थ और जातियों की भाषाओं के सम्बन्ध में अथवा भारतीय आर्यों से इतर स्वयं अन्य आर्यों की भाषाओं के सम्बन्ध में भी सार्थक नहीं। क्योंकि औरों के प्रतिकूल इस जाति की आदितम (संस्कृत)-भाषा के साथ उसके गहरे अध्यात्म (Philosophy) का भी सम्बन्ध है। बाद में प्रादुर्भूत अनुकूल अथवा प्रतिकूल सारे भारतीय धर्मों का मूल ऋग्वेद संहिता में छिपा है। बौद्ध और जैन तथा लोकायत (नास्तिक) धर्मों को छोड़ अन्य आस्तिक संप्रदाय तो सभी ऋग्वेद को ही अपनी आधार-शिला बनाते हैं और स्वयं बौद्ध और जैन धर्मों की आचार-नीतियाँ उसी संहिता के विधान के बहुत-कुछ अनुकूल हैं। सहस्रों वर्षों तक आर्य जाति की विलक्षण मेधा का एकमात्र कलेवर संस्कृत रही है। उस अद्भुत अध्यात्म का एकमात्र यान यही भाषा रही। इसी में उसने वे रत्न प्रसूत किए, जिनकी मर्यादा की संसार ने सराहना की और जिनकी सीमाएँ अन्य जातियाँ अथक परिश्रम करके भी आज तक न छू सकीं। क्या आश्चर्य कि उन आर्यों ने इस सर्वतोमुखी भाषा को 'देववाणी', 'भारती' आदि उपाधियों से अलंकृत कर पुकारा?

साधारण जन भी 'संस्कृत' को समझते थे

संस्कृत भाषा, जैसी उसे हम आज पाते हैं, कभी बोली जाती थी या नहीं, इस पर जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वानों का मतभेद है। पाँचवीं शती ई० पू० में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि ने विशेषकर संस्कृत को वह रूप दिया, जैसा उसे हम आज पाते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों ने तो कहीं भी 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग तक नहीं किया है।

सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। दण्डी ने छठी शती ई० में अपने काव्यादर्श में 'संस्कृत' का व्यवहार जनसाधारण की बोली प्राकृतों के विरोध में किया है। यास्क और दूसरे प्राचीन भाषाशास्त्रियों और वैयाकरणों ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है। उनके और वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि इस संस्कृत को भाषा कहकर वे प्रचलित बोली जानेवाली भाषा की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने 'लौकिक' संस्कृत की ओर संकेत किया है। स्वयं पाणिनि के अनेकों विधानों का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि वे जीवित बोली जाती हुई संस्कृत के सम्बन्ध में न कहे गए हों। उनकी कई उक्तियाँ प्रयत्न और उच्चारण आदि के सम्बन्ध में हैं, कुछ दूर से बुलाने, प्रणाम करने

तथा प्रश्नोत्तर में प्रयुक्त होनेवाली स्वर की ध्वनियों के प्रति कही गई हैं। वास्तव में संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि अति प्राचीन काल से ही बोली-सम्बन्धी बहुतेरी शाखाएँ और भेद इस देश में उपलब्ध रहे हैं।

यास्क और पाणिनि दोनों बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। कात्यायन भी बोली सम्बन्धी स्थानविशेष के परिवर्तनों की बात कहते हैं और स्वयं पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों की गणना की है, जिनका व्यवहार स्थान विशेष में होता था। मैक्डोनल साहब की राय में तो "द्वितीय शती ई० पू० में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे आर्यावर्त्त प्रदेश में संस्कृत *अवश्य बोली जाती थी।" ब्राह्मण तो इसे बोलते ही थे,* परन्तु केवल वे ही नहीं, उनसे इतर वर्णों में भी इसका प्रचार था। महाभाष्य का सूत (सारथि) वैयाकरण से शब्दों की व्युत्पत्ति पर कथोपकथन करता है! इस प्रकार बाद के नाटकों में भी संस्कृत और प्राकृतें साथ-साथ व्यवहृत होती हैं। संस्कृत पतञ्जलि के 'शिष्ट'—राज-मंत्री, ब्राह्मण, आदि—बोलते हैं, और प्राकृतें निम्न पात्रों—सेवक, विदूषक, स्त्रियों—द्वारा व्यवहृत होती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये नाटक तभी खेले जाते होंगे, जब साधारण जनता कम-से-कम संस्कृत समझती थी—उसमें कही गई विशेषताओं को, श्लेषों और गूढ़ ग्रन्थियों को, वह समझती थी, वैसे ही जैसे नाटकों के निम्न पात्र स्वयं प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत में कही हुई वक्तृताओं का उत्तर और प्रत्युत्तर देते थे।

संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था

इस प्रकार यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत किसी सीमा तक बोली जाती थी। पर किस सीमा तक? 'शिष्ट' बोलते थे। पर 'शिष्ट' कौन थे और कहाँ तक बोलते थे? यह बात याद रखने की है कि शिष्टता की सीमा अवश्य करके प्राकृतों की अवधि अथवा हदों को नहीं लाँघती। संस्कृत शिष्ट व्यक्ति, यदि वह प्राकृतों यानी बोलियों की प्रमुखतावाले प्रान्तों का रहनेवाला हुआ, तो सम्भवतः वह भी अपने घर के भीतर प्राकृत ही बोलेगा। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। आधुनिक काल में खड़ी बोली का केन्द्र मेरठ माना जाता है। परन्तु खड़ी बोली जिस चुस्ती के साथ मेरठ, दिल्ली अथवा लखनऊ में बोली जाती है, क्या उसकी शतांश सफाई भी और जगहों में प्राप्य है? और स्वयं मेरठ, दिल्ली और लखनऊ से मील भर दूर बसने-वाले भी क्या शुद्ध खड़ी बोली बोलते अथवा बोल सकते हैं? वे सदा एक अथवा दूसरी प्राकृतों का ही आश्रय लेते हैं। हाँ, जब 'शिष्ट' आपस में मिलते हैं, तब अवश्य खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं अथवा भिन्न प्रान्तों के रहनेवाले भी जब परस्पर मिलते हैं, तब भी केवल खड़ी बोली का ही सहारा लेते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन समय में संस्कृत ने खड़ी बोली का पूर्वस्थान लिया था। आपस में जब 'शिष्ट' मिलते थे संस्कृत बोलते थे। जब साहित्यिक प्रसंग उपस्थित होते थे, वे 'शिष्ट' संस्कृत का व्यवहार करते थे। राज-कार्य में भी बहुधा इसी का व्यवहार होता था, यद्यपि पालि अथवा अन्य प्राकृतें राज-कार्य से अपवार्य न थीं। प्रमाण तो इस बात *का भी है कि पालि कई अवसरों पर राजकीय कार्यों के* लिए व्यवहृत हुई हैं। संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था। उन साहित्यिक केन्द्रों में जहाँ का वातावरण पूर्ण 'शिष्टों' का था, वहाँ भी सर्वथा व्यवहार संस्कृत का ही था। परन्तु यह बात भी बराबर ध्यान में रखने की है कि प्राकृतों का भाण्डार भी साहित्यक रूप में धीरे-धीरे भर रहा था। नाटकों में उनके पदों के उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत-वाङ्मय का बृहत् स्वरूप

संस्कृत भाषा का संस्कृत विद्या से शरीर और आत्मा का-सा सम्बन्ध है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, संस्कृत विद्या सर्वप्रथम अध्यात्म के रूप में संस्कृत भाषा में अवतीर्ण हुई। आर्यों और मानव-जाति की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद संहिता है, जो संस्कृत में है। इस प्रकार जो हमें संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम रूप उपलब्ध है, उसमें अध्यात्म और परमात्मचिन्तन सन्निहित है। और तब से लेकर जब तक आर्य जाति पूर्णतया पंगु न हो गई तब तक वह बराबर उसी भाषा में अपने विचार लिखती गई। चार सहस्र वर्षों तक निरन्तर उस जाति ने अपनी विचक्षण बुद्धि का जादू इस भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक-से-एक उत्कट मेधावी हुए, एक-से-एक प्रकाण्ड मनीषी जन्मे, सबने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया।

और तो और अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों ने भी इसे अपनी सरस्वती से सरस किया। जैनों के अधिकांश ग्रन्थ तो संस्कृत में हैं ही, बौद्धों में भी, जब प्राकृत-पालि की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत की कामना जगी। अश्वघोष ने प्रथम शती ई० में 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' देववाणी में ही गाए। यह संस्कृत

का उस उत्कट बौद्ध भिक्षु के प्रति व्यंगपूर्ण प्रहसन था! फिर तो महायान के प्रसार में अधिक काल तक संस्कृत सहायक हुई। जब महायान से मंत्रयान और वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ और तन्त्रों के प्रभाव से इनकी विद्या गूढ़ हो चली, तो मंत्रयान और वज्रयान साहित्य भी संस्कृत भाषा में ही लिखे गए।

संहिताओं के बाद ब्राह्मण और ब्राह्मणों के बाद आरण्यक और उपनिषद् संस्कृत में पनपे और बढ़े। फिर सूत्र-ग्रन्थ और वेदाङ्ग आए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, गणित, ज्यामिति, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, नाटक, चम्पू, व्यवहार आदि पर ग्रन्थ रचे गए। इस संस्कृत भाषा-रत्नाकर से मंत्र, छन्द, गाथा, अनुश्रुति, जनश्रुति, धर्म और आचार, गल्प और कहानियाँ, जीवनचरित, इतिहास-पुराण, राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे रत्न प्रसूत हुए। फिर वाद्य, गान और नृत्य, नाट्य, इन्द्रजाल, अलंकार, काम और भूत-वनस्पति आदि अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों की रचना हुई।

एक विशेष बात संस्कृत ग्रन्थन में यह रही है कि आर्य-मस्तिष्क ने शास्त्रों की रचना प्रायः पद्यात्मक की है। अध्यात्म और आन्वीक्षिकी से लेकर आयुर्वेद, ज्योतिष और मानसार (वास्तु शास्त्र Architecture) तथा अन्य कलाओं तक के ग्रन्थ काव्य में रचे गए। व्याकरण और शब्द-कोष तक पद्य में बने! शब्द-कोष की कला तो अद्भुत क्षमता की सीमा तक पहुँच गई। इस क्रमिक साहित्यक्षेत्र में मनुष्य के जन्म (कुमारभृत्य) से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन में जिन-जिन विषयों की चर्चा वांछनीय थी, उनका विवेचन तत्कालीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्णतया हुआ।

पुस्तक-निर्माण का क्रम वेग से जारी रहा और आश्चर्यजनक सुविधा के साथ सद्यःजात काव्य अथवा ग्रन्थ अपने अधिकारी आलोचकों को उस सुदूर काल में भी उपलब्ध होते थे, जिनकी मुद्रा भवभूति-से प्रखर बुद्धिवाले नाटककार पर भी गहरी अंकित होती थी। तब आज की भाँति कागज न था। उत्तर भारत में भोजपत्र आदि पर और दक्षिण भारत में ताड़पत्र पर ग्रन्थ लिखते थे। उत्तर में स्याही का व्यवहार होता था, परन्तु दक्षिण में ताड़पत्र घोटकर उस पर शलाका से अक्षर बनाकर उनमें रंग भर लेते थे। फिर पत्रों को एकत्र कर उन्हें छेदकर सूत से नथकर जो ग्रन्थि देते थे, उससे उनका 'ग्रन्थ' नाम सार्थक होता था। सहस्रों की संख्या में ग्रन्थ नकल करनेवाले थे।

संस्कृत वर्णमाला और देवनागरी

संस्कृत की वर्णमाला एक अद्भुत सृष्टि है। इसकी अभिसृष्टि किसी भी आधुनिक वैज्ञानिक शोध से कम महत्व की नहीं। इस पूर्ण वर्णमाला का वैज्ञानिक रूप पहले-पहले महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यह रूप संस्कृत भाषा की सारी ध्वनियों का प्रतिनिधि तो है ही साथ ही इनका अंकन एक अद्भुत वैज्ञानिक शैली में हुआ है। सर्वप्रथम इसमें लघु और गुरु स्वर आते हैं, फिर संयुक्त स्वर, फिर ध्वनि के अनुसार वर्गों में व्यञ्जन और संयुक्त व्यंजन। उदाहरणार्थ पाणिनि द्वारा सूत्रबद्ध वर्णमाला दी जा सकती है—"अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्।"

इनका प्रयत्न-उच्चारण कितना अधिक वैज्ञानिक है, यह वर्गों के उच्चारण-विधान से और स्पष्ट हो जाएगा—"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानां तालुः, ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्ताः, उपुपध्मानीयानां ओष्ठौ, ञमङणनानां नासिकाच।" इनमें वर्ग और कुछ अन्य अक्षरों के उच्चारण समान हैं सो तो है ही, साथ ही मुख के स्थान भी जहाँ से उनका उच्चारण होता है एक विशेष क्रम से प्रयुक्त हुए हैं—जैसे ध्वनि के मुख से बहिर्गत होने के जो द्वार हैं, उनमें कण्ठ सर्वप्रथम है, फिर तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ क्रम से आते हैं और बाद में वे संकर वर्ण जो मुख-नासिका से उच्चरित होते हैं।

यह आर्यों के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं कि उन्होंने संसार के उस प्रारम्भिक युग में भी एक ऐसी वैज्ञानिक वर्णमाला का व्यवहार किया, जो इस विज्ञान के युग में भी योरप को उपलब्ध नहीं और जिससे बेहतर वर्णमाला की कल्पना जगत् न कर सका। इस वर्णमाला की एक-एक ध्वनि एक-एक विशेष संकेत से सूचित होती है। मैक्डोनेल साहब के शब्दों में आज का विज्ञानगर्वित योरप सहस्रों वर्ष बाद भी एक नितान्त अवैज्ञानिक सेमिटिक वर्णमाला का उपयोग करता है, जिसे ग्रीस ने लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व ले लिया था, जो भाषा की प्रत्येक ध्वनि को प्रकटित नहीं करती और जिसमें स्वरों और व्यञ्जनों की एक अजीज खिचड़ी है।

ब्राह्मी लिपि

कुछ आश्चर्य नहीं कि आर्यों ने इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' अर्थात् 'ब्रह्मा की बनाई हुई' रखा हो। 'आह्निक-

तत्त्व' तथा 'ज्योतिस्तत्त्व' में बृहस्पति कहते हैं, 'पाण्मासिके तु समये भ्रान्तिः संजायते यतः। धात्राक्षराणि सृष्टानि पत्रारूढ़ाण्यतः पुरा ॥' 'नारदस्मृति' का भी वक्तव्य है—'नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्। तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभागतिः ॥' बाद का इसका 'देवनागरी' नाम भी 'देवभाषा' के अनुरूप सार्थक ही है। 'ब्राह्मी' देवनागरी का प्राचीन नाम है, जिससे 'देवनागरी' की भाँति ही बंगला, गुजराती, मोड़ी आदि भारतवर्ष की अनेक भाषाएँ निकलीं। यह ब्राह्मी कब की है, इस पर विद्वानों के अनेक मत हैं। व्हूलर साहब तो इसे फोनीशियन लिपि से ८०० ई० पू० में बनाई हुई समझते हैं। परन्तु वे किसी कदर १००० ई० पू० भी इसका होना मानने को तत्पर हैं। इस विचार से ब्राह्मण-काल से भी पूर्व इसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। बहुतेरे योरपीय विद्वान् तो इस काल को संहिता-काल भी मानते हैं। महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में अनेक युक्तिपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भारतीय लेखनकला उतनी ही प्राचीन है, जितना संहिता-काल है।

सचमुच ही यह विशेष ध्यान देने की बात है कि यदि संहिताएँ लिखित रूप में उपलब्ध न थीं तो उनकी अनुक्रमणिकाएँ क्यों और कैसे लिखी गईं, प्रातिशाख्य कैसे बने? स्वयं संहिताओं का ही संकलन एक व्यक्ति द्वारा बिना लिखे संभव न था। और इन संहिताओं का विस्तार थोड़ा नहीं है। फिर यदि यह संकलन महाभारतकालीन कृष्णद्वैपायन व्यास का है, तो अवश्य लिखने की प्रथा भारतवर्ष में कम-से-कम १८०० ई० पू० में विद्यमान थी, क्योंकि योरपीय और तत्प्रभावित भारतीय विद्वानों के अनुसार महाभारत का समय १४०० ई० पू० से पीछे नहीं ठहराया जा सकता! (वैसे उसका समय श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य और अन्य कई विद्वानों की गणना के अनुसार ३१०२ ई० पू० है, जो युधिष्ठिर और कलियुग संवत् का आदि संवत्सर है)। यहाँ पर कुछ प्राचीन आर्य ग्रन्थों का हवाला भी ब्राह्मी लिपि के प्रयोग के संबंध में दे देना उचित होगा। पाँचवीं शती ईस्वी पू० के पाणिनि ने तो 'लिपि', 'लिबि', 'लिपिकर', 'यवनानी', 'ग्रन्थ', आदि का उल्लेख किया ही है, उनसे पूर्व के यास्क ने भी अपने से पहले होनेवाले लगभग अठारह निरुक्तकारों और वैयाकरणों का हवाला दिया है, जिससे उन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थों और मतों की सातवीं शती ई० पू० में सिद्धि होती है।

और इनसे भी पूर्व के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों से हमें जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे ब्राह्मी लिपि का स्वतन्त्र आरम्भ तथा उसकी अतीव प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। उनमें आए कुछ प्रमाणों का अवतरण यहाँ दे देना अनुचित न होगा। छांदोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद् प्रायः साफ शब्दों में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग और उसकी ओर इशारा करते हैं (छा० २-१०)। ऐतरेय ब्राह्मण प्रणव अक्षर 'ओं' को अकार, उकार, और मकार के मिश्रण से बनना लिखता है ('त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति'—३,२,६,)। छान्दोग्य उपनिषद् ने 'ई', 'ऊ' और 'ए' स्वरों को ईकार, ऊकार और एकार शब्दों से सूचित किया है (अग्निरीकारः आदित्य ऊकारो निहव एकारः—१-१३)। ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों में भी लिपि सम्बन्धी अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं। उनमें 'ऊष्मन्', 'स्पर्श', 'स्वर', 'अंतस्थ', 'व्यंजन', 'घोष' 'णकार' और 'षकार' से होनेवाले नकार और सकार और उनके 'भेद' तथा 'संधि' का उल्लेख मिलता है (ऐ० आ० ३-२-१, २-२-४, ३-२-६, ३-१-५ आदि)। 'वचन' और 'लिंगों' के भेद भी ब्राह्मणों में पूर्णतया स्थिर हो गए दीखते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१०-५-१-३) में लिंगों की गणना इस प्रकार है—वाक् ह एवैतत्सर्वं यत्स्त्री पुमान् नपुंसकं। इससे पूर्व के मंत्र-वाक्य में भी तीनों लिंगों का (त्रेधाविहिता १०-५-१-२) उल्लेख है। उसी ग्रन्थ में एकवचन और बहुवचन का उल्लेख मिलता है (अथोनेदेकवचनेन बहुवचनं व्यवायामेति—१३-५-१-१८)। तैत्तिरीय संहिता (६-४-७) में व्याकरण सम्बन्धी एक कथा वर्णित है, जिसमें देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र का अनियमित अव्याकृत वाणी को नियमबद्ध और व्याकरण से युक्त करने की बात कही गई है। इस कथा का एक दूसरा रूप शतपथ ब्राह्मण (४-१-३-१२,१५-१६) में भी वर्णित है।

व्याकरण का प्राचीन निर्देश लिखने की परिपाटी को सिद्ध करता है। व्याकरण का निर्माण साहित्य की उस दशा का द्योतक है जब उसका लेखन प्रचुर रूप से चल पड़ा हो। अलिखित वाणी या साहित्य के व्याकरण-निर्माण की कल्पना कष्टकारी है। उराँव, मुण्डा आदि प्राचीन अनार्य भारतीय जातियों की भाषा लिपिबद्ध न थी, इसलिए उनका व्याकरण भी न था। अभी हाल में उनकी भाषा और

गायन-साहित्य को लिख डालने का जो प्रयास हुआ है, उसी के फलस्वरूप उनके व्याकरण-निर्माण का भी प्रयत्न अब हुआ है, जो प्रायः सफल सिद्ध होने लगा है। व्याकरण में कितने ही पारिभाषिक लक्षणों का रूप स्थिर करना पड़ता है, जिसके लिए यह अनिवार्य है कि व्याकरण के समीप उसके साहित्य का लिखित रूप निश्चित रूप से विद्यमान हो। और गद्यमय 'ब्राह्मणों' का निर्माण तो बिना लेखन-कला के प्रयोग के संभव ही नहीं था।

भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता

वेदों में लेखन-कला के प्रयोग का कुछ इशारा ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उनसे सम्बन्ध रखनेवाले एकाध प्रमाणों का फिर भी उल्लेख कर देना श्रेयस्कर होगा। वाजसनेयि संहिता (यजुर्वेद) में 'गणक' अर्थात् गिननेवाले व्यक्ति (ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं — ३०-२०) का उल्लेख है और उसी में दस से लेकर शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, और परार्ध तक की संख्याओं का निर्देश है (१७-२)। यह याद रखने की बात है कि परार्ध की संख्या अंकों में १०००००००००००० यानी दस खरब है, जिसका होना न लिखी जाती भाषा में संभव नहीं। इसी प्रकार की संख्याओं का हिसाब सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण में भी मिलता है (१८-३)। शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद के छंदाक्षरों की भी गणना प्रस्तुत है (१०-४-२, २२-२५)। इस प्रकार के अनेकों प्रमाण महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं, जिनका उल्लेख पुनरुक्तिमात्र होगा।

ऊपर के प्रमाणों से भारतीय लेखन-कला की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'ब्राह्मी' अपने पूर्व रूप में एक अद्भुत क्षमतावाली वर्णमाला का सांकेतिक स्वरूप बन आर्यों की पूतवाणी संस्कृत का अक्षराधार बनी और आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व से ही उसके लिखने के साधन प्रस्तुत करने लगी। तभी से उस अद्भुत तेज और क्षमतावाली आर्य जाति का भावोद्रेक द्रवित हो संस्कृत वाङ्मय की सरस्वती में बहने लगा। इस सरस्वती का प्रबल प्रवाह लगभग सोलहवीं शती ई० में मुस्लिम मरुस्थली में खो गया, यद्यपि उसकी एकाध क्षीण धारा अब भी कहीं-कहीं झलक जाती है।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राचीनतम प्राकृत का रूप जो साहित्य में व्यवहृत हुआ है, वह है बौद्धों की 'पालि', जिसमें बौद्ध धर्म की पुस्तकें और जैनों के प्राचीन साहित्य लिखे गए थे। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी यही है। पश्चिम में सिन्धु की तलहटी में 'अपभ्रंश' पनपा और 'शौरसेनी' की गंगा-जमुना द्वाब के मथुरा केन्द्र में फूली। 'शौरसेनी' की शाखाएँ 'गौर्जरी' (गुजराती), 'अवन्ती' (पश्चिमी राजस्थानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजस्थानी) हुई। पूर्व में 'मागधी' मगध अथवा बिहार में और 'अर्धमागधी' काशी के चतुर्दिक फैलीं। 'अपभ्रंश' से सिंधी, पश्चिमी पंजाबी और काश्मीरी, 'शौरसेनी' से पूर्वी पंजाबी और हिन्दी (प्राचीन काल की अवन्ती) और गुजराती और 'मागधी' और 'अर्धमागधी' से मराठी, बंगाली, मैथिल और भोजपुरी आदि की सृष्टि हुई। हिन्दी का आरम्भ लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी में ही हो गया था।

इतिहास का क्रम

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास बड़ा विस्तृत और गम्भीर है। उसका आरंभ हजारों वर्ष पूर्व हुआ और मध्य युग तक लगातार उसमें नए-नए रत्न जुटते गए। एक-दो लेखों में उसका परिचय देना संभव नहीं। अतएव इसका अध्ययन नीचे दिए निबन्ध-क्रम के अनुसार आगे चलकर कई लेखों में किया जायगा :—

प्रवेशक।

वैदिक काल ६०० ई० पू० तक
- ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद।
- अथर्ववेद।
- ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

सूत्र-काल ई० पू० ६००-१०० ई० पू०
- वेदांत।
- सूत्र।
- दर्शन।

इतिहास-काल ई० पू० ५००
- रामायण।
- महाभारत।

पुराण-काल ४०० ई० पू० तक
- बौद्ध जातक आदि।
- धर्मशास्त्र।
- पुराण।

कृपाण, गुप्त काल ६०० ई० तक	पूर्व काव्य काल । कालिदास काल । कालिदासोत्तर काल । विज्ञान काल ।	पूर्व मध्यकाल ई० ६००-६०० ई० उत्तर मध्यकाल ई० ६००-१२००	अलंकार शास्त्र, कोप आदि । व्यवहार ग्रन्थ । चरित, इतिहास, आदि । टीका काल ।

संस्कृत वाङ्मय—(२) वेद

आर्यों का आगमन

ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व एक तरुण, प्रसन्न और पराक्रमी जाति भारतवर्ष की उत्तरी पश्चिमी सीमा लाँघकर 'सप्तसिन्धु' की देहली पर आ खड़ी हुई। आर्यों की यह भारतीय शाखा, जो हिन्द-योरपीय आर्य जाति की पूर्वी लहर थी, अपनी नई अर्जित भूमि पर खड़ी हो चतुर्दिक् देखने लगी। उसके चरणों में तेज बहनेवाली चौड़ी नदियों की हरी-भरी सुन्दर तलहटी फैली पड़ी थी। उनकी चौड़ाई को देख 'सिन्धु' का भान होता था। उन दुर्दान्तविक्रम नवागतों को ज्ञात न था कि उनके लोहे की चोट लोहे पर बजेगी, ऐसे लोहे पर जिसकी मूठ मजबूत हाथों में होगी। वे न जानते थे कि इस आकर्षक भूमि का इंच-इंच रक्त के दामों मिलेगा।

पुराकाल के दूर-दूर तक फैले हुए जंगलों में जहाँ-तहाँ नगर खड़े थे और इन नगरों के 'लौह दुर्गों' को आर्यों ने देखा, जिनकी छतें 'सौ-सौ स्तम्भों' पर टिकी थीं। ये सौ-सौ स्तम्भों के लौह दुर्गोंवाले भारतीय कृष्ण वर्ण के नत-नासिकावाले थे, जिन्हें आर्यों ने 'दास' और 'दस्यु' कहकर पुकारा। ये छोटे कदवाले दास नागरिक जीवन के अभ्यस्त थे और उनकी भौतिक संस्कृति उन सुन्दर गौरवर्ण, ऊँचे डीलवाले आर्यों की भोंडी खानाबदोश सभ्यता से कहीं बढ़कर थी। घोड़ों की पीठ को अपना घर और धनुष-बाण को अपनी संपत्ति समझनेवाले आर्यों ने कलाप्राण उन भारतीयों को उनके महलों से मार भगाया।

ऋग्वेद

आर्य भावुक थे, प्रेम-पटु और कृतज्ञ। उनके सामने जो वनों का अनंत विस्तार था उसके संख्यातीत निकुंजों में वे रम गए। वहाँ उनकी विश्वव्यापी चिन्तन की अनेकधा बेलें फूटीं। इस भेद-भरे देश ने नवागंतुकों के सम्मुख अपनी अमूल्य निधियाँ बिखेर दीं और उन्होंने उनमें वे साधन पाए, जो उन्हें कभी न मिले थे। सदा के दौड़ते जीवन में उन्हें विराम न मिला था। सामने की संमोहक जादूभरी भूमि में उन्होंने अपने टिकाऊ भविष्य के लक्षण देखे। सप्तसिन्धु के चमकते दिनों से उन्होंने अपने अभागे धुँधले पिछले दिनों की तुलना की और इस समृद्ध निसर्ग में अपने हँसते गाँवों के बल्ले गाड़े। फैले मैदानों में घोड़े दौड़ने लगे, फूस के घरों के सामने गाएँ जुगाली करने लगीं, उपत्यकाओं में भेड़ें हिरने लगीं। खानाबदोशों ने यह सुख कभी न जाना था। हृदय कृतज्ञता से भर उठा और प्रेमालु स्वर अनियंत्रित हो गा उठा।

देवताओं की सृष्टि

काँपते होठों से निसर्ग की स्तुति में स्पन्दित राग का प्रादुर्भाव हुआ। कृतज्ञता के ये संगीत-सूक्त प्रकृति के अवयवों का स्तवन करने लगे और उनके विकम्पित स्वरों का तारतम्य स्वयं आर्यों की नस-नस में स्फूर्ति भरने लगा। भविष्य की सुन्दर स्थिर सत्ता में उनका विश्वास जमा। प्रकृति के सुदर्शन, प्राणपूरित और दयास्निग्ध अवययों के पीछे उनके भीम, संहारक और दुर्मुख पूरक भी थे। उनके दर्शक आर्य प्रेम और भय दोनों से भर गए। मानव-जाति के इतिहास में पहली बार मनुष्य ने अपनी आकृति के अनुरूप ही अपने देवताओं की अभिसृष्टि आरम्भ की।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं कि "मानव-मस्तिष्क रूपी कारखाने में जो देव-निर्माण का कार्य हुआ है, उसका रूप जिस सफाई के साथ ऋग्वेद में देखने को मिलता है, वैसा और कहीं नहीं मिलता। इसमें हमें मानव-मस्तिष्क के प्रभात की ताजगी और गौरव के दर्शन होते हैं, जिसे क्रमागत रीतियों और जड़ीभूत परम्परा ने निष्प्राण नहीं कर दिया है।" § ऋग्वैदिक गायकों ने

§ देखिए Indian Philosophy, खण्ड १, पृ० ७३।

इसके कई मण्डलों के संपूर्ण और कुछ के अनेक भाग ऋषिकुल विशेष में निर्मित हुए हैं। द्वितीय से सप्तम मण्डल तक का भाग संभवतः प्राचीनतम है, जिसके ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ हैं। आठवें मण्डल के सूक्तों को काण्वों और आंगिरसों ने प्रस्तुत किया है। बाकी के पहले, नवें और दसवें मण्डलों के प्रत्येक सूत्र के ऋषियों के नाम अनुक्रमणियों में मिलते हैं। इनमें से कुछ स्त्री-ऋषि भी हैं और अनेक ऋचाओं के ऋषि देवता भी हैं जैसे, इन्द्र, शची-पौलोमि, वृषाकपि, यम, यमी, आदि। विन्टरनित्स† आदि ने अनुक्रमणियों को निरर्थक बताया है, क्योंकि उनसे इन ऋषियों का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता। परन्तु यह विचार अनुचित है, क्योंकि इन ऋषि-नामों की ऐतिहासिकता में हमें सन्देह नहीं हो सकता। इसका विशिष्ट कारण यह है कि ये ऋषि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि पूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इनके रचे अनेक मंत्रों में तत्कालीन ऐतिहासिकता की पूर्ण छाप है। विश्वामित्र और वसिष्ठ का अनुक्रमिक विरोध जिसका पूरा विवरण हमें बाद के पौराणिक साहित्य में मिलता है, इसी ऋग्वैदिक समय में आरम्भ हुआ था। उन दोनों के वैमनस्य के कारण तत्कालीन आर्य राजाओं में जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसमें अनेक कुल भस्म हो गए। उसी वैमनस्य के कारण दशराज्ञ-युद्ध नामक महासमर हुआ, जिसमें सुदास आदि दस राजाओं ने भाग लिया और जिसकी कथा बाद के वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य में निर्दिष्ट है।

ये ऋषिकुल और इनके प्रमुख व्यक्ति प्राङ्महाभारत-काल के राजकुलों के पुरोहित और ऋत्विज् हैं और इनका विवरण महाभारत-युद्ध के पूर्व के राजकुलों की अपनी तालिकाओं में पुराण सविस्तर देते हैं। उन तालिकाओं और ब्राह्मण-उपनिषदादि की गुरुपरम्परा की सूचियों को मिलाने से साफ प्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद में आई इन अनुक्रमणियों की ऋषिपरम्परा ऐतिहासिक और सच्ची है।

नवें मण्डल के सूक्तों का रूप एक-सा है, क्योंकि उनका देवता एक सोम है। सोम एक पौधे का नाम है, जिसे कूटकर एक प्रकार का आसव प्रस्तुत किया जाता था। यज्ञों में इस आसव को देवताओं के निमित्त देते थे। ईरानी आर्यों के देवता भी सोम से प्रादुर्भूत आसव के पान से विशेष प्रसन्न होते थे। जेन्दावेस्ता में इसका नाम 'होम' मिलता है। प्राचीन भारतीय अनुश्रुति में सोम देवताओं का 'अमृत' है और इस देवपानीय का उद्गम चन्द्रमा है। इसी कारण चन्द्रमा का एक नाम 'सोम' भी है। चन्द्रमा का एक और नाम 'इन्दु' है। 'इन्दु' कहते हैं बूँद को, जो चन्द्रमा की सुधावर्षिणी रश्मियों से टपकती है। इसी कारण 'इन्दु' का अर्थ संस्कृत में बूँद और चन्द्रमा दोनों हैं। सुधा का भी चन्द्रमा से विशिष्ट सम्बन्ध है, जिससे (सोम=सुधा) चन्द्रमा का 'सुधाकर' नाम सार्थक होता है। स्वयं ऋग्वेद में 'सोम' शब्द का प्रयोग लता विशेष और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में हुआ है।

बाद के भारतीय साहित्य में 'सोम' लता विशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर केवल चन्द्रमा के अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद* में सोम लता विशेष भी है और आकाश का राजा चन्द्र भी। और चूँकि सोम का यह रूप ईरानी आर्यों के समय में ही निखर चुका है, ऋग्वेद के नवें मण्डल का समय काफी प्राचीन होना चाहिए। इस संहिता के प्रथम और दशम मण्डल सम्भवतः बाद के हैं। इनमें अनेकों प्रकार की ऋचाओं का समावेश है।

फिर भी यह कहना कि इनमें काफी प्राचीन ऋचाएँ नहीं हैं, कठिन होगा। ऋचाओं के काल-निर्णय के लिए भाषा पर निर्भर करना कठिन ही नहीं अनुचित भी होगा। जिन आँकड़ों से किसी वस्तु का कालनिर्णय विद्वान् करते हैं, उनमें भाषा का स्थान बहुत निम्न है। इन मण्डलों का कालक्रम उनके ऋषियों के ऐतिह्य पर निर्भर है और उसका सम्बन्ध पुराणों और ब्राह्मण-उपनिषदों में दी हुई राजकुलों और ऋषिकुलों की तालिकाओं से घना है। हम उन पर यथास्थान विचार करेंगे।

ऋग्वेद के 'खिलों' का समय बाद का है, जैसा 'खिल' शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है। 'खिल' का अर्थ है पूरक, बाद का। फिर भी संभव है, इनमें से कुछ तो पूर्व ही बन चुके होंगे। ये खिल सूक्त प्रत्येक हस्तलिपि में मिलते भी नहीं। 'बालखिल्य' सूक्त अवश्य प्रत्येक हस्तलिपि के आठवें मण्डल के अन्त में जोड़े हुए मिलते हैं। ये भी सम्भवतः खिलों के प्रकार के ही हैं।

† A History of Indian Literature. Vol. I, पृ० ५८।

* नवाँ मण्डल।

देशों में जा वसीं। कुछ अंश तक तो देव-निर्माण का कार्य भी इस संहिता-रूपी विश्वकर्मा की वास्तुशाला में संपन्न हुआ है। वाइविल में लिखा है कि भगवान् ने अपनी आकृति के अनुरूप मनुष्य को सिरजा। परन्तु सच तो यह है कि मानव ने अपने भगवान् को अपने आकार की छाया में ही गढ़ा, उस पर उसने अपनी ही आकृति की छाप डाली है। इस रूप का सबसे उज्ज्वल दर्शन हमें ऋग्वेद कराता है। वहाँ यदि पुजारी के हाथ-पाँव हैं, तो उसके इन्द्र के भी हैं; यदि उसके उदर है तो इन्द्र के भी है; यदि वह वत्स खाकर तृप्त हो जाता है, सोम पीकर प्रमत्त हो उठता है, तो उसका इन्द्र भी बछड़े से अभितृप्त होता है सोम पानकर विक्षिप्त हो जाता है!

हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्र के हाथ-पाँव की संख्या अधिक होगी, उसका उदर विस्तृत होगा, उसके लिए वत्सों की संख्या अमर्यादित होगी, उसके सोम की मात्रा भी अत्यधिक होगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः नैसर्गिक देवताओं की कल्पना उनके स्थूल रूप से परे की गई है, जैसे सविता सूर्य का जलता गोला नहीं है! सोम चन्द्रमा की कलाएँ नहीं! अग्नि जलती हुई ज्वाला नहीं है। इनके परे एक निहित शाश्वत चेतन ब्रह्मस्मारक शक्ति का दर्शन और स्तवन ऋषि करता है। यह सत्य है, परन्तु इस चित्र का एक और रूप भी है। अनेक स्थल हैं, जहाँ कवि केवल प्रकृति के अद्भुत अवयवों के वाह्य दृश्य रूप को देखकर ही चकित हो गया है, थिरक उठा है। कितनी ही वार संध्या और प्रातः के अरुणाभ सूर्य के प्रभमण्डल, सुधाकर की कौमुदी से मुखरित गगन, वेदी और गृह की प्रज्वलित अग्निशिखा, मेघों में कौंधती नागिन-सी काँपती चपला, तड़पते झंझावात, दिवस के समुज्ज्वल आकाश, रात्रि के निर्मल तारकमण्डल, सुनहरी उषा और अर्थंकरी, अन्नकरी, वसुकरी, वितस्ता पृथ्वी की खरी प्रशस्ति में भी गायक का आर्द्र स्रोत फूटकर वह चला है।

फिर इन स्पष्ट आकारों में प्राण फूंक-फूंककर वह गायक उन्हें अनेकनामा देवता बनाता है और उन्हें सूर्य, सोम, अग्नि, मरुत, वायु, द्यौस्, रात्रि, उषस् और पृथ्वी की संज्ञा प्रदान करता है। कुछ ऐसे देवता भी हैं, जो अव तो प्राकृतिक शक्ति से नहीं दीख पड़ते, परन्तु वे कभी-न-कभी ऐसे थे अवश्य। ये देवता हैं—इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन्, अश्विनीकुमार, रुद्र और पर्जन्य। इनमें से मित्र, विष्णु और पूषन् ऋग्वेद में सूर्य के ही नाम हैं। मिथ्र तो मिथ्र के रूप में अवेस्ता में भी मिलता है। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ देवता और देवियाँ ऐसी भी हैं, जिनका उद्गम भाव और मस्तिष्क है—जैसे 'श्रद्धा' और 'मन्यु' (क्रोध)। इन देवताओं के सिवा कुछ ऐसे भी हैं, जो अर्धदैवत हैं, जैसे ऋभु, अप्सरस्, गन्धर्व, आदि। फिर पितरों का निर्देश भी कितनी ही वार ऋग्वेद में हुआ है। पितृलोक और मृतकों का शासक यम है, जिसका 'यिम' नाम ईरानियों की अवेस्ता में मिलता है। आत्मा का वह रूप, जो उपनिषदादि वाद के साहित्य में भरा पड़ा है और जिसमें पुनर्जन्म के अनेकानेक कथन हैं, ऋग्वेद में नहीं मिलता। ऋग्वेद का धर्म वास्तव में तत्कालीन जन-धर्म है, जनता का। उपनिषदों का धर्म वर्गविशेष का धर्म है, जिसमें असाधारण ज्ञान की प्रचुरता है। वह आन्वीक्षिकी (Philosophy) की शिलाभित्ति है, जो जनसाधारण का धर्म कभी हो नहीं सकता।

वरुण

वरुण ऋत का देवता है और देवताओं के भी आचार-नियमों का वह विधाता और रक्षक है। मनुष्यों के भी पाप-पुण्य का लेखा उसी के हाथ रहता है। जब यमी यम को अपने निकट पति रूप में वरण करती हुई पुकारती है, यम वरुण का हवाला देता है, कहता है—यमी, वरुण के चर अपलक* प्राणियों के दोषों को देखते रहते हैं। वरुण सर्वोन्नत राजा है, उसी ने सूर्य के सन्मुख पृथ्वी को विछा दिया है। वही तरुपुलिनों पर वायु का विस्तार करता है, गायों में दूध भरता है, तुरगों में स्फूर्ति उत्पन्न करता है। वही मस्तिष्क में मेधा, जल में अग्नि, आकाश में सूर्य, पर्वतों पर सोमलता जनमाता है और मनुष्यों को पापों से मुक्त करता है।† उसने ऋग्वेद में ही वाद के पौराणिक साहित्य का वह रूप धारण कर लिया है, जिसमें वह जल का देवता+ समझा जाता है। वरुण आर्यों का प्राचीनतम और उच्चतम देवता है और इसी कारण वह देवताओं का राजा कहा गया है। वरुण आर्यों का असुर महान् है और अवेस्ता का आहूरमज्दा।

इन्द्र

परन्तु, धीरे-धीरे जब भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर आर्यों का द्रविड़ों से मरणांतक संघर्ष आरम्भ होता है, तब शांति के देवता वरुण की शक्ति भी क्षीण हो जाती है।

---

* ऋग्वेद १०, १०। † ५, ८५। + ७, ८६।

अद्वैत ब्रह्म में होता है। स्वयं ऋग्वेद में देवताओं का समष्टीकरण हो चला है। ऋषि कहता है—"उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वही स्वर्पक्षी गरुत्मद् है। जो एक है, उसे कवि अनेक नामों की संज्ञा प्रदान करते हैं। वे उसे अग्नि कहते हैं, यम कहते हैं, मातरिश्वन् कहते हैं।"*

आख्यायिकाएँ

ऋग्वेद में कुछ मनोरम कथा-प्रसंग भी आए हैं, जिनसे बाद की नाट्यपद्धति का विकास हुआ है। ऐसे प्रसंगों में पुरूरवा और उर्वशी, यम और यमी, श्यावाश्व, सोमसूर्या-विवाह, इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि, और द्यूत-क्रीड़क आदि के विशिष्ट हैं। इनमें श्यावाश्व और शशीयसी प्रसंग को छोड़ शेष सभी कथाएँ ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आती हैं।

पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ६५वें सूक्त में है। अप्सरा उर्वशी राजा पुरूरवा की पत्नी होकर चार वर्ष पृथ्वी पर रहती है। फिर वह उसे छोड़कर चली जाती है। तब उसका राजा के साथ वार्तालाप होता है, जिसमें राजा उससे रुकने का अनुनय करता है और वह अवधि की परिसमाप्ति की ओर संकेत कर चली जाती है। यम-यमी का वार्तालाप दसवें सूक्त में है। दोनों जुड़वाँ भाई-बहन हैं। यमी यम का पति रूप में वरण कर उससे पत्योचित आचरण चाहती है, जिसे वह वरुण का अनुगामी आचार-प्रतिष्ठापक यम सर्वथा अस्वीकार करता है। श्यावाश्व का वर्णन पाँचवें मण्डल के कई सूक्तों में है। वह राजा रथवीति की कन्या से प्रेम करता है, परन्तु रानी उसे अस्वीकार कर देती है, क्योंकि उसके जामाता का आदर्श कवि है, जो श्यावाश्व नहीं है। फिर विरह की आग से जलकर जब श्यावाश्व कवि हो जाता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होती है।

सोम-सूर्या का मनोरंजक विवाह-प्रसंग ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५वें सूक्त में वर्णित है। इस प्राजापत्य आदर्श विवाह के मंत्र आज भी हिन्दू दम्पति को विवाह के अवसर पर सुनाए जाते हैं। वृषाकपि की आख्यायिका दसवें मण्डल के ८६ वें सूक्त में वर्णित है। इसके वास्तविक भाव की अभी तक किसी ने व्याख्या न की। इन धर्मभिन्न प्रसंगों में जुआरी की कथा, जो दसवें मण्डल के ३४ वें सूक्त में है, एक अत्यन्त करुण कहानी है। जुआरी बारंबार द्यूत से विमुख होने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु 'अक्ष' की झंकृति उसे आकृष्ट करती है और वह नित्य प्रभात-काल में सभाभवन के स्थाणु की भाँति अक्षों पर जा झुकता है। वह विलखता है अपनी भार्या को देखकर, जिसे अन्य प्यार करते हैं। उसकी सास उससे घृणा करती है, उसके साहु अपने ऋण के लिए उसे बाँध लेते हैं, परन्तु वह अपने स्वभाव से मजबूर है।

इस प्रकार अनेक प्रकार की कथाएँ, दान-स्तुतियाँ, देवप्रशस्ति आदि ऋग्वेद के विषय हैं।

ऋग्वेद को शुद्ध और सुरक्षित रखने के लिए आर्यों ने पद, घन, जटा आदि आठ (बारह) पाठों का निर्माण किया।

सामवेद

पुराणों के अनुसार सामवेद की एक सहस्र संहिताएँ थीं। परन्तु उनमें से हमें केवल तीन उपलब्ध हैं। उनमें प्रसिद्ध कौथुम शाखा की सामवेद-संहिता है। इसके दो खण्ड हैं, 'आर्चिक' और 'उत्तरार्चिक'। ये दोनों ही छन्दों के संग्रह हैं, जो लगभग कुल के कुल ऋग्वेद (अधिकतर आठवें और नवें मण्डल) से लिये गए हैं। केवल ७५ मन्त्र नए हैं। दोनों खण्डों में कुल १५४९ मन्त्र हैं, पर इनमें कितने ही कई बार आए हैं और उन पुनरुक्तियों को मिलाकर मन्त्रों का पूरा जोड़ १८१० है। ऋग्वेद के छन्द अधिकतर गायत्री, जगती, उष्णिः, बृहती, अनुष्टभ् आदि में हैं, सामवेद के भी प्रायः गायत्री, जगती और प्रगाथा में। सामवेद के सामों का मुख्य निमित्त गायन है। इसी अर्थ आर्चिक और उत्तरार्चिक दोनों प्रस्तुत किए गए हैं।

उद्गाता को पहले आर्चिक की सहायता से गान सीखना होता था। फिर वह उत्तरार्चिक में दिए यज्ञ में गाए जानेवाले स्तोत्रों को कण्ठाग्र करता था। आर्चिक में ५८५ ऋचाएँ हैं। इन्हीं के 'साम' हैं। 'सामन' का प्रारम्भिक अर्थ है स्वर, राग। साम इन्हीं ऋचाओं से निकले हैं, इसीलिए ऋचाओं को 'योनि' अर्थात् गर्भ भी कहते हैं। उत्तरार्चिक में ४०० सूक्त हैं जिनमें प्रत्येक में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं। इन्हीं से यज्ञों में गाए जानेवाले स्तोत्र बने हैं। आर्चिक में ऋचाएँ अग्नि, इन्द्र, सोमादि देवताओं के क्रम से है, उत्तरार्चिक में यज्ञों के अनुसार। अर्थात् एक स्तोत्र में कई ऋचाएँ होती हैं, जिन्हें एक राग—एक साम—से गाते हैं। अनुमानतः उत्तरार्चिक आर्चिक के बाद की कृति है। आर्चिक से दो प्रकार के गाँव और वन के गान (ग्रामगेयगान और अरण्य-

* ऋग्वेद, १,१६४,४६।

गान) सम्बद्ध हैं। अरण्यगान ग्राम के बीच नहीं सीखे जा सकते थे। उनके लिए वन का एकाकी वातावरण अति आवश्यक था।

उहगान और उह्यगान नामक दो और संकलन हैं, जिनसे विधिक्रिया के समय सामों का क्रम निर्धारित होता है। उहगान का संपर्क ग्रामगेयगान से और उह्यगान का अरण्यगान से है। सामगान का गौरव इतना उच्च है कि आर्य ग्रन्थों के अनुसार, सामों के स्वर सुनते ही ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों का पाठ बन्द कर देना चाहिए।✝ साहित्यिक समीक्षा के दृष्टिकोण से सामवेद बहुत महत्त्व नहीं रखता, परन्तु भारतीय संगीत के विकास के अध्ययन में यह प्रारम्भिक शिलाभित्ति है।

यजुर्वेद

जिस प्रकार सामवेद उद्‌गाता का गेय ग्रन्थ है, वैसे ही यजुर्वेद अध्वर्यु का स्तोत्र-ग्रन्थ है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य की भूमिका में अध्वर्युओं के वेद की १०१ शाखाओं का कथन किया है और इसमें सन्देह नहीं कि इस वेद की अनेक शाखाएँ रही होंगी, क्योंकि भौगोलिक क्रम के अनुसार ही इस वेद पर वैयक्तिक और प्रादेशिक छाप पड़ती गई होगी। परन्तु इस समय हमें केवल पाँच शाखाओं का ज्ञान है—(१) काठक संहिता, (२) कपिष्ठल-कठ संहिता, (३) मैत्रायणी संहिता, (४) तैत्तिरीय संहिता। कपिष्ठल-कठ संहिता के कुछ ही अंश उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता को आपस्तम्ब-संहिता भी कहते हैं, क्योंकि आपस्तम्ब चरण में इसका विशेष महत्त्व था। ये चारों शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद की हैं। (५) पाँचवीं वाजसनेयि संहिता शुक्ल यजुर्वेद की है। इसका नाम इसके प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर चला है। वाजसनेयि संहिता की दो प्रशाखाएँ काण्व और माध्यन्दिन नाम की हैं, जिनमें परस्पर बहुत कम अन्तर है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में विशेष अन्तर यह है कि 'शुक्ल' में केवल मन्त्र हैं और 'कृष्ण' में उनकी गद्यात्मक व्याख्या भी है। इसी कारण 'कृष्ण' से ब्राह्मण भाग संबद्ध है। कृष्ण यजुर्वेद वाजसनेयि संहिता से प्राचीन है।

वाजसनेयि संहिता के ४० भाग हैं। पहले २५ में मुख्य यज्ञों के स्तोत्र हैं, जिनमें अग्नि, पितृ, सोम, सौत्रामणि, अश्वमेध आदि हैं। २६ से ३५ भागों को भारतीय अनुश्रुति 'खिल' कहती है, इसलिए ये बाद के होंगे। इनमें पुरुषमेध, सर्वमेध और मृत्यु आदि वर्णित हैं। ३६-३९ तक के भाग 'प्रवर्ग्य' से सम्बन्ध रखते हैं। ४० वाँ प्रख्यात ईशोपनिषत् है।

यजुर्वेद की भी ऋचाएँ प्रायः ऋग्वेद की ही हैं। परन्तु वे सम्पूर्ण नहीं हैं। यजुर्वेद में आकर वे भिन्न रूप धारण करती हैं। अधिकतर उनमें ऋग्वेद की एक पंक्ति मिलती है। यजुर्वेद की महत्ता अधिकतर गद्यांशों में है। बहुतेरे गद्यात्मक स्तोत्र हैं, जिनमें यजमान देवता के प्रति अपनी कामना साफ शब्दों में व्यक्त करता है। ओ३म् शब्द का आरम्भ इसी वेद से होता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी शब्द इसमें मिलते हैं, जिनका एकपदी प्रयोग बाद के अनेकों सम्प्रदायियों द्वारा एक भेदभरे अर्थ में होता है। ओ३म् का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'प्रणव' बाद में व्यवहृत होता है और ओ३म् तो उपनिषदों में ब्रह्मवाची हो जाता है।

अथर्ववेद

भारतीय अनुश्रुति से विदित होता है कि अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं हुई। वेदों में केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तीन की ही गणना थी। बाद में अथर्ववेद भी सम्मिलित कर लिया गया और तब उनकी संख्या चार हुई। बहुत दिनों तक 'त्रयी' शब्द से केवल पहले तीन वेदों का ही बोध होता रहा। वैसे अथर्ववेद का रचनाकाल चाहे बहुत पीछे का क्यों न हो, इसके भीतर वर्णित अनुश्रुतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद का अर्थ है 'अथर्वन् का वेद'। 'अथर्ववेद' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है 'अग्नि-पुरोधा' और यह शब्द ईरानी काल का है; क्योंकि ईरानियों की धर्मपुस्तक अवेस्ता में भी अथर्वन् शब्द का प्रयोग हुआ है और वहाँ भी इसका अर्थ वही 'अग्नि-पुरोधा' है। भारतीय वाङ्मय में इस वेद का नाम है 'अथर्वाङ्गिरसः'—अथर्वन् और अङ्गिरस्। अङ्गिरस् शब्द का अर्थ भी अथर्वन् की ही भाँति अग्नि-पुरोधा है। दोनों शब्दों का तात्पर्य वैसे एक प्रकार से मोहनादि से है। अन्तर इतना ही है कि अथर्वन् कल्याणकर मोहन है और अङ्गिरस अहितकर मोहन अथर्वन् के मन्त्रों से व्याधियों का शमन होता है और अङ्गिरसों से शत्रुक्षय आदि सिद्ध होते हैं।

अथर्ववेद की शौनक शाखा † ७३१ सूक्तों की संहिता है। इनमें सब मिलकर लगभग ६००० ऋचाएँ हैं।

✝ आपस्तम्ब १, ३, १०, १९।

† दूसरी शाखा 'पैप्पलाद' को राथ और ह्विट्नी ने छापा है।

अथर्ववेद बीस मण्डलों में विभक्त है। इनमें १९ वें, २० वें मंडल बहुत बाद में जोड़े गये। २० वां मण्डल तो पूरा का पूरा ऋग्वेद से लिया गया है। इसके अतिरिक्त कुल अथर्ववेद का लगभग सातवाँ भाग ऋग्वेद का है। जो ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं, उनमें आधी से अधिक उसके दसवें मण्डल की हैं, बाकी पहले और आठवें की। अथर्ववेद का अट्ठारहवाँ मण्डल मौलिक है और उसके सम्पादन में भी विशेष बुद्धि से काम लिया गया है। पहले सात मण्डलों में छोटे-छोटे सूक्त हैं, प्रथम में चार-चार ऋचाओं के, द्वितीय में पांच-पांच के, तृतीय में छः-छः के, चतुर्थ में सात-सात के। पंचम में ८ से १८ तक हैं। छठे मण्डल में तीन-तीन ऋचाओं के १४२ सूक्त हैं और सातवें में एक-एक दो-दो के ११८। मण्डल ८ से १४ तक, १७ और १८ वें में बड़े-बड़े सूक्त हैं। पंद्रहवाँ और सोलहवें के अधिकांश गद्यात्मक हैं, बहुत-कुछ ब्राह्मणों के अनुरूप। चौदहवें में केवल विवाह-सम्बन्धी सूक्त हैं और अट्ठारहवें में केवल मृत्यु-संबंधी।

अथर्ववेद की भाषा और छन्द प्रायः ऋग्वेद के ही हैं। फिर भी उनका प्रयोग अधिकतर इतना प्राचीन नहीं दीखता। इस संहिता का भौगोलिक विस्तार ऋग्वेदवाले से कहीं बड़ा है। अथर्ववेद में आर्यों का निवास गंगा की तलेटी है। ऋग्वेद के अनजाने व्याघ्रादि अथर्ववेद में मिलते हैं। इस वेद में ब्राह्मणों की सत्ता प्रतिष्ठित हो गयी है।

अथर्ववेद में आनेवाले ऋग्वैदिक देवता वस्तुतः अब केवल असुर-संहारक रह गए हैं। विश्वजनन के सम्बन्ध में भी अनेकों आध्यात्मिक अनाध्यात्मिक विचार चल पड़े हैं, जिनमें से अनेक औपनिषदिक हैं। मोहन-मारक रूप जो अथर्ववेद के सूक्तों का है, उसी कारण यह वेद नगण्य समझा गया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अनुश्रुति में त्रयी विद्या में तीनों वेदों की गणना हो जाने पर ही इसका उल्लेख हुआ है। नवजात शिशु को वेद कर्णगत करते समय अथर्ववेद का नाम ही नहीं लिया गया है, यद्यपि उसमें बहुत बाद के इतिहास-पुराणों तक का उल्लेख है।*

अथर्ववेद की दुनिया निराली और ऋग्वेद से सर्वथा भिन्न है। इसमें पुरश्चरण और मारण की विद्या तथा रहस्यमय मन्त्रों का राज्य है। यह जन्तर-मन्तर की दुनिया है। इस संहिता का विशेष महत्त्व तत्कालीन सामाजिक स्थिति जानने में है। इसका एक भाग व्याधियों को दूर करनेवाली ऋचाओं से संपर्क रखता है। ये ऋचाएँ या तो व्याधियों के प्रति ही कही गई हैं, या उनके रहस्यमय दैत्यों के प्रति। ज्वर का दैत्य तक्मन् है, जिसके प्रति अनेक ऋचाएँ गाई गई हैं। इनमें से कितनी ऋचाएँ काव्य की दृष्टि से भी बड़ी सुन्दर हैं। इन सूक्तों में आई कितनी ही वनस्पतियों के अवलोकन से भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की नींव पड़ी। लोगों को अस्थि-शास्त्र का भी ज्ञान हो गया था। अथर्ववेद रोगों में कृमि-उपद्रवों की ओर भी संकेत करता है। एक स्थल पर अँतड़ी और पार्श्व के कृमियों का हवाला दिया गया है§। स्तोत्रों के देवताओं में पिशाचों और राक्षसों की प्रचुरता हो आती है। पिशाचों के विरुद्ध अथर्ववेद का एक सूक्त* पठनीय है। अप्सरा और गन्धर्वों को भी इस संहिता ने राक्षसों की ही श्रेणी में रखा † है और उनको दूर करने के लिए भी सूक्त कहे हैं।

इस संहिता में स्वास्थ्य और जीवन-वर्धक सूक्त भी हैं, जो प्रायः उसी प्रकार के हैं जैसे ऊपर बताए गए हैं। उनमें सौ वर्ष जीने की कामना की गई है और १००० व्याधियों से छुटकारा पाने की भी।

इस संहिता में मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि विषयों पर भी सूक्त प्रस्तुत हैं। अथर्ववेद में ही 'कामदेव' का विशद प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कामदग्ध पुरुष के लिए एक विशिष्ट साधना बताई गई है। वह धनुष पर बाण रखे। बाण का फलक काँटे का हो और पक्ष उल्लू के और उसका दण्ड काली लकड़ी का। उस बाण से वह मनवांछित नारी की मृत्तिकामूर्ति बनाकर उसका बारम्बार भेदन करता हुआ अथर्ववेद का एक मंत्र § पढ़े। स्त्री भी वांछित पुरुष के लिए ऐसी ही साधना करे। ‖ इस प्रकार के सूक्तों की संख्या बहुत है।

परन्तु अथर्ववेद में भी कुछ अत्यन्त उत्कर्षपूर्ण सूक्त हैं। वरुण के प्रति कहे गए एक सूक्त+ में ईश्वर की सर्वज्ञता का अदभुत वर्णन है। उसी सूक्त का उत्तरार्ध मिथ्यावादियों के प्रति आग उगलता है। इस संहिता के कुछ मंडलों में वे रहस्यमय सूक्त हैं‡, जिनसे राष्ट्र में बल आता था, राजा विजयी होता था और जिनका पठन

* शांखायन गृह्यसूत्र, १, २४, ८।

§ अथर्ववेद, २, ३१, ४। *वही, ४, ३६। † वही, ४, ३७—२, ३, ४, ७, ११, १२। § वही ३, २५। ‖ वही ६, १३० और १३८। + वही ४, १६। ‡ वही ३, ४; ३, ३; ५, २०-२१।

राज्यारोहण के समय राजाओं के सम्मुख बराबर हिन्दू-काल में होता आया है। इन्हीं की ओर मानवधर्म-शास्त्र † में निर्देश किया गया है। अथर्ववेद में कुछ सूक्त यज्ञात्मक ◉ और विश्वजनात्मक भी हैं। इन्हीं में एक अद्भुत ओजभरा सूक्त पृथ्वी के प्रति कहा गया है†। मनुष्य जाति की देशप्रियता का यह सर्वप्रथम स्मारक है।

संस्कृत-वाङ्मय—(३) वेदों का काल-निर्णय

संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग हो, जिसके तिथि-निर्णय के संबंध में इतने विरोधी विचार हों जितने ऋग्वेद के सम्बन्ध में हैं। कई विद्वानों ने २५००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक इसके समय को आँका है। इस गणना में हमने उनके विचार छोड़ दिए हैं, जो ऋग्वेद को अपौरुषेय मान उसकी तिथि का विचार ही नहीं उठाते अथवा जो उसके काल को ईसा से लाखों वर्ष पूर्व रखते हैं। इस प्रकार जो लोग अत्यंत प्राचीन काल में ऋग्वेद को रखते हैं, उन्हें दो-तीन बातें न भूलनी चाहिएँ। एक तो यह कि अत्यंत प्राचीन काल में (जैसे लाखों अथवा २५००० वर्ष पूर्व) मनुष्य के विकास की क्या अवस्था थी यह कहना कठिन होगा। बहुत संभव है उस युग में तो मानव सभ्यता का शायद कोई रूप ही न रहा हो। शायद अभी अग्नि का ज्ञान भी न हुआ था।

दूसरे जो लोग पृथ्वी के स्तरविज्ञान का सहारा लेकर यह कहते हैं कि आर्यों का आदिम निवासस्थान पंजाब था और वही उत्तर भारत में एक सूखा स्थल था, बाकी सारी भूमि समुद्र से ढकी जलमग्न थी, वे इस संबंध में दो गहरी गलतियाँ करते हैं। पहले तो उक्त भूमि की जलमग्न अवस्था कल्पनातीत पूर्वकाल की होगी। दूसरे यदि मान भी लें कि यह प्रदेश जलमग्न था तो फिर गंगा, यमुना और सरजू-सी पूर्वीय नदियों का ज्ञान आर्य्यों को क्योंकर हुआ, जिनका कि उल्लेख ऋग्वेद में आया है।

ऋग्वेद को हम भाषा विज्ञान के नियमों की दृष्टि से भी अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते। २५००० वर्ष पूर्व तो कह नहीं सकते कि मनुष्य बोलता भी था या नहीं। फिर इतनी दूर की भाषा में जो अन्तर होना चाहिए वह ऋग्वेद और बाद के उपनिषद् अथवा काव्यों की भाषाओं में नहीं है। एक अद्भुत सिलसिला इस भाषा-विकास का हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ हजार वर्षों के अन्तर पर बहुत ही अप्रगतिशील भाषा तक में भी अन्तर पड़ता है। यही कारण है कि संस्कृत और प्राकृतों में लगभग एक सहस्र वर्षों में इतना अन्तर पड़ गया कि फलतः भारतवर्ष में प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। फिर यदि ऋग्वेद की भाषा २५००० वर्ष पूर्व की मानें तो ब्राह्मणों, उपनिषदों और काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर इसका रूप इतना बदल जाना चाहिए था, जितना मनुष्य की कल्पना में भी न आ सके। इसके अतिरिक्त यदि इस विचार को मानकर पुराणों में दिए महाभारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों पर दृष्टि डालें तो एक बड़ी विषम और असम्भव समस्या खड़ी हो जाएगी। क्योंकि इनके राजन्य अधिकतर वेदों के समकालीन अथवा उनसे भी प्राचीन हैं और चूँकि इनके प्रदेशों को पुराणकार अति पूर्व की नदियों के काँठों में रखते हैं, अतः इनको जलमग्न प्रदेश में रखना पड़ेगा। इस विचार के विरोध में एक दिक्कत यह भी है कि इसमें मध्य-पूर्व एशिया में होनेवाली असुर-सुमेर प्रदेशों और सिन्धु-काँठे के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की द्रविड़ सभ्यताओं की खुदाई के आश्चर्यजनक फल का समावेश नहीं है, जिसका निर्देश आगे होगा।

एक विचार ज्योतिष-सम्बन्धी भी है, जो स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक और जैकोबी का है। इनमें से प्रथम महोदय ने ऋग्वेद का समय लगभग ६००० ई० पू० और दूसरे ने लगभग ४५०० ई० पू० रखा है। परन्तु दोनों विद्वानों की सम्मतियों में एक बुनियादी कमी है। वह यह है कि ऋग्वेद के जिन मंत्रों पर यह ज्योतिष-सम्बन्धी गणना की गई है, उनका अर्थ संदिग्ध है। ज्योतिष-सम्बन्धी गणना गणित पर अवलम्बित होती है, इसलिए जिन आँकड़ों पर यह गणना की जाय वे स्वयं शिला की भाँति अचल और दिन की भाँति सत्य होने चाहिएँ। परन्तु इन मन्त्रों के भाव अत्यन्त संदिग्ध हैं और इस कारण यह गणना कल्पनात्मिका ही सिद्ध होगी।

२०० ई० पू० के तिथि-निर्धारण संबंधी मत पर विचार

† मनुस्मृति ११, ३३।

◉ अथर्ववेद १६, १८, २०। † वही १२, १।

करना व्यर्थ है। क्योंकि छठी शताब्दी ई० पू० के युग में होनेवाले बुद्ध आदि महापुरुष ऋग्वेद और उसके बाद के भी वैदिक साहित्य की प्राचीनता स्वीकार करते हैं।

अब रह गया मैक्समूलर का विचार, जो ऋग्वेद को १२००—१००० ई० पू० के बीच रखता है, परन्तु इस पर पहुँचने में उसने जो साहित्यिक क्रम माना है, वह काल-क्रम और भाषा-विकास के दृष्टिकोण से हास्यास्पद है।

विन्टरनित्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह तिथि सत्य के निकटतम प्रतीत होती है, केवल यह उससे कुछ नीचे है। यदि विन्टरनित्स की पुस्तक का दूसरा संस्करण मध्य-पूर्व एशिया के प्रदेशों की खुदाई के बाद निकलता तो संभव है कि वह विद्वान् तब इस समय को इससे भी पूर्व ३००० ई० पू० के लगभग रखता। यह ३००० ई० पू० का समय ही यथार्थतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल जान पड़ता है और इसे मानने में प्रस्तुत मतों के विरुद्ध किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। जिन प्रमाणों के आधार पर यह तिथि इन पंक्तियों के लेखक ने निश्चित की है, वे नीचे दिए जाते हैं। इनमें से कई नए हैं, विशेषकर वे जिनका सम्बन्ध मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्व-सम्बन्धी खुदाई और एशिया माइनर के बोगजकोई नामक स्थान से प्राप्त लेखों से है।

(१) ह्यूगो विंक्लर ने सन् १९०७ ई० में एशिया-माइनर के बोगजकोई नामक स्थान में खत्ती राज्य-संबंधी कुछ ईंटें खोद निकालीं। इन पर चौदहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में खुदे लेखों में खत्ती और मितनी जातियों के संघर्ष के फलस्वरूप जो सन्धि हुई है, उसका हवाला दिया गया है और उस सन्धि के साक्षीस्वरूप कुछ वैदिक देवताओं, जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यों के नाम आए हैं। ये नाम वहाँ कैसे आए, इस संबंध में मतभेद है। कुछ विद्वानों (जैसे मेयर और जाइल्स) का मत है कि ये आर्यों के भारत-प्रवेश से पूर्वकाल के ईरानी आर्यों के देवता हैं। परन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि जेन्दावेस्ता में जिस रूप में इन देवताओं के नाम मिलते हैं, ये वैसे नहीं हैं। वरन् ये ठीक ऋग्वेद में आए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। ऋग्वेद को सुरक्षित रखने के लिए जिन आठ तरह के पद, घन, जटा आदि पाठों की व्यवस्था की गई, ठीक उन्हीं में से एक पाठ के अनुरूप बोगजकोई के इन देवताओं के नाम हैं, जैसे मि-इत्-त्र, व-अर्-रु-उण, आदि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन देवताओं का ज्ञान खत्ती और मितनी जातियों को आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार के समय नहीं हुआ, वरन् तब हुआ जब भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर ऋग्वेद के मंत्रों का निर्माण हो चुका था। और इस संबंध में विद्वान् प्रायः सहमत हैं कि ऋग्वेद के मंत्र भारतवर्ष में ही बने। इसी कारण यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि जब ऋग्वैदिक आर्य भारतवर्ष में बहुत काल से बस चुके थे, तब उनकी एक (अथवा अनेकों) शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गई और उन्होंने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की।

अब यह विचार कर लेना चाहिए कि यह समय कब रहा होगा। उपनिवेश-निर्माण के हेतु भारतीय आर्यों का इतिहास में निष्क्रमण बहुत बाद का है—शायद गुप्तकाल के आस-पास, जब हिन्द-महासागर के अनेक द्वीपसमूह भारत के उपनिवेश बने। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में केवल दो समय सिद्ध होते हैं, जब इस प्रकार की कोई घटना हुई होगी। एक तो ऋग्वेद में वर्णित दशराज्ञ युद्ध से संबंधित है। पुराण कहते हैं कि इस युद्ध के बाद द्रुह्यु उत्तर की ओर चले गए और वहाँ जाकर वे म्लेच्छों पर राज्य करने लगे। फिर महा-भारत के समय में भारतीय आर्यों की शक्ति अतुलनीय हो गई थी, जब उनके चरणों पर प्रायः सारा भारत लोटता था और उनसे मैत्री करने को विश्व उत्सुक रहता था। यह विवरण महाभारत में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के समय अर्जुन-भीमादि ने भारतेतर देशों का दिग्विजय किया था और उत्तर में अपने उपनिवेश बसाए थे। महाभारत की तिथि, जो सबसे वैज्ञानिक कही जा सकती है और जिसका हम महाभारत के प्रसंग में निश्चय करेंगे, १४०० ई० पू० के लगभग है। इस समय हम कार्यवशात् इस तिथि को ही मान लेते हैं। अतएव यदि महाभारत-युद्ध लगभग १४०० ई० पू० हुआ तो इससे कुछ ही पूर्व एशिया-माइनर के आसपास वाले ये आर्य उपनिवेश बने होंगे। बोगज-कोई के लेख इसके कुछ ही बाद के हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि आर्यों की कोई और शाखा इससे भी पूर्व वहाँ गई। इससे यह सिद्ध हो जाएगा कि यदि १४०० ई० पू० से पहले ही यह आर्यों की शाखा भारत-वर्ष से आई (यह शाखा संभवतः वही द्रुह्युओं की है, जिसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं) तो अवश्य आर्यों के भारत में सर्वप्रथम बसने और बाहर फिर लौटकर उप-

निवेश बनाने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रमाण से ऋग्वेद के निर्माण का प्रारम्भ लगभग ३००० ई० पू० ठहरता है।

(२) पुराणों में जिन राजवंशों की तालिका दी हुई है, उनकी ऐतिहासिकता में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके कितने ही नाम वैदिक साहित्य के ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक में मिल जाते हैं। फिर आखिर बाद के राजन्य कुलों के ऊपरी छोर तो कहीं न कहीं जा ही मिलेंगे, यदि पिता-पुत्र के क्रम से कुलों का विकास होना निश्चित है। और जब बाद के वंशों (मौर्यादि) के सम्बन्ध में पुराण सही हैं, तो भारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों के सम्बन्ध में सही क्यों न होंगे—विशेषकर जब ये पुराण अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुतियों से ग्रथित एक पूर्व पुराण पर बने हैं और जब इतिहास-पुराण का अस्तित्व न केवल ब्राह्मण-उपनिषदों में ही वरन् स्वयं अथर्ववेद में भी निर्दिष्ट है! फिर इतनी लम्बी तालिकाएँ मनगढ़न्त कैसे हो सकती हैं, जब उन शृंखलाओं की अनेक कड़ियाँ उपनिषदों और ब्राह्मणों आदि में आए उपाख्यानों में मिल जाती हैं? यह भी न भूलना चाहिए कि इन पुराने राजाओं के नाम वैदिक संस्कृत में हैं, जो बाद के नामों से पूर्णतया भिन्न हैं। यही कारण है कि जब कभी आधुनिक राजाओं ने अपना वंश प्राचीन करने के लिए मनगढ़न्त वैदिक समय के पूर्वज गढ़े हैं, तब वे हास्यास्पद हो उठे हैं, क्योंकि ये नाम केवल संस्कृत ही रह सके, वैदिक नहीं। यहाँ पर मेरा मतलब पुराणों में दिए राजवंश-वृक्षों के उन भागों से है, जो महाभारत-युद्ध अर्थात् (१४०० ई० पू०) के पूर्वकाल के हैं। इनकी पीढ़ियाँ मिलाने पर हम इस काल से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व पहुँच जाते हैं। यही अनुपात लगभग उपनिषदों और ब्राह्मणों में आई गुरुपरम्पराओं की पीढ़ियों को जोड़ने से भी प्राप्त होता है। ये पीढ़ियाँ लगभग ५०-६० हैं और यदि प्रत्येक पीढ़ी का जीवनकाल पचीस वर्षों के लगभग मानें तो उनका कुल जोड़ (६०×२५=१५००) करीब पन्द्रह शताब्दियों तक जा पहुँचेगा। य कुल महाभारत-पूर्व के हैं, इसलिए ऋग्वेद का समय फिर ३००० ई० पू० के लगभग जा पहुँचा।

(३) ऋग्वेद कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा संहिता के रूप में संगृहीत हुआ। यह व्यास महाभारतकालीन व्यक्ति थे। यदि उनके संग्रह का काल १४५० ई० पू० के लगभग माना जाय, तो ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों के निर्माण का समय उससे पूर्व ही रखना होगा। अन्तिम मंत्रों से हमारा मतलब उन मन्त्रों से है, जिनमें महाभारत-युद्ध से कुछ ही पूर्व होनेवाले देवापि और शान्तनु-सरीखे व्यक्तियों के नाम भी आए हैं। इस प्रकार इस बृहत् संहिता के प्राचीनतम स्तर बहुत आसानी से लगभग १५०० वर्ष पूर्व रखे जा सकते हैं और तब उनका आरम्भ ३००० ई० पू० के लगभग में होगा।

(४) प्रायः सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि दक्षिण भारत की आर्यों द्वारा विजय ७०० ई० पू० के लगभग ही हो गई होगी, क्योंकि बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र दक्षिण में ही बने, जिनका समय उस काल के कुछ ही बाद रखा जाता है। परन्तु वास्तव में दक्षिण-विजय का समय बहुत पूर्व रखना पड़ेगा। जिन विद्वानों ने ७०० ई० पू० के लगभग आर्यों की दक्षिण-विजय रखी है, उन्होंने साहित्य का विशेष प्रमाण नहीं लिया है। यथार्थ में उन्हें इस सम्बन्ध में महाभारत-पूर्व की पौराणिक राजवंशतालिका का ऐतरेय ब्राह्मण आदि की अनुश्रुति से मिलान करके यह राय कायम करनी थी। यह विचार कि ब्राह्मण-काल (लगभग १५०० ई० पू०) में आर्य कुरुपञ्चाल जनपद से आगे पूर्व में नहीं बढ़े थे, अत्यन्त दोषपूर्ण है और इसे अब शीघ्र छोड़ देना चाहिए। कुरुपञ्चाल जनपद निःसन्देह वैदिक आर्य संस्कृति का केन्द्र था। परन्तु इससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि आर्य इस काल में बहुत दूर पूर्व में नहीं बढ़ चुके थे। सांस्कृतिक केन्द्र बहुधा विद्वानों को धोके में डालते हैं। वास्तव में कुरुपञ्चाल में सरस्वती और दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पावन नदियों के बहने के कारण वह जनपद आर्यों की अवध, मध्यभारत और उत्तरी-दक्खिन विजय के कई शताब्दियों बाद तक वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना रहा। वास्तव में उस दक्षिण-विजय का समय २००० ई० पू० से भी पहले रखना होगा, क्योंकि जैसा ऋग्वेद के स्तरों से ही ज्ञात है, यदि इतने लम्बे काल में आर्य केवल अफगानिस्तान और पंजाब के ही कुछ भागों में बढ़ सके, तो अवश्य दक्षिण तक पहुँचने और बीच का १२३००० वर्गमील प्रदेश जीतने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी, विशेषकर जब प्रति इंच भूमि के लिए उन्हें द्रविड़ों से लोहा लेना पड़ा था और जब वे स्वयं परस्पर भी लड़ रहे थे। सो बड़ी आसानी से यह दक्षिण-विजय २००० ई० पू० से भी पहले रखी जा सकती है। एक

प्रमाण और लीजिए। पुराणों के महाभारत-पूर्व का राजवंश-क्रम मिलाने से पता चलता है कि आर्यों का अन्तर्संघर्ष, जिसमें सरयू के तट पर राजा चित्ररथ ने अपने प्राण खोए, २००० ई० पू० के लगभग हुआ। चित्ररथ के पिता ने गया के विष्णुपाद और (उत्तर प्रदेश के) बाँदा जिले के कालिंजर पर्वतों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किया था। इससे यह सिद्ध है कि आर्य राजाओं ने २००० ई० पू० से पहले ही पूर्वीय उत्तर प्रदेश, अवध और बिहार को जीत लिया होगा। जबलपुर के चतुर्दिक् का चेदि जनपद यादव वंशानुक्रम के अनुसार लगभग दस पीढ़ी (यथार्थ में राज्यकाल) के बाद जीता गया। इस प्रकार इस घटना का काल लगभग २१५० ई० पू० रहा होगा। चैद्य वंश के राजा कशु की प्रशस्ति ऋग्वेद के आठवें मण्डल में गाई गई है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह चेदि जनपद पहले-पहल यादव वंश की एक कनिष्ठ शाखा में होनेवाले राजा चिदि द्वारा महाभारत-युद्ध से पचास पीढ़ी अर्थात् लगभग ७५० वर्ष पूर्व जीता गया। इसलिए यह घटना लगभग २१५० ई० पू० घटी। इस प्रकार आर्यों का भारत में प्रादुर्भाव ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

काशी-राजवंश से जान पड़ता है कि काशी आर्यों के हाथ में प्रायः २६०० ई० पू० से भी पहले आ चुकी थी। पौराणिक और पश्चात् वैदिक साहित्य की अनुवृत्ति से ज्ञात होता है कि राजा दिवोदास के राज्य के बाद ही क्षेमक नामक दैत्य ने काशी को उजाड़ डाला था। इससे यह सिद्ध है कि काशी कुछ समय के लिए आर्यों के हाथ से निकल गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि विदर्भ देश का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ युद्ध से चार पीढ़ी बाद यानी लगभग १८५० ई० पू० में विद्यमान् था। इस प्रकार उत्तर-दक्खिन की विजय राजा भीम से पूर्व ही हुई होगी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग पचीस पीढ़ी पूर्व प्रायः बाईसवीं शताब्दी ई० पू० घटी थी। अतः जब वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों के सम्मिलित प्रमाणानुसार विदर्भ (बरार) की विजय लगभग बाईसवीं शताब्दी ई० पू० ही हो गई थी, तो ऋग्वेद का प्रारम्भिक काल हमें ३००० ई० पू० के आसपास रखना ही पड़ेगा।

(५) ऋग्वेद की तिथि निश्चित करने में जो एक और विशिष्ट प्रमाण सहायक है, वह है संस्कृत-साहित्य का क्रमिक विकास। इस प्रमाण का उपयोग सर्वप्रथम मैक्समूलर ने किया, परन्तु उसके प्रयोग का ढंग, विशेषकर गणनाक्रम में, अत्यन्त संकीर्ण हो गया है, जिसकी तर्कहीनता का प्रतिवाद ह्विट्नी और विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने किया है। परन्तु मैक्समूलर के ही तर्क को आधार बनाते हुए और उसकी संकीर्णता से बचते हुए हम ऋग्वेद का काल-निर्णय वैज्ञानिक रूप से कर सकते हैं। यह युक्ति इस प्रकार है। बौद्धों और जैनों ने न केवल उपनिषदों तक के वैदिक साहित्य का वरन् वेदांगों तक का निर्देश किया है। बुद्ध और महावीर छठी शताब्दी ई० पू० के हैं। और जैनों के तीर्थंकर पार्श्व तो उनसे पूर्व संभवतः सातवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। सो सातवीं शताब्दी ई० पू० तक सारा वैदिक साहित्य तैयार हो चुका था। और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इनसे भी पूर्व कुछ ऐसे ही वेदविरोधी धर्मवेत्ता पड़े थे, जिन्होंने वैदिक साहित्य का भी विरोध किया था। लगभग इसी समय यास्क ने ऋग्वेद की लुप्त परम्परा से खोए वेदार्थ के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन निघंटुओं के आधार पर अपना निरुक्त रचा। यास्क के समय अथवा उससे भी बहुत पूर्व वेद का अर्थ दुरुह हो चुका था, जिससे उसके निरुक्त की आवश्यकता पड़ी। प्राचीन निघंटुकार आचार्यों में से एक, जिनको यास्क उद्धृत करता है, कहता है कि वेद निरर्थक हैं। सो उससे पूर्व ही वेदों की अर्थपरम्परा लुप्त हो चुकी थी। ओल्डेनबर्ग ने यथार्थ ही सिद्ध कर दिया है कि प्राथमिक उपनिषदों और प्राथमिक बौद्ध साहित्यों में कितनी ही शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा। उपनिषद्काल को सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लगभग ११०० ई० पू० में और प्रोफेसर रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० में रखा है। औपनिषदिक विचारों का क्रियात्मकता-काल १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच हमें रखना होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि उपनिषदों में जो गुरुपरम्परा आई है, उसकी पीढ़ियाँ ९० तक हैं। फिर इन उपनिषदों का निर्माण ब्राह्मणों के बाद हुआ। ब्राह्मणकाल को इस प्रकार उपनिषद्काल से पूर्व लगभग १६०० ई० पू० और १२०० ई० पू० के बीच रखना होगा। इन ब्राह्मणों में भी गुरुकुलों की अनेक पीढ़ियाँ दी हुई हैं। ये ब्राह्मण कुछ तो यज्ञक्रियाओं को रूप देने और प्रायः ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों के भाव की व्याख्या के निमित्त लिखे गये। अतः १५०० ई० पू० के पहले ऋग्वेद के प्राचीन स्तर निर्मित

हो चुके थे, जिनकी व्याख्या के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। अवश्य तब इन मंत्रों के भाव-लोप में कुछ शताब्दियाँ बीती होंगी और ऋग्वेद के प्राचीन स्तरों और प्राथमिक ब्राह्मण-ग्रन्थों (लगभग १६०० ई० पू०) के निर्माण में सदियों का अन्तर पड़ा होगा। फिर ब्राह्मणों के पूर्व अथर्ववेद बन चुका होगा। यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का निर्माण-काल प्राथमिक ब्राह्मण-काल से चार सौ वर्ष पूर्व ही मानें तो हम अथर्ववेद के प्राचीन भागों को लगभग २००० ई० पू० में रख सकते हैं। (यहाँ हम अथर्ववेद के उन मंत्रों को छोड़ देते हैं, जो ऋग्वेद के हैं।) इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि अथर्ववेद बहुत काल तक वेदों में नहीं गिना गया और वेदों की संख्या केवल तीन रही, जिससे वे 'त्रयी' कहलाए। अतएव अथर्ववेद और त्रयी में इतने काल का अन्तर होना चाहिए, जितने में त्रयी का रूप भुलाकर अथर्ववेद को भी वेदों की संख्या में गिन लिया गया हो। इस रूप में ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों को ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

(६) भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण ऊपर हम कर आए हैं। यहाँ बस इतना ही कह देना उचित होगा कि भाषा और साहित्य का जो क्रम-सम्बन्ध एक ओर ईरानी आर्यों की धर्मपुस्तक 'जेन्दावेस्ता' और ऋग्वेद में, और दूसरी ओर ऋग्वेद और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, सूत्र और इतिहास, पुराण इत्यादि भारतीय संस्कृति में है, उसको देखते हुए हम ऋग्वेद का समय न कल्पनातीत पूर्व और न पश्चात् ही रख सकते हैं। अतः उसे बीच में ही कहीं ३००० ई० पू० से उतरते हुए रखना होगा।

(७) ऋग्वेद ग्रन्थ नहीं है, 'संहिता' है और इस संहिता की अनुक्रमणियों में सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम दिए हैं। ये ऋषि मानवदेहधारी पुरुष और स्त्री थे। उनकी बृहत् संख्या एक लम्बे काल को सामने रखती है। ये ऋषि बहुधा ऋषिकुल विशेष के थे, जिनका आपस में प्रायः सम्बन्ध पिता-पुत्र का था। इसी कारण उपनिषदों और ब्राह्मणों की गुरुपरम्परा की तालिकाएँ उनका वह संबंध घोषित करती हैं। ये तालिकाएँ पुराणों में दिए गए महाभारत-पूर्व के राजकुलों से प्रायः सम्बन्ध रखते हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों के कितने ही गुरु इन पौराणिक राजकुलों के गुरु हैं। अतः ऋग्वेद के स्तर कई समय में निर्मित हुए हैं। उनका निर्देश हम आरम्भ में कर आए हैं। ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में सम्भवतः बने होंगे और चूँकि संहिता का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया, ऋग्वेद के स्तर तब तक समाप्त हो चुके होंगे। उनके अन्तिम मंत्रों का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग ही समाप्त हुआ होगा, क्योंकि मंत्र में कौरव-पाण्डवों के निकट पूर्वज राजा शान्तनु और उसके ऋत्विज् भाई देवापि का उल्लेख हुआ है! अतः यदि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल पन्द्रह शताब्दी पूर्व लगभग ३००० ई० पू० रखें, तो अत्युक्ति न होगी।

(८) अन्तिम और ऊपर के सारे प्रमाणों में कदाचित् सबसे सच्चा प्रमाण वह है, जो सिन्धु काँठे के मोहनजो-दड़ो और पंजाब के हड़प्पा तथा मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्त्व-सम्बन्धी आधुनिक खुदाई से प्राप्त हुआ है। विद्वानों की दृष्टि अभी उधर नहीं गई है, परन्तु आर्यों के भारत में आने और ऋग्वेद के निर्माण के समय पर उस खोज का महान् प्रभाव पड़ सकता है।

विद्वान् प्रायः इस बात में सहमत हैं कि सिन्धु काँठे की सभ्यता द्रविड़ थी। इस निर्णय में सबसे बड़ा सबूत यह है कि मोहनजोदड़ो के सहस्रों ठीकरों और प्रस्तरादि स्मारक अवशेषों में एक भी अश्व से सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है। स्वयं गैंडे के चित्र को उत्कीर्ण करनेवाले लगभग ३००० मुद्रांक (Seals) उपलब्ध हुए हैं और वृषभ को उत्कीर्ण करनेवाले तो कितने ही हैं। यदि यह सभ्यता आर्यों की होती, तो उनके सतत पार्श्वस्थ अनुचर, दुःख-सुख और यज्ञों के साथी 'घोड़े' का उसमें न होना असम्भव था। फिर जो मानव-आकृतियाँ मिट्टी या प्रस्तर-मिश्रण की मिलती हैं, वे स्पष्टतः अनार्य हैं। इस सभ्यता का प्रसार-काल ३५०० ई० पू० और २७०० ई० पू० के बीच रखा गया है। कैसे यह सभ्यता टूटी ? सिंधु-घाटी की सभ्यता संबंधी अपने ग्रंथ में सर जान मार्शल ने मोहनजोदड़ो के घरों की कुछ तस्वीरें दी हैं। इनके निचले कमरों में से कई हाथ-पाँव, मस्तकादि, कटे मनुष्यों के अस्थि-पञ्जर बिखरे पड़े हैं। अवश्य यह कथा किसी मानव-आक्रमण का उपसंहार है। पैने अस्त्रों से ही वे जीवित काल में काटे गए हैं। संभवतः आक्रमण से बचने के लिए वे भागे थे, परन्तु आक्रमणकारियों ने उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारा। ये आक्रमणकारी कौन थे ? हमने ऊपर जो अन्य साधनों द्वारा ऋग्वेद का निर्माण-काल और सम्भवतः आर्यों का भारत-प्रवेश-काल स्थिर किया है, वह ३००० ई० पू० के लगभग है। तब तो संभवतः वे आर्य ही थे, जिन्होंने

३००० ई० पू० के समीप भारत में प्रवेश कर दो-तीन सौ वर्षों तक निरन्तर लड़कर २७०० ई० पू० के लगभग द्रविड़ों की उस अद्भुत सभ्यता नष्ट कर दी हो। ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों को उन अनार्यों से लड़ना पड़ा था, जो कृष्णकाय थे, अनासा थे, दास थे और दस्यु थे। इनके सेनापति दृप्त और शूर थे। भारत में ये लोग द्रविड़ों के अतिरिक्त और कौन हो सकते थे ? और इन द्रविड़ों का प्रबल निवासस्थान पंजाब और सिन्धु का काँठा था, जिसे आर्यों को अपने निवास के लिए तोड़ना पड़ा। इन दुर्द्धर्ष सामरिकों पर विजय पाने के लिए और इनके विशाल दुर्गों को तोड़ने के लिए आर्यों को ऋग्वेद में अपने वीर देवता इंद्र से अहर्निश प्रार्थना करनी पड़ी। आर्यों ने द्रविड़ों का और इंद्र ने उनके लौह दुर्गों का अपने वज्र से विध्वंस किया। मिट्टी के बने मकानों में रहने वाले आर्यों को मोहनजोदड़ो आदि के पकाई हुई ईंटों के द्रविड़ों के घर अवश्य लोहे के-से लगे होंगे। अतः आर्यों ने ही द्रविड़ों की यह सभ्यता नष्ट की, क्योंकि आर्यों के भारत-प्रवेश और मोहनजोदड़ो के अन्त छोर प्रायः मिले हैं। एक बात और है। जिन कमरों का ऊपर निर्देश किया गया है, उन्हीं में से एक में (एक तस्वीर से जान पड़ता है) छोटे अस्थिपञ्जर के बीच एक विशालकाय अस्थिपञ्जर भी पड़ा है, जो सम्भवतः किसी आर्य का है। द्रविड़ों से लड़ता हुआ शायद वह आर्य वहीं मारा गया होगा। तस्वीर में एक सजीव पंजाबी मजदूर भी दिखाया गया है। वह अस्थिपञ्जर उस मजदूर से भी काफी बड़ा है।

सुमेर (उर प्रदेश) की वह सभ्यता, जिसके अवशेष ईरान में मिले हैं, द्रविड़ों से बहुत मिलती है। उस सभ्यता ने मोहनजोदड़ो की सभ्यता से बहुत-कुछ लिया था, यह सभी विद्वान् मानते हैं। सम्भव है, सुमेर लोग स्वयं द्रविड़ रहे हों। कम-से-कम इतना सत्य है कि सुमेरवाले आर्य न थे और वे अपने उत्तर-पश्चिम के महापराक्रमी असुरों के शत्रु थे। सुमेर-सभ्यता से असुरों का संघर्ष लगभग ३५०० ई० पू० आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे असुरों ने उस सभ्यता का विनाश कर उस पर अपने राज्य खड़े किए। यह कुतूहलजनक बात है कि लगभग इसी समय आर्यों ने सुमेर-सभ्यता से सम्पर्क रखनेवाली मोहनजोदड़ो की द्रविड़-सभ्यता की कमर तोड़ दी। क्या आर्यों और असुरों में वही सम्बन्ध था, जो सुमेर और मोहनजोदड़ो की सभ्यतावालों में था ? सम्भवतः। ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में प्रायः ग्यारह स्थालों में असुरों का अविरोधी वर्णन है। वे पराक्रम के प्रतीत समझे गए थे। इसी कारण 'असुर' शब्द वरुण और इंद्र का विशेषण बना। असुरों ने कोई विशेष पराक्रम के कार्य किए होंगे, जिससे उनका नाम आर्य देवताओं का विशेषण बना। सम्भव है, यह पराक्रम असुरों द्वारा सुमेर-सभ्यता के विनष्ट होने पर उनको प्राप्त हुआ होगा। फिर जब उन्हीं असुरों से आर्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ, तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मंत्रों में उन्हें विरोधी रूप में दरसा कर राक्षस कहा। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरों से आर्यों का मध्य एशिया में बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा, जिससे दोनों टूट गए। असुरों से लड़नेवाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रहवीं शती ई० पू० के खत्ती-मितनी आदि थे, जो संभवतः द्रुह्यु राजन्यों के वंशधर थे, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। संभव है, स्वयं असुर भी आर्यों का ही एक बाद में आनेवाला दल* हो और पृथ्वी के लिए उनमें समय-असमय युद्ध होता रहा हो। निष्क्रमण की एक लहर का दूसरी से टकराना साधारण है। यह बात पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे—कश्यप की सपत्नियों से उत्पन्न। दैत्य दिति से उत्पन्न हुए और आदित्य अदिति से। अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है। दैत्य असुर थे और आदित्य देव आर्य।

इस प्रकार ऋग्वेद का निर्माण-काल लगभग ३००० ई० पू० और १४५० ई० पू० के बीच ठहरता है।

आर्यों के भारत में आने की बात मान ही लेनी पड़ेगी, क्योंकि वीर जाति घोड़ों के रहते हुए चुप नहीं बैठ सकती, जबकि पश्चिम से बराबर हमले हो रहे थे और पंजाब आदि से सुमेर तक एक विरोधी सभ्यता सजग थी। उन दिनों तो एक-एक चप्पे जमीन के लिए जातियाँ लड़ीं, मरीं, और खो गईं।

***इस असुरों के आर्यों की ही एक लहर होने की संभावना की ओर मेरा ध्यान डा० रामविलास शर्मा ने डा० अनन्तप्रसाद बनर्जी शास्त्री की एक पुस्तक (Asuras) का उल्लेख कर आकर्षित किया। डा० बनर्जी की पुस्तक मध्य-पूर्वी एशिया में की गई खुदाई से पहले ही प्रस्तुत हो चुकी थी, जिससे सुमेर, असुर, और मोहनजोदड़ो की सभ्यताओं से प्राप्त सामग्री का उपयोग उसमें शायद न हो सका।**

अफ्रीका महाद्वीप के आदिम निवासी—नीग्रो

सभ्यता की दुनिया से परे के अपने अपरिवर्तनशील वातावरण में सदियों से ज्यों-का-त्यों जीवन-यापन करनेवाली आदिम जातियों में अफ्रीका की कतिपय कृष्णकाय जातियों की भी गणना है, प्रस्तुत प्रकरण में उन्हीं का परिचय दिया जा रहा है।

वर्णभेद के उपासक श्वेतांगों की बोलचाल में उनसे भिन्न वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति 'काला आदमी' या 'नीग्रो' होता है ! उनकी तथाकथित सभ्यता में इस शब्द की व्यापकता इतनी अधिक है कि बिना किसी भेदभाव के वे लोग किसी भी गहरे रंग की चमड़ीवाले व्यक्ति को 'नीग्रो' कह बैठते हैं। हमारे देश में भी इसी तरह अफ्रीका से आए हुए गहरे काले वर्ण की जाति के लोगों के लिए 'हब्शी' शब्द का व्यवहार होता रहा है, जो मुसलमानों के शासनकाल में भारत में आए थे। किन्तु सच पूछा जाय तो 'हब्शी' केवल वही हैं, जो अबीसीनिया या 'हब्श' देश के निवासी हैं, सभी नीग्रो हब्शी नहीं कहे जा सकते, जैसा कि भ्रमवश लोग मान बैठे हैं। और न श्वेतांग जातियों का अपने से भिन्न वर्ण की जाति के सभी लोगों को 'नीग्रो' कहना ही न्याय-संगत है। 'नीग्रो' केवल उन जातियों के मनुष्यों को ही कहा जाना चाहिए, जो अफ्रीका महाद्वीप में सहारा मरुभूमि और 'आशा अन्तरीप' की सीमाओं से घिरे हुए प्रदेशों में अधिकता से पाए जाते हैं और जो उन प्रदेशों के वास्तविक आदिम निवासी कहे जा सकते हैं। परन्तु जिन भूभागों में वे रहते हैं, उनके आस-पास विषुवत् रेखा के समीप के प्रदेशों में रहनेवाले बौनी जाति के पिगमी लोग, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के बुशमैन जातिवाले तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में धुर दक्षिण तक फैले हुए अन्य जातियों के लोग भी बसे हुए हैं। ये वास्तविक 'नीग्रो' नहीं हैं। उनमें और नीग्रो लोगों में बड़ी भिन्नता है। नीग्रो जातिवालों का गहरा रंग, ऊन-जैसे घने घुंघराले बाल, और बड़ा सिर ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे उनको बड़ी सरलता से पहचाना जा सकता है। नीग्रो का भीतर को दबा हुआ संकुचित ललाट, चौड़ा जबड़ा और विशेष प्रकार की खोपड़ी उसे अन्य जातियों से सर्वथा भिन्न बतलाने के लिए पर्याप्त हैं।

कृष्णवर्ण नीग्रो जाति की एक युवती

विविध अफ्रीकी जातियाँ

रंग-रूप और आकृति के विचार से अफ्रीका की आदिम जातियों के तीन भेद माने जाते हैं—(१) नीग्रो तथा अर्धनीग्रो जातियाँ, (२) हैमिटिक जातियाँ और (३) सेमिटिक जातियाँ। इनमें से प्रत्येक वर्ग में अनेक उपजातियाँ भी हैं, जो अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका के अनुसार विद्वानों द्वारा वर्गीकृत की जाती हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनमें सभी लोग अब आदिम अवस्था में नहीं हैं। बहुतेरे आधुनिक सभ्यता के रंग में रँग चुके हैं।

(१) नीग्रो तथा अर्द्ध-नीग्रो

(क) **नीग्रितो (पिगमी)**——बुशमैन, बतवा, ओबाँगो, और अक्का आदि।

(ख) **हाटेनटॉट**——नामाकुआ, कोराकुआ, ग्रीकुआ, आदि।

(ग) **बंटू**——जुलू,काफिर, बसूतो, बेचुना, माकुआ, मातेबेले, मानगंजा, बैचू, बगेत्से, बरुआ, बालुन्दा, बासवाहिली, बान्यामवेसी, बालेग्गा, ओबाहेरो, फजी-बजी, ओबाम्पो, बैकांगो, बतेके, दुआलो आदि।

(घ) **सूदानी नीग्रो**——क्रू, फांती, अशान्ती, मोरुबा, न्यूपे, मंदिनग्ना, उलोफ, बैम्बारा, सोनरहाई, हौसा, बत्ता, कनूरी, बागिरमी, मोस्गू, कनेम, माबा, न्यूबा, दिन्का, शिल्कु, बारी, मानवत्तू, जंदे आदि।

(२) हैमिटिक जातियाँ

(क) **नीग्रो रक्तमिश्रित हैमिटिक**——फान, कुला, तिब्बू, अगुस, मसाई, फेलाहिन, आदि।

(ख) **शुद्ध हैमिटिक**——बर्बर (शुलूह, मजाव, कबीले, तुरेग), गाला, सोमाली, अफार (दानाकिल),बेगा, आदि।

(३) सेमिटिक जातियाँ

अरब, हिमयारित (अम्हारा, तिगरे, शोआ) आदि।

इन जातियों में बहुतेरी सभ्य, कुछ अर्धसभ्य और कुछ एकदम असभ्य हैं। आधुनिक सभ्यता से यद्यपि ये बहुत कुछ प्रभावित होती जा रही हैं, फिर भी इनमें से अधिकांश प्राचीनता और परम्परागत रीति-रिवाजों को माननेवाली ही हैं। इनकी विचित्र जीवनचर्य्या का यदि विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जाय, तो बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। ये जातियाँ परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हुए भी सदियों से एक साथ रहती चली आई हैं। इसमें संदेह नहीं कि एशिया तथा अन्य विदेशों से आए हुए प्रवासियों का रक्त भी इनमें काफी मिल चुका है, परन्तु इनकी मौलिकता अभी तक नष्ट नहीं हो सकी हैं। विदेशियों ने अफ्रीका का नाम 'काला महाद्वीप' जो रख दिया है, सो वहाँ की आबादी में इन कृष्णवर्णीय जातियों की प्रचुरता को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है।

ऊपर उल्लिखित जातियों के अतिरिक्त इस महाद्वीप के अन्तर्गत सुदूर जंगलों के भीतर अनेक ऐसी जातियाँ भी निवास करती हैं, जिनके विषय में अभी तक पर्याप्त अनुसन्धान नहीं किया गया है। नरमांसाहारी, विषबुझे बाणों तथा बर्छों का उपयोग करनेवाले नितान्त जंगली लोगों की बस्तियों से लेकर पिरामिड की छाँह में बसी हुई सभ्य अरब जातियों तक इस महाद्वीप को जो विविध मानवीय टोलियाँ शताब्दियों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति को लिए हुए आबाद किए हुए हैं, उन्हें देखकर हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। अफ्रीका वास्तव में इतना रहस्यमय भूभाग है कि उसकी आत्मा को पहचानना कठिन है।

मसाई जाति की एक स्त्री

इसके मुड़े हुए सिर और लोहे की छड़ों से बने हुए भारी-भरकम गहनों पर गौर कीजिए!

नीग्रो का रंग-रूप

नीग्रो जाति के मनुष्यों के शरीर का रंग एकदम आबनूसी काला नहीं होता, जैसा कि भ्रमवश कुछ योरपीय विद्वानों ने अब तक बतलाया है, वरन्

सूदानी और सुमाली जातिवाले ही अधिक काले होते हैं, जो नीग्रो नहीं कहे जा सकते। नीग्रो जाति के लोग गहरे कत्थई या ऐसे गेहुएँ रंग के होते हैं, जो प्राय: ताम्रवर्ण, बादामी या लालिमा लिये हुए पाया जाता है। वातावरण के अनुसार ही शारीरिक वर्ण में भी भिन्नता पाई जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही व्यक्ति का रंग उसकी अवस्था और स्वास्थ्य के अनुरूप बदलता रहता है। नीग्रो का रंग बुढ़ापा आने पर गहरा होता जाता है, किन्तु नवजात शिशुओं का रंग साफ और हल्का होता है। इनके केश साधारणतया छोटे होते हैं और उनमें स्वाभाविक छल्ले-से पड़ जाते हैं, जिनके कारण वे घुंघराले और गुलझट खाये हुए दिखाई देते हैं। कुछ जातियों में केश काफी लम्बे होते हैं, जो बड़े कलापूर्ण ढंग से सँवारे जाते हैं। नीग्रो लोगों के चेहरे पर बाल प्राय: नहीं होते या बहुत कम होते हैं, दाढ़ी का भी अभाव-सा ही रहता है। मूँछों के स्थान पर दस-पाँच पतले बालों की हल्की-सी रेखा मात्र होठों के कोनों पर दिखाई देती है। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, नीग्रो लोगों के सिर की बनावट विशेष रूप से ध्यान देने योग्य होती है, यद्यपि अनेक जातियों के पारस्परिक मिश्रण के कारण उसमें भी भिन्नता पाई जाती है। प्राय: उनके सिर काफी बड़े होते हैं और कपाल की हड्डियाँ खूब दृढ़ और मजबूत होती है। सिर कुछ लम्बे और पीछे की ओर चौड़े होते हैं तथा ललाट भीतर को दबा हुआ-सा जान पड़ता है। नाक ऊपर से चौड़ी और नथुने खुले हुए होते हैं, जिनके कारण उनकी नासिका चिपटी और दबी हुई दिखाई देती है। नीग्रो लोगों का बदन बड़ा सुडौल और सुदृढ़ होता है तथा उनकी लम्बाई का औसत ५ फीट ७ इंच से कम नहीं होता। उसके अंग-प्रत्यंगों के आकार में भिन्नता का कारण विभिन्न जातियों की रहन-सहन और स्वभाव ही कहा जा सकता है, फिर भी वे साधारणतया काफी हृष्ट-पुष्ट होते हैं। उनकी शारीरिक उन्नति का मुख्य कारण उनका शारीरिक परिश्रम ही है, जिसमें वे योरपवालों से कहीं अधिक बढ़े-चढ़े होते हैं। हाँ, मानसिक विकास में वे अपेक्षाकृत न्यून होते हैं, जिसके कारण उनको दूसरों का आश्रित रहना पड़ता है। नीग्रो लोगों को आमाशय-सम्बन्धी विकार नहीं सताते और उनमें शारीरिक कष्ट सहने की बड़ी शक्ति होती है। डाक्टरी चीरफाड़ करते समय उनको बेहोश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और प्राय: शल्यचिकित्सा के ऐसे प्रयोग, जिनमें योरपियन लोग पीड़ा के कारण प्राण तक छोड़ दें, उनमें बड़ी सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। ब्रिटिश मध्य अफ्रीका में एक युद्ध के उपरान्त जान्सटन नामक एक योरपियन सज्जन ने अपनी आँखों देखे एक ऐसे ही दृश्य का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं कि 'नीग्रो जाति के सैनिकों पर ऐसे घोर कष्टदायक शल्य-प्रयोग किये जा रहे हैं, जिनमें साधारण व्यक्ति तड़प उठे, परन्तु नीग्रो सैनिक बराबर मुस्करा रहे हैं। कभी-कभी उनमें से कोई व्यक्ति धीरे से मुँह बनाता है और आँखें मींच लेता है, परन्तु वे
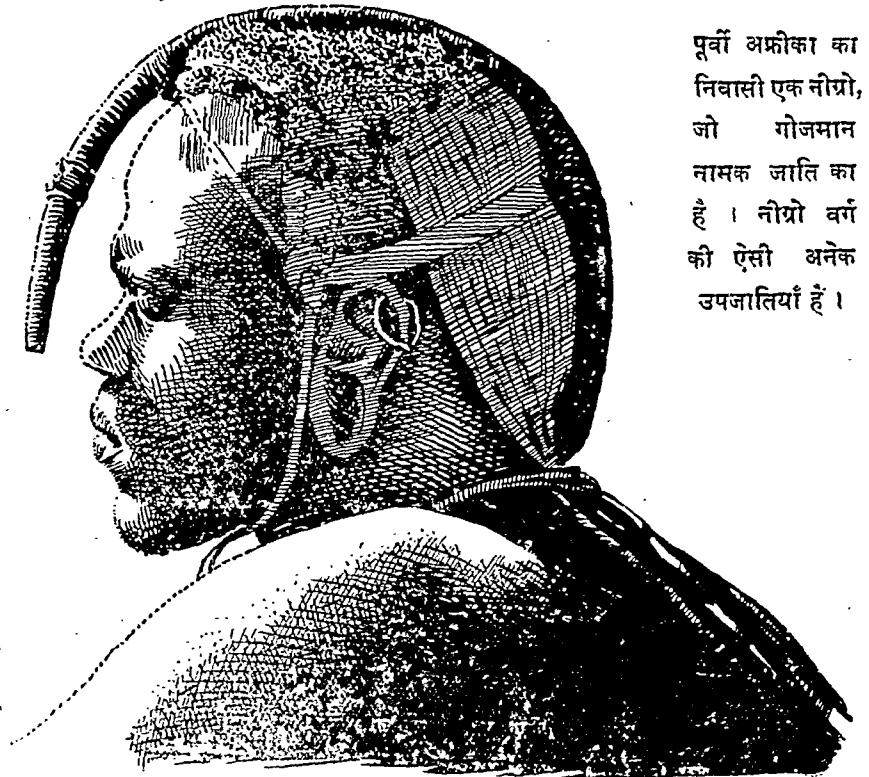
पूर्वी अफ्रीका का निवासी एक नीग्रो, जो गोजमान नामक जाति का है। नीग्रो वर्ग की ऐसी अनेक उपजातियाँ हैं।

घास की रस्सियाँ उँगलियों से बटते जाते हैं और चीरफाड़ के औजारों को अपने बदन पर चलते हुए बड़े कौतूहल से देख रहे हैं।'

पहनावा और आभूषण

नीग्रो जातिवालों की पोशाक भी बड़ी अजीब होती है। कुछ तो नितान्त नंगे रहते या नाममात्र को कपड़े पहनते हैं। अन्य जातिवाले, उदाहरणतः 'सुहेली' लोग, ऊपर से नीचे तक वस्त्रों से ढके रहते हैं। 'करीरान्दो' प्रदेश के निवासी नीग्रो बिल्कुल कपड़े नहीं पहनते। आम तौर पर नीग्रो लोगों की वेषभूषा बिल्कुल सादी रहती है। बच्चे तो प्रायः नंगे ही घूमा करते हैं। स्त्रियाँ एक प्रकार का चुस्त घाँघरा पहनती हैं, जो कमर से घुटनों तक आता है। पुरुष बहुत ऊँचा तहमत या लुँगी बाँधते हैं, जिसे वे प्रायः उतार कर रख भी देते हैं। ऐसे प्रान्तों में जहाँ पानी अधिक बरसता है और ठण्ढ पड़ती है—मुख्यतः पठारों में—लोग पशुओं की खाल का बना हुआ ऊँचा कोट या लबादा पहनते हैं, जिसे वे कन्धों पर लापरवाही से डाले रहते हैं। ये खालें बिल्कुल कच्ची होती हैं, किन्तु उनको छील-छीलकर तथा बार-बार पीटकर नर्म बना लिया जाता है, जिसमें उनके बने वस्त्र पहनने योग्य रह सकें। दक्षिणी अफ्रीका में खालों के बने कपड़ों का बहुत चलन है। उत्तरी अफ्रीका तथा समुद्री तट के पास के प्रान्तों में सूत के बुने हुए कपड़े व्यवहार में लाये जाते हैं। विषुवत् रेखा के पार्श्ववर्त्ती प्रदेशों में रहनेवाली जातियाँ पेड़ों की रेशेदार छालों, जड़ों और घास के बने कपड़े पहनती हैं। प्रायः अंजीर की छाल को कूटकर वे नरम तथा लोचदार बना लेते हैं और उसके वस्त्र बनाकर पहनते हैं। यूगान्दा प्रान्त तथा उसके आसपास के इलाकों में ऐसे कपड़ों का काफी चलन है।

वस्त्रों की ही भाँति नीग्रो जातियों में आभूषण भी तरह-तरह के पहने जाते हैं। अधिकतर लोहे या पीतल के मोटे-मोटे कड़े, बाजूबन्द, छल्ले आदि बालियाँ पहनने का रिवाज है। हाथ-पैर, कान-नाक आदि सभी इन्हीं आभूषणों से लदे रहते हैं। तार को पीट-पीटकर बनाए गए पीतल के छोटे-छोटे दाने और कौड़ियाँ खाल के वस्त्रों तथा पेटियों पर सी ली जाती हैं और उन्हीं की झालर लगा ली जाती है। कुछ जातियों में भुजाओं के ऊपर हाथीदाँत के कड़े पहने जाते हैं। इन लोगों की टोपियाँ पक्षियों के परों तथा रोएँदार जानवरों की खालों की बनती है, जिन्हें सैनिक या लड़ाकू जातियों के वीर ही अधिकतर धारण करते हैं। इनके धर्म-पुरोहित, स्याने, ओझा और जादूगर लोगों की पोशाक बड़ी विचित्र होती है और वे लोग तरह-तरह की भयानक और घृणास्पद वस्तुएँ आभूषणों की जगह पर पहने रहते हैं। प्रायः बड़ी-बड़ी अलभ्य वस्तुएँ उनके तस्मों में टँकी रहती हैं, जैसे पेड़ों की जड़ें, मुर्दों की हड्डियाँ, खाली कारतूस, सीसे की गोलियाँ, घोंघे-सीप, आदि, ताकि अपनी जातिवालों में उनकी विशेषता प्रकट होती रहे।

केनया प्रान्त की एक नीग्रो युवती

नीग्रो लोगों में तरह-तरह के रंगों से गोदना भी गोदा जाता है और बड़ी विचित्र आकृतियाँ शरीर के अंग-प्रत्यंग में अंकित की जाती है। इसके अतिरिक्त वे बदन पर घाव करके उसे दागते भी हैं, जिससे उस स्थान की चमड़ी उभर आती है। बार-बार ऐसा करने से उनके शरीर पर मनोनीत चिन्ह बन जाते हैं, जिन्हें वे सौन्दर्यवर्धन का साधन समझते हैं। इन घावों में रंग भरते रहने के कारण नीग्रो लोगों का शरीर भाँति-भाँति की आकृतियों का एक खासा एलबम बन जाता है! ये आकृतियाँ प्रायः रेखाचित्रों के रूप में होती हैं, और कभी-कभी उनमें बड़ा कलापूर्ण चित्रण किया रहता है। कुछ जातियों में इस प्रकार का गोदना केवल जाति या वर्ग का चिन्ह मात्र समझा जाता है, किन्तु

अन्य जातियाँ उसे शृंगार का साधन भी समझती हैं, जो उनके मत में व्यक्तिगत सौन्दर्य बढ़ाने का सर्वोत्तम उपचार है। कानों की लौर तथा होठ बहुत बढ़ाये हुए रखने का भी कहीं-कहीं रिवाज है और उनमें छेद करने के बाद लकड़ी की छोटी-बड़ी फिरकियाँ डाल दी जाती हैं, जिनका आकार क्रमशः बढ़ाया जाता है। दाँतों को रेतकर नुकीला बनाने की भी इनमें प्रथा है। कहीं-कहीं सामने के दो-चार दाँत उखाड़ डालने का भी चलन है। ये बातें व्यक्तिगत सौन्दर्य की कसौटी समझी जाती हैं। ऐसे कष्टप्रद उपायों का अवलम्बन करने को सभी सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं।

अस्त्र-शस्त्र

नीग्रो लोगों का मुख्य शस्त्र होता है भाला या बरछा। जम्बेसी प्रदेशवाले 'असेगाई' नाम का एक हल्का खाँचेदार फलवाला छोटा बरछा प्रयोग में लाते हैं, जो फेंककर मारा जाता है। मसाई जाति के लोग बहुत वजनी, लम्बे फल का दोधारा बरछा, जो भोंकने या छेदने के काम आता है, काम में लेते हैं। प्रायः सभी जातियों में धनुष-बाण का व्यवहार प्रचलित है। ये लोग बाणों को अक्सर जहर से बुझाते हैं, जो कुछ पौधों की पत्तियों तथा जड़ों के रस से तैयार किया जाता है। गदा और मुग्दरनुमा मोटे डंडे भी युद्ध, सार्वजनिक प्राणदंड, तथा शिकार के समय काम में लाये जाते हैं। ये प्रायः लकड़ी, पत्थर या लोहे के बनते हैं। कहीं-कहीं हड्डियों के भी बनाये जाते हैं।

झोपड़े और मचान

नीग्रो जातिवाले रहने के लिए पेड़ों की झुकी हुई डालियों और लट्ठों के झोपड़े बनाते हैं, जिनके ऊपर वे घास-फूस या पत्तियों की छतें डालते हैं। उनकी दीवारें भी इन्हीं की बनती हैं। कहीं-कहीं दीवारें बनाई ही नहीं जातीं और केवल छप्परों के नीचे ही लोग रहते हैं। ये झोपड़े प्रायः बहुत छोटे होते हैं, किन्तु जाति के सरदारों तथा मुखिया लोगों के घर औरों की अपेक्षा सुन्दर और मजबूत होने के अतिरिक्ति बहुत बड़े भी बनते हैं। साधारणतया झोपड़ों की बनावट मधु-मक्खी के छत्तों की तरह होती है, किन्तु कहीं-कहीं वे लम्बे, चौकोर तथा अंडाकार भी बनाए जाते हैं। खाना-बदोश जाति के नीग्रो लोग नरकुल तथा काँस के परदों से लट्ठों के ऊपर अस्थायी झोपड़े बना लेते हैं और उनके चारों ओर जानवरों की खालें लपेट लेते हैं। जिन स्थानों में नीग्रो अन्य बाहरी जातियों के सम्पर्क में आ चुके हैं वहाँ वे पत्थर के मकान भी बनाने लगे हैं, किन्तु अधिकांश लोग अभी झोपड़ों में ही रहते हैं। जहाँ दलदल और कीचड़ की जमीन मिलती है, वहाँ दीमक से बचने के लिए ऊँचे-ऊँचे लट्ठों के मचान बाँधकर उन पर झोपड़े बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं एक ही लट्ठे के ऊपर घोंसलों की तरह छोटी-छोटी घास-फूसकी गुमटियाँ बनाई जाती हैं। ये गुमटियाँ गोलाकार बनती हैं। पूर्वी अफ्रीका तथा गिनी प्रदेश के नीग्रो चौकोर या वर्गाकार मिट्टी के घर भी बनाने लगे हैं।

कांगो प्रदेश का एक नीग्रो योद्धा

आहार

इन लोगों का मुख्य भोजन है अनाज या साग-पात। ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, कद्दू, शकरकंद, लौकियाँ और मटर इनके आहार में मुख्य स्थान पाते हैं। कुछ जातियाँ जंगली फलियों और केलों को खाकर ही अपनी भूख मिटाती हैं। कुछ लोग, जो समुद्री किनारों पर रहते हैं, नारियल को ही अपना मुख्य खाद्य पदार्थ बनाए हुए हैं। नीग्रो लोगों की अनेकों जातियाँ पशु पालती हैं और उन्हीं से उनकी जीविका चलती है। भेड़ों के झुंड-के-झुंड उनके यहाँ पले रहते हैं, जिनका वे दूध पीते और मांस खाते हैं। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जिनमें निरामिष भोजन का कुछ व्यवहार धार्मिक रूप से वर्जित है। नदियों के आस-पास रहनेवाले लोग मछलियाँ मारते हैं और यही उनका मुख्य आहार है। ऐसी भी जातियाँ हैं, जिनमें मछलियों के मांस का व्यवहार करना जातीय दुर्गुण समझा जाता है। नर-मांस खाने की प्रथा बहुत दिनों तक नीग्रो जाति में प्रचलित रही, किन्तु धीरे-धीरे उसका ह्रास होता जा रहा है। छिपे तौर पर अभी

भी उनमें कहीं-कहीं नरमांस खाने का चलन है। कांगो और ओगावा की तराइयों में रहनेवाले नीग्रो ही आजकल नर-मांस खानेवाले समझे जाते हैं। किन्तु औषधि या देवता के प्रसाद के रूप में अफ्रीका की प्रायः सभी नीग्रो जातियाँ नर-मांस खाना बुरा नहीं समझतीं, यद्यपि वे लुक-छिपकर ही ऐसा करती हैं। नर-मांस खाने का चलन वास्तव में उनकी प्राचीन रूढ़ियों और धार्मिक संस्कारों का ही परिणाम है, जिसे छोड़ते हुए ये लोग आजकल भी घबराते हैं। मनुष्य की जाँघों का मांस खाने से वीर बन सकते हैं, ऐसी नीग्रो लोगों की पुराने जमाने में धारणा थी। इसीलिए किसी वीर शत्रु को मारकर उसका हृदय और कलेजा भूनकर खाने की उनमें प्रथा थी। ऐसा करने से मृत व्यक्ति जैसा साहस और शौर्य आ जाना सम्भव समझा जाता था।

समाज-संगठन

नीग्रो जातियों का सामाजिक संगठन प्राचीन प्रणाली पर ही अवलम्बित है, जिसके अनुसार घर का बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति ही परिवार विशेष का शासक समझा जाता है। प्रायः लोग स्वतंत्र परिवारों की बस्तियों के रूप में रहते हैं। प्रत्येक बस्ती या परिवार का एक मुखिया होता है, जो आयु के अनुसार ही चुना जाता है। इनमें बड़े-बूढ़ों का ही अधिकार सर्वोपरि मान्य समझा जाता है। ऐसे कुछ गाँवों के बड़े-बूढ़े मिलकर एक सम्मिलित समिति भी बनाते हैं, या अपना एक मुखिया चुन लेते हैं जो उन पर शासन करता है। ऐसे ही कई मुखिया लोग मिलकर अपना एक प्रधान या सरदार चुन लेते हैं, जिसके अधिकार को सभी मानते हैं। इस प्रधान या सरदार को वे राजा की तरह मानते हैं। उसकी शासन-पद्धति या तो उसकी इच्छानुसार ही बनाई जाती है या मुखिया लोगों की समिति के परामर्श से वह अपनी हुकूमत चलाता है। प्रत्येक दशा में ऐसी शासन-पद्धति दासत्व-प्रथा से मुक्त नहीं होती और सभी जातियों में क्रीतदास पाये जाते हैं, जो तरह-तरह के सेवा-कार्य करते हैं।

नीग्रो जातियों में दो मुख्य श्रेणी के लोग हैं। एक तो वे जो खेती-बारी करते हैं, दूसरे वे जो मुख्यतः सैनिक होते हैं। उनकी शासन-योजना में भी यही दो भिन्न वर्ग माने जाते हैं। नीग्रो लोग बड़े परिश्रमी होते हैं और शारीरिक श्रम से कभी थकते नहीं। इच्छा होने पर वे कठिन-से-कठिन काम कर डालते हैं। प्रायः वे स्वभाव के लालची होते हैं, किन्तु अवसर आने पर असीम उदारता का भी परिचय देने से पीछे पैर नहीं हटाते। उनकी स्वार्थपरायणता प्रसिद्ध है, किन्तु स्वामिभक्ति तथा सेवा-कार्य में अपने प्राणों का बलिदान देने में अन्य जाति के लोग उनकी समानता नहीं कर सकते। स्वभावतः वे बड़े वीर सैनिक होते हैं, किन्तु शीघ्र ही घबड़ा भी जाते हैं और जरा-सी हार होने पर भाग खड़े होते हैं। वे दयावान और कोमल प्रकृति के होते हैं, किन्तु उत्तेजित होने पर उनमें अमानुषिक निर्दयता आ जाती है और वे भयानक से भयानक कार्य कर डालने में भी संकोच नहीं करते। नीग्रो लोगों के उद्योग-धन्धे पुराने ढंग के ही पाये जाते हैं और नई सभ्यता का उनमें अभी पर्याप्त विकास नहीं हो सका है। कृषि-कार्य में भी वे बहुत पिछड़े हुए हैं। खेती के लिए झाड़ी और जंगली पौधों को आग से जलाकर वे जमीन साफ करते हैं। वे जमीन में खाद देना जानते ही नहीं। लोहे के नुकीले औजारों या डंडों से खोदकर जमीन को वे वैसी ही छोड़ देते हैं। उसे पानी से सींचना भी वे नहीं जानते। उनकी कुछ ही जातियाँ ऐसी हैं, जो कपड़े बुनना जानती हैं। नदियों की तराइयों से खोद-खोदकर वे कच्चा लोहा निकालते हैं और साधारण भट्ठियों में गलाकर उसे साफ करते हैं। खालों को पकाकर चमड़ा बनाना उनको नहीं
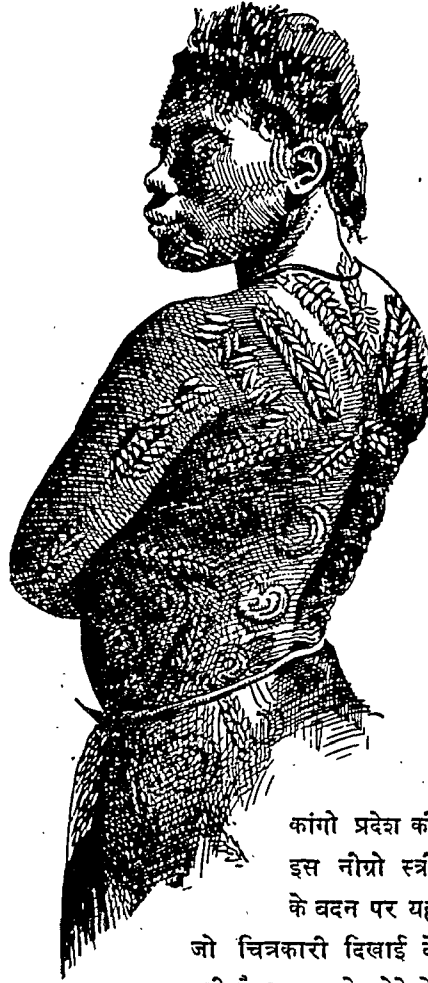
कांगो प्रदेश की इस नीग्रो स्त्री के बदन पर यह जो चित्रकारी दिखाई दे रही है, वह जलते लोहे से दागकर तथा घाव पैदा करके की गई है !

आता—केवल वही जातियाँ जो बाहरी सभ्य जातियों के सम्पर्क में आ चुकी हैं, पक्का चमड़ा बना लेती हैं। उनके बनाए हुए मिट्टी के बर्त्तन भी बहुत भद्दे होते हैं। वे चाकुओं से लकड़ी पर नक्काशी कर लेते हैं, किन्तु वह भी बहुत साधारण ढंग की ही होती है। कहीं-कहीं नक्काशी का काम बहुत अच्छा बनता है, किन्तु उस पर अन्य जातियों की कला की छाप स्पष्ट जान पड़ती है।

धार्मिक विश्वास

नीग्रो लोगों का धर्म एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। सामान्यतः सभी नीग्रो एक सर्वोपरि दैवी शक्ति को मानते हैं, जिसके विषय में उनके विचार उलझे हुए तथा अविकसित हैं। वे वर्षा, तूफान तथा अन्य प्राकृतिक कार्यों के अधिष्ठाता देवताओं का अस्तित्व भी मानते हैं, जिनके लिए उन्होंने अपनी भाषा में अलग-अलग नाम रख छोड़े हैं। किसी भी असाधारण घटना का कारण कोई-न-कोई देवता ही माना जाता है। सभी नीग्रो भूत, प्रेत तथा आत्माओं में विश्वास रखते हैं और उनकी संख्या अगणित समझते हैं। प्रत्येक अवांछित घटना को वे किसी-न-किसी भूत-प्रेत का प्रकोप मानते हैं। उनकी मूर्ति-पूजा प्रकृति-पूजा का ही एक रूप कहा जा सकता है, जो परिवर्तित होकर साधारणतया जड़ वस्तुओं की पूजा के रूप में बदल गया है। उन्हीं जड़ वस्तुओं में वे भूत-प्रेतों तथा आत्माओं का अस्तित्व मानकर यह समझते हैं कि जो उन जड़ वस्तुओं का स्वामी है, उसका भला-बुरा कुछ अदृश्य शक्तियों की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। विभिन्न जातियों में ऐसी पूजा का कम या अधिक प्रभाव देखा जाता है। पूर्वी अफ्रीका में लोग इन बातों में कम विश्वास करते हैं। किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में ठीक उसका उल्टा है। पुरोहितों, स्यानों और जादूगरों की प्रधानता सर्वत्र पाई जाती है और वे इन लोगों को खूब ठगते हैं। तरह-तरह के ढोंग रचकर, जादू-टोने और भूत-प्रेतों का आवेश बतलाकर वे अपनी जीविका चलाते हैं और धर्मान्धता के उपासक नीग्रो लोग उनकी आज्ञा को देववाक्य समझकर उसका अक्षरशः पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठानों की योजना की जाती है, जिसमें पशुबलि के अतिरिक्त कभी-कभी नरबलि भी चढ़ा दी जाती है! भूत-प्रेतों और देवी-देवताओं के रूठने पर उनके मनाने के लिए महीनों धार्मिक कृत्य तथा उपासना-पूजा चलती रहती है। इतना ही नहीं, नीग्रो लोगों के शासन-विधान में न्याय करने में भी भूत-प्रेतों की प्रधानता स्वीकार की जाती है। अभियुक्तों के दोषी-निर्दोषी होने का निर्णय शारीरिक कष्ट देकर या जहर पिलाकर किया जाता है। ऐसी परीक्षा का अवसर तब आता है, जब पंचायत के लोग तथा अधिकारी वर्ग किसी अभियोग का फैसला करने में असमर्थ होकर भूत-प्रेतों के हाथों में मामला सौंप देते हैं। तब प्राकृतिक पदार्थों के जरिए निर्णय प्राप्त किया जाता है, जो सर्वमान्य होता है।

सूदान-निवासी फजी-वजी जाति का एक योद्धा

अफ्रीका के बहुतेरे नीग्रो विदेशियों के सम्पर्क में आ जाने के बाद से सभ्यता की ओर तेजी से अग्रसर हो रहे हैं और दिनोंदिन उन्नति कर रहे हैं। उनमें बहुतेरे ऊँची शिक्षा भी प्राप्त करने में सफल हुए हैं। अफ्रीका के अलावा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका तथा पश्चिमी द्वीपों में भी काफी तादाद में दे

बसे हुए हैं। इनके पूर्वज किसी जमाने में गुलाम बनाकर गोरों द्वारा अफ्रीका से अमेरिका ले जाये गए थे। पर अमेरिका में गुलामी प्रथा का अंत होने के बाद नीग्रो जातिवालों ने वहाँ बड़ी उन्नति की और आज तो ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें वे गौरवर्णवालों के साथ बराबर कदम बढ़ाते हुए न चल रहे हों! उनके बड़े-बड़े विद्यालय स्थापित हो चुके हैं और कई अखबार निकलते हैं। एकाध द्वीप में तो वही स्वयं शासन भी करते हैं। स्वतः अफ्रीका में भी अब 'घाना' नामक उनका एक स्वतंत्र प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित है।

दक्षिणी अफ्रीका के जुलू

सभ्यता की दुनिया में बसनेवाला मानव आज कृत्रिमता का जीवन अपनाकर एक यन्त्र की भाँति अपनी गति-विधि में भूला-सा जा रहा है और उसे क्षण भर के लिए भी शान्ति का अनुभव नहीं होता। वह सुख की कल्पना - मात्र करते हुए अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर जाता है। परन्तु दूसरी ओर प्रकृति के आश्रय में रहकर, भूमण्डल के सुदूर कोनों में जीवनयापन करनेवाले मानव-जाति के कुछ ऐसे इनेगिने प्रतिनिधि भी वर्त्तमान हैं, जो आधुनिक सभ्यता के इस अभिशाप से अधिकांश में बचे हुए हैं और पूर्णतया प्रकृति के आगे आत्म-समर्पण करते हुए सुख और शान्ति का अनुभव करते देखे जाते हैं। उनकी आवश्यकताएँ न्यून हैं, उनकी इच्छाओं की एक सीमा है और उनके आदर्शों की भी एक परिधि है। उनके जीवन में संतोष की मात्रा अधिक है, इसीलिए उन्हें शा है। हमारी दृष्टि में वे असभ्य और असंस्कृत भले ही हों, किंतु वास्तविकता के नाते वे सुखी अवश्य कहे जा सकते हैं, यद्यपि उनके जीवन में भी संघर्ष की मात्रा काफी है—लगभग उतनी ही जितनी कि सभ्य जगत् के मनुष्यों के जीवन में!

जुलू लड़के मचान पर चढ़कर खेत की रखवाली कर रहे हैं।

इस स्तंभ के विगत लेखों में हम आपको संसार के विभिन्न भूभागों में बसनेवाले इन आदिम मानवों के कुछ प्रमुख प्रतिनिधियों—जैसे नीग्रो, ऑस्ट्रेलियन, पापुआन, पिगमी, मैलानेशियन आदि—का परिचय करा चुके हैं। अब आइए, प्रस्तुत लेख में इन्हीं की जोड़ के एक और मानव-समूह से परिचित करने के लिए आपको अफ्रीका के सुदूर दक्षिणी प्रदेश में ले चलें। वस्तुतः यह दीर्घकाय महाद्वीप संसार के आदिम निवासियों
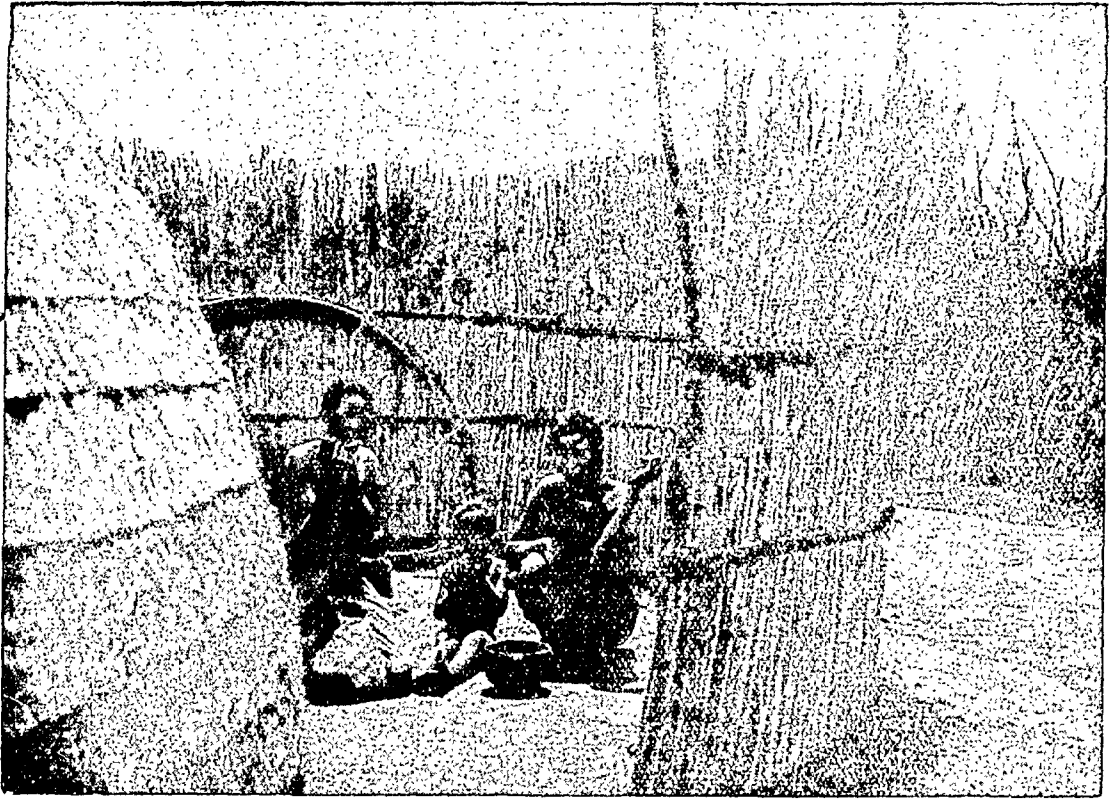
जुलू बस्ती या 'क्राल' के एक झोंपड़े का दृश्य

जुलू स्त्रियाँ खेतों में दिन भर परिश्रम करने के बाद शाम को वापस घर लौट रही हैं।

की एक अन्यतम क्रीड़ाभूमि कहा जा सकता है, जहाँ अभी सभ्यता के प्रभाव से वंचित मानव के अनेक अछूते उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। हाँ, तो हम उषःकालीन सूर्य की प्रथम किरणों के साथ ही वहाँ के एक गाँव में प्रवेश करते है। चारों ओर ढालू छप्परों वाले फूस के झोंपड़े दिखाई दे रहे हैं, जिनके प्रवेश-द्वार अभी खुले नहीं हैं। भीतर चटाइयों पर परिवार के सभी प्राणी निद्रा-देवी की गोद में अभी विश्राम कर रहे होंगे। छप्पर के बाँसों और लट्ठों पर पालतू मुर्गे और मुर्गियाँ भी अभी आराम से ऊँघ रही होंगी। वे भी परिवार के उपयोगी जीव हैं, इसीलिए उनको घर में ही रहने को स्थान दिया जाता है। चारों ओर छोटे-छोटे बगीचों में केले के ऊँचे वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी बाहें फैलाए मौन खड़े हैं। वायु भी इस समय शान्त है। सारे गाँव में जागने के चिन्ह-स्वरूप केवल दो-चार कुत्ते इधर-उधर दबे पाँव फिरते और कूड़े-कचरे के ढेरों को सूँघते दिखाई देते हैं।

तब आकाश की लालिमा धीरे-धीरे स्वर्णिम प्रकाश में बदलने लगती है और गाँव में एक चहल-पहल मालूम होने लगती है। एक मुर्गा अपने स्थान से उड़कर नीचे आता है और धीरे से पंख फड़फड़ाकर वह अपनी सुबह की बाँग देता है। उसकी बोली तत्काल ही दूसरे बाँग देनेवाले मुर्गे-मुर्गियों की बोली में मिल जाती है। तब घोंसलों में से दूसरे पक्षी भी निकलकर उड़ते हुए चारे की खोज में चल पड़ते हैं, और सोनेवालों में जागृति का संचार हो जाता है। कुछ ही क्षणों में सभी झोंपड़ों के द्वार एक-एक करके खुल जाते हैं और गाँव की सयानी लड़कियाँ व बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बाहर निकलने लगती हैं। उनकी दिनचर्य्या का प्रारम्भिक कार्य है आग जलाकर उस पर मिट्टी के बर्तनों में पानी गरम करने को रखना। इसके लिए उसी समय ईंधन की व्यवस्था की जाती है, क्योंकि इन लोगों में पहले से ईंधन इकट्ठा करके रखने का नियम नहीं है। पानी भी उसी समय लाना पड़ता है, जिसका एकमात्र साधन गाँव का सोता या पोखर है। इतनी देर में छोटे लड़के व लड़कियाँ भी जग पड़ती हैं। सबेरे की शीतल वायु में बाहर निकलकर वे बच्चे जम्हाई लेते, अँगड़ाते और सर्दी से कुछ काँपते हुए से दिखाई देने लगते हैं। अन्य देशों की भाँति अफ्रीका के इस प्रदेश में भी माताएँ इस समय अपने काहिल बच्चों को डाँटती-फटकारती और काम करने को प्रेरित करती दिखाई देती हैं।

इसके बाद कपड़े पहनने की बारी आती है। अफ्रीका में अनेक जातियों के लोग एक ही पोशाक दिन-रात पहने रहते हैं—छोटे लड़के और लड़कियाँ तो थोड़ी-सी पोत की मालाएँ और कपड़े का एक टुकड़ा मात्र बदन में लपेटे फिरा करते हैं। उनके धूमिल-वर्ण शरीर खजूर का तेल मलने के कारण चमकने लगते हैं। उन बच्चों की माताओं और सयानी बहनों को देखिए—वे एक प्रकार के ऐसे वस्त्र धारण किए हुए हैं, जिन पर बेल-बूटे और रंगीन आकृतियाँ बनी हुई हैं। ये उपवस्त्र भुजाओं के नीचे से खींचकर बाँधे जाते हैं, ताकि घरेलू काम-धन्धा करते समय अड़चन न पड़े। पुरुष प्रायः तहमत या लुंगी बाँधे फिरा करते हैं और उनके एक कंधे पर बकरी, हिरन या तेंदुए की खाल, जनेऊ की भाँति, पड़ी दिखाई देती है। वस्त्र धारण करने में तो इन लोगों को देर नहीं लगती, किन्तु केश सँवारने का कार्य इनके लिए एक बड़ी मेहनत का काम होता है।

पुरुष प्रायः सभी देर में उठने के आदी होते हैं। पर अब तो काफी दिन चढ़ आया है, इसलिए वे भी झोंपड़ों से बाहर निकलकर धूप ले रहे हैं और दिनभर के काम की योजना बना रहे हैं। सम्भव है कि किसी पड़ोसी का घर गिर पड़ा हो, जैसा कि हल्के बने हुए झोंपड़ों का प्रायः हाल हुआ करता है, अतएव नया झोंपड़ा तैयार करना होगा। अथवा गाँव में सूचना मिली हो कि पास के हरे-भरे मैदानों में हिरनों का कोई झुंड चरता दिखाई पड़ा है। अथवा अनाज बोने के लिए नई भूमि साफ करके जोतनी हो, क्योंकि वह अक्सर कीड़े-मकोड़ों की अधिकता और जहरीले पौधों की प्राकृतिक पैदावार के कारण काम लायक नहीं रहती। यदि घर बनाने, शिकार करने, या खेत जोतने-बोने का कार्य न हो, तो चटाइयाँ बुनने और भेड़-बकरियों या गाय-बैलों की देखभाल करने का काम तो है ही। इन कामों के अतिरिक्त पेड़ों को काटकर उनसे तख्ते छाँटने का काम भी तो है, जिनसे तिपाइयाँ, मोढ़े, तकिए, चौकियाँ, घर की दैनिक व्यवहार की चीजें या बगीचे में काम करने के औजार बनाए जा सकते हैं।

लीजिए, भोजन तैयार हो गया। सबसे पहले परिवार के मर्द खाना खाने बैठ गए। यही यहाँ का नियम है। बाद में औरों की बारी आएगी। सयाने लड़के और युवक सबसे पृथक् अपना एक अलग झोंपड़ा बनाकर रहते हैं। वहीं वे खाना पकाना और गृहस्थी का अपना कार्य करना सीखते हैं। प्रायः उनकी माताएँ कोई खास सुस्वादु पदार्थ पकाकर उनको दे आती हैं, जो उनको प्रिय होता है और उसे वे सब मिलकर थोड़ा-थोड़ा खाते हैं।

प्रातःकाल का नाश्ता, जिसे माताएँ और स्त्रियाँ पकाती हैं, साधारणतया आटे का एक प्रकार का हलुआ होता है, जो बहुत कड़ा होता है और प्रायः गरम राख में भुने हुए केलों के साथ खाया जाता है। उसे खाने में चम्मच या अन्य किसी साधन की अपेक्षा हाथों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। परिवार के अल्प-वयस्क सदस्य बारी-बारी से हलुए के बर्तन की खुर्चन पाते हैं, जो पेंदे में चिपटी रह जाती है और स्वादिष्ट होने के कारण जिसे बच्चे बड़े चाव से खाते हैं।

इसके बाद दिनचर्य्या प्रारम्भ होती है। परिवार के बड़े और सयाने व्यक्ति कुल्हाड़ियाँ, भाले, बर्छे व धनुष-बाण लेकर बाहर इकट्ठा होते हैं। कोई-कोई कुदाल या फावड़ा भी लिए रहते हैं। उनके ये औजार भद्दे ढंग के बने होते हैं, जिनसे वे ही बखूबी काम लेना जानते हैं। अपने दैनिक कार्य के अनुसार ही प्रत्येक पुरुष औजार साथ ले लेता है।

माताएँ अपने शिशुओं को, जो स्वयं पैरों चलने योग्य नहीं होते, कम्बल या चादरें से पीठ पर बाँध लेती हैं और तब वे गाँव के बगीचों व खेतों में काम करने निकल जाती हैं, क्योंकि अफ्रीका में खेती करना स्त्रियों का ही काम समझा जाता है। यदि खेत उनके घरों के निकट होते हैं, तब तो काम करना कठिन नहीं होता। परन्तु प्रायः जब खेती के उपयुक्त भूमि पास-पड़ोस में नहीं मिलती तब चार-पाँच मील रोज आना-जाना उनके दैनिक श्रम को और भी ज्यादा बढ़ा देता है।

जब मर्द लोग खेतों को साफ करके ठीक तरह से खोद देते हैं, तब औरतें उनमें ज्वार, मक्का आदि अनाज, साग-सब्जी, मीठे आलू, भाँति-भाँति की फलियाँ आदि बो देती हैं। मूँगफली, केला, ईख, रेंडी आदि के पौधे भी वे ही लगाती हैं। साधारणतया स्त्रियाँ तीसरे पहर तक दिन में काम करती हैं। फिर वे साँझ के भोजन के लिए मौसम की साग-सब्जी और फल आदि तोड़ कर वापस घर लौटती हैं।

झाड़ियों और घने जंगलों के बीच से निकलती हुई टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी की राह वे धीरे-धीरे पाँव उठाती हुई बस्ती की ओर चली आ रही हैं। चलते समय उनका शरीर बिल्कुल सीधा रहता है, क्योंकि बोझ लाद कर चलने का वैसा अभ्यास उनको प्रारम्भ से ही हो जाता है। बोझ का भार चाहे जितना हो, और सारे दिन धूप में झुके-झुके खेतों में काम करते रहने से वे चाहे जितनी थक चुकी हों, किन्तु उनकी चाल में कोई अन्तर नहीं आता। उनकी अनुपस्थिति में गाँव की देखभाल का उत्तरदायित्व उनकी सयानी लड़कियों और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों व मर्दों पर रहता है।

अफ्रीका के इन निवासियों का जीवन कर्मशीलता का एक अनुपम उदाहरण है। इनके लड़के-लड़की भी कार्य में सदैव व्यस्त रहते हैं। मवेशियों को चराना और उनकी देख-भाल रखना, खेतों की पकी फसलों को पक्षियों से बचाना, चहों, चिड़ियों तथा अन्य छोटे-छोटे जानवरों को, जो खेतों को हानि पहुँचाया करते हैं, जाल में पकड़ना और उनके शिकार के लिए तीर बनाना, यह सब लड़कों का काम होता है। खाने के विषय में केवल अपने ही भोजन का ध्यान न रखना और पेटू न बनना उनको प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है और उनके अभिभावक इस विषय में बड़े सतर्क रहते हैं। शिकार करके जो चिड़ियाँ आदि वे मार लाते हैं, उनको घर की बटलोई में साथ ही पका लेते हैं, जिसमें परिवार के सभी व्यक्ति उनका स्वाद ले सकें।

जितनी देर तक छोटे लड़के-लड़की बाहर रहें, उतनी देर में घर की सयानी लड़कियों ने आँगन बुहार डाला, और चारपाइयाँ झाड़-पोंछ डालीं। साथ ही वे ईंधन और पानी भी ले आईं और लकड़ी की ओखली में मूसल से हलुए के लिए अनाज भी कूट-पीस कर तैयार कर लिया। तब वे सब मिल कर नदी पर पानी लेने गईं। तब वे अनाज कूटती-पीसती रहीं, उस समय आपस में खूब हँसी-दिल्लगी और चुहल करती रहीं।

तब आया रात के भोजन का समय। माँ-बाप, घर के सयाने व्यक्ति और बच्चे सब कोई इकट्ठा हो गए। हलुए का मिट्टी का पात्र ऊपर तक भरा हुआ उनके आगे रख दिया गया। साथ ही जो भी भोजन-सामग्री उस दिन रसोई में तैयार हुई, वह भी लाई गई—उबली हुई साग-सब्जी, शोरवेदार तरकारियाँ, भुनी और पत्तों में लपेट कर भाप में पकाई गई मछलियाँ अथवा मांस की तश्तरी सभी सामने रखी गईं। जब सब लोग भोजन कर चुके और बची-खुची जूठन मुर्गे-मुर्गियों व पालतू कुत्तों के आगे फेंक दी गई, तब खेल-कूद की बारी आई। लड़के-लड़की "मुर्गी और जंगली बिल्ली", एक प्रकार की "मेंढक-दौड़", गेंद और ताली बजाने के खेल, आँखमिचौनी आदि खेलने लगे और परिवार के सयाने व्यक्तियों ने मिल-जुलकर नाचना प्रारम्भ किया। जब बादल नहीं रहते और चाँदनी फैली रहती है, तब ये लोग बड़ी देर तक नाचा करते हैं, यहाँ तक कि नाचते-नाचते बिल्कुल थक कर गिर पड़ते हैं। जब तक खेल-कूद और नाच से वे बिल्कुल श्रमित नहीं

हो जाते, तब बच्चों और सयानों में से कोई भी बिछौने पर नहीं लेटता। अन्त में अधिक रात बीत जाने पर धीरे-धीरे गाँव के झोंपड़ों के द्वार एक-एक करके बंद होने लगते हैं और बस्ती के लोग निद्रा देवी की गोद में शान्ति से विश्राम लेने लगते हैं।

जिस प्रदेश के लोगों की झाँकी हम आपको ऊपर दिखला चुके हैं, उसे अफ्रीका महाद्वीप के मानचित्र में पहचानने का प्रयत्न कीजिए। अफ्रीका का दक्षिणी-पूर्वी भाग तथा "टोगा-लैंड" और नेटाल प्रान्त के बीच में बसा हुआ यह भूभाग "जुलू-लैंड" या जुलू जाति की निवास-भूमि कहा जाता है। यह विस्तृत प्रदेश छोटी-बड़ी अनेक पर्वत-मालाओं तथा निचले पठारों से आवेष्टित है, जो समुद्र-तट तक फैले हुए हैं। यहाँ समुद्री किनारों पर ऊँची-ऊँची रेतीली पहाड़ियाँ और घनी सुविस्तृत झाड़ियाँ दिखाई देती हैं, जिनका मार्ग अत्यन्त दुर्गम और भयावह प्रतीत होता है। प्रायः पाँच सौ फीट की ऊँचाई तक सघन तमावृत वनों के अतिरिक्त और कुछ भी वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रदेश में जलाशयों की कमी नहीं पाई जाती और अनेकों छोटी-बड़ी नदियाँ शाखाओं और उपशाखाओं का विस्तार करती तथा भीषण वेग से प्रवाहित होती हुई तट-प्रदेश को पार कर समुद्र से जा मिलती हैं।

जुलू लोगों के आदि इतिहास के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि अफ्रीका की "काफिर" नामक आदिम जाति की एक शाखा में से उनकी उत्पत्ति हुई है। प्रारम्भ में अबागुनी नाम की एक छोटी-सी जाति थी, जो पास-पड़ोस की अन्य जातियों से लड़ती-भिड़ती, विजय प्राप्त करती और विजितों को अपने में सम्मिलित करती हुई अपना प्रभुत्व बढ़ाती गई। यहाँ तक कि उसका आधिपत्य दक्षिण-पूर्व अफ्रीका के समुद्री भाग से, जो पहले "स्वाजी" जाति के लोगों के अधिकार में था, डेलागोआ की खाड़ी और आधुनिक ब्रिटिश काफ्रेरिआ में "पोण्डो" जाति की आवासभूमि तक स्थापित हो गया। विजय प्राप्त करने के बाद अबागुनी जातिवालों ने अपना प्राचीन नाम, जिससे उनके पड़ोसी आज तक उन्हें सम्बोधित करते हैं, परित्याग करके "जुलू" नाम धारण कर लिया, जिसका अर्थ उनकी भाषा में 'स्वर्ग' होता है। अपने प्रारम्भिक राजाओं में जुलू लोगों को केवल उमालन्देल, उम्धलाना जुलू, उन्तोम्बेला, उको सिंकुलू (महाराजा) अथवा माम्बा (सर्पराज), उमागेबा, उपुंगा, उफैना और सेंजागाकोने के नाम स्मरण हैं, जो एक के पश्चात् एक गद्दी पर बैठे तथा पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि के क्रम से शासन करते रहे। उनमें से अधिकांश लड़ाकू स्वभाव के न थे और शान्ति से मवेशियों का व्यापार करते हुए वे "एमाश्लावातिनी" नामक प्रदेश पर राज्य करते रहे।

सेंजागाकोने का पुत्र चाका, जो जुलू जाति का एक असाधारण शासक था, जुलू साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है। अपनी जाति का संगठन करके, उसे एकता के सूत्र में बाँध कर, उसने प्रत्येक जुलू को युद्धप्रिय और रण-कौशल में पटु बना दिया। साम्राज्य-विस्तार की भावना से प्रेरित होकर चाका ने जुलू लोगों में वीरता का मंत्र फूँक दिया और उनको शक्ति का मार्ग दिखलाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में जुलू लोगों ने दूर-दूर के इलाकों तक छापा मारकर उनको रौंद डाला और वहाँ अपनी विजय-पताका फहरा दी। चाका की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अफ्रीका के दक्षिणी प्रदेश में जुलू जाति का आतंक छा गया और वह अजेय हो उठी। फलतः अनेकों छोटी-बड़ी जातियों ने जुलू लोगों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और अपने को उनमें सम्मिलित कर लिया। जो कोई भी उनसे लड़े और सामने आए, उनको सर्वनाश ही दिखाई दिया और अंत में विजेताओं की दासता अंगीकार करने को बाध्य होना पड़ा। परिणामतः एक दिन वह आया, जब जुलू जाति अफ्रीका की सबसे शक्तिशाली, दुर्धर्ष, अजेय और महान् सैनिक जाति मानी जाने लगी।

जिस प्रकार हमारे अपने देश के इतिहास में देश, जाति और धर्म पर प्राण न्योछावर करनेवाले राजपूतों की प्राचीन गौरव-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई मिलती हैं, उसी भाँति दक्षिणी अफ्रीका के इतिहास के पृष्ठों पर वहाँ की इस महान् शक्तिशाली और पराक्रमी जुलू जाति के कार्यकलाप और शौर्य्य की कहानी अंकित है। स्वजाति और स्वदेश के नाम पर मर मिटनेवाले प्राचीन जुलू सूरमाओं के नाम इतने अधिक हैं कि गिनाए नहीं जा सकते। सहस्रों की संख्या में उन्होंने अपने प्राणों की आहुतियाँ देकर विदेशियों के आक्रमणों से अपनी भूमि की कितनी ही बार रक्षा की। श्वेतांगों से युद्ध करने में इस जाति के मुट्ठी भर शूरवीरों ने जिस अदम्य साहस, जात्याभिमान और रणकुशलता का परिचय दिया था, उसका उदाहरण संसार के इतिहास में कठिनता से मिल सकता है। नए-नए ढंग के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित श्वेत जातियों की विपुल सेनाएँ जुलू लोगों के बर्छों की मार के आगे त्राहि-त्राहि कर
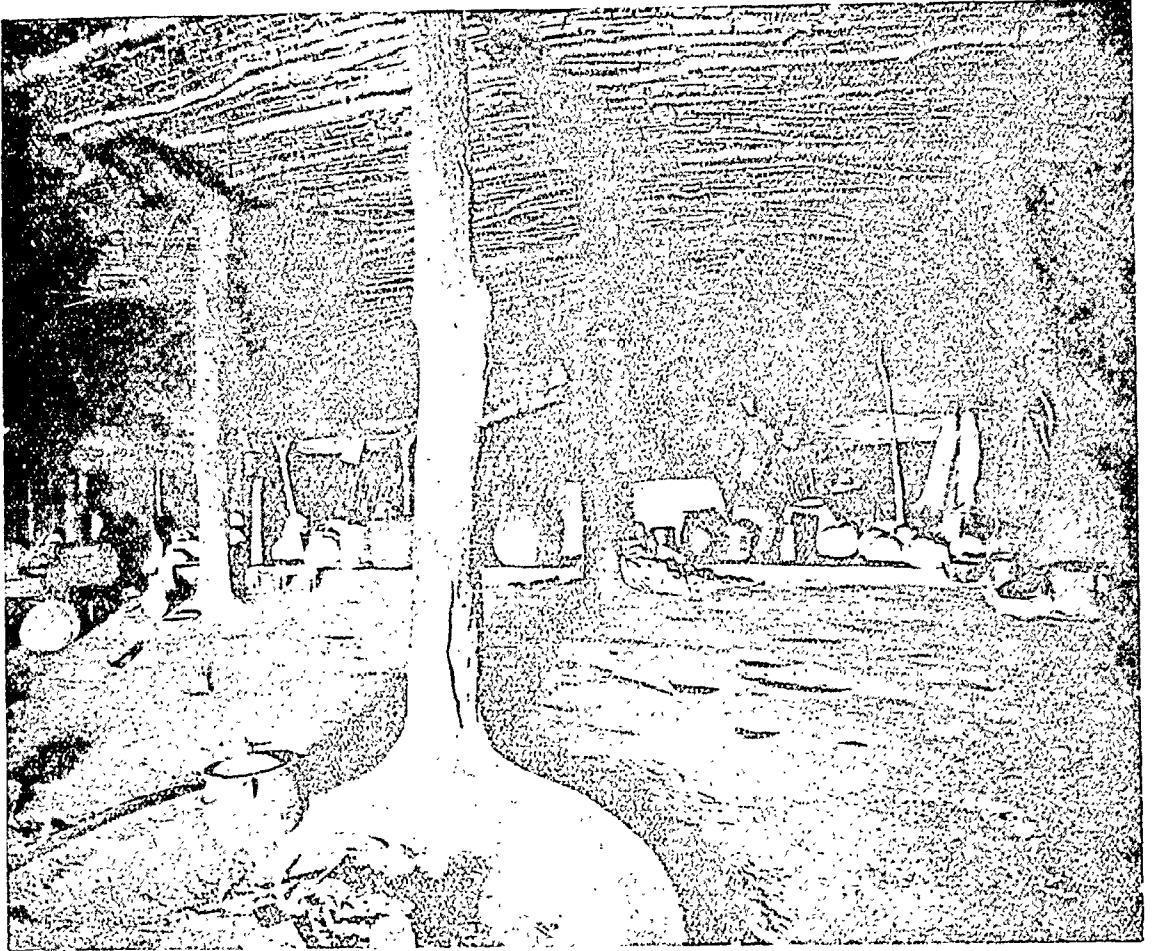
एक जुलू झोंपड़े के भीतर का दृश्य

उठी थीं। शत्रुओं को भी मुक्त कण्ठ से जुलू जाति के इस असीम पराक्रम की सराहना करना पड़ी थी।

यह मानी हुई बात है कि अफ्रीका की नीग्रो जातियों की अपेक्षा जुलू जाति कहीं अधिक सभ्य और ऊँची है। जुलू लोगों की आकृति साधारणतया सौम्य और उनके शरीर का वर्ण मटमैला होता है, जबकि नीग्रो काले होते हैं। उनके केश घुँघराले, कद लम्बा, शरीर की गठन आकर्षक और सुडौल होती है। ईमानदारी और अतिथि-सत्कार के लिए वें विख्यात हैं। उनकी प्रतिभा और बुद्धि तीव्र होती है। स्वभाव से ही वे प्रसन्नचित्त और मिलनसार होते हैं। व्यवहार और बोली में वे अन्य क़ाफिर जातिवालों जैसे ही दिखाई देते हैं। जुलू लोगों में प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति का एक वर्णनात्मक नाम होता है और उनकी भाषा में अलंकारों का बाहुल्य पाया जाता है। उनका कोई लिखित या मौखिक साहित्य नहीं है और न उनमें देवी-देवताओं या प्राचीन योद्धाओं की परम्परागत गाथाएँ ही पाई जाती हैं। इसी कारण चाका के राज्यकाल से लेकर श्वेतांगों से संघर्ष तक ही का उनका इतिहास उपलब्ध है, इसके पहिले का नहीं। उनके धार्मिक संस्कार अन्य अफ्रीका की जातियों के संस्कारों जैसे ही पाए जाते हैं। वे अपने परमशक्तिमान् देवता को "उमकुलुनकुलू" कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी बोली में "बड़े से भी बड़ा" होता है। वे "ईतोंगो" नामक एक महान् सम्राट्, पिता या मानव जाति के स्वामी की उपासना किया करते हैं, जो उनकी धारणा के अनुसार किसी काल में पृथ्वी पर निवास करता था और उसी को वे अपना जातीय पूर्वज मानते हैं। मृत राजाओं और योद्धाओं की आत्माएँ उनके यहाँ देव-रूप मानी जाती हैं तथा सिंह, हाथी आदि बलशाली पशुओं की भी पूजा होती है।

जुलू लोगों के कोई देवालय या सार्वजनिक उपासना-गृह नहीं होते, केवल वर्ष की कुछ ऋतुओं में उनके यहाँ धार्मिक उत्सव अवश्य मनाए जाते हैं, जिनमें राजा ही मुख्य पुरोहित का कार्य सम्पन्न करता है। 'मध्य-ग्रीष्म-

दिवस' पहली जनवरी को प्रति वर्ष पड़ा करता है और तभी वे अपना राष्ट्रीय त्योहार "यू-क्वेचवाना" अर्थात् "ज्वार की फसल के पकने पर ईश्वर को धन्यवाद" देने का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाते हैं। उसी अवसर पर राजा अपनी सेना का निरीक्षण करता है और कुछ ख्याति-प्राप्त टोलियों के सैनिकों को विवाह करने की अनुमति देता है। इसके उपरान्त वह स्वर्गीय पूर्वजों की आत्माओं को संतुष्ट करने के हेतु कुछ धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता है। उन आत्माओं का अस्तित्व सब कालों में सभी जगह अदृश्य रूप में वायु में अथवा सजीव सर्पों के रूप में माना जाता है। इसके बाद युवक लोग एक साँड का बलिदान देते हैं। बलि का साँड बिना किसी शस्त्र की सहायता के ही पकड़ लाना और हाथों से ही उसका वध करना युवकों के लिए अनिवार्य होता है। केवल शारीरिक बल से उसे परास्त करके और गला घोंटकर उसे मार डालने की क्रिया ही बलिदान का प्रमुख अंग मानी जाती है। इस समारोह का अन्त राजा द्वारा एक तूँबा या बड़ा कद्दू तोड़ने के पश्चात् समझा जाता है। इसके बाद जुलू लोग पुराने वर्ष की समाप्ति और नव-वर्ष का आरम्भ हुआ मानते हैं। प्रत्येक त्योहार के अवसर पर सेनाओं की कवायद अवश्य होती है, जो जुलू-राष्ट्र की सैनिक-शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए अनिवार्य समझी जाती है। राजा भिन्न-भिन्न सैनिक दलों का निरीक्षण करके उनके वीरोचित कार्यों की सराहना करता है। उसके आगे वे अपनी कसरतें व क्रीड़ा तथा युद्ध के कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

शिक्षा-दीक्षा और नियमित व्यायाम के अतिरिक्त सैनिकों को व्यवस्थित रखने के लिए जुलू लोग कोई उपाय बाकी नहीं रखते। उनके जातीय अस्त्र-शस्त्रों में भाला या बर्छा ही प्रमुख माना जाता है। प्रारम्भ में वह लम्बा होता था और फेंककर शत्रु को मारने में काम आता था, किन्तु चाका के शासनकाल में वह छोटा बनने लगा, जिसे सैनिक लोग भोंकने या छेदने के काम में लाने लगे। सन् १८७० ई० के पश्चात् तो आग्नेय शस्त्र भी उनको प्राप्त होने लगे और वे उनके व्यवहार में शीघ्र ही दक्ष हो गए। श्वेतांगों से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का यही लाभ उन्होंने समुचित रूप में उठाया। बर्छों के अतिरिक्त आत्मरक्षा के लिए जुलू लोग खूब लम्बी-चौड़ी ढालों का भी व्यवहार करते थे, जिनकी आड़ में उनका समूचा शरीर छिप जाया करता था। ढालें साधारणतया बैलों की खाल को काठ के चौखटों पर मढकर बनाई जाती थीं और उनके बीच में शत्रु को देखने के प्रयोजन से दो छेद रखे जाते थे। ढालों पर भाँति-भाँति की आकृतियाँ भी अनेक रंगों से बनाई जाती थीं। आज भी कहीं-कहीं वनवासी जुलू वही हल्के बर्छे, जिन्हें 'असेगाई' कहा जाता है, और ढालें धारण किए दिखाई देते हैं।

जुलू लोगों की जनसंख्या साधारणतया कई बस्तियों में विभाजित रहती है, जिनको 'क्राल' कहा जाता है। 'क्राल' में एक पूरा परिवार और उसके सम्बन्धी लोग रहा करते हैं, जिनकी गणना एक ही वर्ग में होती है। प्रायः परिवार का कोई बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति 'क्राल' का प्रधान या संरक्षक चुना जाता है, जिसकी आज्ञा परिवार के सभी व्यक्तियों को माननी पड़ती है। वही प्रधान 'क्राल' विशेष का शासक माना जाता है और उसी पर बस्ती के प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक आचरण की जिम्मेदारी रहती है। कभी-कभी एक प्रधान के संरक्षण में कई सरदारों पर एक सामाजिक बस्तियाँ होती हैं। कई प्रधानों पर एक मुखिया या जातीय सरदार रहता है और कई एक क्राल या राजा का शासन माना जाता है। आजकल एक ब्रिटिश कमिश्नर को ही राजा के समस्त अधिकार प्राप्त हैं, जो जुलू लोगों पर शासन करता है। जुलू लोगों के "क्राल" वास्तव में गोलाकार बाड़े के आकार में, बाँस और वृक्षों की टहनियों के ढाँचे खड़े करके पत्तियों और फूस से ढँककर, खूब लम्बे-चौड़े बनाए जाते हैं, जिनके इर्द-गिर्द एक चहारदीवारी या परकोटा रहता है। उस परकोटे के भीतर पालतू पशु रखे जाते हैं। परकोटे और बाड़े की परिधि के बीच में परिवार के लोगों के रहने का स्थान होता है।

सामाजिक आचरण और व्यवहार की दृष्टि से, जैसा हम पहले कह चुके हैं, जुलू लोग अफ्रीका की अन्य आदिम जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य पाए जाते हैं। सच्चरित्रता, आतिथ्य-भाव और सरल स्वभाव उनकी जातीय विशेषता है। प्रारम्भ में वे किसी प्रकार की मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते थे और न उनमें लूटमार, चोरी तथा अन्य बुरे कामों का व्यसन था। जब से वे योरोपीय श्वेत जातियों के सम्पर्क में आए, तभी से उनमें अनेक दुर्गुणों का समावेश होने लगा। नई सभ्यता के संसर्ग के साथ-ही-साथ उनका जातीय पतन आरम्भ हो गया, यहाँ तक कि एक दिन उनको अपनी स्वतंत्रता खोकर दूसरों के आगे सिर झुकाना पड़ा। उन्होंने अपना गौरव ही नहीं खो दिया वरन् धर्म-कर्म, आचार-विचार एवं शिक्षा-दीक्षा सब कुछ गँवाकर विदेशियों के आश्रित बन बैठे।

जुलू लोगों के व्यावहारिक व्यापार कभी-कभी बड़े मनोरंजक होते हैं। उदाहरण के लिए जब वे किसी को हाथ के संकेत से पास बुलाते हैं तो उनके हाथ की हथेली ऊपर रहती है और उँगलियाँ समेटकर उनसे कुछ पकड़ने जैसी क्रिया की जाती है। वह व्यक्ति जिसे बुलाया जा रहा हो, थोड़े फासले पर हुआ तब तो जुलू अपना हाथ खूब ऊँचा करके यही क्रिया सम्पन्न करता है। किसी बात की स्वीकृति देने या 'हाँ' करने में सिर झुकाने के बजाय नीचे से सिर ऊपर उठाया जाता है। हमारे व्यवहार में ठीक इसका उल्टा होता है। किसी विदेशी या सम्माननीय व्यक्ति को जुलू लोग जो सब से बड़ा उपहार देते हैं वह एक गाय होती है, जिसे जंगल से पकड़कर लाने में उनको काफी परिश्रम करना पड़ता है।

जुलू लोगों के धार्मिक विचारों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वास्तव में वे मूर्ति-पूजक हैं। स्वर्गीय आत्माओं, शक्तिमान पशुओं व सर्पों की उपासना उनके आदि-धर्म का एक प्रमुख अंग है। वे काष्ठ-प्रतिमाएँ भी पूजते हैं। उनके देवी-देवता कृपालु होते हुए भी कभी-कभी जब कुपित हो जाते हैं, तो उनकी शान्ति के हेतु अनेक उपचार, पूजा, बलिदान आदि का आयोजन किया जाता है। शत्रुओं से प्रतिशोध लेना वे धार्मिक दृष्टि से अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य मानते हैं। जुलू लोगों के कुछ गाँवों में किसी परिवार के बड़े-बूढ़ों या बच्चे की मृत्यु होने पर उसके रहने के लिए एक साफ-सुथरा नया झोपड़ा तैयार किया जाता है और स्वर्गीय आत्मा के लिए उसमें सुस्वादु भोजन और मदिरा आदि ले जाकर नियमित रूप से रखी जाती है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त दिवंगत आत्मा को उन सब वस्तुओं की आवश्यकता रहती है।

जुलू जातिवाले अपना अपमान या मजाक बनाया जाना कभी सहन नहीं करते और ऐसी परिस्थितियों में वे मरने-मारने को उद्यत हो
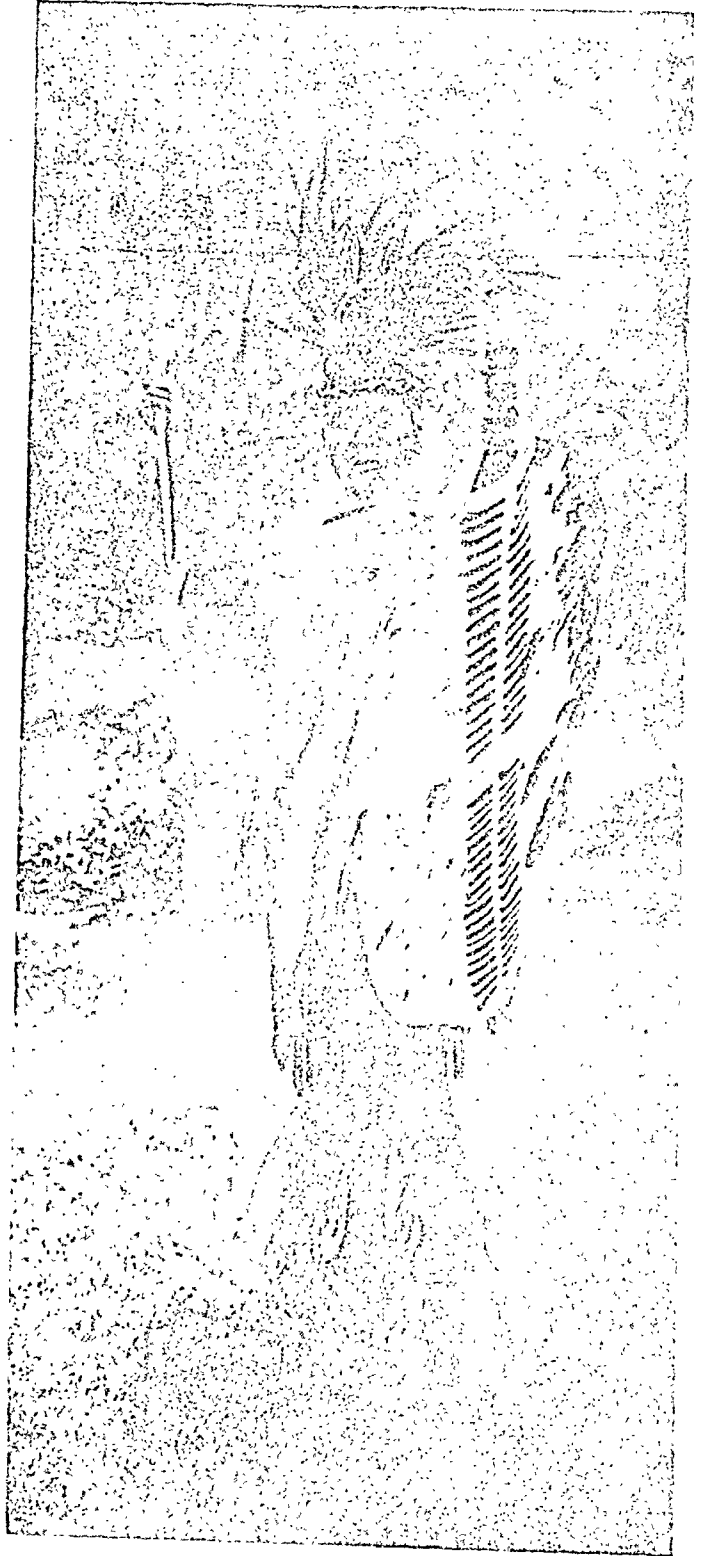
एक जुलू ओझा या 'स्याना'
पुराने जमाने में इन धर्म-पुरोहितों ने अपना बड़ा आतंक जमा रक्खा था।

जाते हैं। दूसरों के साथ वे नम्रता का व्यवहार करते हैं और बदले में वैसा ही व्यवहार पाने को उत्सुक रहते हैं।

जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तो वे अभिवादन के रूप में एक दूसरे के सीने पर हाथ रखकर नीचे को झुकते हैं, फिर भूमि के निकट अपने हाथ ले जाकर ताली बजाते हैं। अपने सरदार या प्रधान के आगे झुककर भूमि चूमना आवश्यक शिष्टाचार समझा जाता है। प्रायः दोनों भुजाएँ नीचे झुकाकर उनके बीच में सिर झुकाते हुए—"ओ अजादला, चिउसा, मारी-आ-ब्वेनो" कहना सम्माननीय व्यक्ति के अभिवादन में पर्याप्त समझा जाता है। जाति के बड़े-बूढ़ों का अभिवादन सर्वत्र किया जाता है। अकारण ही जुलू कभी दगा, विश्वासघात, या रक्तपात नहीं करता। शताब्दियों से अरब लोगों के अत्याचार सहते रहने के कारण अब जुलू लोगों में विदेशियों के प्रति अविश्वास की मात्रा अधिक बढ़ गई है। फिर भी कृपा और उपकार की अनुभूति उनमें पाई जाती है और वे कृतज्ञता-प्रकाशन में कभी पीछे नहीं हटते।

मेहमानों का उचित रूप से आदर-सत्कार करना और मित्रता का निर्वाह वे अच्छी तरह जानते हैं। विदेशियों के जो दल जुलू लोगों की आवासभूमि में अन्वेषण करने गए थे, उनका वक्तव्य है कि इस जाति के लोग, चालाकी या छलकपट से अपने पक्ष में कभी नहीं लाए जा सकते। उनकी मित्रता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके साथ उपकार करना, जिसे पहचानने में वे कभी देर नहीं करते। उपकारी व्यक्ति को सम्मानित करना वे अच्छी तरह जानते हैं। निःस्वार्थ भाव से मिलनेवालों के वे बिना दामों के गुलाम बन जाते हैं और यथाशक्ति उनकी सेवा करते हैं।

जुलू स्वभाव से ही बड़े परिश्रमी होते हैं। घरेलू कामकाज के अतिरिक्त खेती-बारी करने, दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बनाने और लोहे के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने में वे प्रायः व्यस्त दिखाई दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त ताँबे, सींग, हड्डी, हाथीदाँत, पोत और परों के गहने, टोकरियाँ, चटाइयाँ और लकड़ी पर नक्काशी बनाना भी वे अच्छी तरह जानते हैं। पशुओं की खाल से वे अपने पहनने के वस्त्र तैयार कर लेते हैं। ज्वार, बाजरा, मक्का, शकरकंद और तम्बाकू की खेती उनके प्रदेश में अधिक होती है। वहाँ की भूमि में खनिज पदार्थों की कमी नहीं पाई जाती। सोना, ताँबा, लोहा तथा अन्य धातुएँ निकालने के कारखाने विदेशियों ने वहाँ खोल रखे हैं, जिनमें सैकड़ों जुलू जाति के मजदूर काम करते हैं। जुलू लोग अपनी मुख्य सम्पत्ति पालतू मवेशियों को ही समझते हैं। प्रत्येक परिवार के अधिकार में भेड़ों के गल्ले अवश्य होते हैं और उन्हीं की संख्या से परिवार की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जाता है।

विवाह में भी इसी पशु-धन द्वारा जुलू अपनी वधू का मोल चुकाता है। पुरुषों को अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतंत्रता है, यदि वह प्रत्येक का मूल्य, जिसे "यूकुलोबोला" कहते हैं, पूर्ण रूप से चुकाने की सामर्थ्य रखता हो। जिसके पास ढोरों की अधिकता होती है, वह प्रायः कई पत्नियाँ रख लेता है।

अपनी समृद्धि के सूचक इसी पशु-धन को संचय करने के लिए जुलू लोग, पिछली शताब्दी में, अपने पास-पड़ोस की देशी-विदेशी जातियों की बस्तियों पर छापा मारा करते थे और जितने भी पशु हाथ आते उनको पकड़ लाते थे। जातीय नियमानुसार उनके यहाँ प्रत्येक युवक के लिए स्वतंत्र जीवन-निर्वाह के हेतु बहुत-से पशु पालना अनिवार्य होता है। इसीलिए लूट-मार करने की उनको छूट होती है। पर ब्रिटिश शासकों के कारण अब जुलू लोगों का यह उत्पात बन्द हो गया है।

मुख्य पत्नी का ज्येष्ठ पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी माना जाता है। इनमें परिवार की वधुएँ सास-ससुर की उपस्थिति में सामने नहीं आतीं और अपने पति के परिवार के प्रमुख सदस्यों के नाम भूल से भी नहीं लेतीं। उसी भाँति पुरुष भी अपनी सास या पत्नियों की माताओं से पर्दा करते हैं और श्वसुर-परिवार के बड़े-बूढ़ों के नाम जबान पर नहीं लाते।

प्राचीन युग में जुलू जाति के लोगों पर स्यानों या पुरोहितों का बड़ा प्रभुत्व था। उनके कर्म बड़े जघन्य और अमानुषिक होते थे। प्रायः अपराधियों का पता लगाने की चेष्टा में वे कई व्यक्तियों को विष देकर व्यर्थ ही मार डालते थे और लोगों को शारीरिक यंत्रणाएँ देना उनके बाएँ हाथ का काम था। उनके आगे समाज में किसी की कुछ न चलती थी और जाति के लोग उनसे सदा भयभीत रहा करते थे। चाका या तशाका नामक जुलू राजा ने इन दुष्टों के हाथों से प्रजा को बचाने के लिए स्थान-स्थान पर रक्षा-गृह बनवा दिए, जिनमें 'अबाता गाती' या अभियुक्त भाग-भागकर शरण लेने लगे। इन स्यानों का आतंक धीरे-धीरे उठने लगा, फिर भी उनका अस्तित्व नहीं मिटा। केवल उनकी संख्या कम हो गई है।
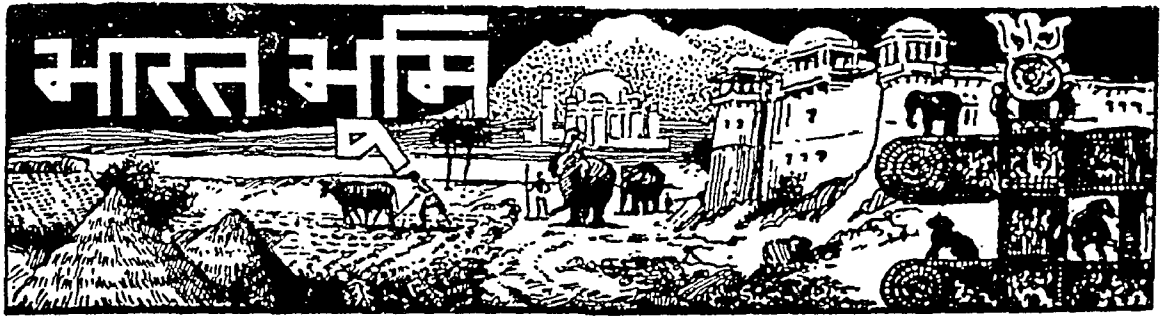
हमारे गौरवपूर्ण अतीत के महान् स्मारक—(२)

सारनाथ, भरहुत, अजन्ता, वाघ-विहार, नालन्द

भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेशस्थल—सारनाथ

विश्व-कल्याण के लिए राजप्रासाद के जीवन से किनारा कसकर वन की राह पकड़नेवाले भगवान् बुद्ध ने कठोर साधना के पश्चात् बोधि-वृक्ष के नीचे दिव्य-दृष्टि प्राप्त की थी। आत्मज्ञान के उस प्रकाश से उनको ईश्वरीय प्रेरणा मिली और संसार के कल्याणार्थ वह वहाँ से चलकर काशी पहुँचे। काशी के उत्तर में चार मील की दूरी पर एक सुन्दर उपवन था, जिसे मृगदाव कहते थे। भगवान् बुद्ध को उसी स्थान में अपने पूर्व परिचित वे पाँच संन्यासी दिखाई दिए, जिन्होंने पहले तो उनका साथ देकर साथ-साथ तप-साधना की थी, पर जब तपस्या के घोरतम कष्ट सहने के बाद भगवान् ने शारीरिक पीड़ाओं की निस्सारता समझकर तप छोड़ दिया था, तब जिन्होंने उनका उपहास करके अपशब्द कहते हुए उन्हें त्याग दिया था! वे पाँचों भगवान् को अकेला छोड़, गया के समीप से यहाँ चले आए थे! भला विश्व-कल्याण का व्रत लेनेवाले उदारचेता देव-पुरुष के मन में विकार कहाँ? अज्ञान को तमोराशि में तो सारा संसार भूल रहा है, फिर इन बेचारों का क्या दोष था!

भगवान् बुद्ध के तेजस्वी मुखमण्डल पर एक हल्की-सी मुस्कान की छाया दिखाई दी और उनकी अमृतवाणी गूँज उठी—'सांसारिक पदार्थों में मन लगाने से ही दुःख होता है—यह तृष्णा ही आवागमन का कारण है—इस तृष्णा के त्याग से ही दुःख का निवारण होता है। सदैव बीच के मार्ग पर चलो। एक ओर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और वासना-सुख की इच्छा को छोड़ो, दूसरी ओर शरीर को कष्ट देनेवाले घोर तप इत्यादि को भी तिलाञ्जलि दो।' पाँचों संन्यासी भगवान् के चरणों पर गिरकर लोटने लगे! अपनी भूल पर उनको पश्चाताप हुआ। भगवान् ने उनको दीक्षा दी और धर्म-प्रचार का आदेश दिया। बौद्ध धर्म के इतिहास में यह कथा अमर है। उसी दिन से वह मृगदाव वन सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जहाँ एक प्रस्तर-छत्र पर भगवान् के उपर्युक्त उपदेश-वाक्य अब तक अंकित हैं।

भगवान् बुद्ध ने सारनाथ में ठहरने का निश्चय किया। बड़ी-बड़ी कोमल आँखोंवाले मृग-शावक भी आकर्षित होकर निर्भयता से उनके पास आने लगे। ऐसा जान पड़ता था मानो उनके हृदय में इनके प्रति किसी पूर्व-जन्म के सम्बन्ध का स्नेह वर्तमान है। बौद्ध जातक-कथाओं में इस विषय का एक सुन्दर उपाख्यान मिलता है। लिखा है कि कई जन्म पहले भगवान् बुद्ध स्वयं हरिणयोनि में पैदा हुए थे और वह सारनाथ में एक मृग-झुंड के नेता थे। एक बार वे स्वजाति के पशुओं के हेतु अपने प्राण देने को तैयार हुए थे। उस युग में हरिणों के दो बड़े-बड़े झुंड थे, जिनमें से एक के नेता थे बुद्धदेव और दूसरे का अग्रणी था एक और हरिण, जिसने बाद में बुद्धदेव के चचेरे भाई देवदत्त के नाम से मृत्युलोक में जन्म लिया। उस समय सारनाथ के इस जंगल में काशी के राजा शिकार खेला करते थे और मृगों को मारते थे। मृगरूपी बुद्धदेव ने इस अनवरत संहार-क्रम को देखा और दुःख से कातर होकर वह काशी-नरेश के पास जाकर बोले कि 'महाराज! यदि आप इस प्रकार अगणित मृगों की हत्या का विचार छोड़ दें तो हम आपके लिए नित्य एक मृग भेज दिया करें।' राजा ने यह बात मान ली और नियमित रूप से एक मृग उनके आहारार्थ पहुँचने लगा। एक दिन देवदत्त के अधीन जो मृग-झुंड था, उसमें से एक हरिणी की बारी आई।

आकर सारनाथ की प्रसिद्ध इमारतों को तोड़-फोड़ डाला था। बौद्ध धर्म के प्राचीन तीर्थों में सारनाथ का महत्व बोधगया से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका अपना इतिहास ही इसे सदा के लिए अमरत्व प्रदान कर चुका है। इसके इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए आज के दिन भगवान् बुद्ध के अनुयायियों द्वारा उसके पुनरुद्धार का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है और फलतः वहाँ अनेक नवीन भवन उठ खड़े हुए हैं, जिनमें एक बौद्ध मंदिर एवं विहार की इमारत अति दर्शनीय है। इस स्थान के पुरातत्त्व-विषयक महत्व के अनुरूप सरकार की ओर से भी एक संग्रहालय वहाँ प्रस्थापित किया है, जिसे देखने हजारों यात्री जाते रहते हैं। इस प्रकार सारनाथ एक कलातीर्थ बन गया है।

भरहुत के कलावशेष

भारतवर्ष के शुंगवंशीय सम्राटों का शासनकाल, जो १८८ ई० पू० से ३० ई० तक माना जाता है, यहाँ के कला-विकास का मध्यम-युग कहा जा सकता है। मौर्य-शासन का अन्त होने पर उत्कर्ष प्राप्त करने वाले शुंग सम्राट् भी बड़े प्रतापी और पराक्रमी थे। उनके समय में इस देश की मूर्तिकला ने एक नवीन रूप ग्रहण किया, जिसके प्रमाण साँची एवं भरहुत के ध्वंसावशेषों में आज भी पाये जाते हैं। साँची के स्तूप का उल्लेख हम पीछे के पृष्ठों में कर चुके हैं। अब भरहुत का परिचय देने जा रहे हैं, जहाँ से पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनवरत परिश्रम के उपरान्त पर्याप्त खोज की है।

भरहुत की बाड़ पर अंकित एक शिल्प-चित्र
इसमें श्रावस्ती के नगरसेठ सुदत्त द्वारा जेतवन की खरीद के हेतु भूमि पर सुवर्ण-मुद्रायें बिछाये जाने का दृश्य अंकित है।

इलाहाबाद और जबलपुर के बीच की रेलवे-लाइन पर सतना नामक एक स्टेशन है, जहाँ से नागोद तक पक्की सड़क गई है। इसी नागोद से दक्षिण में ९ मील के फासले पर भरहुत के ध्वंसावशेष देखे जा सकते हैं। सन् १८७७ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम ने वहाँ खुदाई का कार्य किया था और फलस्वरूप वहाँ एक बहुत बड़े प्राचीन बौद्ध स्तूप के भग्नावशेष दिखाई दिये थे, जिसके नीचे के घेरे का व्यास ६८ फीट था। इस स्तूप के चारों ओर पत्थर की एक बाड़ थी, जिस पर बड़ी आश्चर्यजनक कारीगरी की हुई थी। इस स्तूप में लगा हुआ पत्थर चुनार के पत्थर जैसा लाल रंग का और बलुआ या रवादार था। इस स्तूप के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उसकी अधिकांश ईंटें पास-पड़ोस के गाँववाले उठा ले गए थे और उसकी बाड़ पर बनी हुई मूर्त्तियों को भी लोगों ने तोड़-फोड़ डाला था। कनिंघम ने खुदाई में मिली हुई वस्तुओं को कलकत्ता के संग्रहालय में भिजवा दिया था। इनमें से अधिकांशतः मूर्तियुक्त प्रस्तरखण्ड और वेष्टनियों के टुकड़े थे।

भरहुत के ध्वंसावशेषों में सबसे अद्भुत वस्तु जो मिली है, वह पत्थर की वह बाड़ ही है, जिसकी ऊँचाई सात फीट एक इंच है और जिसके तकियों के दाब (उष्णीष) में लगा हुआ प्रत्येक पत्थर भी इतना ही लम्बा है। इस बाड़ का कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो बौद्ध कथाओं के अंकन के हेतु उस पर खोदे गये चित्रों, बेलबूटों, यक्षिणियों की मूर्तियों और भाँति-भाँति के अलंकरणों से न भरा हो। पास ही खड़े हुए एक तोरण पर अंकित लेख द्वारा ज्ञात होता है कि शुंग सम्राटों के समय में ही यह कलाकृति तैयार हुई थी। भरहुत की मूर्तियों के कला-विषय विभिन्न हैं, जिनसे तत्कालीन कलाकारों की विविध धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। इनमें लगभग ४० दृश्य

जातक-कथाओं में वर्णित घटनाओं के हैं और ६-७ भगवान् गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित हैं। उनके दृश्यों के नीचे विषय-निर्देशन के विचार से तत्सम्बन्धी लेख भी अंकित हैं। इतिहास द्वारा प्रमाणित अनेक घटनाएँ भी बड़ी सुन्दरता से इनमें प्रदर्शित की गई हैं। चार घोड़ों के रथ पर भगवान् बुद्ध के दर्शन के हेतु जाते हुए कोशलराज प्रसेनजित् की सवारी तथा मगध-सम्राट् अजातशत्रु की यात्रा का दृश्य बड़ा ही आकर्षक और भावपूर्ण है। इन दृश्यों का जैसा वर्णन बौद्धों के ग्रन्थों में पाया जाता है, वैसा ही सुचारु रूप से इनका अंकन हुआ है।

एक मूर्ति-चित्र में श्रावस्ती के प्रसिद्ध सेठ सुदत्त द्वारा स्थानीय जेतवन नामक उपवन के दान की घटना बड़ी कुशलता से दिखाई गई है। इस सम्बन्ध में निम्न कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि प्राचीन काल में कोसल की राजधानी श्रावस्ती के नगरसेठ सुदत्त ने, जो बौद्ध था, एक अवसर पर बौद्ध संघ को दान देने के हेतु वहाँ के राजकुमार जेत से एक बगीचा मोल लेना चाहा। इस बगीचे को जेतवन कहते थे। मूल्य पूछने पर राजकुमार जेत ने नगरसेठ से कहा कि जितनी स्वर्ण-मुद्रायें समस्त जेतवन की भूमि पर बिछ जाएँ, वह उसका मूल्य होगा! धार्मिक उदारता से प्रेरित सुदत्त ने तत्काल ही वही मुँह-माँगा मूल्य देना स्वीकार कर लिया। परन्तु राजकुमार इस पर भी आनाकानी करने लगा। तब यह झगड़ा न्यायालय में उपस्थित किया गया। फैसला सुदत्त के ही पक्ष में हुआ, क्योंकि वह मुँहमाँगी रकम देने को तैयार हो गया था। इस प्रकार सुदत्त ने वह उपवन प्राप्त कर लिया और वहाँ बौद्ध संघ के लिए एक विहार या मठ बनवा दिया। उपलब्ध मूर्तिचित्र में कुछ वृक्षों तथा अन्य उपसाधनों के प्रयोग द्वारा जेतवन का दृश्य अंकित किया गया है। आगे खड़ी हुई एक बैलगाड़ी पर से स्वर्ण-मुद्रायें उतारी जा रही हैं और कुछ आदमी उन मुद्राओं को भूमि पर बिछा रहे हैं। मुद्राओं का आकार चतुष्कोण है, जैसी कि शुंगों के शासनकाल में प्रचलित थीं। सुदत्त अपने एक हाथ में जलपात्र लेकर जेतवन का दान करता हुआ दिखलाया गया है और एक किनारे पर बौद्ध संघ के सदस्य तथा भिक्षुगण खड़े हुए हैं। पृष्ठभाग में एक भद्रासन बना हुआ है, जो भगवान् बुद्ध का प्रतीक है।

भरहुत की कला के अन्य दो नमूने
इन चित्राङ्कनों में से अधिकतर जातक-कथाओं से संबंधित हैं।

भरहुत में कोई बुद्धमूर्ति नहीं मिली है, यद्यपि अनेक बोधिवृक्षों के मूर्तिचित्र वहाँ दिखाई देते हैं। मूर्तियों में अनुमानतः चालीस मूर्तियाँ देवताओं, नागराज तथा यक्ष-यक्षिणियों की हैं, जिनका आकार बहुत बड़ा है। अनेक मूर्तियों पर उनके नाम भी बड़ी खूबी के साथ अंकित मिलते हैं। पशुओं और पेड़ों की भी बहुत-सी मूर्तियाँ पाई गई हैं, जिनकी स्वाभाविकता, सौंदर्य और बनावट दर्शनीय है। मनुष्यों के दैनिक व्यवहार में आनेवाली अनेक उपयोगी वस्तुओं की भी प्रतिकृतियाँ मिली हैं, जैसे वस्त्र, अलंकार, बरतन-भांड़े, वाद्ययंत्र, शस्त्रास्त्र, नौका, रथ, ध्वज-चिन्ह, राजचिन्ह, आसन आदि। सजावट के लिए कटहल, माला और कमल आदि के चित्रों से युक्त कटावदार पतली बेलें बनाई गई हैं, जिनमें खिले हुए कमलों की बेल सबसे सुन्दर दिखाई देती है। बेलबूटों की पंक्तियों के बीच के रिक्त स्थान की पूर्ति के हेतु जातक-कथाओं में वर्णित घटनाओं के दृश्य अथवा आभूषण बने हुए हैं। एक गोलाकार मण्डल में गज-लक्ष्मी के दर्शन होते हैं। नर-नारियों के चेहरे भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। जातक दृश्यों में से कोई-कोई दृश्य देखकर तो अनायास ही हँसी आ जाती है। ऐसे दृश्य, जिनमें कि वानरों की लीलाएँ चित्रांकित की गई हैं, विशेपतया हास्य का उद्रेक करते हैं। किसी जगह बन्दरों का एक झुण्ड जुलूस बनाकर गाता-बजाता हुआ एक हाथी को लिये जा रहा है, तो कहीं पर एक

हाथी किसी मनुष्य का दाँत एक बड़े भारी सँड़से से पकड़कर उखाड़ रहा है। पाँच फनवाले नाग-राजाओं तथा उनके अनुचरों के मूर्ति-चित्र भी अति सुन्दर हैं। एक चित्र में बुद्ध के प्रतीक भद्रासन के आगे विनत-मस्तक सम्राट् अजातशत्रु चित्रित है, जिसके शासनकाल में तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया था। अन्य एक चित्र में वेदिका पर फूल बिखरे हुए हैं और पीछे के एक वृक्ष पर पुष्प-मालाएँ लटक रही हैं। इस वेदिका के सम्मुख पाँच फनवाले एक नागराज झुककर प्रणाम कर रहे हैं। इसके पृष्ठ भाग में अंकित लेख का आशय है—'भगवत-उपासना-रत नागराज एरापत्र'। इस चित्र के ऊपर सरोवर से निकलता हुआ एक नाग प्रत्याङ्कित है, जिसके दाहिनी ओर एक पुजारी भिक्षु कमर तक पानी में खड़ा हुआ है। नाग के ऊपर एक सर्पिणी अन्तरिक्ष में उड़ती हुई दिखाई गई है। अन्य सर्प-सर्पिणयों के शिल्प-चित्र भी बड़े आकर्षक हैं, जिनकी सूक्ष्म बनावट देखकर तत्कालीन शिल्पियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है।

अपने मूल रूप में भरहुत का स्तूप काफी बड़ा रहा होगा और इसके घेरे का व्यास ८८ फीट से कम न होगा। उसकी ऊँचाई २७५ फीट के लगभग समझी जाती है। उसके चार प्रवेशद्वारों में से प्रत्येक के आगे स्तम्भों के ऊपर लगभग ४॥ फीट ऊँची यक्ष-यक्षिणियों और नागराजों की मूर्त्तियाँ शिल्पचित्रों के रूप में अंकित थीं। पूर्व की ओर का द्वार एक तोरण से अलंकृत था, जिसकी ऊँचाई भूमि से लेकर शिखर के चक्र तक २२॥ फीट थी। सर्वोपरिस्थित चक्रपृष्ठभाग में सुन्दर अलंकरण बने थे। इस तोरण की स्थापना का समय सन् १० ई० से २८ ई० के लगभग माना जाता है।

वेष्टनी ६ फीट ऊँची थी और उस पर अंकित लेखानुसार उसका निर्माता और संस्थापक राजा धनभूति का पुत्र कुमार वद्धपाल था, जिसका समय अशोक के बाद माना जाता है। भरहुत का मूर्त्ति-शिल्प अनुमानतः २०० ई० पू० का है, किन्तु उसकी उत्कृष्टता से उसकी प्राचीनता में सन्देह होता है। वहाँ की सभी मूर्त्तियाँ चपटी बनी हुई हैं और सच पूछा जाय तो वे मूर्त्तियाँ न होकर पत्थर पर काटकर बने हुए मूर्त्ति-चित्र मात्र हैं। उनमें भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति का कहीं भी अंकन नहीं है, केवल उनके चरणचिन्ह, पद्माङ्क, धर्मचक्र, वेदिका और आसन द्वारा ही उनका उल्लेख किया गया है। भरहुत की कला वास्तव में लोकरुचि से प्रभावित प्रतीत होती है और अशोककालीन कला से वह उतर कर है। उस युग के जितने भी स्मारक भारत के अन्य स्थानों में पाये गये, उन सभी में लोकरुचि का प्रभाव स्पष्ट है। पर तत्कालीन समाज में बौद्ध मत ने काफी गहरा स्थान प्राप्त कर लिया था, जिसकी कलात्मक छाया सामाजिक जीवन पर पड़ती हुई इन मूर्त्तियों और चित्रों में दिखलाई गई है।

कुछ भी हो, शुंगकालीन मूर्त्ति-कला अपनी एक खास मौलिकता लिये हुए थी, जिसके सर्वोपरि उत्कृष्ट प्रमाण भरहुत के ये ध्वंसावशेष हैं। यहाँ की वेष्टनियों पर बने हुए अलंकरणों तथा मूर्त्ति-चित्रों की शैली वैसी ही है जैसी काष्ठ पर बनाई जाती है। यहाँ के शिल्पियों के कार्य में जैसी सूक्ष्मता, सफाई और सुघड़ता है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।

अजन्ता के कलामण्डप

आज के दिन ऐसा कौन पढ़ा-लिखा भारतवासी होगा, जिसने अजन्ता का नाम न सुना हो? वस्तुतः ताजमहल की भाँति अजन्ता का नाम भी आज हमारे देश की कला-कीर्त्ति का एक प्रतीक-सा बन गया है और न केवल हमारे ही अपने यहाँ वह हर किसी की जबान पर है बल्कि दूर-दूर देशों तक के लोग उससे परिचित हो चुके हैं। अजन्ता की इस ख्याति के मूल आधार लगभग दो हजार वर्ष पुराने उसके गुहामंदिरों की दीवारों पर अंकित वे बौद्ध-कालीन अद्भुत भित्तिचित्र हैं जो संसार के कलाक्षेत्र में अद्वितीय और बेजोड़ हैं। यद्यपि अजन्ता की गुफायें केवल चित्रशाला मात्र नहीं हैं—वे प्राचीन शिल्प और स्थापत्य की भी असाधारण स्मारक-कृतियाँ हैं, फिर भी उनका मुख्य आकर्षण उनके महान् भित्तिचित्रों के कारण ही है। इन भित्तिचित्रों ने सारे संसार को आश्चर्यचकित कर कला के आँगन में भारत का मस्तक ऊँचा करने में असामान्य योग दिया है।

अजन्ता के ये कलामण्डप हैदराबाद राज्य के उत्तर-पश्चिमी कोने में फरदापुर नामक एक गाँव से सात मील की दूरी पर कतिपय ऊपर और बीहड़ पहाड़ियों में खोदकर बनाई गई गुफाओं के रूप में विद्यमान हैं। ये गुफायें लगभग तीन सौ फीट ऊँची एक अर्धचन्द्राकार पर्वतीय चट्टान की दीवार में खुदी हुई हैं और उन तक पहुँचने के लिए सीढ़ीदार रास्ता बना हुआ है। यहाँ का दृश्य बड़ा ही प्रभावशाली है।

अजन्ता के ये कलामंदिर बौद्धकालीन भारत के अद्भुत स्मारक हैं। बौद्धकालीन स्मारकों में स्तूपों अथवा चैत्यों की
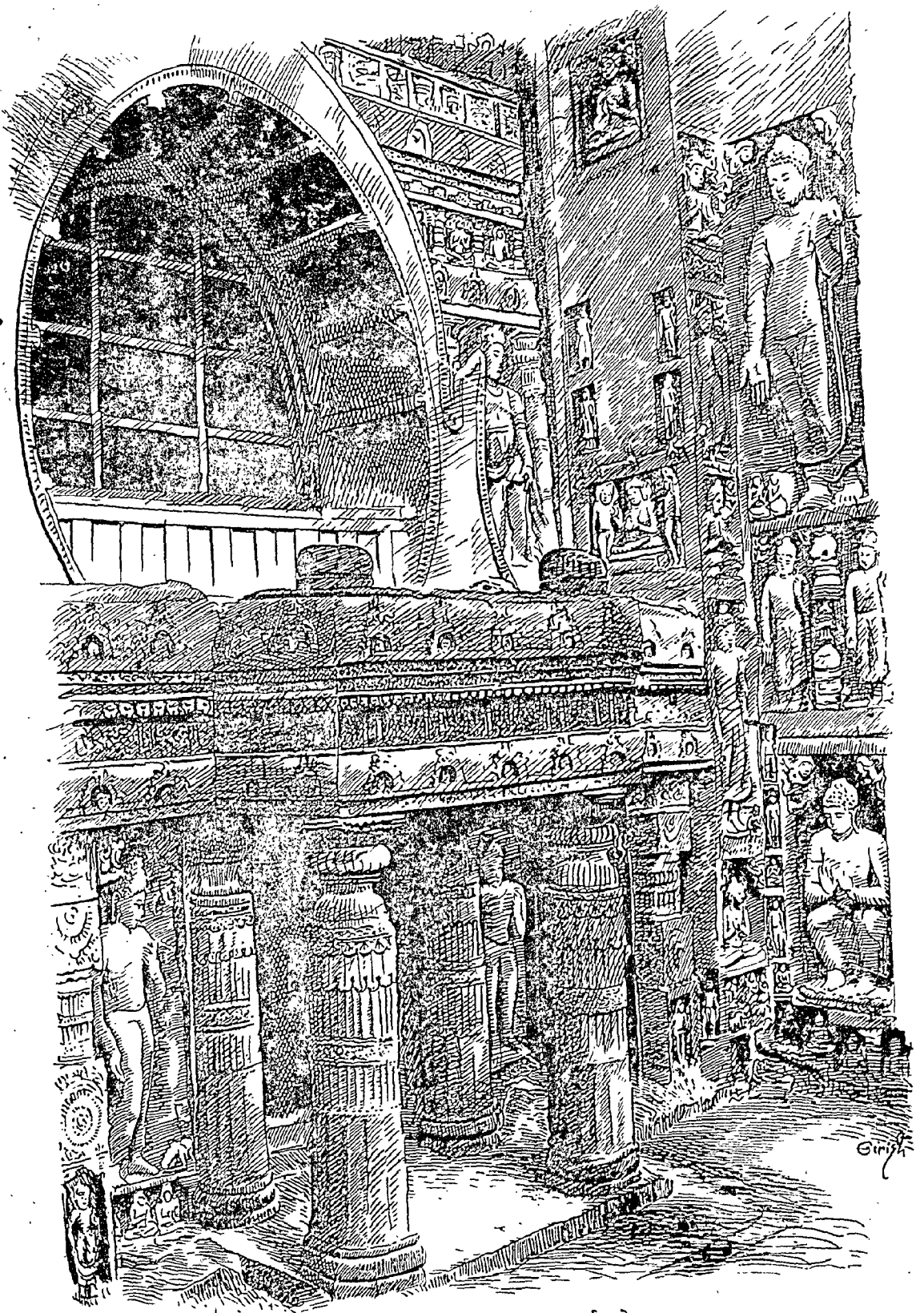
अजन्ता के एक गुहामंदिर का कलापूर्ण प्रवेशद्वार

यह १९वीं गुफा के प्रवेशद्वार का चित्र है। इसी द्वार के शिल्प में 'नागराज का कुटुंब' नामक सुप्रसिद्ध मूर्तिसमूह है, जो बड़ा ही हृदयग्राही, भावपूर्ण और मनोरम है।
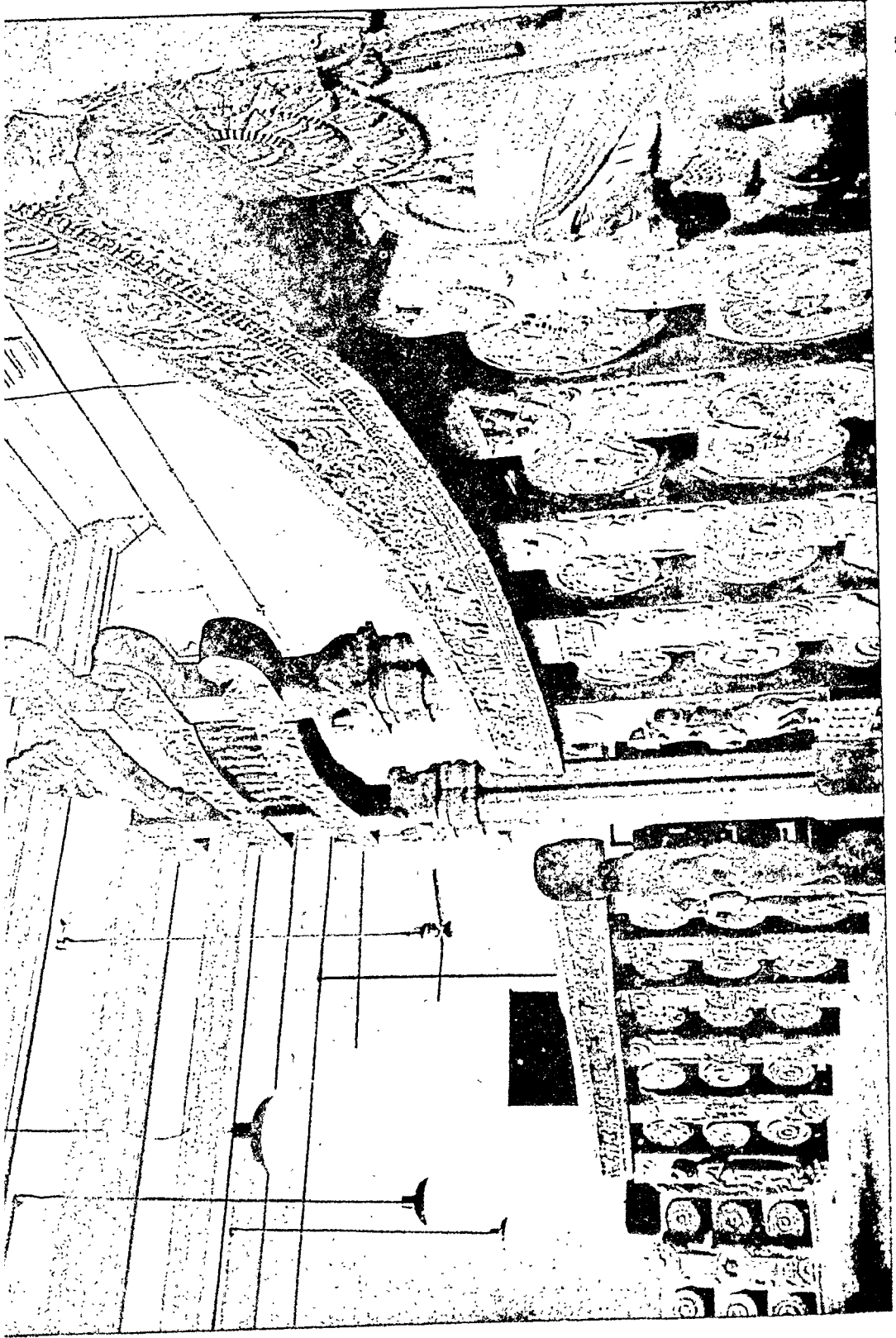
कलकत्ता के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित भरहुत-स्तूप की तोरणयुक्त कलापूर्ण वेष्टनी या बाड़ [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

ही भरमार है। स्तूप शब्द के वास्तविक अर्थ मिट्टी के ढूह अथवा टीले के हैं। परन्तु बौद्ध काल में उसका प्रयोग एक विशेष प्रकार के मन्दिर अथवा स्मारक के लिए होने लगा था। आरम्भ में 'स्तूप' अथवा उसके पर्यायवाची शब्द 'चैत्य' से समाधि का बोध होता था। 'चैत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'चिता' से है। 'स्तूप' शब्द मिट्टी के उस ढूह अथवा टीले के लिए व्यवहार किया जाता था, जिसके नीचे किसी महान् पुरुष की चिता-भस्म गाड़ी गई हो। सांची, कारली, सारनाथ, नासिक, कन्हेरी तथा अजन्ता के स्तूप तथा चैत्य-गृहों की यही विशेषता है। प्रारम्भिक बौद्ध काल में केवल स्तूपों अथवा चैत्यों के ही निर्माण करवाने की प्रथा थी, परन्तु बौद्ध धर्म में परिवर्तन होने के साथ-साथ इन चैत्यों अथवा स्तूपों के रूप तथा आकार में भी परिवर्तन होने लगे। बौद्ध स्तूप धीरे-धीरे आरम्भ के अर्द्ध-गोलाकार समाधिस्थल से विकसित होकर ईंट-पत्थरों के ऊँचे शानदार भवनों में परिणत हो गए। ऐसे ही चैत्य-गृहों में से अजन्ता के गुहामंदिर भी हैं।

अजन्ता की कन्दराएँ बौद्ध मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध न होकर उन भित्ति चित्रों के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं, जो उन चैत्य अथवा स्तूपगृहों को सजाने के हेतु दीवारों पर अंकित किए गए हैं। ये कृत्रिम गुफाएँ पर्वत की बड़ी-बड़ी शिलाओं को काटकर बनाई गई हैं और इनमें २६ सम्पूर्ण तथा ३ अपूर्ण हैं। कालक्रम के अनुसार इन गुफाओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :—

प्रथम श्रेणी की गुफाएँ ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग बनी ज्ञात होती हैं। विद्वानों का मत है कि ये गुफाएँ उस काल में बनी होंगी, जब शिल्प-कार्य में काष्ठ का प्रयोग कम हो गया और लोग पत्थर का उपयोग करना सीख रहे थे।

द्वितीय श्रेणी की गुफाओं का निर्माणकाल चतुर्थ शताब्दी ईस्वी बताया जाता है। १७ वीं तथा १९ वीं गुफा में शिलालेख हैं, जिनके पढ़ने से पता चलता है कि ये गुफाएँ 'गुप्त' महाराज देव (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) के जामाता की बनवाई हुई हैं।

तृतीय श्रेणी की गुफाएँ द्वितीय श्रेणी की गुफाओं के बन चुकने के कुछ समय बाद की बनी हुई बतलायी जाती हैं।

चतुर्थ श्रेणी की गुफाएँ छठी तथा सातवीं शताब्दी ईस्वी में बनी अनुमान की जाती हैं।

अब हम क्रम से उपर्युक्त गुफाओं का वर्णन करेंगे :—

पहली गुफा में प्रवेश करते ही बाईं ओर शिवि-जातक की कथायें तथा दूसरी ओर सिंहल-जातक की कथायें कलापूर्ण ढंग से भित्ति-चित्रों के रूप में दिग्दर्शित दिखाई देती हैं। सामने की भीत पर अंकित दृश्य प्राचीन भारतीय चित्र-कला का ऐसा ज्वलन्त प्रमाण देता है कि पाश्चात्य चित्र-कलाविद् चकित रह जाते हैं। कुमार सिद्धार्थ शीश पर मुकुट धारण किए हुए एकटक देख रहे हैं। हाथ में कमल का एक सुन्दर पुष्प है, पर ध्यान उधर नहीं है। समीप ही कुछ हटकर यशोधरा अपने नेत्रों में आशा भरकर संकुचित-सी खड़ी हुई है। उसकी भावभंगी से ऐसा भास होता है कि वह अपने स्वामी के हृदय में उठते हुए भावों को भली भाँति समझ रही है।

दूसरे भित्ति-चित्र में भगवान् बुद्ध को ध्यानस्थ दिखलाया गया है। उनकी समाधि भंग करने के हेतु 'मार' अपने दलबल सहित जुटा हुआ है। मार के साथियों में एक व्यक्ति आधुनिक फैशन की बो जैसा अलंकार धारण किए हुए है! प्राचीन भारतीय कलाकारों की कल्पना में इसका प्रवेश पाना आश्चर्य से रहित नहीं है।

एक दूसरे स्थान पर श्रावस्ती नगर में किये गये भगवान् बुद्ध के चमत्कार अंकित किये गये हैं। इस गुफा में बने हुए स्तम्भों पर सुन्दर काम है। छतों पर सुन्दर बेल-बूटे बने हैं। खिले हुए कमल तथा छिटके हुए पत्तों के बीच-बीच हंस (कहीं जोड़े सहित और कहीं अकेले) विचर रहे हैं। इस बेल को देखकर तो यह कहना पड़ता है कि भारतीय चित्र-कला पर यूनानी चित्रकला का लेश मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। इस कन्दरा में एक राजनीतिक चित्र भी है। सन् ६२६ ई० में ईरान के शासक खुसरू द्वितीय परवेज ने चालुक्यराज पुलकेशिन् के राजदरबार में अपने दूत भेजे थे। ऊपर वर्णित चित्र में बने हुए दूत की वेश-भूषा ईरानियों जैसी है। एक स्थान पर चार हिरण बने हुए हैं और उन सब के बीच में सिर एक ही है, पर देखने में ऐसा नहीं प्रतीत होता। समीप ही दो साँड़ों की लड़ाई दिखलाई गई है।

दूसरी गुफा में बने हुए भित्ति-चित्रों में क्षतिवादी, हंस, रुरु, विधुर पंडित आदि जातकों की कथाओं के अतिरिक्त पूर्णावदान, माया का स्वप्न, तुषित स्वर्ग, माया का लुम्बनीवन-गमन एवं बुद्ध के जीवन की अन्य घटनाओं का चित्रण विस्तारपूर्वक किया गया है। एक चित्र में राजदरबार का दृश्य अंकित है। एक स्थान पर एक

वनिये की प्रतिमा वनी हुई है। सम्भव है, यह चित्र किसी दानी साहूकार का हो।

चौथी गुफा का विहार सव से वड़ा है। आठवीं गुफा सबसे प्राचीन है। नवीं गुफा में एक स्तूप है। इसकी भीत पर बोधिसत्व तथा उनके उपासकों के चित्र अंकित हैं। १० वीं गुफा में लगे हुए शिलालेख के पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह चैत्य कठहरी नामक व्यक्ति का बनवाया हुआ है। दीवारों पर श्रवण-वध तथा श्याम जातक की कथायें अंकित हैं। ११ वीं गुफा में (जो एक विहार भी है) चित्रित बोधिसत्व के सुन्दर मुखड़े को मोतियों से सजाकर और भी सुन्दर बना दिया गया है। १२ वीं गुफा भी एक विहार के रूप में है। यह विहार सम्भवतः एक छात्रावास रहा होगा, क्योंकि इसके भीतर चारों ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई हैं और प्रत्येक कोठरी में दो-दो चबूतरे बने हुए हैं, जिन पर पत्थर के तकिये बने हुए हैं। यह विहार अब भग्नप्राय है।

१५वीं गुफा में बोधिसत्व की सबसे सुन्दर मूर्ति स्थापित है। १६ वीं तथा १७ वीं गुफा उज्जैन के विजेता राजा हरिसेन की बनवाई हुई है। १६ वीं गुफा में सुत सोमजातक कथाओं के द्रष्टा नन्द का धर्म-परिवर्त्तन, माया का गर्भ, सप्त-मनूषी बुद्ध, असि ऋषि का जन्म-पत्र बनाना, पाठशाला का दृश्य, त्रपुस्स तथा मल्लिक का निमंत्रण स्वीकार कर बुद्ध का उनके यहाँ जाना तथा राजगृह और सुजाता आदि के दृश्यों के अतिरिक्त पौराणिक देवियों, जैसे गंगा और यमुना, के चित्र भी अंकित हैं। बौद्ध चित्रों के साथ-साथ यहाँ आर्य देवियों के चित्रों का पाया जाना आश्चर्य से रहित नहीं है। लोगों का कहना है कि ये चित्र केवल सजावट की दृष्टि से बनाये गये हैं। बौद्ध अधिकांश में प्राचीन ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे और ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं है कि इन चित्रों को बौद्धों ने अंकित कराया हो। या तो ये चित्र बौद्ध काल के पहले के बने हुए हैं और उनके पड़े रहने में कोई हानि न समझी गई होगी, या फिर वे उस समय बने जब कि बौद्धों का प्रभाव लुप्त हो चुका था। पर उनके रंगों की ओर ध्यान देने पर दूसरी बात ठीक नहीं जँचती।

सजावट तथा कलाकौशल की दृष्टि से १७ वीं गुफा सबसे सुन्दर कही जा सकती है। यह गुफा किसी राजा के मंत्री अथवा सामन्त की बनवाई हुई है, जिसका नाम आदित्य था। यों तो अजन्ता की गुफाओं में बने हुए सभी चित्र सुन्दर हैं, पर इस गुफा के चित्रों में जो सजीवता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। विभिन्न जातक-कथाओं की मुख्य-मुख्य घटनाओं का चित्रण अत्यन्त सुन्दर रीति से किया गया है। बड़दन्त जातक के दृश्य में चित्रित हाथियों में जान सी फूंक दी गई है। दालान में आकाश पर उड़ती हुई अप्सराओं तथा गंधर्वों के चित्र के समीप ही गुफा के प्रवेशद्वार के भीतर की ओर एक स्त्री का चित्र बना हुआ है, जिसके बैठने की मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। एक ओर वह दृश्य अंकित है, जिसमें यशोधरा राहुल को लिये हुए भगवान् बुद्ध को भिक्षा दे रही हैं। भावपूर्ण चित्रों के चित्रण में तत्कालीन कलाकारों ने बड़ी सफलता प्राप्त कर ली थी। अंग-प्रत्यंग के निर्देश तथा कलापूर्ण चित्रण के साथ-साथ भाव के चित्रण में कवियों की सी कल्पना से काम लिया गया है। पुनर्मिलन के समय एक वियोगिनी जिन-जिन भावों को लेकर अपने प्रियतम के सन्मुख आती है, ठीक वही भाव यशोधरा की मुद्रा से झलकते हैं। एक स्थान पर सिंहलावदान (Sindbad the Sailor) की घटनाओं के चित्र भी बने हुए हैं। जलयान का जलमग्न होना, सिंहल नाम के व्यवसायी का राक्षसियों के साथ क्रीड़ा करना, वलह नाम के श्वेत अश्व पर सवार होकर उसका आकाश-मार्ग से भाग जाना, राक्षसियों का उसे ढूँढ़ना, सिंहकला के अन्तःपुर में प्रवेश करना, दरबारियों का भक्षण कर लेना, सिंहल की प्रत्युत्पन्नमति, उसका साहस और लंकाविजय आदि दृश्य बड़े सुन्दर हैं। इन्हीं चित्रों में आधुनिक परदे, विलप, मेज तथा आरामकुर्सियों को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। एक ओर एक स्त्री का चित्र बना हुआ है, जो साड़ी के स्थान पर जाँघिया पहने, हाथ में दर्पण लिये अपना श्रृंगार देख रही है और उसके आसपास उसकी सहेलियाँ अथवा दासियाँ खड़ी हुई हैं।

शेष गुफाओं में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। २६ वीं गुफा एक चैत्य-भवन है। यह गुफा धर्मदत्त की बनवाई हुई है। इस गफा में भगवान् बुद्ध की एक मूर्ति लेटी हुई है, जिसकी लम्बाई २३ फीट है। मूर्ति के सभी अंग सुडौल और सुन्दर हैं। अजन्ता के चित्रों की तरह वहाँ का शिल्प भी कोई कम कलापूर्ण नहीं है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण विविध गुफाओं के भव्य प्रवेशद्वार हैं, जिन पर निर्मित बौद्ध मूर्तियाँ विलक्षण हैं। इस महान् कलामंदिर की उत्कृष्ट कला का विशेष विवेचन इसी ग्रंथ में आगे चलकर 'मनुष्य की कलात्मक सृष्टि' स्तंभ में आपको मिलेगा।

मालव की अद्‌भुत प्राचीन चित्रशाला—वाघ-विहार

अजन्ता से १५० मील उत्तर और माँडू से लगभग ३० मील पश्चिम में वाघ नामक एक छोटा-सा ग्राम है, जहाँ अजन्ता की गुफाओं जैसे अनेक प्राचीन गुहा-विहार पाये जाते हैं। नर्मदा नदी की घाटी के उत्तर में खड़ी हुई पर्वतमालाओं के पार्श्व में स्थित एक निर्जन गह्वर में ये गुफा-विहार बने हुए हैं। कुल मिलाकर इन विहारों की संख्या आठ या नौ है। किन्तु यहाँ पर कोई चैत्यमण्डप नहीं पाया गया है। खुदाई भी यहाँ अनावश्यक समझी गई, अतएव इस स्थान के ऐतिहासिक महत्व पर विशेष प्रकाश अभी नहीं डाला जा सका है। यहाँ के विहारों में जो वड़े हैं, उनसे एक-न-एक पाठशाला या अध्ययन-गृह संयोजित रहा है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। उनसे उपासना-गृहों का कार्य भी संभवतः लिया जाता रहा होगा। इन विहारों के अन्तर-कक्षों में दगोवा या देवालय का अस्तित्व और उसमें बुद्ध-मूर्त्ति का अभाव एक विशेष तथ्य का वोधक है, जो सम्भवतः बाद में इतिहासकारों के लिए महत्व का विषय प्रमाणित हो। सामूहिक रूप में ये विहार अजन्ता के बाद के बने विहारों की अपेक्षा वनावट में अधिक सादे हैं, यद्यपि दोनों स्थानों के विहारों का निर्माण-काल एक ही माना जाता है।

इनमें एक विहार बहुत बड़ा है। उसके भीतर का कक्ष ९६ वर्ग-फीट है और अष्टकोण के क्रम से विठाये हुए ८ स्तम्भों पर वह आधारित है। अनुमानतः बाद में, छत का दवाव अधिक बढ़ जाने के कारण चार अन्य स्तम्भ बनाकर पूर्वस्तम्भों के साथ ही स्थापित कर दिये गये हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर इम्पे के विवरण से यह पता नहीं चलता कि इस विहार के ऊपर मूल रूप में किस प्रकार की छत बनी थी। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि कक्ष के बीचोबीच में एक दगोवा भी था, जो नष्ट हो गया और साथ ही ऊपर की छत भी गिर पड़ी होगी। विहार के दूसरे कोने में एक दगोवा का होना उपरोक्त कथन की निर्मूलता प्रमाणित करता है। यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि बाद की शताब्दियों में जैनियों द्वारा बनाए गये अष्टकोण गुम्बज की नकल करके ही इस विहार की छत बनी हो। दसवीं शताब्दी में बने हुए सैकड़ों [illegible] गुम्बज आठ स्तम्भों पर आधारित पाये जाते हैं, [illegible] नहीं बनते थे। अतएव मूल रूप में इस विहार के [illegible] ऐसे गुम्बज का होना एक बड़े आश्चर्य का विषय है। [illegible] विहार से सम्मिलित शाला ९४ फीट लम्बी [illegible] चौड़ी है। विहार और शाला को संयोजित [illegible] २२० फीट लम्बा एक वरामदा है, जो [illegible] हुए २० नक्काशीदार स्तम्भों से अलंकृत है।

अजंता की भाँति इस विहार की दीवारों पर [illegible] कई शताब्दियों पहले के अत्यंत सुन्दर [illegible] हैं, जो अब बहुत ही नष्ट-भ्रष्ट दशा में हैं। [illegible] कला और सौंदर्य में अजन्ता से किसी [illegible] जा सकते। अजन्ता के इन चित्रों [illegible] में भी साधारण व्यक्तियों को [illegible] गोचर नहीं होता। यहाँ के [illegible] अश्वारोहियों का जुलूस या [illegible] है। हाथियों के जुलूस के [illegible] ही यहाँ अधिक [illegible] प्रेम-लीलाओं के दृश्यों [illegible] छोटे से चित्र में दो [illegible] गये हैं।

वाघ-विहार के कंदरालय की भीतरी झाँकी

एक को छोड़कर और कोई भी मानवमूर्ति इन चित्रों में सिरे ढँके हुए नहीं दिखाई देती। पुरुषों के केश गर्दन तक छँटे हुए हैं और उनके मुख पर पतली मूँछें हैं। लगभग छ: व्यक्तियों के शरीर का रंग द्रविड़ों की भाँति अधिक काला है, शेष सब गोरे हैं। सभी नर-नारी रंगीन वस्त्र धारण किये दिखाये गए हैं।

इन चित्रों में प्रदर्शित व्यक्ति किन जातियों के प्रतिनिधि हैं, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता और न इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही अब तक मिल सका है। वे न तो मालवे-राजपूताने की वर्त्तमान जातियों के पूर्वज ही ज्ञात होते हैं और न भील, गोंड आदि वनवासी लोगों के आदि-पुरुष ही कहे जा सकते हैं। तो क्या वे शक या यवन हैं अथवा सिन्धु के उस पार से आनेवाली जातियों के लोग हैं, जिन्होंने ईसा की प्रथम शताब्दी में सिन्धु नदी के मार्ग से भारत में प्रवेश करके अपनी कला और धार्मिक भावनाओं का यहाँ प्रचार किया था? बाघ-विहार की कला-शैली तत्कालीन ईरानी शैली से बहुत-कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है।

इन गुहा-विहारों का निर्माण-काल अब निश्चित हो चुका है। सबसे प्राचीन गुफा सन् ५०० ई० से पहले की बनी नहीं ज्ञात होती और सबसे बाद की सन् ६५० या ७०० के पश्चात् बनी होगी।

भारत का प्रसिद्ध प्राचीन विद्याकेन्द्र—नालन्द

आधुनिक पटना जिले के विहार सबडिवीजन में आज जहाँ बड़गाँव नामक ग्राम बसा हुआ है, वहीं शताब्दियों पूर्व मगध देश का नालन्द नामक विख्यात विश्व-विद्यालय और मठ प्रस्थापित था, जिसके द्वार पर सारे संसार के ज्ञान-पिपासु विभिन्न विद्याएँ सीखने के लिए सदा भिखारियों की भाँति खड़े रहते थे। तत्कालीन भारत ज्ञानगरिमा और विद्या-वृद्धि में संसार की सभा में गर्व के साथ सिर उठाये खड़ा था। उस समय उसके पैरों में परतंत्रता की शृंखलाएँ नहीं पड़ी थीं। उस स्वर्ण-युग में तक्षशिला की भाँति नालन्द का यह महान् विश्वविद्यालय भी सारे संसार को जागृति का मार्ग दिखा रहा था। दूर-दूर के देशों और प्रांतों से सहस्रों विद्यार्थी प्रतिवर्ष वहाँ आते और शिक्षा पाते थे।

चीनी तीर्थ-यात्री फाहियान ने अपनी यात्राओं के विवरण में इस विद्यालय का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु युआन च्वांङ् ने इस स्थान का परिदर्शन किया था। वह राजगृह से १५ 'ली' (li) अर्थात् लगभग ५ मील उत्तर की ओर नालन्द-मठ की स्थिति बतलाता है। बौद्धों के मतानुसार नालन्द बोधिवृक्ष से सात योजन से कुछ अधिक दूरी पर स्थित था। युआन च्वांङ् के कथनानुसार नालन्द का नाम एक नाग से पड़ा, जो इस विश्व-विद्यालय के दक्षिण में आम्र-कुञ्ज के बीच में बने हुए एक सरोवर में रहता था। बौद्ध धर्मग्रन्थों में राजगृह के निकट नालन्द नामक एक ग्राम का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर कुछ दिनों के लिए यहाँ आकर ठहरे थे। सूत्र-कृतांग में भी नालन्द का वर्णन है, जिससे पता चलता है कि उन दिनों यह राजगृह का एक सूबा गिना जाता था। जैसा कि लोगों को ज्ञात है, गुप्त-काल में नालन्द-मठ इस देश की विद्या के प्रधान केन्द्रों में से था। इस महाविद्यालय की नींव कब पड़ी, यह तो अनिश्चित है, पर इतिहासकारों का मत है कि चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच में, सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी में, इसकी स्थापना हुई। लेकिन यह सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। युआन च्वांङ् अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय उपरान्त शक्रादित्य नाम के किसी राजा ने इसे बनवाया था और यह ७०० वर्षों से वहाँ स्थित था।

युआन च्वांङ् सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नालन्द पहुँचा था और वहाँ एक वर्ष सात महीने तक उसने निवास किया था। उसका कहना है कि वहाँ के मठ के स्थान पर पहले एक आम्र-वाटिका थी, जिसे ५०० व्यापारियों ने १० करोड़ स्वर्णमुद्राएँ देकर खरीद लिया था और एक बौद्ध महात्मा को दानस्वरूप दे डाला था। उसने यह भी लिखा है कि भगवान् बुद्ध की मृत्यु के बाद शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागत, बालादित्य और वज्र ने कई मठ वहाँ बनवाये और मध्यभारत के एक राजा ने वहाँ एक सुन्दर मंदिर का निर्माण कराया तथा उसको एक चहारदीवारी से घिरवा दिया। इस सम्पूर्ण घेरे में केवल एक ही प्रवेश-द्वार था। इस प्रकार कई पीढ़ियों तक राजाओं द्वारा वहाँ ऐसे असंख्य सुन्दर मंदिर बनवाये जाते रहे, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता था। युआन च्वांङ् के मतानुसार नालन्द-मठ में भिन्न-भिन्न चमकीले रंगों से रँगे हुए और चित्रकारी से सुशोभित बड़े-बड़े कक्ष थे। उसके चारों ओर चतुष्कोण दीर्घकाय दीवालें और पर्वतशृंगों जैसे नोकीले शिखर थे। उसके बुर्ज और कँगूरे आकाश से बातें करते हुए जान पड़ते थे। भवन की खिड़कियाँ
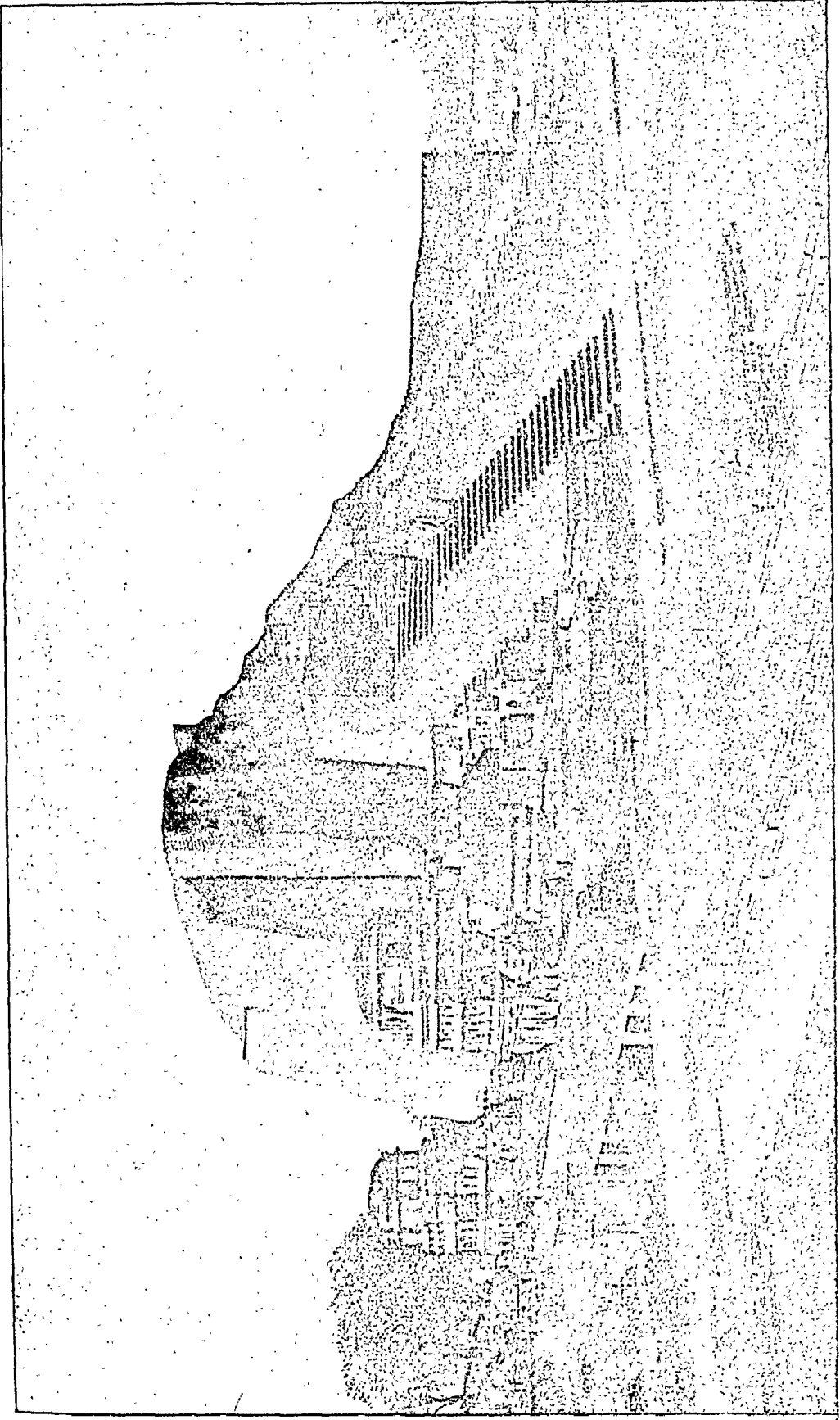
नालन्द के ध्वंसावशेषों की एक झलक

सदियों तक बौद्ध जगत् को ज्ञान का प्रकाश देनेवाले इस महान् विद्याकेन्द्र के ये खँडहर अपनी इस भग्न दशा में भी उसकी महत्ता का प्रचुर आभास दे रहे हैं।

इतनी ऊँची थीं कि वहाँ से मेघराशियों की गति स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। उसके आसपास के उपवनों, छायादार कुञ्जों, निर्मल जल और नीलकमल से परिपूर्ण तालों, लाल-लाल कलियों से आच्छादित कनक-वृक्षों और सघन अमराइयों की छटा देखते ही बनती थी।

नालंद-मठ के बाहरी ओसारे पर चार मंजिलें थीं, जिनमें सर्पाकार बरगे (Projection) और रंगीन ओलतियाँ बनी हुई थीं। उनके लाल-लाल स्तम्भ चित्रित और अलंकृत थे और उनके पास में सुसज्जित कटहरे लगे हुए थे। ओसारे की छतें खपरैलों की थीं, जिन पर सहस्र रूपों से प्रतिबिम्बित प्रकाश पड़ता रहता था। इन सबके कारण वहाँ का दृश्य और भी मनोरम बन जाता था। उस समय भारत में कई संघाराम थे, परन्तु नालन्द की विशालता, वैभव और कारीगरी के आगे वे सभी फीके पड़ते थे। क्रमानुसार सभी राजाओं ने उसकी सुन्दरता बढ़ाने में स्पर्धा दिखाई और अन्त में उसे एक अति दर्शनीय स्थान बना दिया। नालन्द के छः विद्यालयों में से पहले को शक्रादित्य ने, दूसरे को बुद्धगुप्त ने, तीसरे को तथागत ने, चौथे को बालादित्य ने, पाँचवें को वज्र ने और छठे को मध्यभारत के किसी राजा ने बनवाया था। अनेक राजा-महाराजाओं ने इसके व्यय के लिए २०० से अधिक गाँव दान में दिए थे, जिनकी आय से इसका सारा काम चलता था। नालन्द के संन्यासी, विद्यार्थी तथा अध्यापक आदि कुल मिलाकर १०,००० मनुष्य थे! ये लोग १२ हाथ लम्बे और ८ हाथ चौड़े कक्षों में, जो हजारों की संख्या में वहाँ बने हुए थे, निवास करते थे और बड़े-बड़े व्याख्यान-भवनों में उनकी पढ़ाई होती थी। नालन्द के शिक्षकों और शिष्यों में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध था। शिक्षकों की सेवा-शुश्रूषा पौराणिक ढंग से की जाती थी। शिक्षित विद्यार्थी अपनी जीविका के निर्वाह के हेतु राजद्वार पर जाया करते थे। वहाँ के छात्र वेद, हेतुविद्या, चिकित्साशास्त्र, तंत्र, बौद्ध साहित्य, दर्शन, शिल्प तथा विभिन्न कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे। तालपत्र और भोजपत्र पर लिखी हुई लाखों हस्तलिखित पुस्तकों का एक विशाल संग्रहालय वहाँ था। उस समय धर्मपाल, चंद्रगुप्त, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, निकाय, जिनमित्र और ज्ञानचंद्र वहाँ के प्रधान अध्यापकों में से थे। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों विद्वान् वहाँ रह चुके थे, जिनमें नागार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने वहाँ के प्रधान आचार्य का पद ग्रहण किया था। यह महापुरुष बौद्ध धर्म के एक अग्रगण्य नेता और महान् दार्शनिक हो गये हैं। नालन्द विद्यालय के नियम बड़े कठोर थे। संन्यास-जीवन का सार आत्म-संयम और सरल स्वभाव तथा सदाचरण समझा जाता था। इसीलिए असंयम की प्रवृत्ति को तत्काल कठोरता से दबाने की प्रथा थी। पौ फटते ही विद्यार्थी अपने प्रार्थना-गीत गाते और टोलियाँ बनाकर स्नानार्थ बाहर निकल जाते थे। सारा दिन पठन-पाठन में बीतता था। चावल, तेल, मक्खन, खजूर आदि ही उनका भोजन था। वहाँ कमनीय कमल-तालाबों से युक्त बड़े-बड़े रसाल-उपवन और उद्यान थे, जहाँ दिन भर की थकान मिटाने के हेतु विद्यार्थी जा बैठते थे। यहाँ भी शिक्षा की समाप्ति और परीक्षा के बाद उपाधि या डिग्री मिलती थी। परीक्षा में उत्तीर्ण

नालन्द के बीते वैभव की याद दिलानेवाली कुछ कलाकृतियाँ!

बुद्ध और बोधिसत्वों की ये मूर्तियाँ एक स्तूप की दीवार में बने ताकों में स्थापित हैं।

उत्तरी ध्रुव की विजय

मनुष्य को सदैव ही कहानी सुनने का बड़ा चाव रहा है, और इन कहानियों में सबसे अधिक रोचक, शिक्षाप्रद और दिल बहलानेवाली कहानियाँ स्वयं उसी की इस कठोर यात्रा के मार्ग पर पड़नेवाले समय-समय के खतरों तथा उस समय उसके द्वारा प्रदर्शित साहस, वीरता, उदारता, त्याग और बलिदान की कहानियाँ हैं। इस स्तंभ में वही अमर कथाएँ--मानव-जाति की आत्मकथा के पन्नों पर अमिट अक्षरों में लिखी हुई सच्ची घटनाएँ--चुन-चुनकर सुनाई जा रही हैं। आइए, ऐसी ही एक महान् साहस की कथा सुनिए !

पूरे छः फीट लंबे डीलडौल और उन्नत विशाल मस्तकवाला एक युवक संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की राजधानी वाशिङ्गटन की कबाड़ियों की गली में स्थित एक किताबों की दूकान पर नई-पुरानी किताबों के पन्ने उलट रहा है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, जीवनियाँ--सभी कुछ पर उसकी आँखें गड़-सी जाती हैं। मानो उसकी निगाह में इन सबमें कोई विशेष अंतर नहीं है, उसके लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ जाता कि वह किस किताब को उठा रहा और किसको हटा रहा है ! दूकानवाला पास आता है। पूछता है—'किस विषय की पुस्तक आपको चाहिए ?' पर कोई उत्तर उसे नहीं मिलता। वह कुछ अचरज-भरी निगाह से युवक की ओर देखता है—सोचता है, सनकी तो नहीं है ! पर युवक का एक किताब को हटाकर दूसरी के पन्ने उलटना-पलटना ज्यों-का-त्यों जारी है !

यह बात भी नहीं है कि अभी वह इतनी कच्ची उम्र का हो कि छोकरों की तरह बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकता और व्यर्थ की उलट-पुलट में समय गँवाता रहता हो। उन्तीस साल का हट्टा-कट्टा पूरा नौजवान—फिर बाकायदा संयुक्त राष्ट्र के नौ-सेना-विभाग की वरदी पहने हुए, और उस पर स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करनेवाला चमचमाता पदक या चिह्न लगाये हुए कि वह उक्त विभाग का एक इंजीनियर है ! तब कौन इस बात को शंका करने की धृष्टता कर सकता है कि उसे कम-से-कम इस बात का भी ज्ञान नहीं होगा कि वह किस ओर जा रहा है ?

किन्तु बात दरअसल कुछ ऐसी ही थी कि युवावस्था के साहसपूर्ण भाव से प्रकाशित रावर्ट पेरी की इस ओजपूर्ण मुखमुद्रा की तह में रह-रहकर इस बात का भाव उठता रहता था कि आखिर वह किधर की ओर जा रहा है ? उसे अपना लक्ष्य जरा भी स्पष्ट नहीं था। केवल जीवन में धड़ाके का—संसार की आँखें चकाचौंध कर देनेवाला—कोई काम कर दिखाने की एक धुँधली-सी महत्त्वाकांक्षा भीतर-ही-भीतर रह-रहकर उसे आगे की ओर ठेलती रहती थी, और मानो कहती रहती थी कि यदि तुम्हें अपने कार्य पर जुट पड़ना है, तो यही वक्त है।

यह बात नहीं थी कि एक अस्पष्ट-सी आशा की डोर के सहारे रास्ता टटोलकर बढ़नेवाले इस नवयुवक को अपनी शक्तियों पर किसी प्रकार का अविश्वास रहा हो। अपने जन्म-स्थान की पहाड़ियों के कंकड़-पत्थरों की नित्य की छानबीन और छोटी-सी डोंगी में समीप की समुद्री खाड़ी की सैर ने बचपन ही में उसके मन में दृढ़ आत्मविश्वास की जड़ जमा दी थी। किन्तु वह भी उसी प्रांत और स्थान में पैदा हुआ था, जहाँ पचास वर्ष पूर्व उसके देश के राष्ट्रीय कवि लाङ्गफैलो ने वनों की सघन छाया में स्वप्नों की माला गूँथते हुए अपना बचपन बिताया था। अतएव उन पहाड़ियों और वृक्षों के प्रभाव से

वह भी नहीं बच पाया। वह भी स्वप्नों की जाल बुनने लगा। किसी ने कहा ही है कि किशोर अवस्था की आकांक्षाएँ और स्वप्न आँधी की तरह बलवती होते हैं। ये स्वप्न हमारे इस चरितनायक को भी अपने उस पहाड़ियों-से घिरे छोटे-से प्रदेश से दूर कहाँ-से-कहाँ उड़ा ले गये। और उसके बाद तो क्या स्कूल और कालेज में, और क्या नौ-सेना विभाग के साहसपूर्ण अनुभवों से पूर्ण नौकरी के दिनों में—सब कहीं उन स्वप्नों का ताँता बँधता ही गया और धीरे-धीरे ये स्वप्न महत्वाकांक्षा का रूप लेने लगे। नौ-सेना-विभाग की कुछ ही दिनों की नौकरी में उसने अपनी योग्यता की काफी धाक जमा दी। जंगी जहाजों के लिए एक घाट बन रहा था। उस काम का एक लाख रुपये में ठेका लेने पर भी एक ठेकेदार उसे अधूरा ही छोड़कर भाग गया था। रावर्ट पेरी ने उसे अठारह हजार रुपये ही में बनवा दिया। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी उसको अपने मन में चैन नहीं था। वास्तव में हमारे चरितनायक की दशा उस व्यक्ति की तरह थी, जिसके मन में भारी आकांक्षाएँ हों, किन्तु जिसे यह न सूझ पड़े कि किस ओर उन्हें वह प्रेरित करे। यही कारण है कि ऊपर हम उसे कबाड़ियों की दूकानों पर अनमने भाव से किताबों के पन्ने उलटते देख चुके हैं।

आखिर एक मैली-सी पुस्तिका के शीर्षक पर पेरी की आँखें गड़ गईं। यह एक साहसी अन्वेषक के सुदूर उत्तर की साहसपूर्ण यात्राओं की कहानी थी। शीर्षक था "ग्रीनलैंड (हरित द्वीप) का भीतरी हिम-प्रदेश।" यह कोई विशेष उत्तेजनापूर्ण शीर्षक तो नहीं था, किन्तु फिर भी इस पर नजर पड़ते ही पेरी का दिल बाँसों उछलने लगा। उसने वह पुस्तिका खरीद ली। इसमें वर्णित सुदूर हिम-प्रदेश ने केवल इसी एक बात पर उसका ध्यान जोरों से अपनी ओर खींच लिया कि अब भी पृथ्वी की सतह पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से भी अधिक लंबा-चौड़ा एक विशाल भू-भाग विद्यमान है, जहाँ अभी तक किसी गौर वर्ण के मनुष्य का कदम भी नहीं पड़ा है!

उसकी आकांक्षा भड़क उठी। वाशिङ्गटन नगर के बड़े-से-बड़े पुस्तकालयों की अलमारियाँ उसने छान डालीं और रात-दिन उत्तरी ध्रुवप्रदेश की खोज तथा उत्तर-पश्चिम की राह से एशिया को जाने का रास्ता निकालने की सदियों पुरानी समस्या पर वह मसाला ढूँढ़ने लगा। किन्तु इन सब किताबों से उसे जो मसाला मिला, वह कोई बहुत आशाप्रद नहीं था। एक के बाद एक साहसी अन्वेषक पिछले तीन सौ वर्षों से इस प्रयत्न में उत्तर की बर्फीली दीवारों से हार खाकर अपना बलिदान चढ़ा चुके थे। १८४५ में सर जान फ्रैंकलिन दो ब्रिटिश जंगी जहाजों को लेकर पहले-पहल ध्रुवप्रदेश की ओर गये थे। पर हिम-पर्वतों ने इन दोनों जहाजों सहित फ्रैंकलिन और उनके दल को निगल लिया और इस बात का पता कहीं चौदह साल बाद लगा, जब एक दूसरा दल ध्रुव की खोज में वहाँ पहुँचा। इसी तरह क्रमशः कई साहसी अन्वेषक गये और हार मानकर लौट आए या वहीं खत्म हो गये। ये बातें किसी की भी हिम्मत पस्त कर सकती थीं। लेकिन पेरी को तो निराशा के बदले इनसे उत्तेजना ही मिली।

उसकी कल्पना उत्तेजित हो उठी। यदि ग्रीनलैंड का भीतरी भाग अभी सचमुच ही खोजने को बाकी है, तो क्यों न वहाँ जाकर अपने साहस और भाग्य की परीक्षा की जाय? संभव है, वह ठीक उत्तरी ध्रुव ही तक फैला हो।

बस, उसने फौरन् ही नौ-विभाग को छः महीने की छुट्टी की दरख्वास्त लिख भेजी। अधिकारीगण राजी न थे, पर उसकी दृढ़ता के आगे उनकी एक भी न चली। आखिरकार ह्वेल मछली का शिकार करनेवाले एक जहाज ने १८८६ के जून मास में उसे ग्रीनलैंड के पूर्वी किनारे पर डिस्को नामक द्वीप में जा उतारा। वहाँ डैनिश लोगों की बस्ती है। पेरी ने किसी तरह डैनिश जाति के एक नौजवान को अपने साथ चलने के लिए राजी कर लिया।

दस घंटे की कठोर यात्रा के बाद ये लोग जहाँ बर्फ शुरू होती थी, वहाँ पहुँचे। अब बदन को कँपा देनेवाली ठंडी हवाओं, आँखों को चौंधिया देनेवाली सूर्य की रोशनी, घने कुहरे, और बर्फ की बौछार का सामना होने लगा। इस तरह दिन-पर-दिन उस बर्फ की मरुभूमि को पार करते और चढ़ाई करते हुए ७५०० फीट की ऊँचाई पर ये लोग पहुँचे। पर यहाँ हिसाब लगाने पर पेरी को मालूम हुआ कि वह अपने रवाना होने की जगह से १२० मील आ पहुँचा है और अब उसके पास केवल छः दिन का खाना बचा है! हिसाब के ये आँकड़े साधारण आँकड़े न थे। अब और आगे बढ़ने का अर्थ था भूखों मरना! तो क्या उसे वापस लौटना पड़ेगा? क्या इतने दूर तक आने का यह परिश्रम, यह कष्ट व्यर्थ ही होगा? श्वेत-नील झाँईवाले ध्रुवप्रदेश की ओर सतृष्ण आँखें गड़ाये पेरी चुपचाप खड़ा था और साथ का डैनिश नौजवान एक अचरज-भरी दृष्टि से उसकी ओर निहार रहा था!

पेरी की ध्रुवप्रदेश की विभिन्न यात्राओं के मार्गों का मानचित्र

इस नक्शे में राबर्ट पेरी की १८८६ की ध्रुव-प्रदेश की प्रथम चढ़ाई से लेकर १९०९ में अंतिम विजय तक के जाने और आने के विभिन्न मार्ग बिन्दुदार रेखा द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। किस स्थान पर वह किस सन् में पहुँचा था, अथवा किस सन् में किस मार्ग से गया था, इसका भी उल्लेख आपको इस नक्शे में स्थान-स्थान पर लिखे गये अंकों से मिलेगा।

वाइं ओर उत्तरी ध्रुव के विजेता राबर्ट पेरी का चित्र है।

उत्तरी ध्रुव -अप्रैल-६, १९०९
मील
० १०० २०० ३०० ४००
ग्रीन लैंड सागर
अप्रैल १९०६
१९००
१९०२
कोलंबिया अन्तरीप
ग्रांटलैंड
ग्रीन लैंड
स्मिथ साउण्ड
बेफिन की खाड़ी
१९०५-६ और १९०८-९
१८८६
बेफिन लैंड
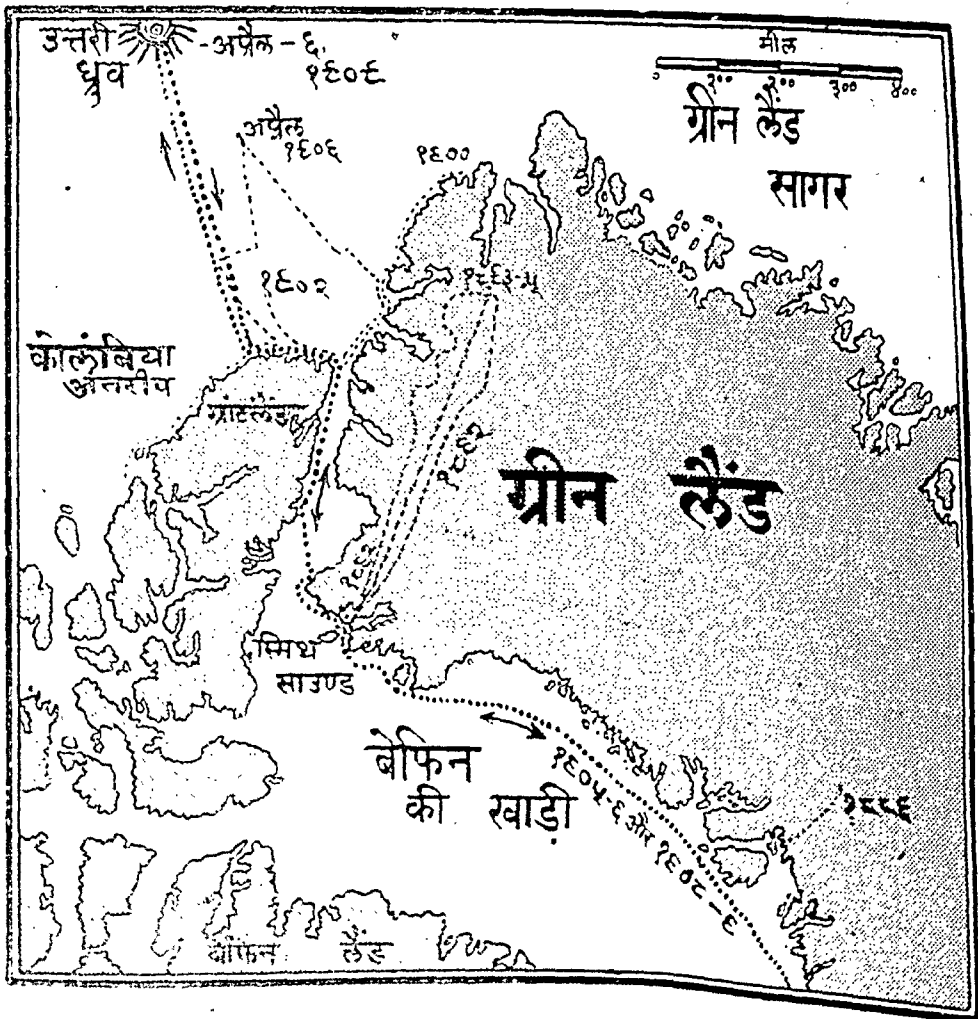
इस तरह अपने पूर्वगामी अन्वेषकों की तरह इसका भी यह पहला प्रयास विफल ही रहा ।

१८९१ में न्यूयार्क से फिर एक दल उत्तरी वर्फीले प्रदेश की खोज के लिए रवाना हुआ । पर लोगों ने इस पर कोई विशेष ध्यान न दिया । हाँ, एक बात कुछ लोगों के लिए जरूर खटकनेवाली थी । वह यह कि इस दल के साथ पेरी की नवविवाहिता स्त्री जोजफाइन भी थी ।

मेल्वील नामक खाड़ी में जाकर जहाज सामने बर्फ आने के कारण रुक गया । पर पेरी ने डायनामाइट से बर्फ तोड़कर रास्ता बना लिया । अब जहाज आगे चला । एकाएक बर्फ की चट्टान का एक टुकड़ा उछलकर पेरी के पैर में लगा और टँखने की ऊपर की उसकी दोनों हड्डियाँ टूट गई । वह लँगड़ा हो गया, पर उसका साहस नहीं टूट पाया । जहाज किनारे लगाया गया । तट पर बसनेवाले 'सील' के शिकारी 'एस्किमो' लोगों से जान-पहचान बढ़ाई गई । जाड़ा काटने के लिए झोंपड़े तैयार किए गए । और ध्रुव-प्रदेश की लम्बी 'छः महीने की रात' काटकर फिर धावा बोल दिया गया ।

पेरी ने केवल दो आदमी और सोलह कुत्तों को अपने साथ लिया । फिर वही बदन को काटनेवाली हवा, बर्फ की वर्षा, कुहरे का अंधकार, सूर्य की किरणों की चकाचौंध ! पर अब वह हार माननेवाला न था । हफ्तों बीत गए । अन्त में एक ऊँचे पठार के कगार पर जाकर वे रुक गए ! एक अपूर्व दृश्य मानों नीचे से ऊपर उठकर उनके सामने फैल गया । मीलों लम्बा बर्फ का धवल मैदान ! और उसके बीच आज तक मनुष्य की आँखें जिन पर न पड़ी थीं वे हरित झाईंवाले जल के असंख्य नाले, नदियाँ, सरोवर और झरने ! साथ के कुत्ते तक खुशी से मानो पागल हो उठे !

१८९२ की चौथी जुलाई को वह ग्रीनलैंड को लाँघकर उत्तरी महासागर की वर्फीली चादर के किनारे जा खड़ा हुआ । किन्तु अब भी ध्रुव कितना अधिक दूर था, कितना अगम्य !

विवश हो उसे इस बार भी बर्फ की शिलाओं से हार माननी पड़ी । न्यूयार्क में वापस आने पर नौ-विभाग के मंत्री ने कहा—"बस करो, पेरी ! अब फिर से उस बेवकूफी को न दोहराना । अपनी नौकरी का काम सँभालो । बोलो, कहाँ तुम्हारी ड्यूटी बाँधी जाय ?"

उत्तर मिला—"उत्तरी ध्रुवप्रदेश में, श्रीमन् !"

और जून, १८९३, में वह फिर चल दिया । इस बार भी जोजफाइन साथ थी । वहीं उसका पहला पुत्र भी पैदा हुआ ! किन्तु फिर वही आपदाएँ, फिर वही विफलता !

१८९३, १८९५, १९००, १९०२, १९०५—साल पर साल बीतते गए और एक-एक इंच करके वह अपनी इस कठोर यात्रा पर आगे बढ़ता गया । बार-बार वह रवाना होता, फिर वापस न्यूयार्क आता । फिर से आलोचकों के तानें सुनकर उसका दिल फटने-सा लगता और अपने साथी एस्किमो और कुत्तों को लेकर वह फिर से बार-बार उस बर्फ की चादर को पार करने के लिए दौड़ने लगता था । अब उसकी भी आशा की डोर टूटने लगी, साहस का बाँध खिसकता नजर आया । पर विधाता ने तो उसकी मस्तिष्क की रेखाओं पर 'ध्रुव का विजेता' ये शब्द अंकित कर रक्खे थे । १९०८ के जून में वह अपने देश के राष्ट्रपति के आशीर्वाद के साथ फिर रवाना हुआ । इस बार ध्रुव निश्चय किया कि बिना लक्ष्य तक पहुँचे वापस न आऊँगा । छः हफ्तों बाद स्टीमर "रूजवेल्ट" बर्फ की शिलाओं के बीच रास्ता काटते हुए ध्रुव महासागर के तट पर जाकर रुक गया । 'छः महीने की रात' बीती, और फरवरी २२, १९०९ को जब थर्मामीटर का पारा शून्य से ३१ अंश नीचे था, पेरी और उसके साथी ने अपनी अंतिम चढ़ाई शुरू की । वही बर्फीली चादर फिर सामने थी । किन्तु २० वर्ष का अनुभव भी तो साथ था । अब वह आँधी, वह बौछार, वह अनशन मामूली बातें थीं ।

थर्मामीटर का पारा शून्य से ६० अंश नीचे आ पहुँचा है । फिर भी ध्रुव अभी १३३ मील दूर है । १३३ मील ! जरा सोचिए, एक शहर से दूसरे शहर तक रेल या मोटर की सड़क के १३३ मील नहीं—ध्रुवप्रदेश के कुहरे, आँधी, बर्फ के १३३ मील ! पर उधर थर्मामीटर का पारा ज्यों-ज्यों क्रमशः नीचे-से-नीचे उतरता जा रहा है, पेरी के दिल की आग भड़ककर तेज होती जा रही है । अब वह लक्ष्य से सिर्फ ३५ मील की दूरी पर है । पर ज्यों-ज्यों ध्रुव समीप आता जाता है, इधर हाथ-पैर ढीले पड़ते जा रहे हैं ।

अन्त में अप्रैल ७ का वह प्रातःकाल, और पृथ्वी की छत—उत्तरी ध्रुव—का वह अद्भुत दृश्य ! चारों ओर बर्फ ही बर्फ—कुहरा और अंधकार ! पेरी को अपने पर विश्वास नहीं हो रहा था । क्या इसी के लिए सदियों से देश-देश के लोग अपनी बलि चढ़ाते रहे ?

बर्फ की शिलाओं की एक टेकड़ी-सी बनाकर उस पर अपने देश का झंडा उसने खड़ा किया और एक अतृप्त दृष्टि से उसे निहारते हुए वापस दक्षिण का रास्ता पकड़ा ।
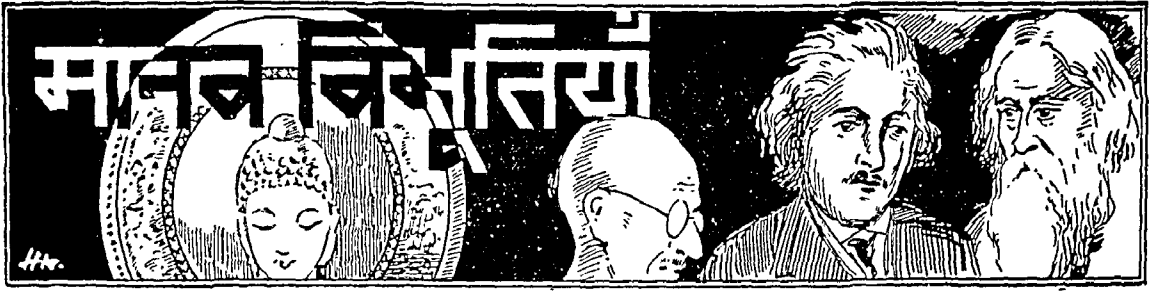
ईरान के प्राचीन शिक्षागुरु महात्मा जरथुश्त्र

प्राचीन ईरान आर्य संस्कृति का महान् पीठस्थान रह चुका है। उसी के प्राङ्गण में आज से हजारों वर्ष पूर्व सत्य, दया, आदि दैवी आदर्शों का संदेश गुँजानेवाले एक दिव्य मनस्वी का आविर्भाव हुआ था, जिनका कि परिचय इस प्रकरण में दिया जा रहा है।

आज से कई हजार वर्ष पूर्व का ईरान देश। असाम्य, घृणा, तिरस्कार, अपमान आदि के दारुण दृश्य। प्रेम, दया, करुणा और उदारता के पुनीत आदर्शों के बजाय स्वेच्छाचारिता, उद्दण्डता और स्वार्थपरता का ही आतंक। जनता निरापद नहीं। चारों ओर अराजकता का ही निविड़तम साम्राज्य।

इन घने अंधकार के बीच अचानक एक आलोक दिखाई दिया। वर्षा की पूर्वसूचना लिए अत्याचारों के इस घटाटोप में मानो एकाएक बिजली कौंध उठी। लोगों की प्यासी किंतु विस्मित-सी आँखें एकबारगी ही उस ओर जा अटकीं। भीषण गरमी के बाद मानो शीतल बूँदा-बाँदी होने का उन्हें आभास मिला।

जन्म और बचपन

अराजकता के इस वातावरण में, स्वार्थियों के इस जमघट में भी, मानो रावण की लंका में विभीषण की तरह टिके हुए एक आदर्श दम्पति स्नेह-पाश में बद्ध एवं दुनियाई हलचलों से तटस्थ ज्यों-त्यों अपना जीवनयापन कर रहे थे। ईश्वरनिष्ठा उनका धर्म, दया और उदारता उनका मूलमंत्र, एवं स्वाध्याय तथा प्रेममय जीवन ही उनका आदर्श था। असत्य, अधर्म और कुत्सित पापाचारों की गली में भी इनके जीवन का पुनीत छकड़ा जैसे-तैसे डगर-मगर घिसटता चला जा रहा था। परमात्मा की कैसी विचित्र लीला थी कि इन्हीं के घर में उस नूतन प्रदीप की लौ प्रकट हुई, जिससे कालान्तर में सारा ईरान जगमगा उठा! एक तेजस्वी बालक ने उनके घर में जन्म लिया। कहते हैं, बालक जब मा के गर्भ में था, उसी समय राज-ज्योतिषियों ने घोषणा की कि वह शासकों का शत्रु होगा, उसके जन्म के साथ ही उनका विनाश जुड़ा हुआ है। इस भविष्यवाणी के परिमाणस्वरूप अराजकता के उस जमाने में निरंकुश हाथों से जिस व्यवहार की अपेक्षा की जा सकती थी, वही होकर रहा। गर्भ ही में बालक के प्राण हरण कर लेने के लिए भरसक प्रयत्न किए जाने लगे। पर गर्भिणी माता जैसे-तैसे, अपने शिशु का स्नेह लिए, प्राण बचाकर मैके भाग गई और वहीं एक स्वर्गीय हँसी लिए हुए उस बालक ने इस जगती में पदार्पण किया। तत्कालीन रीतियों के अनुसार उसके संस्कार किए गए और एक पूर्वज वीर के आधार पर उसका नाम 'स्पितमा' रखा गया।

किन्तु मुसीबतों ने यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। बालक के प्राणों का सौदा होने लगा। उसे चुराया गया। उसे मारने की तरह-तरह की कोशिशें की गईं। परंतु जिसकी भाग्यरेखा में अपने देश का अंधकार दूर करने का श्रेय अंकित था, उसे कौन असमय ही यों मिटा सकता था? वह सब आपदाओं की खाइयों को लाँघता गया।

बचपन ही में इस बालक ने जिस ईश्वर-प्रदत्त असाधारण प्रतिभा से अपने बौद्धिक विकास का परिचय दिया, उससे स्वयं उसके माता-पिता भी चकित थे। पिता ने बालक की विलक्षणता देखकर उसके पठन-पाठन का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया। किंतु स्पितमा दुनिया की नश्वरता,

ा गुणों की महत्ता और विश्व में फैले अनाचार तथा त्वासों के सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसे प्रश्न कर लिया रता था कि सुविज्ञ पिता को भी उत्तर देने में ठिठकना ड़ता था।

वैराग्य का उदय

एक के बाद एक पंद्रह वर्ष बीते और तत्कालीन प्रचलित था के अनुसार स्पितमा का विवाह भी हो गया। किन्तु हस्थाश्रम के मायाजाल से वह शंकित हो उठा। उसका दय विचित्र-विचित्र प्रश्नों का क्रीड़ास्थल बन गया। एक ोर आँखों में गृहस्थाश्रम का लौकिक सुख, नव-वधू का नेह, और अपने आस-पास फैला ऐश्वर्य से भरपूर वैभव ा, तो दूसरी ओर दुखियों का कातर क्रंदन उसे चौंका देता ा। गृहस्थी के आकर्षक किंतु क्षणिक सुखों की भावनाओं ौर दया, प्रेम, उदारता, त्याग आदि स्वर्गीय आदर्शों के ीच उसके मन में घोर युद्ध छिड़ गया था। बड़ी उलझन ी। सांसारिक प्रलोभन और ऐहिक जीवन की सफलता के ायाजाल ने उसे अपनी परिधि में कसकर बाँध रखने में ोई बात उठा नहीं रक्खी थी। उधर अज्ञात पारलौकिक शक्तियाँ भी उसकी आँखों में एक उज्ज्वल भविष्य चमका रही थीं। आखिर वैराग्य ने वैभव को विदाई दी और अपनी नवागत वधू से स्नेहपूर्वक विदा माँग युवा स्पितमा अनंत शांति की खोज में न जाने किस सुनसान में विलीन हो गया!

'स्पितमा' से जरथुश्त्र

साधना के सुरम्य प्रदेश से इस नवीन साधक को निर्वासित करने के लिए माया ने कोई बात न उठा रक्खी। उसे विश्व-साम्राज्य का प्रलोभन एवं इस अनुष्ठान में असफलता का भय दिखाया गया और मीठी-मीठी शब्दावलियों से उसे भ्रष्ट करने की अनेकों कोशिशें की गईं। लेकिन जो इन प्रलोभनों से ऊँचा उठ चुका था, जिसमें ज्ञान की अदम्य पिपासा जग चुकी थी और जिसने दुःख में सुख, त्याग में प्राप्ति और बलिदान में जीवन, देखने में जीवन की सार्थकता समझी थी, उसे भला ये इंद्रधनुष-से क्षणिक रंगीन प्रलोभन कब तक अपने में लुभा रखने की चेष्टा करते! इनके लिए उसके पास एक ही उत्तर था—मेरा जीवन मेरा अपना नहीं है। मैं उसे दुखियों के चरणों में स्नेहपूर्वक समर्पित कर चुका हूँ। मुझे अपने प्राणों की चिंता नहीं, मैं अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हो सकता। यह ईश्वरीय आदेश है। मुझे उसके आदेशों को प्रतिष्ठित करना है।

ग्यारह वर्ष की घोर तपस्या ने जिस प्रकार राजकुमार सिद्धार्थ को गौतम से बुद्ध बना दिया था, उसी तरह पंद्रह वर्षों की कठोर साधना ने इस राजवंशी को भी 'स्पितमा' से 'जरथुश्त्र' अथवा 'स्वर्णिम किरणोंवाला' बना दिया! इस कठोर साधना की स्वर्णिम रश्मियों से युवक स्पितमा का मुख प्रोद्भासित हो उठा था और उसकी प्रतिभा इस दिव्य प्रकाश से और भी अधिक दमक उठी थी।

इसी समय उसे अपने आसपास बिखरे हुए असाम्य का स्पष्ट चित्र दिखाई दिया। जिस ईश्वरीय आदेश की प्रतिष्ठा के लिए उसका जन्म हुआ था, उसकी सार्थकता के लिए प्रयत्न में विलंब उचित नहीं था। अतएव जंगलों के निर्जन प्रदेश को छोड़कर उसने फिर बस्ती का मार्ग पकड़ा। पंद्रह वर्ष के लम्बे संन्यास के बाद उसने फिर अपने कुटुम्ब में आश्रय लिया—इसलिए नहीं कि साधनामय जीवन में अब उसे विश्वास नहीं रह गया हो अथवा सांसारिक प्रलोभनों ने उसे ग्रस लिया हो; बल्कि इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कि मनुष्य कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करके भी दैवी आदर्शों को अपने में उतार सकता है। अतः पूर्ण उत्साह के साथ उसने अपना कार्यक्रम निश्चित कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

जरथुश्त्र की बातें एकाएक नहीं ग्रहण कर ली गईं। उसे कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा। परन्तु विरोधों ने उसे निराश करने के बजाय प्रोत्साहन ही दिया। और फिर वह कोई नई बात भी तो नहीं कह रहा था! उसका उपदेश तो उसी सनातन सत्य पर आश्रित था, जो चिरकाल से मानवता के विकास में पूर्ण योग देता आ रहा था! केवल समाज के बंधन शिथिल हो चले थे, इसीलिए स्वेच्छाचारिता के इस युग में दैवी गुण अत्याचारों की पृष्ठभूमि में पीछे फेंक दिए गए थे। उन प्राचीन मानवीय आदर्शों की पुनः स्थापना करना ही जरथुश्त्र का लक्ष्य था।

विरोध और संघर्ष

वर्षों तक जरथुश्त्र को अपने एक भतीजे के सिवाय और कोई साथी न मिल सका। उस एकमात्र अनुयायी ने ही बुढ़ापे में सफेद बालों की तरह अपने गुरु का साथ निभाया। उसके अतिरिक्त ईरान से बाहर तो क्या, स्वयं ईरान ही में जरथुश्त्र को माननेवाला कोई नहीं था। वहाँ का शासकवर्ग तो यों ही उससे जला-भुना था, फिर तत्कालीन पंडितवर्ग भी उससे कोई प्रसन्न रहा हो, यह बात भी नहीं थी। किंतु जरथुश्त्र इससे हताश नहीं हुआ। अपने सम्मुख वह एक

महान् उत्तरदायित्व देखता था और बखूबी जानता था कि यदि वह अपने सिद्धान्तों के प्रति सच्चा है, तो दुनिया की कोई शक्ति उसके आदर्शों की उपेक्षा नहीं कर सकती।

समय आया और पड़ौसी बेक्ट्रिया राज्य के शासक विष्टास्प ने जरथुश्त्र के सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसके साथ ही उसके दो मंत्री जामास्प और फ्रशाओष्ट्र भी जरथुश्त्र के अनुयायी बन गए। इस प्रकार जरथुश्त्र का मत पूर्वी ईरान का मान्य राजधर्म बन गया। तब तो जरथुश्त्र की ख्याति की मानो बाढ़-सी आ गई। उसके अनुयायियों की संख्या-वृद्धि से इस तथ्य का प्रमाण मिलता था कि लोगों में अपने प्राचीन विस्मृत आदर्शों को अपनाने के लिए पिपासा जग उठी थी। जरथुश्त्र के अनुयायियों की वृद्धि देखकर ईरान के निरंकुश शासक कुढ़ गए। उन्होंने जरथुश्त्र के मत के विनाश के लिए बेक्ट्रिया से युद्ध तक ठान दिया। किन्तु सत्य का पक्ष सदैव विजयी होता है। कालान्तर में सारे ईरान को विवश होकर जरथुश्त्र के मत को स्वीकार करना पड़ा। अपने जीवनकाल ही में जन्मभूमि ईरान में अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होते देख जरथुश्त्र अपनी सफलता पर गद्गद हो गया। सम्राट् अशोक ने जिस तरह बाद में बौद्ध धर्म के प्रचार में उत्साहपूर्वक भाग लिया था, उसी तरह ईरानी सम्राटों ने भी जरथुश्त्र के उपदेशों का देश के कोने-कोने में प्रचार करने में कोई कसर न उठा रक्खी। कई वर्षों तक इस तरह मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करते रहने के पश्चात् ईरान का यह 'स्वर्णिम प्रकाश-पुंज' अन्त में कहीं अन्यत्र उगने के लिए इस संसार से विलुप्त हो गया।

महात्मा जरथुश्त्र

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन ईरान का यह धर्म-संस्थापक कब हुआ, इसके सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य विद्वान् आम तौर पर जरथुश्त्र की तिथि १००० ई० पू० मानते हैं। परन्तु अनेक प्राचीन ग्रीक लेखकों ने जरथुश्त्र को ईस्वी पूर्व कई हजार वर्ष का माना है। जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि संसार के इतिहास में जरथुश्त्र और उनके धर्मग्रंथों का नाम बहुत प्राचीन है। यह कहा जा सकता है कि ये उतने ही प्राचीन हैं, जितने कि ऋग्वेद के ऋषि, यद्यपि काल की लीला के फलस्वरूप जरथुश्त्र का मत बौद्ध धर्म की भाँति अपनी जन्मभूमि से निर्वासित होकर आज के दिन केवल भारत में आ बसे कुछ लाख पारसियों में ही बचा रह गया है। पश्चिमी एशिया में जब इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ, तो उसकी आँधी के सामने न ठहर सकने के कारण अधिकांश ईरानवासी भी मुसलमान हो गए, केवल कुछ दृढ़-व्रती ईरानी अपने धर्म की रक्षा के लिए स्वदेश से निर्वासन स्वीकार कर भारतभूमि में आ बसे। यह लगभग १००० वर्ष पूर्व की घटना है। उन्हीं की संतान, जो पारसी कहलाते हैं, आज इस देश में जरथुश्त्र के पुरातन पुनीत धर्म के प्रदीप को जीवित रक्खे हुए हैं। पश्चिमी भारत में उदवाड़ा नामक स्थान में इनका प्रधान देवालय है, जहाँ उनके द्वारा पूजी जानेवाली पवित्र अग्नि स्थापित है।

ईरानी और भारतीय संस्कृतियों में साम्य

प्राचीन ईरान और भारत की संस्कृति में बड़ी समानता है, यह बात दोनों संस्कृतियों के साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। कहते हैं, जब आदि आर्यों ने अपने मूल उद्गमस्थल से दक्षिण की तरफ कूच करना शुरू किया था, तब ईरान की सीमा पर आते-आते उनके दो विभाग हो गए थे। एक धारा ईरान की ओर बह चली थी, दूसरी ने भारत की शस्यश्यामला भूमि की ओर प्रयाण किया था। देश-काल के फेर से यद्यपि ईरानी और भारतीय संस्कृतियों में कुछ अन्तर पड़ गया है, किन्तु वस्तुतः दोनों सभ्यताओं

का मूल स्रोत एक ही है। प्राचीन भारतीय आर्यों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चातुर्वर्ण्य योजना से मिलती-जुलती वर्ण-व्यवस्था ईरानियों की धार्मिक व्यवस्था में भी पाई गई है, जो क्रमशः 'अथ्रवण', रथेष्टार', 'वास्ट्र-योश' तथा 'हुतोक्ष, शब्दों से परिलक्षित होती है। वे भी अग्नि, जल, वायु, इंद्र आदि देवताओं के पूजक थे। उनकी भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती है। उनका धर्म 'यस्न' नामक ग्रंथ-संग्रह में लेखबद्ध है। इसके ७२ 'हास' या भाग हैं। इन्हीं में जरथुश्त्र की 'गाथा' हैं, जो पाँच हैं—अहुनवैती, उष्टवैती, स्पेन्तामैन्यु, योहू-क्षत्र और वहिश्तोइश्ती। इन्हीं पाँच ग्रंथों में जरथुश्त्र की सारी शिक्षा भरी हुई है। जैसी झाँकी ऋग्वेद की ऋचाओं में दिखाई देती है, वैसी ही कहीं-कहीं 'अवेस्ता' (ईरानियों के सबसे महत्व-पूर्ण धार्मिक ग्रंथ) में भी मिलती है। परमपिता को वहाँ 'अहुर' की संज्ञा प्रदान की गई है। तात्पर्य यह कि वैदिक धर्म में पाई जानेवाली मुख्य-मुख्य विशेषताओं का प्रयोग प्राचीन ईरानी धर्म-व्यवस्था में भी होता था।

हम ईरानी धर्म की बारीकियों में जान-बूझकर नहीं पड़ना चाहते। यह हमारा लक्ष्य नहीं। मोटे रूप में हम आपके सम्मुख उसके सिद्धान्तों को प्रकट कर देना चाहते हैं।

प्राचीन ईरानी धर्म के मूल सिद्धान्त

जरथुश्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म भारतीय 'अद्वैतवाद' से बहुत-कुछ मिलता है। हमारे 'निर्गुण' की कल्पना उनके इस अद्वैत में भली भाँति स्पष्ट है। यद्यपि 'अहुर मजदा' के साथ ईश्वर के छः अन्य रूपों की भी कल्पना है, किंतु वे 'एक' ही के भिन्न रूप हैं, यह भी स्पष्ट है। दैवी गुणों की सम्यक् प्रतीक सप्त शक्तियाँ हैं। जरथुश्त्र ने संसार की उत्पत्ति इन्हीं शक्तियों द्वारा स्वीकार की है। 'अग्नि' (आतर) की पूजा ईरानियों में सबसे अधिक पवित्र मानी गई है। संभवतः ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक मानकर ही अग्नि की पूजा को महत्व प्रदान किया गया हो।

ईरानियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तकों में कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर और मनोरंजक दार्शनिक विवेचन मिलता है। 'गाथा अहुनवैती' इसी तरह की एक धार्मिक पुस्तक है, जिसमें सत् तथा असत् का गंभीर विवेचन किया गया है। जरथुश्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त मुख्यतः इसी में संकलित हैं। सत्-असत् का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि जीवन में इन दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों का क्या महत्व है। एक से दूसरे का ज्ञान संभव है। असत् की उपस्थिति से ही सत् का मूल्य है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि परस्पर-विरोधी वस्तुओं से ही किसी वस्तु का मूल्यांकन उचित रीति से हो सकता है। मृत्यु एक भयानक सत्य है, इसीलिए जीवन की लालसा अधिक जागरूक है। फूल के क्षणिक सौन्दर्य की भावना में ही उसके उपयोग कर लेने की सार्थकता निहित है। अभावों से ही प्रायः भावों की सृष्टि होती है। जीवन में सुख जितना बड़ा सत्य है, दुःख उससे कम बड़ा सत्य नहीं। वस्तुएँ क्षणिक हैं, इसीलिए वे आनंदप्रद भी हैं, अन्यथा अरिवर्तनशीलता तो थका देनेवाली चीज है। जरथुश्त्र ने इस महान् सत्य को बखूबी समझा था। सांख्य के 'पुरुष' और 'प्रकृति' की धारणाओं की तरह उन्होंने संसार के विकास के लिए सत् और असत् की विद्यामानता आवश्यक समझी। जरथुश्त्र के अनुसार अभाव भी जीवन में उतने ही वास्तविक हैं, जितने कि भाव!

भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने ईश्वर-प्राप्ति के तीन प्रमुख साधन बताए हैं—एक ज्ञान द्वारा, दूसरा भक्ति द्वारा और तीसरा कर्म द्वारा। इन सबमें निष्काम भाव की प्रधानता पर जोर दिया गया है। इन तीनों में से जरथुश्त्र ने कर्म का मार्ग अपने लिए चुना और उसे गीता के 'कर्मण्ये-वाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन' में निहित सिद्धान्त की ठोस नींव पर आश्रित पर दिया। निःस्वार्थ सेवा, परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता आदि दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। मुसीबत में पीड़ित की सहायता से बढ़कर दूसरा पुण्य-कार्य नहीं हो सकता। परस्पर सहानुभूति की भावना ही मानवता के विकास के लिए सबसे महान् साधन है।

जीवन के इन आदर्शों का मन, वचन और कर्म से सचाई के साथ पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। सत्य-भाषण और सत्य-आचरण की समता दुनिया का कोई ऐश्वर्य नहीं कर सकता। किंतु जहाँ सत्य-भाषण पर इस तरह जोर दिया गया है, वहाँ कटु सत्य का निषेध भी है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि असत्य का प्रयोग क्षम्य है। ठीक इसी तरह के विचार मनु-स्मृति में भी पाए जाते हैं। भावों की यह एकरूपता कैसे संभव हो सकी, यह विवादग्रस्त उलझन है। ये वही महान् सत्य है, जिनका अनुभव सभी स्थानों में महापुरुषों द्वारा संभव हुआ।

जरथुश्त्र का धर्म भारतीय कर्मयोग का रूपान्तर है। एक वाक्य में इसका सार यों अंकित किया जा सकता है कि सुख का उद्गम वहीं है, जहाँ से मनुष्य की सहानुभूति का स्रोत अन्य के लिए उमड़ पड़ता है।